हिन्दू-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

लेखक

गंगाशंकर मिश्र एम० ए०

प्रकाशक

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय

१९३०

प्रथम संस्करण

प्रास्ताविक उपोद्घात

हमारे देश में नवीन शिक्षा की स्थापना हुए एक शताब्दी हो चुकी; पर शोक है कि अद्यापि हमको शिक्षा—विशेषतः उच्च शिक्षा—अँगरेज़ी भाषा द्वारा ही दी जाती है।

ई० स० १८३५ में कलकत्ता की 'जनरल कमिटी ऑफ़ एड्युकेशन' ने अपना मत प्रकट किया था कि—

" We are deeply sensible of the importance of encouraging the cultivation of Vernacular languages............ ..We conceive the formation of a Vernacular Literature to be the ultimate object to which all our efforts must be directed "

अर्थात्, देश का साहित्य बढ़ाना ही हमारी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

सन् १८३८ में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने "हिन्दुस्तान में शिक्षा" विषयक जो लेख लिखा था उसमें भी उस विद्वान् ने कहा है—

" Our main object is to raise up a class of persons who will make the learning of Europe intelligible to the people of Asia in their own languages."

अर्थात् हमारा उद्देश्य ऐसे सुशिक्षित जन तैयार करने का है जो यूरोप की विद्या को एशिया के लोगों की बुद्धि में अपनी भाषा द्वारा उतार दें।

ई० स० १८३६ में लार्ड ऑकलेंड (गवर्नर-जनरल) ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा था कि—

"I have not stopped to state that correctness and elegance in Vernacular composition ought to be sedulously attended to in the superior colleges."

अर्थात्, उच्च विद्यालयों में मातृभाषा के निबन्धों में वाणी का यथार्थ रूप और लालित्य लाने पर विशेष ध्यान देने की बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता ।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आशा की थी कि अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों के संसर्ग से साधारण जनता में नवीन विद्या का आप ही आप अवतार होगा। लेकिन यह आशा सफल न हुई। अतएव ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तिम समय (१८५४) में कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' (निरीक्षण समिति) के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने एक चिर-स्मरणीय लेख लिखा, जिसमें उन्होंने प्राथमिक शिक्षा से लेकर यूनिवर्सिटी तक की शिक्षा का प्रबन्ध सूचित किया। पश्चात् कम्पनी से हिन्दुस्तान का राज्याधिकार महारानी विक्टोरिया के हाथ में आया और बड़े समारोह से नवीन शिक्षा की व्यवस्था हुई—तथापि पूर्वोक्त उद्देश्य बहुशः सफल नहीं हुआ। यूनिवर्सिटी के स्थापनानन्तर २५–३० वर्ष बाद भी सर जेम्स पील (बम्बई के कुछ समय तक शिक्षाधिकारी) निम्न-लिखित रूप में आक्षेप कर सके थे—

"The dislike shown by University graduates to writing in their vernacular can only be attributed to the consciousness of an imperfect command of it. I cannot otherwise explain the fact that graduates do not compete for any of the prizes of greater money value than the Chancellor's or Arnold's Prize at Oxford or Smith's or the Members' Prizes at Cambridge. So curious an apathy, so discouraging a want of patriotism, is inexplicable, if the transfer of English thought to the native idiom were, as it should be, a pleasant exercise, and not, as I fear it is, a tedious and repulsive trial."

हमारे नव शिक्षित बन्धुओं ने देशभाषा द्वारा देश का साहित्य बढ़ाया है। इससे इनकार करना अकृतज्ञता करना है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि वह साहित्य-समृद्धि जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई है।

इसका कारण क्या है? कई विद्वानों ने इसका कारण देशी भाषा का अज्ञान और विश्वविद्यालयों में देशी भाषा के पठन-पाठन का अभाव माना है। लेकिन वास्तविक कारण इससे भी आगे जाकर देखना चाहिए। मूल में बात यह है कि परभाषा द्वारा विद्यार्थियों को जो विद्या पढ़ाई जाती है वह उनकी बुद्धि और आत्मा से मेल नहीं खाती। परिणाम यह होता है कि सब पाठ उनकी बुद्धि में—भूमि में पत्थर के टुकड़े के समान—पड़े रहते हैं, बीज के समान भूमि में मिलकर अंकुर नहीं उत्पन्न करने पाते।

यह सुसिद्धान्तित और सुविदित है कि बालक मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा में सफलता पा सकते हैं क्योंकि मातृभाषा शिक्षा का स्वाभाविक वाहन है। इसलिए हमारी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा ही होनी चाहिए। केवल सिद्धान्त रूप में ही हम ऐसा नहीं कहते, बल्कि यह व्यवहार में भी हिन्दुस्तान की सब प्राथमिक और अनेक माध्यमिक शिक्षणशालाओं में स्वीकृत हो चुकी है। तथापि उच्च शिक्षा के लिए इस विषय में अभी तक कुछ उपक्रम नहीं हुआ है। विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब महाविद्यालय में प्रवेश करता है तब भी मातृभाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा ग्रहण करना उसके लिए स्वाभाविक देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान ऐसा विशाल देश है कि इसकी एकता साधने के लिए हर एक प्रान्त की (मातृ) भाषा के अतिरिक्त समस्त देश की एक राष्ट्रभाषा होना आवश्यक है। ऐसी राष्ट्रभाषा होने का जन्मसिद्ध और व्यवहारसिद्ध अधिकार देश की सब भाषाओं में हिन्दी भाषा को ही है। उचित है कि हिन्द के सब विद्यार्थी जब विश्वविद्यालय में प्रवेश करें तो स्वाभाविक मातृभाषा से आगे बढ़के राष्ट्रभाषा—हिन्दी—द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करें। वस्तुतः प्राचीन काल में जैसे संस्कृत और पीछे पाली राष्ट्र भाषा थी उसी प्रकार अर्वाचीन काल में हिन्दी है। इस प्रान्त में हिन्दी का ज्ञान मातृभाषा के रूप में होता ही है। लेकिन जिन प्रान्तों की यह मातृभाषा

नहीं है वे भी इसको राष्ट्रभाषा होने के कारण माध्यमिक शिक्षा के क्रम में एक अधिक भाषा के रूप में सीख लें और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा इसी भाषा में प्राप्त करें; यही उचित है। तामिल देश को छोड़कर हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत प्राकृतादि क्रम से एक ही मूल भाषा या भाषामंडल में से उत्पन्न हुई हैं। अतएव उनमें एक कौटुम्बिक साम्य है। इसलिए अन्य प्रान्तीय भी, अपनी मातृभाषा न होने पर भी, हिन्दी सहज ही में सीख सकते हैं। ज्ञान-द्वार की स्वाभाविकता में इससे कुछ न्यूनता ज़रूर आती है तथापि एकराष्ट्र की सिद्धि के लिए इतनी अल्प अस्वाभाविकता सह लेना आवश्यक है। उत्तम शिक्षा की कक्षा में यह दुष्कर भी नहीं है; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वाभाविकता के पार जाने का सामर्थ्य भी कुछ सीमा तक बढ़ता है।

आधुनिक ज्ञान की उच्च शिक्षा में उपकारक ग्रन्थ हिन्दी में, क्या हिन्दुस्तान की किसी भाषा में, अद्यापि विद्यमान नहीं हैं—इस प्रकार का आक्षेप करके अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा देने की प्रचलित रीति का कितने ही लोग समर्थन करते हैं। किन्तु इस उक्ति का अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है, क्योंकि जब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती तब तक भाषा के साहित्य का प्रफुल्लित होना असम्भव है और जब तक यथेष्ट साहित्य न मिल सके तब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा देना असम्भव है। इस अन्योन्याश्रय दोषापत्ति का उद्धार तभी हो सकता है जब अपेक्षित साहित्य यथाशक्ति उत्पन्न करके तद्द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया जाय। आरम्भ में ज़रूर पुस्तकें छोटी छोटी ही होंगी। लेकिन इन पर अध्यापकों के उक्त-अनुक्त-दुरुक्त आदि विवेचन रूप एवं इष्टपूर्त्तिरूप वार्तिक, तात्पर्य्यविवरण रूप वृत्ति, भाष्य-टीका, खंडनादि ग्रन्थों के होने से यह साहित्य बढ़ता जायगा और बीच में अहरहः प्रकटित अँगरेज़ी पुस्तकों का उपयोग सर्वथा नहीं छूटेगा। प्रत्युत अच्छी तरह से वह भी साथ साथ रहकर काम ही करेगा। इस रीति से अपनी भाषा की समृद्धि भी नवीनता और अधिकता प्राप्त करती जायगी।

इस इष्ट दिशा में काशी-विश्वविद्यालय की ओर से जो कार्य करने का आरम्भ किया जाता है वह दानवीर श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला के दिये हुए ५०,००० रुपये का प्रथम फल है। आशा की जाती है कि इस प्रकार और धन भी मिला करेगा और उससे अधिक कार्य भी होगा। इति शिवम्।

अहमदाबाद
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा
वि० सं० १९८७

आनंदशङ्कर बापूभाई ध्रुव
प्रो-वाइस चांसलर, काशी-विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, श्री काशी-विश्वविद्यालय हिन्दी-
ग्रन्थमाला-समिति

जिन पुस्तकों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है उनका हवाला यथा-सम्भव फुटनोटों में दे दिया गया है। यदि किसी पुस्तक का नाम रह गया हो, तो उसके लिए लेखक क्षमाप्रार्थी है। 'कला और साहित्य' शीर्षक परिच्छेद लिखने में कई मित्रों से बड़ी सहायता मिली है। इसके लिए लेखक अनुगृहीत है।

काशी,
वसन्त-पंचमी १९८७. }

गंगाशंकर मिश्र

विषय-सूची

परिच्छेद १

भारत में यूरोप के व्यापारी

पृष्ठ

परिच्छेद २

फ़्रांसीसी और अँगरेज़

परिच्छेद ३

साम्राज्य की नींव

परिच्छेद ४

देश की दशा

परिच्छेद ५

नींव की दृढ़ता

परिच्छेद ६

हस्तक्षेप न करने की नीति

परिच्छेद ७

साम्राज्य के लिए युद्ध

(१)

परिच्छेद ८

साम्राज्य के लिए युद्ध

(२)

परिच्छेद ९

मराठों का पतन

परिच्छेद १०

सुधार और शिक्षा

परिच्छेद ११

पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा

परिच्छेद १२

साम्राज्य की पूर्ति

परिच्छेद १३

कम्पनी का अन्त

परिच्छेद १४

ब्रिटिश छत्र की छाया

परिच्छेद १५

राष्ट्रीयता का जन्म

परिच्छेद १६

राजनैतिक सुधार

परिच्छेद १७

औपनिवेशिक स्वराज्य

परिच्छेद १८

कला और साहित्य

चित्र-सूची

नक़शे

परिच्छेद १

भारत में यूरोप के व्यापारी

भारतीय व्यापार—भारत का विदेशीय व्यापार सदा से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन समय में बहुत से राष्ट्रों की इसी व्यापार के सहारे उन्नति हुई थी, आज-कल भी इँग्लेंड की शक्ति और सम्पत्ति इसी व्यापार पर निर्भर है। यूनानियों के आने के पहले से इस व्यापार का पता चलता है। रोम-साम्राज्य के समय से भारत का यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध है। पहले यहां से कपड़े, जवाहरात, मोती, मसाले और हाथी-दांत की चीज़ें बराबर यूरोप जाती थीं।

प्राचीन मार्ग—तब ऐसे तीन मार्ग थे, जिनसे यह व्यापार होता था। एक तो फ़ारस की खाड़ी से होकर ज़मीन पर यूफ़्रेटीज़ नदी के तीर तीर एशिया-माइनर में से था, और दूसरा लाल समुद्र के उत्तरी किनारे पर उतरकर मिस्र देश में से भूमध्यसागर तक था। इनके सिवा केवल उत्तर की ओर का एक तीसरा मार्ग था। यह भारतवर्ष के उत्तर से मध्य एशिया के आक्सस तथा आमू नदियों के किनारे किनारे जाता हुआ कास्पियन समुद्र से काले समुद्र तक था। इनमें सबसे अधिक सुगमता पहले मार्ग से थी। सातवीं शताब्दी में जब मिस्र पर मुसलमानों का अधिकार हो गया, तब समुद्री व्यापार मुसलमानों के हाथ में चला गया। ये लोग भारतवर्ष से माल लेकर वेनिस और जिनोआ भेजते थे, जहाँ से यह माल सारे यूरोप में

जाता था। इस व्यापार के कारण थोड़े ही दिनों में वेनिस मालामाल हो गया। सन् १४५३* में तुर्क लोगों की विजय के कारण इस मार्ग में भी बाधाएँ पड़ने लगीं, और यूरोप-निवासियों को भारतवर्ष आने-जाने के लिए एक नया मार्ग ढूँढ़ निकालने की चिन्ता होने लगी।

वास्कोडगामा

नया मार्ग—यूनानी लोगों के समय से ही यह अनुमान था कि अफ़्रिका घूमकर भारतवर्ष जाने का एक समुद्री मार्ग है, परन्तु इसका किसी को ठीक ठीक पता न था। स्पेन के राजा की आज्ञा से 'सोने की चिड़िया' भारतवर्ष को ढूँढ़ते ढूँढ़ते, सन् १४९२ में, जिनोआ-निवासी कोलम्बस अमरीका जा पहुँचा। इसी धुन में जान केबो न्यूफ़ाउंडलेंड पहुँच गया। अन्त में इसको ढूँढ़ निकालने का श्रेय पुर्तगाल को ही प्राप्त हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही यहाँ के निवासी इसकी खोज में लगे हुए थे। राजकुमार हेनरी का सारा जीवन इसी में व्यतीत हुआ था। सन् १४८७ में डियाज़ नाम का एक पुर्तगाली अफ़्रिका के एक दक्षिणी अन्तरीप तक

* पुस्तक में सर्वत्र 'ईसवी सन्' का प्रयोग किया गया है।

पहुँचा। यहाँ से भारतवर्ष पहुँचने की आशा हुई, इसलिए इसका नाम 'गुडहोप' रखा गया। जुलाई सन् १४९७ में वास्कोडगामा नाम का एक दूसरा पुर्तगाली तीन छोटे छोटे जहाज़ और १६० आदमियों को लेकर लिस्बन नगर से रवाना हुआ; और ता० २० मई, सन् १४९८ को उसने मलाबार तट पर कालीकट के निकट भारत-भूमि पर पैर रखा।

मलाबार की दशा—कालीकट में उस समय हिन्दू राजा थे, जो 'ज़मोरिन' कहलाते थे। कई एक यात्रियों के दिये हुए विवरण से पता लगता है कि मलाबार देश उस समय बड़ी अच्छी दशा में था। पन्द्रहवीं शताब्दी का एक ईरानी यात्री, जिसका नाम अब्दुर्रज़्ज़ाक था, लिखता है कि कालीकट में न्याय और शासन का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। व्यापार के लिए सब तरह की सुविधाएँ थीं। जहाज़ों से जो माल उतरता था, उसको चुंगी वसूल करनेवाले सरकारी अफ़सर बाज़ारों में ठीक ठीक रीति से भेज देते थे। सौदागरों को स्वयं कोई देख-रेख न करनी पड़ती थी, और न किसी प्रकार का कोई झंझट ही होता था। 'तहफ़तुल मुजाहदीन' के लेखक का कहना है कि हिन्दू राजाओं का मुसलमानों के साथ बड़ा ही उदार व्यवहार था, यद्यपि मुसलमानों की संख्या आबादी की दशांश भी न थी, पर तब भी उनके धार्मिक भावों का बराबर ध्यान रखा जाता था। इस धार्मिक उदारता का समर्थन वरथेमा नामक इटालियन यात्री भी करता है। फ्रांसीसी यात्री पिरार का कहना है कि ऐसी धार्मिक स्वतंत्रता उसे कहीं भी देखने को नहीं मिली थी। प्रत्येक मनुष्य अपने धार्मिक रिवाजों को मानता था, पर आपस में कभी किसी प्रकार का झगड़ा न होता था, देश भर में पूर्ण शान्ति थी, और भिन्न भिन्न देशों के व्यापारी बेखटके व्यापार करते थे। उस समय के भारतवासी पुर्तगालियों से कहीं अधिक सभ्य थे[1]।

पुर्तगालियों की साम्राज्य-चेष्टा—अरब सौदागरों के विरोध के कारण वास्कोडगामा को व्यापार में अधिक सफलता नहीं हुई। वह

---

१ ह्वाइटवे, राइज़ ऑफ़ दि पोर्चुगीज़ पावर इन इंडिया, पृ० २५-२७।

देश की दशा देख-भाल कर दूसरे ही वर्ष पुर्तगाल वापस चला गया। सन् १५०० में वहाँ के राजा ने केब्राल की अध्यक्षता में थोड़े से जहाज़ फिर भारतवर्ष भेजे। उसने कालीकट में एक कोठी खोली, तथा कनानूर और कोचीन में व्यापार का सिलसिला जमाया। सन् १५०२ में वास्कोडगामा फिर २० जहाज़ लेकर भारतवर्ष आया, और कोचीन के राजा के साथ मिलकर उसने ज़मोरिन पर ही आक्रमण कर दिया। इन दिनों यूरोप का जो राज्य, जिस देश को ढूँढ़ निकालता था, वह देश उसी की सम्पत्ति समझा जाता था, और उसका सारा व्यापार उसी राज्य के हाथ में रहता था। इस रीति के अनुसार पुर्तगाल के राजा भी अपने को पूर्वीय देशों का स्वामी मानने लगे। तिस पर सन् १५०२ में उनको पोप का एक आज्ञापत्र भी मिल गया, जिससे उनका अधिकार और भी पुष्ट हो गया। सन् १५०५ में अलमिडा राज-प्रतिनिधि बनाकर भारतवर्ष भेजा गया। उसका मत था कि सागरों पर पुर्तगाल को अपना पूरा आधिपत्य रखना चाहिए। इसके बिना पुर्तगालियों के हाथ में कुल पूर्वीय व्यापार नहीं रह सकता है। भारतवर्ष की भूमि पर क़िले बनवा कर अधिकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि पुर्तगाल ऐसे दूर देश से उनकी रक्षा करना असम्भव है।

एलबुक़र्क़—सन् १५०६ में एलबुक़र्क़ गवर्नर नियुक्त किया गया। इसकी नीति दूसरी ही थी। व्यापार की दृष्टि से कुछ अच्छे अच्छे स्थानों को यह अपने अधिकार में रखना चाहता था। भारतवासी और पुर्तगालियों में परस्पर-विवाह की प्रथा चलाकर वह पुर्तगालियों का सम्बन्ध अधिक दृढ़ करना चाहता था। इन्हीं की सन्तान से नई आबादियां बसाने का उसका विचार था। जहाँ पर ये दोनों बातें असम्भव थीं, वहाँ वह दुर्ग बनवाना चाहता था, और ऐसा भी न होने पर उसने सोचा था कि समझा-बुझाकर देशी राजाओं से पुर्तगाल के राजा का आधिपत्य स्वीकार कराना चाहिए, और उसको कर भेजवाना चाहिए। संक्षेप में उसका विचार भारतवर्ष में पुर्तगाली साम्राज्य स्थापित करने का था। इसी नीति के अनुसार सन् १५१० में उसने बीजापुर के सुलतान से गोआ छीन लिया, और उसमें ईसाई-राज्य

की नींव डाली। संसार-विजयी सिकन्दर के बाद भारतवर्ष की भूमि पर यूरोप-निवासियों का यह पहला ही राज्य था।

गोआ का शासन-प्रबन्ध पुर्तगाली ढंग पर किया गया। मुसलमान अधिकारियों की जगह पर पुर्तगाली थानेदार बनाये गये। इनको दीवानी और फ़ौजदारी दोनों अधिकार दिये गये। भारतवासी सिपाहियों की एक सेना भी बनाई गई, जिसमें भारतवासी ही अफ़सर भी रखे गये। शिक्षा-प्रचार के लिए नये स्कूल भी खोले गये। एलबुकर्क को मुसलमानों से बड़ी चिढ़ थी, इसलिए अधिकतर हिन्दू ही नौकर रखे गये। अपने राज्य में उसने सती-प्रथा बन्द करने का भी प्रयत्न किया। इस तरह भारतवर्ष में पहला पाश्चात्य राज्य स्थापित हुआ।

एलबुकर्क

भारतवर्ष में पुर्तगाली साम्राज्य ही स्थापित करना एलबुकर्क का उद्देश्य न था, वह कुल पूर्वीय व्यापार अपने हाथ में रखना चाहता था। इसी उद्देश्य से सन् १५११ में उसने मलक्का पर विजय प्राप्त की। व्यापार की दृष्टि से यह नगर उस समय बड़ा प्रसिद्ध था। चीन, जापान तथा और पूर्वीय द्वीपों का व्यापार इसी नगर द्वारा होता था। यहाँ से मसाला उत्पन्न करनेवाले द्वीपों के खोजने का भी उसने प्रयत्न किया। इस तरह पूर्वीय व्यापार के द्वार पर अधिकार जमा कर, उसने भारतवर्ष के पश्चिमीय व्यापार के द्वारों की ओर निगाह उठाई। यह व्यापार अरब सागर में अदन, और फ़ारस की खाड़ी में उरमुज़ के बन्दरगाहों द्वारा होता था। एलबुकर्क ने इन दोनों को अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न किया। अदन को तो वह न जीत सका, पर

अपनी मृत्यु के पूर्व सन् १५१५ में उरमुज़ पर उसने पुर्तगाली पताका फहरा दी। इस तरह थोड़े ही काल में एलबुकर्क की दूरदर्शिता, चतुरता और वीरता से पूर्व में पुर्तगाल एक बड़ी शक्ति बन गया।

पुर्तगालियों का पतन—परन्तु यह शक्ति बहुत दिन तक क़ायम न रह सकी। एलबुकर्क के मरने पर इसका संचालन ऐसे लोगों के हाथ में आया, जिन्हें वास्तविक अवस्था का पूरा ज्ञान न था। पुर्तगाली कट्टर ईसाई थे, पोप के आज्ञा-पत्र के बल पर उन्होंने भारतवर्ष में अपना राज्य जमाना चाहा था। वास्कोडगामा पहली बार जब भारतवर्ष में आया था, उसका अनुमान था कि मुसलमानों को छोड़कर सब भारतवासी ईसाई हैं। इसी विश्वास पर कालीकट के निकट एक हिन्दू-मन्दिर में पुर्तगालियों ने पूजन भी किया था। हिन्दू-मूर्तियों को वे ईसाई-सन्तों की मूर्तियाँ समझते थे। पुर्तगाल के राजा भी इसी भुलावे में थे, केब्राल को आज्ञा-पत्र देते समय इन 'पथभ्रष्ट' ईसाइयों को 'सदुपदेश' देने के लिए कहा गया था[1]। वास्कोडगामा कुछ लोगों को पकड़ ले गया था, वे पक्के ईसाई बनकर वापस आये। कालीकट-निवासियों ने उनके साथ खाना-पीना अस्वीकार किया, तब पुर्तगालियों की आँखें खुलीं, और उनको अपनी भूल का पता लगा। तभी से ईसाई-धर्म के प्रचार का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

धर्म-प्रचार की धुन में व्यापार और साम्राज्य का ध्यान जाता रहा, एलबुकर्क सा दूरदर्शी शासक भी इसी धुन में पड़ गया। ग़ैर-ईसाई जातियों को तरह तरह की पीड़ाएँ दी जाने लगीं। संन्यासियों का रूप धारण करके भोली भाली जनता को धोखा दिया जाने लगा, और 'ज्ञानोपदेश' के नाम से ईसाई-मत का प्रचार होने लगा। पादरी लोग राज-काज में भी हस्तक्षेप करने लगे। ये लोग उत्तरी भारत भी जा पहुँचे और मुग़ल सम्राट् अकबर तक को ईसाई बनाने का स्वप्न देखने लगे। यद्यपि भारतवर्ष ईसाई न बन सका, पर इस धर्म-प्रचार का यह फल अवश्य हुआ कि

---

१ ह्वाइटवे, राइज़ ऑफ दि पोर्चुगीज़ पावर इन इंडिया, पृ० ३०।

अँगरेज़ों का आगमन—सन् ८८३ में सिघेल्म नामक सबसे पहला अँगरेज़ भारतवर्ष आया था, पर उसका व्यापार से कोई सम्बन्ध न था। वह सन्त टामस की यात्रा करने आया था। परन्तु जब से स्पेनवालों ने अमरीका और पुर्तगालियों ने भारतवर्ष ढूँढ़ निकाला था, तभी से अँगरेज़ भी इन लोगों के साथ अपना हिस्सा लगाने के लिए उत्सुक हो रहे थे। सन् १५११ में इँग्लेंड के राजा आठवें हेनरी से उन्होंने प्रार्थना की थी कि भारतवर्ष जाने की उनको आज्ञा दी जाय। १५७९ में स्टिवेंस नामक एक पादरी गोआ पहुँचा। वह पुर्तगालियों के साथ बहुत समय तक रहा। उसने कनाड़ी, कोकणी और मराठी भाषाओं का अध्ययन किया। मराठी भाषा पर वह बड़ा मुग्ध था, और उसे वह सबसे उत्तम भाषा मानता था। उसने इन भाषाओं का एक व्याकरण और कोकणी भाषा में 'क्रिश्चियन पुराण' नामक एक बड़ा काव्य भी लिखा[1]। इसके पत्रों से इँग्लेंड के व्यापारियों को भारतवर्ष का कुछ पता चला। सन् १५८२ में लन्दन के स्टेपर और ओसबोर्न नामक दो व्यापारियों ने कुछ जहाज़ भारतवर्ष भेजने के लिए तैयार किये। इन जहाज़ों के साथ कई अँगरेज़ थे, जिनको पूर्वीय देशों का कुछ ज्ञान था। इनमें से न्यूबरी महारानी एलिज़बेथ का एक पत्र भी सम्राट् अकबर के नाम लाया था, जिसमें महारानी ने इन लोगों की रक्षा करने और व्यापारिक सुबिधाएँ देने की प्रार्थना की थी। इस पत्र का मुग़ल सम्राट् पर क्या प्रभाव पड़ा इसका कुछ पता नहीं है। उन दिनों सम्राट् के दरबार में पुर्तगालियों का ज़ोर था, अकबर उनसे ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों को सुनता था, इसलिए अनुमान होता है कि अँगरेज़ों की कोई विशेष सुनवाई नहीं हुई। राल्फ़ फ़िच के दिये हुए विवरण से पता चलता है कि लीड्स नामक जौहरी को सम्राट् ने फ़तहपुर सीकरी में रख लिया था।

---

१ रालिंसन, ब्रिटिश बिगिनिंग्स इन वेंस्टर्न इंडिया, पृ० २६-२७।

अपनी मृत्यु के पूर्व सन् १५१५ में उरमुज़ पर उसने पुर्तगाली पताका फहरा दी। इस तरह थोड़े ही काल में एलबुकर्क की दूरदर्शिता, चतुरता और वीरता से पूर्व में पुर्तगाल एक बड़ी शक्ति बन गया।

पुर्तगालियों का पतन—परन्तु यह शक्ति बहुत दिन तक क़ायम न रह सकी। एलबुकर्क के मरने पर इसका संचालन ऐसे लोगों के हाथ में आया, जिन्हें वास्तविक अवस्था का पूरा ज्ञान न था। पुर्तगाली कट्टर ईसाई थे, पोप के आज्ञा-पत्र के बल पर उन्होंने भारतवर्ष में अपना राज्य जमाना चाहा था। वास्कोडगामा पहली बार जब भारतवर्ष में आया था, उसका अनुमान था कि मुसलमानों को छोड़कर सब भारतवासी ईसाई हैं। इसी विश्वास पर कालीकट के निकट एक हिन्दू-मन्दिर में पुर्तगालियों ने पूजन भी किया था। हिन्दू-मूर्तियों को वे ईसाई-सन्तों की मूर्तियाँ समझते थे। पुर्तगाल के राजा भी इसी भुलावे में थे, केब्राल को आज्ञा-पत्र देते समय इन 'पथभ्रष्ट' ईसाइयों को 'सदुपदेश' देने के लिए कहा गया था[1]। वास्कोडगामा कुछ लोगों को पकड़ ले गया था, वे पक्के ईसाई बनकर वापस आये। कालीकट-निवासियों ने उनके साथ खाना-पीना अस्वीकार किया, तब पुर्तगालियों की आँखें खुलीं, और उनको अपनी भूल का पता लगा। तभी से ईसाई-धर्म के प्रचार का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

धर्म-प्रचार की धुन में व्यापार और साम्राज्य का ध्यान जाता रहा, एलबुकर्क सा दूरदर्शी शासक भी इसी धुन में पड़ गया। ग़ैर-ईसाई जातियों को तरह तरह की पीड़ाएँ दी जाने लगीं। संन्यासियों का रूप धारण करके भोली भाली जनता को धोखा दिया जाने लगा, और 'ज्ञानोपदेश' के नाम से ईसाई-मत का प्रचार होने लगा। पादरी लोग राज-काज में भी हस्तक्षेप करने लगे। ये लोग उत्तरी भारत भी जा पहुँचे और मुग़ल सम्राट् अकबर तक को ईसाई बनाने का स्वप्न देखने लगे। यद्यपि भारतवर्ष ईसाई न बन सका, पर इस धर्म-प्रचार का यह फल अवश्य हुआ कि

---

१ व्हाइटवे, राइज़ ऑफ़ दि पोर्चुगीज़ पावर इन इंडिया, पृ० ३०।

अँगरेज़ों का आगमन—सन् ८८३ में सिघेल्म नामक सबसे पहला अँगरेज़ भारतवर्ष आया था, पर उसका व्यापार से कोई सम्बन्ध न था। वह सन्त टामस की यात्रा करने आया था। परन्तु जब से स्पेनवालों ने अमरीका और पुर्तगालियों ने भारतवर्ष ढूँढ़ निकाला था, तभी से अँगरेज़ भी इन लोगों के साथ अपना हिस्सा लगाने के लिए उत्सुक हो रहे थे। सन् १५११ में इँग्लेंड के राजा आठवें हेनरी से उन्होंने प्रार्थना की थी कि भारतवर्ष जाने की उनको आज्ञा दी जाय। १५७९ में स्टिवेंस नामक एक पादरी गोआ पहुँचा। वह पुर्तगालियों के साथ बहुत समय तक रहा। उसने कनाड़ी, कोकणी और मराठी भाषाओं का अध्ययन किया। मराठी भाषा पर वह बड़ा मुग्ध था, और उसे वह सबसे उत्तम भाषा मानता था। उसने इन भाषाओं का एक व्याकरण और कोकणी भाषा में 'क्रिश्चियन पुराण' नामक एक बड़ा काव्य भी लिखा[1]। इसके पत्रों से इँग्लेंड के व्यापारियों को भारतवर्ष का कुछ पता चला। सन् १५८२ में लन्दन के स्टेपर और ओसबोर्न नामक दो व्यापारियों ने कुछ जहाज़ भारतवर्ष भेजने के लिए तैयार किये। इन जहाज़ों के साथ कई अँगरेज़ थे, जिनको पूर्वीय देशों का कुछ ज्ञान था। इनमें से न्यूबरी महारानी एलिज़बेथ का एक पत्र भी सम्राट् अकबर के नाम लाया था, जिसमें महारानी ने इन लोगों की रक्षा करने और व्यापारिक सुविधाएँ देने की प्रार्थना की थी। इस पत्र का मुग़ल सम्राट् पर क्या प्रभाव पड़ा इसका कुछ पता नहीं है। उन दिनों सम्राट् के दरबार में पुर्तगालियों का ज़ोर था, अकबर उनसे ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों को सुनता था, इसलिए अनुमान होता है कि अँगरेज़ों की कोई विशेष सुनवाई नहीं हुई। राल्फ़ फ़िच के दिये हुए विवरण से पता चलता है कि लीड्स नामक जौहरी को सम्राट् ने फ़तहपुर सीकरी में रख लिया था।

---

१ रालिंसन, ब्रिटिश बिगिनिंग्स इन वेस्टर्न इंडिया, पृ० २६-२७।

ईस्ट इंडिया कम्पनी—सन् १५८८ में अँगरेज़ों ने स्पेन के एक बड़े भारी जहाज़ी बेड़े 'आर्मेडा' को नष्ट कर डाला। इस विजय के आनन्द में अँगरेज़ों को सागर-साम्राज्य का स्वप्न दिखलाई देने लगा। अँगरेज़-जहाज़ स्पेन और पुर्तगाली जहाज़ों को लूटने लगे। इन दोनों जातियों के व्यापार में भी हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर मिल गया। सन् १६०० में लन्दन के व्यापारियों की एक कम्पनी स्थापित हुई, जिसको पूर्व में व्यापार करने के लिए महारानी एलिज़बेथ ने आज्ञा दी। कुछ दिनों तक तो मसाले के टापुओं में व्यापार जमाने का प्रयत्न होता रहा, पर सन् १६०३ में मिल्डन हाल नामक अँगरेज़ फिर सम्राट् अकबर के पास भेजा गया। इस बार भी पुर्तगालियों ने सम्राट् के कान भर दिये, और मिल्डन हाल को कोरे ही विलायत वापस जाना पड़ा।

हाकिंस और सर टामस रो—सन् १६०८ में इँग्लेंड के राजा पहले जेम्स का एक पत्र लेकर हाकिंस सम्राट जहाँगीर के दरबार में पहुँचा, और विचित्र कहानियाँ सुना सुनाकर उसने मन-मौजी सम्राट् पर अपना ख़ूब रंग जमाया। जहाँगीर उसको 'इँगलिश-ख़ाँ' कहा करता था, परन्तु पुर्तगालियों के षड्यंत्र से उसे भी शीघ्र ही दरबार छोड़ना पड़ा। सन् १६१२ में गुजरात के मुग़ल सूबेदार के अनुग्रह से जैसे तैसे सूरत में अँगरेज़ों की सबसे पहली कोठी खोली गई। भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर सूरत उन
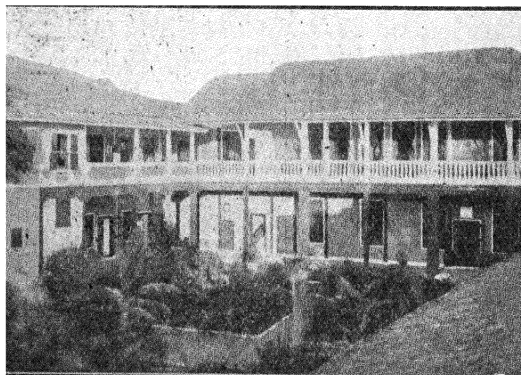
सूरत की कोठी

दिनों सबसे मुख्य स्थान था। यहां सब तरह का व्यापार होता था, और पूर्वीय द्वीपों के जहाज़ ठहरते थे। यहाँ भी पुर्तगालियों ने अँगरेज़ों का पीछा न छोड़ा, वे मुग़ल सूबेदार को अँगरेज़ों के विरुद्ध बहकाने लगे, परन्तु अँगरेज़ों ने समुद्र पर उनकी अच्छी ख़बर ली। फ़ारस की खाड़ी में ईरानियों की सहायता से उन्होंने उरमुज़ छीन लिया, और पुर्तगाली जहाज़ों को अच्छी तरह लूटा। हाकिंस के चले जाने पर कुछ दिनों तक मुग़ल दरबार में अँगरेज़ों की कोई सुनवाई न हुई। सन् १६१५ में कम्पनी की प्रार्थना पर इँग्लेंड के राजा पहले जेम्स ने सर टामस रो को अपना राजदूत बनाकर जहांगीर के दरबार में भेजा। टामस रो तीन वर्ष तक मुग़ल दरबार में रहा, सब तरह से उसने सम्राट् को रिझाया, पर इँग्लेंड से छोटे द्वीप के राजा के साथ मुग़ल सम्राट् बराबर की सन्धि करने के लिए राज़ी न हुआ। अन्त में रो को शाही फ़रमान पर ही सन्तोष करना पड़ा। इसके द्वारा गुजरात के सूबेदारों को आज्ञा दी गई कि वे सूरत और अहमदाबाद के अँगरेज़ कोठीवालों को तंग न किया करें, साथ ही उन्हें देश भर में व्यापार करने तथा अपने धर्मानुसार रहने के अधिकार दिये गये। चलते समय रो ने कम्पनी को सदा व्यापार में लगे रहने की सलाह दी, और राजनैतिक झगड़ों में पड़ने से मना किया। उसका मत था कि व्यापार और युद्ध दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

मदरास, कलकत्ता और बम्बई—पश्चिमी तट पर कई एक कोठियां खोलकर अँगरेज़ पूर्व की ओर बढ़ने लगे। सन् १६२५ में नीलोर ज़िले में अरमगाँव में उन्होंने एक कोठी खोली, पर यहां के शासकों से तंग आकर सन् १६३९ में पूर्वी तट पर उन्होंने कुछ ज़मीन भाड़े पर ली। बाद को यहां के नायक से समझौता करके चन्द्रगिरि के राजा के आज्ञानुसार उन्होंने भारत-भूमि पर सेंट जार्ज नाम का पहला क़िला बनाया। यह क़िला और इसके आस-पास की आबादी ही आधुनिक मदरास है। सूरत के अँगरेज़ डाक्टर बाउटन के इलाज से सम्राट् शाहजहाँ की लड़की जहांनारा अच्छी हो गई, इस पर अँगरेज़ों को बंगाल में भी व्यापार करने की अनुमति मिल गई। सन् १६३३ में पहले बालासोर में एक कोठी बनी, फिर सन् १६५१ में हुगली के

पास एक बस्ती बसाई गई। सन् १६९० में कम्पनी के एक गुमाश्ता जॉब चार्नेक ने वर्तमान कलकत्ता नगर की नींव डाली, यहीं पर फ़ोर्ट-विलियम क़िला बना। सन् १६६१ में इँग्लेंड के राजा दूसरे चार्ल्स को बम्बई का द्वीप दहेज में मिला। यह द्वीप पुर्तगालियों के पास था, डच लोगों के विरुद्ध
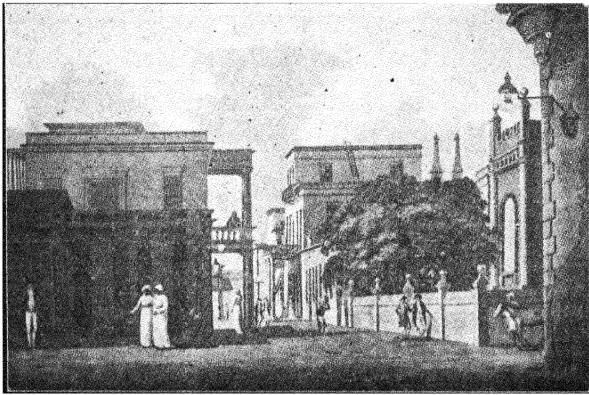
मदरास क़िले का एक भीतरी दृश्य

अँगरेज़ी सहायता लेने की आशा से पुर्तगाल ने इस स्थान को दहेज में दिया था। उस समय चार्ल्स इस स्थान के महत्त्व को न समझ सका, और केवल दस पौंड सालाना पर उसने यह द्वीप कम्पनी को दे दिया। जैसे जैसे अँगरेज़ों की बढ़ती होती गई, इन स्थानों में अधिक भूमि मिलती गई, और अन्त में ब्रिटिश भारत के ये तीन मुख्य प्रान्त होगये। ये तीनों प्रान्त प्रेसीडेंसी कहलाते हैं। प्रेसीडेंसी पहले उस जगह का नाम था, जहाँ कम्पनी की किसी कोठी का अध्यक्ष अथवा प्रेसीडेंट और उसकी कौंसिल के मेम्बर रहते थे।

मुग़लों के साथ युद्ध—सन् १६८३ में जोशिया चाइल्ड सूरत की कोठी का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। इस समय भारतवर्ष में औरंगज़ेब का शासन

था, उसकी नीति से प्रजा असन्तुष्ट हो रही थी। दक्षिण में मराठों ने बग़ावत कर दी थी, दूसरे प्रान्तों में भी अशान्ति की आग सुलग रही थी। ऐसी दशा में अँगरेज़ों को भी अपना राज्य स्थापित करने की सूझने लगी। वे बंगाल के सूबेदार से लड़ बैठे। फल यह हुआ कि मुग़ल सम्राट् की आज्ञा से पटना, कासिम-बाज़ार और मछली-पट्टन की कोठियाँ अँगरेज़ों से छीन ली गईं। सूरत से भी अँगरेज़ों को निकाल बाहर करने की आज्ञा हो गई। अँग-

पुराना कलकत्ता
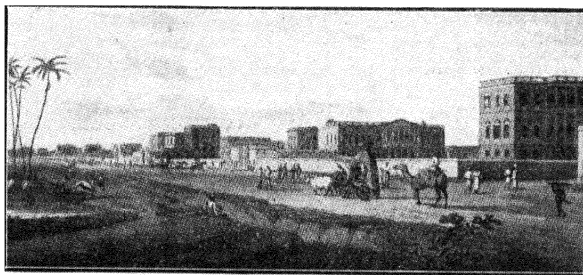
रेज़ों की इस समय क्या शक्ति थी कि वे मुग़ल सम्राट् का सामना कर सकते! बिना सोचे-समझे उन्होंने सेना भेजने के लिए विलायत लिख दिया था। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। परन्तु उन्होंने इस समय पर बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। पश्चिमी तट पर जो मुग़ल जहाज़ थे उन्हें पकड़ लिया, और हज्ज के लिए मक्का शरीफ़ जानेवाले मुसलमान यात्रियों को तंग करना शुरू किया। इस पर औरंगज़ेब ने अपनी नीति बदल दी, १७ हज़ार पौंड जुरमाना लेकर कम्पनी को क्षमा कर दिया, और फिर से व्यापार करने की आज्ञा दे दी।

संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में इँग्लैंड में कम्पनी के बहुत से विरोधी उत्पन्न होगये। इसको माला-माल देखकर और व्यापारी भी भारतवर्ष में व्यापार करने का विचार करने

लगे। थोड़े दिन बाद उन्होंने एक नई कम्पनी बनाई। पुरानी कम्पनी के संचालक इसे सहन न कर सके, फल यह हुआ कि दोनों में खूब झगड़ा चल पड़ा। इँग्लेंड और भारत दोनों देशों में दोनों कम्पनियों के कर्मचारी आपस में लड़ने लगे। इस परस्पर की फूट से व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा, और दोनों कम्पनियों को ज्ञात होगया कि इससे किसी को भी लाभ न होगा। इस पर दोनों ने समझौता कर लिया और सन् १७०८ में ये दोनों कम्पनियां एक में मिला दी गईं। आगे चल कर इसी संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतवर्ष में राज्य हुआ।

अन्य विदेशी कम्पनियों की तरह इसका संचालन इँग्लेंड की सरकार के हाथ में न था। पांच सौ पौंड के हिस्सेदारों की एक सभा थी, जो 'कोर्ट ऑफ़ प्रोप्राइटर्स' कहलाती थी, कम्पनी के सम्बन्ध की सब बातों का अन्तिम निर्णय इस संस्था के हाथ में था। इसमें से चुने हुए कुछ मेम्बरों की एक छोटी समिति थी, जो 'कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स' के नाम से प्रसिद्ध थी। कम्पनी का संचालन और साधारण प्रबन्ध इस समिति के हाथ में था। इन दोनों संस्थाओं में बड़ी खटपट रहती थी। भारतवर्ष में बम्बई, मदरास और कलकत्ता ये तीन मुख्य स्थान थे, जहाँ पर इसके अध्यक्ष रहते थे। इन अध्यक्षों की एक छोटी सी कौंसिल भी रहती थी। इँग्लेंड के राजा दूसरे चार्ल्स के एक आज्ञा-पत्र से इनको अपनी रक्षा के लिए कुछ सेना रखने और ग़ैर-ईसाई शक्तियों से युद्ध तथा सन्धि करने के भी अधिकार मिल गये थे। इनका व्यापार बनियों के द्वारा होता था। हर एक बनिये के कई एक गुमाश्ते रहते थे, जो अध्यक्ष का परवाना लेकर माल ख़रीदने के लिए ज़मीन्दारों के पास जाते थे। गांवों में इनके रहने का स्थान कचहरी कहलाता था। हरकारों के द्वारा यहां वह दलाल और जुलाहों को बुलाता था, और उनको कुछ पेशगी देकर लिखा लेता था कि अमुक समय तक इतना माल उनको इतने दाम पर देना होगा।

इन दिनों कम्पनी के कर्मचारियों का वेतन बहुत कम होता था, कोठियों के अध्यक्षों को पचास रुपया माहवार से अधिक न मिलता था।

निजी लाभ के लिए वे किसी प्रकार का व्यापार न कर सकते थे. इसका एक-मात्र अधिकार केवल कम्पनी को था। ऐसी दशा में अनुचित उपायों से वे अपना काम चलाते थे। इँग्लेंड से इनका निरीक्षण असम्भव सा था, क्योंकि कम से कम एक वर्ष में तो वहां से पत्र ही आता था। सारा काम बड़े बड़े अध्यक्षों के हाथ में था। कम्पनी के संचालक, डाइरेक्टरों को, उनकी कार्रवाइयों का पता तक भी न लगता था।

फ्रांसीसी कम्पनी—पुर्तगाल, हालेंड और इँग्लेंड की देखादेखी सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस ने भी भारतवर्ष से व्यापार प्रारम्भ किया। सन् १६४२ में फ्रांसीसी मंत्री रीशलू के उद्योग से एक कम्पनी स्थापित हुई, पर इसका काम नहीं चला, इसलिए सन् १६६४ में एक दूसरी कम्पनी स्थापित की गई। इस कम्पनी ने एक कोठी सूरत में और दूसरी मछली-पट्टन में खोली। इसके दस वर्ष बाद पांडुचेरी की नींव पड़ी। कलकत्ता के पास चन्द्रनगर में भी इन लोगों ने एक कोठी खोली। इन दिनों यूरोप में हालेंड और फ्रांस में युद्ध छिड़ा हुआ था, इसका प्रभाव भारत-वर्ष में भी पड़ा। यहां भी फ्रांसीसी और डच लोगों में झगड़ा होने लगा। सन् १६९५ में डच लोगों ने पांडुचेरी पर अधिकार कर लिया, परन्तु बाद को सन्धि हो जाने पर लौटा दिया। फ्रांसीसियों ने भी डच-व्यापार को खूब क्षति पहुँचाई। इन दोनों की अनबन से इँग्लेंड ने मनमाना लाभ उठाया। मुग़ल साम्राज्य का पतन होने पर फ्रांस को भी भारत में राज्य स्थापित करने की सूझी, पर इस उद्योग में उसको इँग्लेंड से घोर लड़ाई करनी पड़ी, जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

अन्य कम्पनियाँ—सन् १६१६ में डेन्मार्क-निवासियों ने भी एक कम्पनी बनाई। सन् १६७६ में कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर में इनकी कोठी खुली। सन् १७३१ में स्वेडनवालों ने भी इसके लिए प्रयत्न किया। सन् १७४४ में प्रशिया के राजा, और सन् १७८४ में आस्ट्रिया के सम्राट् ने भी कम्पनियां स्थापित कीं। प्रशिया की कम्पनी के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी अपना निजी व्यापार करते थे। जब संचालकों को यह पता

लगा, तब उन्होंने इसको रोकने के लिए बड़ी कड़ी आज्ञा दी। यूरोप के राजनैतिक झगड़ों और डच तथा अँगरेज़ों के प्रबल विरोध के कारण, इन कम्पनियों को सफलता प्राप्त न हुई, और थोड़े ही दिनों में इनका काम बन्द होगया।

अँगरेज़ों की सफलता—सत्रहवीं शताब्दी में भारत की अतुल सम्पत्ति देखकर यूरोप की सभी जातियां ललचा रही थीं। उसके व्यापार में सभी ने हिस्सा लगाना चाहा, पर अन्त में अँगरेज़ों के सिवा और किसी की दाल न गली। इसके कई कारण थे। पुर्तगाली सबसे पहले आये, पर वे भारत की परिस्थिति को न समझ सके। धर्मप्रचार की धुन में पड़कर उन्होंने अपना व्यापार अपने हाथ चौपट कर डाला। उनकी संकीर्ण नीति और उसके परिणामों का उल्लेख किया जा चुका है। अल-मिडा की सलाह पर न चलकर उन्होंने भारी भूल की। उनकी जहाज़ी शक्ति सदा कमज़ोर रही। पुर्तगालियों के बाद डच लोग आये। ये बड़े साहसी और वीर थे, इनके पास धन की कमी न थी, और राज्य की ओर से भी पूरी सहायता मिलती थी। परन्तु इनका ध्यान भारत की अपेक्षा मसाले के टापुओं की ओर अधिक था, इसके अलावा जहाज़ी ताक़त में अँगरेज़ों का मुक़ाबला करना सहज न था। फ़्रांसीसी औरों की अपेक्षा देर में आये। उनकी कम्पनी सरकारी कम्पनी थी, उसके कारबार में वहां के राजकर्मचारी बराबर हस्तक्षेप किया करते थे। फ़्रांसीसी व्यापार-कला में दक्ष न थे, इसी लिए व्यापार में उन्होंने कोई विशेष उन्नति नहीं की। अँगरेज़ों ने प्रारम्भ से ही अपनी जहाज़ी ताक़त बढ़ाने का प्रयत्न किया। भारत के व्यापार में वे सागरों का महत्त्व भली भांति समझते थे। उनके नाविक चतुर और साहसी थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य से विशेष सम्बन्ध न था। प्रसिद्ध व्यापारियों के उद्योग से ही उसकी स्थापना हुई थी। इस समय इसका संगठन ऐसा था कि राजकर्मचारियों को मनमाना हस्तक्षेप करने का अव-सर बहुत कम मिलता था। इँग्लेंड के राजा रुपये के लालच से सदा इसकी सहायता करने के लिए उद्यत रहते थे। कम्पनी के कर्मचारी बड़े व्यापार-कुशल

थे। उन्होंने इस अवसर पर बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया, पहले उच्च लोगों का साथ देकर पुर्तगाल की शक्ति नष्ट कर डाली, फिर हालेंड और फ्रांस में लड़ाई छिड़ने पर अपना मतलब गांठ लिया। इँग्लेंड के सौभाग्य से उसके शत्रु आपस ही में लड़ मरे।

इँग्लेंड की व्यापार-नीति—विदेशियों के आने से भारतवर्ष के व्यापार में एक बड़ा गोलमाल प्रारम्भ हो गया। जवाहरात, सूती तथा रेशमी कपड़े और हाथीदाँत की बनी हुई चीज़ें बहुत दिनों से भारतवर्ष से यूरोप जाती थीं। इनके कारबारी सब हिन्दुस्तानी थे, और इनका व्यापार मुसलमान सौदागरों के हाथ में था। इन बनी हुई चीज़ों के अतिरिक्त रंग, नील, दवाइयां, लौंग, मिर्च, मसाला, अफ़ीम और शोरा भी बाहर जाता था। यह सब माल भारतवर्ष के ही बने हुए जहाज़ों पर लदकर बाहर जाता था। विदेशियों ने धीरे धीरे यह व्यापार अपने हाथ में ले लिया। व्यापारिक संग्राम में अन्य विदेशियों को पीछे हटाकर अँगरेज़ों ने इस व्यापार पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया। पूर्वी और पश्चिमी तट, तथा बंगाल और उत्तरी भारत के मुख्य मुख्य स्थानों में इनकी कोठियाँ खुल गईं। उन दिनों सूरत में सूत का काम होता था, अहमदाबाद में रेशम और ज़री का काम बनता था। आगरे से लाख, चपड़ा, नील, सूती छींट और बाफता जाता था। बंगाल में नील और शोरा के काम के अलावा बारीक सूती कपड़े, तंज़ेब, मलमल और आबेरवाँ खूब बनते थे। कालीकट से मिर्च और मसाले लादे जाते थे। इस व्यापार से इस समय तक भारत और इँग्लेंड दोनों का लाभ होता था। पर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से इँग्लेंड की व्यापार-नीति में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। सन् १६६७ में लन्दन के जुलाहों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार पर बड़ा असन्तोष प्रकट किया। उनका कहना था कि हिन्दुस्तानी माल के आगे उनके रेशमी कपड़े को कोई पूछता तक नहीं है, इससे उनका रोज़गार चौपट हो रहा है। यह आन्दोलन इतना प्रबल हुआ कि सन् १७०० में पार्लमेंट को हिन्दुस्तानी कपड़े पर १५ सैकड़ा चुंगी लगानी पड़ी। सन् १७०१ में

एक दूसरा क़ानून बनाया गया, जिसकी भूमिका में कहा गया कि हिन्दुस्तान के इस व्यापार से देश को बड़ी क्षति पहुँच रही है, सारा धन बाहर जा रहा है, ग़रीबों की रोज़ी मारी जा रही है, इसलिए पूर्व के बने हुए कपड़ों का व्यवहार देश में न होना चाहिए। सन् १७०२ में यह क़ानून और भी कड़ा बना दिया गया। ऊनी और रेशमी कपड़ों की बुनाई का काम इँग्लेंड में एक-दम बन्द न हो जाय, इस उद्देश्य से हिन्दुस्तान के बने और छपे हुए कपड़ों का पहनना बिलकुल मना कर दिया गया। भारतवर्ष के व्यापार पर इस नीति का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा।

अँगरेज़ों का रहन-सहन—इन दिनों भारतवर्ष में रहनेवाले अँगरेज़ तथा यूरोप के लोगों का रहन-सहन दूसरे ढंग का था। ये लोग 'फिरंगी' या 'कुलापोश' कहलाते थे। इनके अध्यक्ष साधारण जनता पर रोब जमाने के लिए आसाबरदारों के साथ पालकियों पर चलते थे। कुछ लोग हिन्दुस्तानी ढंग के कपड़े पहनते थे। क्लाइव के समय तक कई एक अँगरेज़ अफ़सरों के साथ पानदान और पीकदान रहते थे[१]। यूरोपीय महिलाएँ पहले बहुत कम आती थीं, जो आ जाती थीं, वे प्रायः चिकों के परदे में रहती थीं। काम चलाने के लिए कुछ लोगों को देशी भाषाएँ सीखनी पड़ती थीं। शराब और जुआ का बहुतों को बड़ा व्यसन था[२]। इन्हीं के कारण बड़ा झगड़ा हुआ करता था। इस दशा को सुधारने के लिए बराबर इँग्लेंड से लिखा जाता था।

---

१ डाडवेल, दि नबाब्स ऑफ मदरास, पृ० १८४।

२ एंडर्सन, दि इंग्लिश इन वेस्टर्न इंडिया, पृ० १००-१०१।

परिच्छेद २

फ्रांसीसी और अँगरेज़

राजनैतिक अशान्ति—मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब के जीवन-काल ही में, उसकी अनुदार नीति के कारण देश भर में अशान्ति की आग सुलग रही थी, उसके मरने पर तो वह पूर्ण रूप से भभक उठी। थोड़े ही दिनों में मराठों का दिल्ली तक आतंक जम गया। पंजाब में सिख बिगड़ पड़े। राजपूत साम्राज्य से अलग होगये। चतुर मुसलमान सरदार भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे। सन् १७२२ में दक्षिण का सूबेदार आसफ़जाह वज़ीर बनाया गया, दो ही वर्ष में उसने दिल्ली दरबार की दुर्दशा देख ली और सन् १७२४ में वापस जाकर हैदराबाद में निज़ाम राज्य की नींव डाली। अवध के सूबेदार सादतख़ाँ ने दिल्ली से सम्बन्ध तोड़ दिया। बंगाल के सूबेदार अलीवर्दीख़ाँ ने राज्य-कर भेजना बन्द कर दिया। गंगा के उत्तरी प्रदेश में रुहेलों ने रुहेलखंड का राज्य स्थापित कर लिया। इस तरह बीस ही पचीस वर्ष में सारा मुग़ल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, मुख्य सूबे स्वतंत्र हो गये, और अकबर के उत्तराधिकारी नाम-मात्र के लिए सम्राट् रह गये। सारे देश में अशान्ति फैल गई, और आपस ही में युद्ध छिड़ गया। ऐसी दशा में यूरोप के लोगों को भारत में अपनी शक्ति दृढ़ करने का अच्छा अवसर मिल गया। इनमें इस समय केवल अँगरेज़ और फ्रांसीसियों का ही अधिक ज़ोर था। इन दोनों ने पहले दक्षिण

में कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लेकर राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

फ़्रांसीसी शक्ति की वृद्धि—सन् १७०१ में पांडुचेरी की नींव डालनेवाला मार्टिन फ़्रांसीसियों के अधिकृत स्थानों का मुख्य अध्यक्ष बनाया गया। इस समय पांडुचेरी के अतिरिक्त मछलीपट्टन, सूरत, कालीकट, बालेश्वर, ढाका, पटना, चन्द्रनगर और कासिमबाज़ार में फ़्रांसीसियों की थोड़ी बहुत ज़मीन थी। मार्टिन की अध्यक्षता में पांडुचेरी की बहुत कुछ उन्नति हुई, उसकी आबादी बढ़ गई, और उसमें अच्छी अच्छी इमारतें बन गईं। मार्टिन देशी शासकों से बहुत मेल रखता था और उनके अधीन रह-कर ही फ़्रांसीसी शक्ति को दृढ़ करना चाहता था। सन् १७२३ में कम्पनी की आर्थिक दशा सुधर जाने से इसके व्यापार में भी बहुत कुछ उन्नति हुई। दस ही पन्द्रह वर्ष में इसका व्यापार इतना बढ़ गया कि अँगरेज़ घबड़ा उठे। अँगरेज़ी कम्पनी के संचालकों ने इँग्लेंड से लिख भेजा कि फ़्रांसीसी व्यापार की पूरी देख-रेख रखनी चाहिए, और उनको इसका बराबर पता मिलना चाहिए। अँगरेज़ों को इस बात की बड़ी शिकायत थी कि फ़्रांसीसी उनके जुलाहों को बहका ले जाते थे। इसको रोकने के लिए उन्हें देशी शासकों से सहायता लेनी पड़ती थी।

ड्यूमा की सफलता—सन् १७३५ में ड्यूमा पांडुचेरी का अध्यक्ष बनाया गया। यह बड़ा दूरदर्शी और चतुर मनुष्य था, मार्टिन की नीति पर चलकर इसने देशी शासकों से बड़ा मेल-जोल पैदा किया। कर्नाटक के नवाबों का यह बड़ा मित्र था। जब मराठों ने आक्रमण किया, तब इसने नवाब के कुटुम्ब को पांडुचेरी में स्थान दिया। इस पर मराठे बहुत बिगड़े, पर इसने बड़ी चतुरता से राघोजी भोंसला का क्रोध शान्त किया। माही इसके पहले ही फ़्रांसीसियों के हाथ में आगई थी, तंजोर के राजा को कुछ रण-सामग्री देकर इसने कारीकल पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इसकी प्रशंसा दूर दूर तक पहुँचने लगी। मुग़ल सम्राट् ने प्रसन्न होकर सिक्का ढालने का अधिकार फ़्रांसीसियों को दे दिया, और ४,५०० सवारों का

मनसब देकर ड्यूमा को नवाब बना दिया। इस पर वह नवाबी शान से रहने लगा, परन्तु इस समय तक उसको फ़्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने की न सूझी थी, वह मुग़ल सम्राट् और कर्नाटक के नवाब के अधीन रहकर ही फ़्रांसीसी शक्ति को ख़ूब मज़बूत बनाना चाहता था। पांच वर्ष के शासन में उसने दक्षिण में फ़्रांसीसियों की अच्छी धाक जमा दी।

डूप्ले की अध्यक्षता—सन् १७४२ में डूप्ले पांडुचेरी का अध्यक्ष होकर आया। पहले यह चन्द्रनगर में था, और वहां इसने बहुत कुछ उन्नति की थी। बहुत काल तक भारतवर्ष में रहने के कारण यह भारतवासियों के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित था, और उनकी कमज़ोरियों को ख़ूब समझता था। अध्यक्ष होने पर इसने बड़े धूम-धाम से मुग़ल सम्राट् की प्रदान की हुई नवाब की उपाधि को धारण किया। बहुत दिनों तक ड्यूमा की नीति में उसने किसी प्रकार का परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। पहले उसने कम्पनी के कर्मचारियों को ठीक किया और फिर व्यापार की उन्नति में मन लगाया।

अँगरेज़ों की स्थिति—फ़्रांसीसियों के इस वैभव से अँगरेज़ों को बड़ी जलन हो रही थी और वे इसको किसी न किसी तरह नष्ट करने का उपाय सोच रहे थे। परन्तु इस समय अँगरेज़ी कम्पनी के कर्मचारियों में डूप्ले की टक्कर का कोई भी मनुष्य न था। मदरास के अध्यक्ष मोर्स को असली हालत का ज्ञान न था। यूरोप में इन दिनों एक घोर युद्ध छिड़ा हुआ था, और उसमें इँग्लेंड और फ़्रांस दोनों एक दूसरे के विरुद्ध खड़े होनेवाले थे। इस युद्ध से भारतवर्ष के व्यापार को हानि न पहुँचे, इसलिए इन दोनों कम्पनियों के अधिकारियों ने अपने कर्मचारियों को युद्ध में भाग लेने से मना कर दिया था। परन्तु एक दूसरे के व्यापार को नष्ट करने पर तुले हुए कर्मचारी इस बात को मानने के लिए तैयार न थे।

पहला युद्ध—सन् १७४४ में फ़्रांस और इँग्लेंड में लड़ाई छिड़ गई। इँग्लेंड-सरकार का एक जहाज़ी बेड़ा भारत महासागर में आ पहुँचा, और उसने फ़्रांसीसी व्यापारी जहाज़ों को पकड़ना और लूटना

प्रारम्भ कर दिया। इस पर डूप्ले ने मद्रास के अध्यक्ष को उदासीन रहने के लिए लिख भेजा पर वहाँ से जवाब मिला कि सरकारी बेड़ा उनके अधीन नहीं है। पांडुचेरी सुरक्षित स्थान न होने से डूप्ले लड़ाई के लिए तैयार न था, इसलिए उसने अर्काट के नवाब अनवरुद्दीन से फ़्रांसीसियों की रक्षा करने की प्रार्थना की। नवाब ने अँगरेज़ों को लिख भेजा कि यदि वे पांडुचेरी पर हमला करेंगे तो उनके लिए अच्छा न होगा। इस पर अँगरेज़ों ने मद्रास पर आक्रमण करने से फ़्रांसीसियों को रोकने के लिए भी कहा।

मद्रास पर फ़्रांसीसियों का अधिकार

इधर डूप्ले ने भी फ़्रांसीसी सरकार के एक जहाज़ी बेड़े को बुला भेजा। इस बेड़े का अध्यक्ष लाबरडोने था। यह पहले भी भारतवर्ष आ चुका था।

इसने आते ही मदरास पर धावा कर दिया; और बिना लड़े-भिड़े अँगरेज़ों को निकाल बाहर किया। इस तरह सन् १७४६ में मदरास पर फ्रांसीसी पताका फहराने लगी।

डूप्ले और लाबरडोने की आपस में न पटती थी; ये दोनों बड़े घमंडी और उद्दंड स्वभाव के आदमी थे। डूप्ले भारतवर्ष में फ्रांसीसियों का अध्यक्ष था, लाबरडोने फ्रांस के सरकारी जहाज़ों का अफ़सर था, इसलिए ये दोनों एक दूसरे को अपने अधीन समझते थे। लाबरडोने जब से पांडुचेरी आया था, तभी से उसका डूप्ले से झगड़ा चल रहा था। वह डूप्ले की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही एक बड़ी रक़म के बदले में तीन महीने के अन्दर अँगरेज़ों को मदरास लौटा देने का वचन देकर फ्रांस वापस चला गया। डूप्ले ने इस समझौते को मानने से इनकार कर दिया।

सेंट टोम की चढ़ाई—फ्रांसीसियों ने अर्काट के नवाब की आज्ञा के विरुद्ध मदरास पर धावा किया था, इस पर अँगरेज़ों ने नवाब का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। परन्तु डूप्ले ने नवाब को मदरास दे देने का वादा कर दिया, तब नवाब ने अँगरेज़ों को टाल दिया। किन्तु जब नवाब ने देखा कि डूप्ले का विचार मदरास छोड़ने का नहीं है और वह उसे बातों ही में टाल रहा है, तब उसने अपने लड़के की अध्यक्षता में एक सेना भेजी। मदरास के निकट अदयार नदी के तट पर मैलापुर नामक स्थान में इस सेना का फ्रांसीसी सेना से सामना हुआ। फ्रांसीसी सेना ख़ूब क़वायद जानती थी और उसके पास बन्दूकें भी अच्छी थीं, इसलिए थोड़ी संख्या होते हुए भी बात की बात में उसने अव्यवस्थित बड़ी भारी मुग़ल सेना को परास्त कर दिया। जिस स्थान पर यह लड़ाई हुई थी, वहां पर सेंट टोम नाम का एक पुर्तगाली क़िला था, इसीलिए यह लड़ाई सेंट टोम की लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है। इतिहासकारों ने इस लड़ाई को बड़ा महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि इससे भारतीय सेना की कमज़ोरियों का पता यूरोप-निवासियों को अच्छी तरह मिल गया और पाश्चात्य युद्ध-प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध हो गई। फ्रांसीसियों के लिए यह बड़ी भारी विजय थी।

इस समय तक वे अपने को नवाब के अधीन मानते थे, अब वही नवाब उनसे सन्धि की प्रार्थना करने लगा। इस युद्ध से दक्षिण में डूप्ले का भी खूब रोब जम गया।

एलाशपल की सन्धि—इस पर फ़्रांसीसियों ने अँगरेज़ों के दूसरे क़िले सेंट डेविड को जीतने का प्रयत्न आरम्भ किया, परन्तु अँगरेज़ी अफ़सर लारेंस की वीरता और चतुरता के कारण डूप्ले का सारा प्रयत्न निष्फल गया। इधर अँगरेज़ों के तेरह जहाज़ और आ पहुँचे और उन्होंने पांडुचेरी पर धावा बोल दिया। सुरक्षित स्थान न होने पर भी डूप्ले ने बड़ी बुद्धिमानी और चतुरता के साथ पांडुचेरी की रक्षा की। इतने ही में यूरोप से एलाशपल[1] की सन्धि के समाचार आगये, जिससे दोनों दलों को युद्ध बन्द करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार सन् १७४८ में डूप्ले को मदरास अँगरेज़ों को वापस कर देना पड़ा।

दूसरा युद्ध—इस सन्धि से यूरोप में तो कुछ काल के लिए अँगरेज़ों और फ़्रांसीसियों में शान्ति स्थापित होगई, पर भारतवर्ष में ऐसा न हो सका। दोनों के पास काफ़ी सेनाएँ थीं, दोनों को लड़ाई का चस्का लगा हुआ था, दोनों ने समझ लिया था कि किसी एक को नष्ट किये बिना दूसरे की गुज़र नहीं है, इसलिए युद्ध जारी रखने का उन्होंने एक दूसरा ही ढंग निकाल लिया। इन दिनों देशी शासकों में बड़ा झगड़ा चल रहा था। ऐसी दशा में विरुद्ध पक्ष लेकर उन्होंने एक दूसरे की शक्ति नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

निज़ाम की मृत्यु—सन् १७४८ में दक्षिण के सूबेदार वृद्ध आसफ़-जाह की मृत्यु हो गई। यह नाम-मात्र को मुग़ल सम्राट् के अधीन था, वास्तव में इसका दिल्ली से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। इसके कई लड़के थे। सबसे बड़ा लड़का दिल्ली में रहता था, उसको दक्षिण के राज्य की पर्वाह न थी, इसलिए उसका दूसरा भाई नासिरजंग

---

१ यह एक स्थान का नाम है, जो हालेंड में है।

गद्दी पर बैठा। दक्षिण के एक तत्कालीन लेखक आनन्द रंग पिलाई ने पहले ही से लिख दिया था कि वृद्ध निज़ाम की मृत्यु पर दक्षिण में एक भीषण युद्ध छिड़ेगा। उसकी बात ठीक निकली। नासिरजंग का एक भानजा मुज़फ़्फ़रजंग स्वयं निज़ाम बनने का उद्योग करने लगा। इधर कर्नाटक में भी एक ऐसा ही झगड़ा उत्पन्न हो गया। अनवरुद्दीन को निज़ाम ने कर्नाटक का नवाब बनाया था। वहाँ के भूतपूर्व नवाब का दामाद चान्दा साहब बहुत दिनों से अनवरुद्दीन को निकालने के प्रयत्न में था। इस समय मुज़फ़्फ़रजंग और चान्दा साहब दोनों ने डूप्ले से सहायता माँगी। पिछली लड़ाई से डूप्ले का हौसला बढ़ा हुआ था, और वह ऐसे ही किसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने देखा कि इन दोनों की सहायता करने से फ्रांसीसी सेना का ख़र्चा उसको न उठाना पड़ेगा, और यदि सफलता हो गई तो दक्षिण के सूबेदार और कर्नाटक के नवाब दोनों उसके हाथ में आ जायँगे। इसलिए वह दोनों की सहायता करने के लिए राज़ी होगया। तंजोर की गद्दी के झगड़े में अँगरेज़ भाग ले चुके थे, यह उसके सामने उदाहरण मौजूद था।

निज़ाम आसफ़जाह

अम्बर की लड़ाई—डूप्ले की सलाह से पहले कर्नाटक पर अधिकार करना निश्चित हुआ। सन् १७४९ के अगस्त महीने में अम्बर में लड़ाई हुई,

जिसमें फ़्रांसीसी सेना की सहायता से चान्दा साहब की विजय हुई, और कर्नाटक का नवाब अनवरुद्दीन मारा गया। दूसरे ही दिन अर्काट पहुँच कर चान्दा साहब कर्नाटक की गद्दी पर बैठ गया और मुज़फ़्फ़रजंग ने अपने निज़ाम होने की घोषणा कर दी। सहायता के बदले में चान्दा साहब ने फ़्रांसीसियों को अस्सी गाँव दिये। इस सफलता से डूप्ले का हौसला खूब बढ़ गया। अब उसको व्यापार से ही सन्तोष न रहा और वह भारतवर्ष में फ़्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। उसने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि व्यापार में अँगरेज़ों का मुक़ाबला करने की अपेक्षा यूरोपीय ढंग से संगठित सेना द्वारा निर्बल तथा व्यसनी देशी शासकों का विध्वंस करना कहीं सहज है। इसलिए उसने अब अपना मार्ग ही बदल दिया। परन्तु उसके इस मार्ग में भी अँगरेज़ बाधक बन बैठे।

अँगरेज़ों का प्रयत्न—अम्बर की लड़ाई से अनवरुद्दीन का एक लड़का मुहम्मदअली भाग निकला और त्रिचनापल्ली पहुँचकर उसने अँगरेज़ों से सहायता मांगी। इधर निज़ाम नासिरजंग ने भी मुज़फ़्फ़रजंग के विरुद्ध अँगरेज़ों से सहायता की प्रार्थना की। डूप्ले की उन्नति से जले हुए अँगरेज़ ऐसे अवसर की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, इसलिए उन्होंने दोनों को सहायता देना स्वीकार कर लिया। डूप्ले का मत था कि जब तक मुहम्मदअली त्रिचनापल्ली में है तब तक चान्दा साहब सुरक्षित नहीं रह सकता, इसलिए वह त्रिचनापल्ली से मुहम्मदअली को निकालना चाहता था। परन्तु इस समय उसके फ़ौजी अफ़सर उसका साथ नहीं दे रहे थे, दूसरे चान्दा साहब तंजोर के राजा के पीछे पड़ा था, ऐसी दशा में उसको सफलता न हुई। उधर अँगरेज़ों की सहायता से नासिरजंग ने मुज़फ़्फ़रजंग को हरा दिया। इसलिए डूप्ले का बना बनाया काम बिगड़ गया, पर उसका साहस नहीं छूटा। उसने ऐसी चाल चली कि नासिरजंग की सेना में फूट फैल गई और उसी के आदमियों ने उसको मार डाला। इस पर मुज़फ़्फ़रजंग निजाम बन गया।

फ़्रांसीसियों की सफलता—डूप्ले के लिए यह बड़ी भारी विजय थी। दक्षिण के सूबेदार और कर्नाटक के नवाब दोनों उसके हाथ में आ गये थे। जिस स्थान पर नासिरजंग मारा गया था, वहाँ पर उसने एक विजयस्तम्भ खड़ा किया और उस स्थान का नाम डूप्ले-फ़तेहाबाद रखा। मुज़फ़्फ़रजंग ने प्रसन्न होकर फ़्रांसीसियों को कई गांव और बहुत सा नक़द रुपया दिया। कहा जाता है कि उस समय डूप्ले को भी एक बड़ी रक़म और जागीर मिली। डूप्ले को वह दक्षिण का स्वामी समझने लगा और उसने कृष्णा नदी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। चान्दा साहब भी फिर अर्काट पहुँच गया और इस बार भी उसने फ़्रांसीसियों को बहुत धन दिया। इसी समय एक छोटी सी लड़ाई में मुज़फ़्फ़रजंग मारा गया। इसका फल यह हुआ कि सूबेदारी के लिए फिर झगड़ा चल पड़ा। इस पर भी फ़्रांसीसी घबड़ाये नहीं। उनके सेनाध्यक्ष बुसी की सहायता से आसफ़जाह का तीसरा लड़का सलाबतजंग सन् १७५१ में सूबेदार बन गया। बुसी उसका संरक्षक नियुक्त हुआ और बहुत दिनों तक हैदराबाद में बना रहा। निज़ाम से निश्चिन्त होकर डूप्ले ने त्रिचनापल्ली लेने का फिर से प्रयत्न प्रारम्भ किया। फ़्रांसीसी सेना के साथ चान्दा साहब ने त्रिचनापल्ली को घेर लिया।

क्लाइव की चाल—अब अँगरेज़ों ने देखा कि मुहम्मदअली की सहायता करके किसी न किसी तरह त्रिचनापल्ली की रक्षा करनी चाहिए। कर्नाटक भर में यही एक ऐसा स्थान रह गया था, जिस पर फ़्रांसीसियों का अधिकार न था, और मुहम्मदअली ही तब तक उनके अधीन न बन पाया था। पर इसका कोई ठीक उपाय उनकी समझ में न आ रहा था। इस समय क्लाइव के दिमाग़ ने उनकी सहायता की, उसने एक ऐसी चाल ढूँढ़ निकाली, जिससे सारा घटना-चक्र ही बदल गया। सन् १७४४ में वह भारतवर्ष आया था, और मदरास में लेखक के पद पर काम करता था। जब सन् १७४६ में फ़्रांसीसियों ने मदरास छीन लिया, तब वह अन्य कर्मचारियों के साथ सेंट डेविड के क़िले में चला गया। फ़्रांसीसियों के आक्रमण करने पर

उसने क़लम फेंककर तलवार उठाई और लारेंस की अध्यक्षता में बड़ी वीरता के साथ उस गढ़ की रक्षा में भाग लिया। तंजोर के झगड़े में भी उसने अपनी वीरता और चतुरता का परिचय दिया। इस पर अँगरेज़ी सेना में उसको एक छोटा सा पद मिल गया। उसने सोचा कि चान्दा साहब त्रिचनापल्ली घेरे हुए है, उसकी राजधानी अर्काट ख़ाली है, इसलिए यदि अर्काट पर आक्रमण किया जाय तो चान्दा साहब त्रिचनापल्ली छोड़कर अर्काट की रक्षा के लिए दौड़ेगा, और मुहम्मदअली का संकट दूर हो जायगा।

क्लाइव

अर्काट का घेरा—मदरास के अध्यक्ष सांडर्स ने उसकी इस सलाह को मान लिया, और थोड़ी सी सेना के साथ अर्काट पर आक्रमण करने की अनुमति देदी। वह तीन सौ हिन्दुस्तानी सिपाही और दो सौ अँगरेज़ सैनिकों के साथ चल पड़ा। मार्ग में उसने सिपाहियों को क़वायद का ख़ूब अभ्यास कराया, और सरल व्यवहार से उन सबको अच्छी तरह अपने वश में कर लिया। उसके पहुँचते ही अर्काट के संरक्षकों ने हिम्मत हार दी,

और बिना लड़े-भिड़े अर्काट क्लाइव के हाथ आ गया। क्लाइव ने जैसा कुछ सोचा था, वैसा ही हुआ। अँगरेज़ी विजय का समाचार सुनते ही चान्दा साहब ने अपनी सेना का एक बड़ा भारी भाग अपने लड़के रज़ा साहब की अध्यक्षता में अर्काट के छीनने के लिए भेज दिया। रज़ा साहब ५३ दिन तक अर्काट को घेरे पड़ा रहा, पर क्लाइव को न निकाल सका। क्लाइव और उसके सैनिकों ने बड़ी वीरता और धैर्य्य से दुर्ग की रक्षा की। सिपाहियों ने अपनी अनुपम स्वामि-भक्ति का परिचय दिया, अन्न की कमी होने पर अँगरेज़ों को भात खिलाकर माँड़ से अपना पेट भरा पर साहस नहीं छोड़ा। अन्त में तंग आकर रज़ा साहब ने धावा किया, पर बुरी तरह हार कर भागा। अँगरेज़ों ने पीछा किया और आर्नी में उसको फिर से हराया। बाद को मराठों की सहायता से क्लाइव ने कावेरी पाक में भी विजय प्राप्त की और डूप्ले-फ़तेहाबाद को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

मुहम्मदअली

सन् १७५२ में चान्दा साहब त्रिचनापल्ली छोड़कर भाग निकला। वह तंजोर के राजा के हाथ में पड़ गया, और मुहम्मदअली की सलाह से मार डाला गया। चान्दा साहब वीर और उदार स्वभाव

का आदमी था। उसकी प्रशंसा उन दिनों के अँगरेज़ भी करते थे। ऊर्म का मत है कि यदि फ़्रांसीसी सेना बराबर उसके अधीन रहती, तो उसकी यह दशा न होती। चान्दा साहब की मृत्यु पर अँगरेज़ों ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब बनाया, जो इस पद के लिए सर्वथा अयोग्य था। इस तरह अँगरेज़ों की धाक जमाकर क्लाइव अस्वस्थ होने के कारण इँग्लेंड वापस चला गया।

बुसी और उत्तरी सरकार—कर्नाटक निकल जाने पर भी फ़्रांसीसियों का प्रभुत्व नष्ट नहीं हुआ। हैदराबाद में वीर सेनाध्यक्ष बुसी का आतंक जमा हुआ था। उसने मराठों से निज़ाम सलाबतजंग की रक्षा की थी, इसलिए निज़ाम उसको ख़ूब मानता था। उसकी सेना के ख़र्च के लिए निज़ाम ने उत्तरी सरकार का इलाक़ा दे दिया था। बराबर युद्ध के कारण यह इलाक़ा बहुत तबाह हो गया था, पर तब भी बुसी ने यहाँ से डूप्ले को भी रुपये की मदद दी। थोड़े ही दिनों में वह स्वयं भी बहुत धनी होगया।

डूप्ले का पतन—इतने दिन के युद्ध से सारा व्यापार चौपट हो गया था, इलाक़ों की आमदनी काफ़ी न थी, फ़्रांसीसी सरकार से कोई सहायता न मिलती थी, इसलिए डूप्ले को रुपये की बड़ी कमी हो रही थी। फ़्रांस-सरकार से उसका बहुत दिनों से मतभेद था। वहाँ के अधिकारी उसकी नीति को पसन्द न करते थे। वे व्यापार की दृष्टि से लड़ाइयों को हानिकारक समझते थे। इधर क्लाइव की सफलता से अँगरेज़ों का पक्ष प्रबल हो रहा था, और उनको धन की कोई कमी न थी। ऐसी दशा में डूप्ले को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि उसकी मनोकामना का सिद्ध होना असम्भव है। इसलिए उसने अँगरेज़ों से सन्धि करने का प्रस्ताव किया। परन्तु उन्होंने डूप्ले का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। सन् १७५४ में फ़्रांस-सरकार ने डूप्ले को भारतवर्ष से हटाने की आज्ञा दे दी। वह बिना किसी विरोध के फ़्रांस वापस चला गया। वहाँ उस पर सरकार की ओर से अभियोग चलाया गया। इस तरह अपमानित होकर सन् १७६३ में वह मर गया।

उसकी नीति—डूप्ले उन दिनों की राजनैतिक अशान्ति से लाभ उठाना चाहता था। वह दक्षिण के राजा और नवाबों को ख़ूब पहचानता था। देशी सेना की कमज़ोरियों को उसने अच्छी तरह समझ लिया था। उसका विश्वास था कि पाश्चात्य रण-प्रणाली कहीं श्रेष्ठ है, और उसको हिन्दुस्तानी सहज ही में सीख सकते हैं। कोई विदेशी शक्ति भारतवर्ष में अपने देश की सेना पर निर्भर नहीं रह सकती है, इसलिए भारतवासियों की सेना बनाना आवश्यक है। उसका ख़र्चा चलाने के लिए देशी राजा और नवाबों की सहायता करनी चाहिए। देश की तत्कालीन स्थिति में केवल व्यापार ही पर भरोसा करना ठीक नहीं है। स्थायी आय के लिए कुछ भूमि पर भी अधिकार होना आवश्यक है। इस तरह अपनी शक्ति बढ़ाकर भारतवर्ष में विदेशी साम्राज्य स्थापित करना असम्भव नहीं है। देशी शासक पाश्चात्य ढंग पर संगठित सेनाओं का सामना करने में असमर्थ हैं। उनको परास्त करना कठिन नहीं है। परन्तु यदि इस कार्यक्रम में किसी से बाधा पड़ने का भय है, तो वे अँगरेज़ हैं, इसलिए देशी शासकों की सहायता से या सीधे सीधे लड़कर उनकी शक्ति को पहले नष्ट कर डालना चाहिए।

प्रायः कहा जाता है कि भारतवर्ष के यूरोप-सम्बन्धी इतिहास में इस नीति को डूप्ले ही ने सबसे पहले ढूँढ़ निकाला, और बाद को अँग-रेज़ों ने उसी का अनुकरण किया। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता है। हिन्दुस्तानी सेना रखना, उसको क़वायद सिखाना कोई नई बात नहीं थी। पुर्तगालियों ने सैकड़ों वर्ष पहले हिन्दुस्तानियों को सेना में रखना प्रारम्भ कर दिया था। बन्दूक़ और तोप का काम सिखाने के लिए मुग़ल सेनाओं में विदेशी शिक्षक रहते थे। देशी सेना की कमज़ो-रियों को बर्नियर ऐसे यात्रियों ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही समझ लिया था। उसका कहना था कि अव्यवस्थित मुग़ल सेना को परास्त करना कोई कठिन काम नहीं है। देशी शासकों की सहायता से अपनी सेना का ख़र्च चलाना डूप्ले ने अँगरेज़ों से ही सीखा था। तत्कालीन राज-

नैतिक अशान्ति में फ़्रांसीसी साम्राज्य का स्वप्न देखना कोई बड़ी भारी बात न थी। मुग़लों का पतन होने पर छोटी बड़ी सभी शक्तियाँ इसी धुन में थीं।

डूप्ले ने पहले से ही अपनी कोई नीति स्थिर नहीं की थी, घटना-चक्र में पड़कर वह बराबर आगे क़दम बढ़ाता गया था। पहले उसका ध्यान केवल व्यापार की ओर था, राजनीति में वह मार्टिन और ड्यूमा की नीति का ही अनुयायी था। सन् १७४६ के बाद, जब उसका प्रभुत्व अच्छी तरह जम गया तब, उसने अपनी नीति में परिवर्तन करना उचित समझा। अँग-रेज़ों ने उसकी नीति का अधिक अनुकरण तो नहीं किया, पर उसकी भूलों से लाभ अवश्य उठाया। उस नीति में जो कुछ कमी थी, उसकी पूर्ति करके अँगरेज़ों ने उसको सफल बना दिया।

असफलता के कारण—डूप्ले की असफलता के कई कारण थे। सबसे मुख्य बात तो यह थी कि उसके पास कोई जहाज़ी सेना न थी। यूरोप से सम्बन्ध रखने का रास्ता अँगरेज़ों के हाथ में था। डूप्ले को अपनी हिन्दु-स्तानी सेना पर ही निर्भर रहना पड़ता था। फ़्रांस से उसको किसी प्रकार की सहायता न मिलती थी। वहाँ की सरकार से भी उसका मतभेद था। रुपये की उसके पास बड़ी कमी थी। व्यापार चौपट हो गया था, कर्नाटक और उत्तरी सरकार के ज़िले निर्धन थे, नवाबों के वादे बड़े बड़े होते थे, पर उतना रुपया न मिलता था। फ़्रांस-सरकार लड़ाई के लिए रुपया भेजने पर राज़ी न थी। उसकी सेना में फूट थी, अफ़सर स्वार्थी थे और एक दूसरे से जलते थे, उनको अपने देश के लाभ का कुछ भी ध्यान न था। डूप्ले स्वयं योद्धा न था, उसको ऐसे अफ़सरों पर निर्भर रहना पड़ता था, जो कभी कभी उसकी आज्ञा भी न मानते थे।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि यदि वह भारतवर्ष में बना रहता तो क्या फ़्रांसीसी साम्राज्य स्थापित होने की कोई सम्भावना थी? उत्तर में कहा जाता है कि इसमें बहुत सन्देह है, क्योंकि उसके चले जाने के बाद अँगरेज़ों के हाथ में बंगाल सा धनी सूबा आगया था और क्लाइव-सरीखा चतुर सेनाध्यक्ष मिल गया था। परन्तु यहाँ पर एक बात ध्यान

में रखने योग्य है, यदि डूप्ले भारतवर्ष में बना रहता तो दक्षिण से निश्चिन्त होकर शान्ति के साथ अँगरेज़ बंगाल को हड़प न कर सकते।

डूप्ले का चरित्र—इसमें सन्देह नहीं कि डूप्ले बड़ा महत्त्वाकांक्षी और घमंडी था, पर एक साम्राज्य-स्थापक के लिए ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अकृतज्ञता में वह अँगरेज़ों से बढ़ा हुआ न था। तंजोर, कर्नाटक और बंगाल के नवाबों के साथ जैसा कुछ अँगरेज़ों ने व्यवहार किया, उसे देखते हुए, देशी राज्यों के प्रति डूप्ले का व्यवहार कहीं अच्छा था। उस पर स्वार्थी होने का आक्षेप निर्मूल है, उसने अपने निजी लाभ के लिए कम्पनी या अपने देश को कभी हानि नहीं पहुँचाई, उलटे उसने अपनी बहुत सी कमाई उन दिनों की लड़ाइयों में ख़र्च कर दी। नैतिक दृष्टि से वह अपने समय के अनुसार था। उसमें किसी प्रकार की विशेषता या उच्चता न थी, पर उसका आदर्श क्लाइव से अवश्य बढ़ा हुआ था। उसके धैर्य्य, साहस और तीव्र बुद्धि का परिचय दिया जा चुका है। शासन में भी वह बड़ा चतुर था। फ़्रांस-सरकार को बड़ा भय था कि पदच्युत होने की आज्ञा का वह घोर विरोध करेगा, पर उसने चूँ तक नहीं की। फ़्रांस-सरकार उसकी योग्यता तथा दूरदर्शिता को न समझ सकी, यह उसका दुर्भाग्य था, पर उसने सदा उसके गौरव को बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसके विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, उसको मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि वह अपने देश का सेवक और भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास में एक बड़ा प्रतिभाशाली मनुष्य था।

डूप्ले

तीसरा युद्ध—सन् १७५६ में इँग्लेंड और फ़्रांस में फिर युद्ध छिड़ गया। यह युद्ध सात वर्ष तक चलता रहा। इस समय फ़्रांस-सरकार को

पता लगा कि डूप्ले की नीति न मानने में बड़ी भूल हुई। इस भूल को सुधारने के लिए फिर से प्रयत्न किया गया। इस बार लैली सेनापति और अध्यक्ष बनाकर भेजा गया। यह सन् १७५८ में भारतवर्ष पहुँचा, परन्तु अब फ्रांसीसियों का पासा पलट चुका था, उनकी शक्ति को फिर से स्थापित करना बड़ा कठिन था। डूप्ले के जाने के बाद से इस समय तक अँगरेज़ों की स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन होगया था। दक्षिण में उनकी पूरी धाक जम गई थी, बंगाल में एक तरह से उनका राज्य ही हो गया था, वहां के नवाब उनके हाथ की कठपुतली थे। पर तब भी लैली ने अँगरेज़ों को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय किया।

लैली का उद्योग—इस बार फ्रांस-सरकार ने कोई बात उठा न रखी। लैली को काफ़ी सेना और धन दिया गया। पर उसके भाग्य में सफलता बदी न थी। वह तेज़ मिज़ाज का आदमी था, उसके आते ही पांडुचेरी में उसका विरोध प्रारम्भ हो गया। वहाँ के कर्मचारी अब फिर से लड़ाई-झगड़े में पड़ना न चाहते थे, उन्हें केवल अपने मतलब का ध्यान था। परन्तु लैली ने इसकी कुछ भी पर्वाह न की, और अँगरेज़ों से सेंट डेविड का क़िला छीनकर मदरास पर चढ़ाई कर दी। इस अवसर पर पांडुचेरीवालों ने उसको सहायता देना बिलकुल बन्द कर दिया। रसद कम पड़ गई, और उसके सिपाही भूखों मरने लगे। इधर अँगरेज़ों की जहाज़ी सेना भी आगई, इस पर लैली को पांडुचेरी भागना पड़ा।

लैली ने आते ही निज़ाम-दरबार से बुसी को बुला लिया था, इसका फल यह हुआ कि हैदराबाद से फ्रांसीसियों का प्रभुत्व जाता रहा। निज़ाम भी उन दिनों यही चाहता था। इधर क्लाइव ने कर्नल फ़ोर्ड की अध्यक्षता में सेना भेजकर उत्तरी सरकार पर क़ब्ज़ा कर लिया। यहाँ से भी आमदनी बन्द हो जाने पर लैली ने तंजोर के राजा पर चढ़ाई करके रुपया लेना चाहा, पर वह राजा पहले ही से तैयारी कर चुका था, इसलिए लैली का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। उधर बंगाल में क्लाइव ने चन्द्रनगर पहले से ही छीन लिया था। इसलिये आमदनी का अब कोई भी द्वार बाक़ी न रह गया।

वांडवाश की लड़ाई—लैली अब बिलकुल हताश हो गया पर तब भी वह जैसे-तैसे अँगरेज़ों का मुक़ाबला करता रहा। सन् १७६० में वांडवाश के निकट सर आयरकूट ने उसको अच्छी तरह हराया। वीर बुसी पकड़ लिया गया और लैली पांडुचेरी भाग गया। अँगरेज़ों ने उसका बराबर पीछा किया, और पांडुचेरी को घेर लिया। आठ महीने तक लैली ने बड़े धैर्य्य और साहस के साथ पांडुचेरी की रक्षा की। रसद की ऐसी कमी हो गई थी कि एक कुत्ता भी चौबीस रुपये में बिकता था। अन्त में, परेशान आकर लैली ने शस्त्र डाल दिये और वह क़ैद करके इँग्लेंड भेज दिया गया, जहाँ से वह फ्रांस चला गया। परन्तु फ्रांस-सरकार ने उसके साथ भी
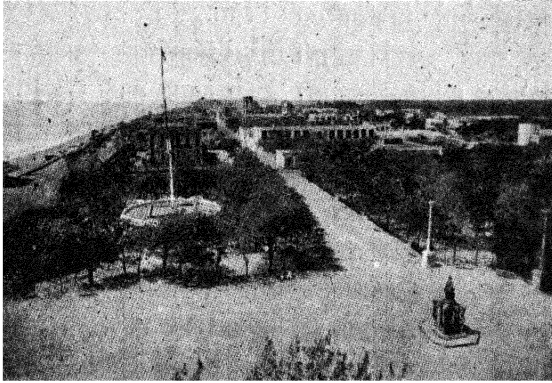
आधुनिक पांडुचेरी

अन्याय किया। उस पर भी अभियोग चलाया गया और अन्त में उसे प्राण दंड दिया गया।

पांडुचेरी पर भी अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। उन्होंने मदरास और सेंट डेविड का पूरा बदला लिया। पांडुचेरी की विशाल इमारतें गिरवा दी गईं और सारा नगर उजाड़ कर दिया गया। नगर-निवासियों को तीन

महीने के अन्दर नगर छोड़ देने की आज्ञा दे दी गई। इतिहासकार ऊर्मे लिखता है कि कुछ ही महीनों में उस विशाल सुन्दर नगर में एक भी खड़ी हुई छत न रह गई।

फ्रांसीसियों की पराजय—पांडुचेरी के पतन से फ्रांसीसी हताश हो गये। थोड़े दिन बाद जिंजी और माही भी उनके हाथ से निकल गये। सन् १७६१ में सूरत और कालीकट की कोठियों को छोड़कर उनके पास कोई भी स्थान नहीं रह गया। इस तरह भारतवर्ष में फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हो गया। सन् १७६३ में यूरोप का युद्ध समाप्त हो गया और पेरिस की सन्धि से पांडुचेरी, चन्द्रनगर और माही फ्रांसीसियों को लौटा दिये गये। ये स्थान अब भी फ्रांसीसियों के पास हैं।

अन्त में अँगरेज़ों की ही पूरी विजय हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय उनका जहाज़ी बेड़ा प्रबल था। समुद्र के सब रास्ते उनके हाथ में थे। उनके जहाज़ी बेड़े को नष्ट करके भारतवर्ष से सम्बन्ध रखना फ्रांस की शक्ति के बाहर था। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ों को धन का अभाव न था। उनकी कम्पनी का संगठन अच्छा था। फ्रांस-सरकार की तरह इँग्लैंड-सरकार उसके काम में बाधा न डालती थी। उसके कर्मचारियों में एका था और वे सबके सब फ्रांस की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे। इसके प्रतिकूल फ्रांसीसियों की दशा थी, जिसका वर्णन किया जा चुका है। ऐसी दशा में फ्रांसीसियों की हार निश्चित थी।

———

सन् १७५१ में भारत
लाहौर
दिल्ली
राजपूताना
जयपुर
जोधपुर
लखनऊ
ग्वालियर
इलाहाबाद
पटना
उदयपुर
इन्दौर
मराठा मंडल
नागपुर
सूरत
बेसिन
बम्बई
पूना
निजाम का राज्य
गोआ
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
मैसूर
मदरास
पांडुचेरी
फोर्ट सेंट डेविड
देवी कोटा
फ्रांसीसी प्रभाव सीमा
दिल्ली के अधीन प्रदेश
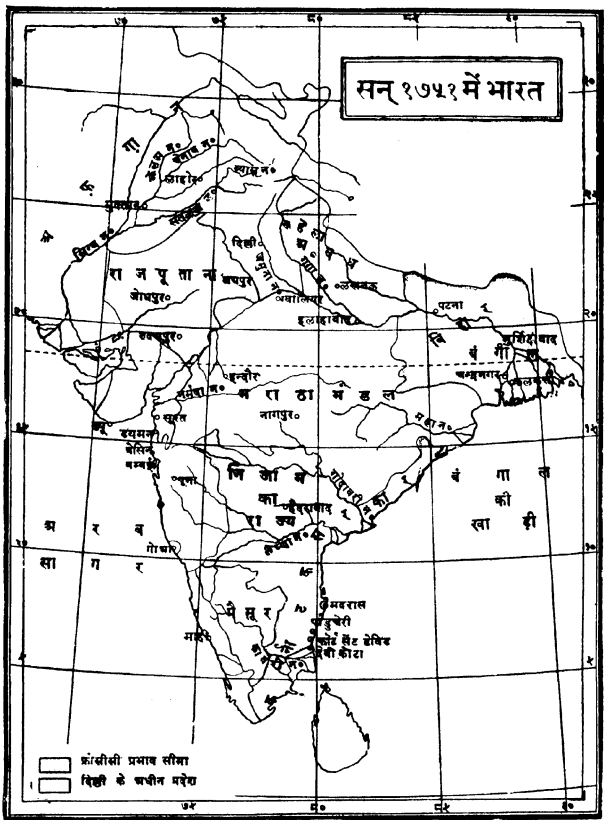
परिच्छेद ३

साम्राज्य की नींव

बंगाल के नवाब—पहले बंगाल मुग़ल साम्राज्य का एक सूबा था, परन्तु औरंगज़ेब के मरने पर नवाब मुर्शिदकुलीख़ाँ स्वाधीन हो गया था। यह पहले हिन्दू था। सन् १७०४ में मकसूदाबाद को इसने अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम मुर्शिदाबाद रखा। सन् १७४१ में उसके वंशजों को हटाकर अलीवर्दीख़ां नाम का एक सरदार नवाब बन गया। यह बड़ा चतुर शासक था। इसका सारा जीवन मराठों से अपने राज्य की रक्षा करने में व्यतीत हुआ।

इन नवाबों के समय के बंगाल की दशा का वर्णन करते हुए ग़ुलाम हुसेन लिखता है कि पिछले साठ वर्ष से साम्राज्य का पतन हो रहा था, सम्राट् अयोग्य थे, सरदार और उमरा बिगड़ रहे थे, परन्तु तब भी इनमें से कोई भी उन नियमों से हटना नहीं चाहता था, जिनसे साम्राज्य की उन्नति हुई थी। उनके राज्य की दशा अच्छी थी, प्रजा सन्तुष्ट थी और आराम से रहती थी। बहुत कम ऐसे लोग थे, जिनको दुख या कष्ट था। अलीवर्दीख़ाँ के समय तक यही दशा रही। उसने चुन चुनकर अपने योग्य कुटुम्बियों और मित्रों को बड़े बड़े ओहदे दिये। वह सदा प्रजा का ध्यान रखता था। युद्धप्रिय और महत्त्वाकांक्षी होने पर भी प्रजा और ज़मीन्दारों के साथ, जो पूर्ण रूप से अपना कर्तव्य पालन करते थे, उसका व्यवहार बड़ा अच्छा और उदार होता

था। प्रजा के लिए वह सचमुच पिता-तुल्य था। अपने फ़ौजदारों पर उसकी बराबर निगाह रहती थी और वह उनको कभी अत्याचार न करने देता था। वह अपनी सारी प्रजा को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के एक ही माता-पिता की सन्तान समझता था और योग्य हिन्दू तथा अन्य ग़ैर-मुसलमान व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त करता था। उसके शासन में प्रान्त का रुपया प्रान्त ही में रहता था, जिससे उसी के राज्य की उन्नति होती थी। जनता को जीवन-निर्वाह की चिन्ता न थी, उसके शासन-काल में वह 'शान्ति और सुख' से रही। कहीं कहीं एक आध ज़मीन्दार बिगड़ जाता था, परन्तु बाक़ी राज्य में 'पूर्ण शान्ति और समृद्धि' थी।[1]

विदेशियों के प्रति नीति—बंगाल के शासक शुरू से ही विदेशी व्यापारियों पर तीव्र दृष्टि रखते थे। शायस्ताख़ां ने तो अँगरेज़ों को निकाल ही दिया था, परन्तु मुर्शिदकुलीख़ां के समय में बहुत सा रुपया देकर उन्होंने अपना व्यापार फिर से जमा लिया था। सम्राट् फ़र्रुख़सियर का उनको एक नया फ़रमान भी मिल गया था, जिसके अनुसार बिना चुंगी के व्यापार करने का अधिकार दे दिया गया था। अँगरेज़ों के अतिरिक्त फ़्रांसीसी और हालेंड-निवासी डच भी बंगाल में व्यापार करते थे। इनकी कोठियां चन्द्रनगर और चिनसुरा में थीं। नवाब अलीवर्दीख़ां इन व्यापारियों को अच्छी तरह पहचानता था, और उनसे ख़ूब रुपया एंठता था। सन् १७४४ में मराठों से रक्षा करने के लिए उसने अँगरेज़ों को कलकत्ता में एक खाईं बनाने की आज्ञा दे दी थी, परन्तु अँगरेज़ों को अपना क़िला अधिक दृढ़ करने की इजाज़त उसने कभी नहीं दी। जब कभी अँगरेज़ इसके लिए प्रार्थना करते थे, तब वह कहा करता था कि तुम लोग व्यापारी हो तुम्हें क़िले से क्या काम, मेरी संरक्षकता में तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। दक्षिण की दशा वह सुन चुका था, विदेशियों की शक्ति और एकता का उसे सदा ध्यान रहता था। वह प्रायः कहा करता था कि विदेशी व्यापारी शहद की मक्खियों का एक छत्ता हैं,

१ सियर-उल-मुताख़रीन, अँगरेज़ी अनुवाद, जि० ३, पृ० १७९-८०।

जिससे शहद तो निकाल लेना चाहिए, पर मक्खियों को छेड़ना न चाहिए, छेड़ने से वे काट काट कर जान ले डालेंगी।[1]

उन दिनों उसके कर्मचारियों और अँगरेज़ों में बराबर खटपट हुआ करती

अलीवर्दीख़ाँ

री। अँगरेज़ बिना महसूल के व्यापार करने के लिए नवाब की दस्तकें

१ स्क्रैफ़टन, रिफ़्लेक्शंस ऑन दि गवर्मेंट ऑफ़ इंडोस्टान, पृ० ५५।

बनियों को दे देते थे और उनसे स्वयं लाभ उठाते थे। इतना ही नहीं, अपनी आबादियों में माल लाने पर वे चुंगी लगाते थे, और विवाह के अवसरों पर या ज़मीन बेचने पर भी टैक्स लेते थे। नवाब के दरबार में इसकी बराबर शिकायतें होती थीं। अँगरेज़ अपने पक्ष के समर्थन में मुग़ल सम्राट् के फ़रमान पर ज़ोर देते थे, नवाब फ़रमान के इस उलटे अर्थ को कभी न मानता था। इस तरह उसके जीवन-काल ही में यह झगड़ा चलता रहा, परन्तु उसके मरने पर इसने प्रचंड रूप धारण कर लिया।

सिराजुद्दौला की नवाबी—सन् १७५६ में अलीवर्दीख़ां के मरने पर उसका पोता सिराजुद्दौला नवाब हुआ। बचपन के बहुत लाड़-प्यार से इसका स्वभाव बिगड़ गया था। मुसाहिब लोग जो कुछ समझा देते थे, बिना सोचे-विचारे यह वही करने लगता था। अलीवर्दीख़ां इसकी कमज़ोरियों को अच्छी तरह जानता था। उसने पहले ही कह दिया था कि जब यह नवाब होगा तब भारतवर्ष के सभी तटों पर 'टोपवालों' का अधिकार हो जायगा[१]।

अँगरेज़ों से झगड़ा—नवाब अँगरेज़ों से पहले से ही चिढ़ा हुआ था। उन्होंने उसका कई बार अपमान किया था। उन्होंने क़ासिमबाज़ार की कोठी और बँगलों में उसको ठहराने से इनकार कर दिया था। अलीवर्दीख़ां के दरबार में वे उसको कभी भी न पूछते थे। जब वह मसनद पर बैठा तब भी उन्होंने बहुमूल्य उपहार नहीं भेजे। सिराजुद्दौला कुछ काल तक इन सब बातों को सहन करता रहा, परन्तु अँगरेज़ बराबर ढीठ होते गये। अपने एक मुसाहिब राजवल्लभ पर नवाब नाराज़ हो गया, उसका लड़का कृष्णदास कलकत्ता भाग गया। जब नवाब ने उसको भेज देने के लिए अँगरेज़ों को लिखा, तब कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने कोरा जवाब दे दिया। नवाब को अपने जासूसों से यह भी पता चला कि पुर्णिया के नवाब को अँगरेज़ उसके विरुद्ध बहका रहे हैं। दस्तकों का दुरुपयोग पहले से ही चल

---

१ सियर-उल-मुताख़रीन, जि० २, पृ० १६३।

रहा था और इससे नवाब की आमदनी को बहुत कुछ हानि पहुँच रही थी। इधर सन् १७५६ में इँग्लेंड और फ़्रांस में युद्ध छिड़ गया। यह समाचार मिलते ही नवाब से बिना पूछे बताये अँगरेज़ और फ़्रांसीसियों ने अपने अपने क़िलों को ठीक कराना प्रारम्भ कर दिया। इस पर नवाब बहुत बिगड़ा और दोनों को यह काम बन्द कर देने के लिए लिख भेजा। फ़्रांसीसियों ने तो एक बहाना बना दिया, पर कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने बड़ा कड़ा उत्तर लिख भेजा और जो दूत पर्वाना लेकर आया था, उसको कलकत्ते से बाहर निकलवा दिया। उत्तर पाते ही नवाब आगबबूला हो गया और उसने अँगरेज़ों को नष्ट करने का प्रण कर लिया।

कलकत्ता पर आक्रमण—सन् १७५६ के मई महीने में नवाब ने क़ासिमबाज़ार की कोठी छीन ली। इस अवसर पर उसने सिपाहियों को कोठी का माल लूटने से मना कर दिया और सिवा युद्ध-सामग्री के कोई सामान नहीं लिया।[१] यहां से वह बड़ी तेज़ी के साथ कलकत्ता पहुँचा। मई जून की कड़ी धूप में, ग्यारह दिन में, उसने १६० मील का सफ़र तय कर डाला। कलकत्ता में लड़ाई के लिए काफ़ी सेना न थी, पर तब भी गवर्नर ड्रेक ने लड़ना ही निश्चित किया। सबसे पहले उसने सेठ अमीरचन्द और शरण में आये हुए कृष्णदास को गिरफ़्तार कर लिया। उसका अनुमान था कि इन्हीं दोनों ने नवाब को बुलाया है। अमीरचन्द के भाई ने गोली चलाने की आज्ञा दे दी। उसे पकड़ने के लिए गोरे लोग ज़नाने मकान में घुसने लगे, इस पर सेठ के एक जमादार ने घर की १३ स्त्रियों को मारकर उनके सम्मान की रक्षा की।[२]

इधर अमीरचन्द के आदमियों से नवाब को कलकत्ता में घुसने का रास्ता मालूम हो गया। अँगरेज़ों ने क़िले की रक्षा की पर अन्त में वे घबड़ा गये। गवर्नर ड्रेक और बहुत से अँगरेज़ अपने प्राण लेकर नदी के मार्ग से भाग निकले। क़िले में कुछ सैनिकों के साथ हालवेल रह गया। उसने अमीरचन्द

१ हिल, बंगाल इन १७५६-५७, भूमिका पृ० ६२।

२ वही, पृ० ७३।

को बीच में डालकर पहले सन्धि करने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई फल न हुआ। अन्त में लाचार होकर ता० २० जून को हालवेल ने क़िला नवाब को सौंप दिया। उसके सिपाहियों ने लूट-पाट मचा दी पर किसी अँगरेज़ को तंग नहीं किया।

कालकोठरी—उसी दिन सन्ध्या समय अँगरेज़ क़ैदी नवाब के सामने लाये गये। नवाब ने हालवेल की हथकड़ियों को खुलवा दिया और उसको कष्ट न देने का वचन दिया। क़ैदियों पर कोई कड़ी देख रेख न थी। कई एक यूरोपियन क़िले से चले भी गये, पर किसी ने रोका नहीं। इसी समय गोरे सैनिकों ने शराब पीकर हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तंग करना शुरू कर दिया। शरारत करने पर गोरे जिस कोठरी में बन्द कर दिये जाते थे, उसी में उन्हें बन्द करने की आज्ञा देकर नवाब आराम करने चला गया। कहा जाता है कि इस पर उसके सिपाहियों ने १४६ गोरों को उस छोटी सी कोठरी में भर दिया। रात को गरमी में प्यास से तड़प तड़प कर इनमें से १२३ आदमी मर गये।

हालवेल ने इस घटना का बड़ा हृदय-विदारक वर्णन किया है, परन्तु उसकी सत्यता में बहुत कुछ सन्देह है। कोठरी की जितनी लम्बाई चौड़ाई बतलाई जाती है,[1] उतने में १४६ आदमियों का किसी तरह अटना सम्भव नहीं है। मरे हुए आदमियों में ५६ से अधिक के नाम का पता नहीं लगता है। उस समय के हिन्दुस्तानियों द्वारा लिखे हुए इतिहास या कम्पनी के काग़ज़ात में इसका कोई उल्लेख नहीं है।[2] जान पड़ता है कि इस घटना के वर्णन में हालवेल ने बहुत कुछ नमक मिर्च मिलाया है। उसकी कई बातों में यह दोष पाया गया है। यदि इसमें कुछ सत्यता भी हो तब भी नवाब उसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। रात की घटना उसकी जानकारी में नहीं हुई थी। यह बात ठीक है कि बाद में उसने इसके लिए किसी को

१ विल्सन का कहना है कि यह कोठरी १८ फ़ीट लम्बी और १४ फ़ीट १० इंच चौड़ी थी।

२ मिस्टर लिटिल का लेख, बंगाल पास्ट एंड प्रेज़ेंट, जि० ९।

दंड नहीं दिया। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कम्पनी के कर्मचारियों ने इसके लिए अनुरोध भी नहीं किया। सन्धि की शर्तों में इसकी कोई भी चर्चा नहीं थी। इसी से सिद्ध होता है कि यह एक साधारण घटना थी और इसमें नवाब निर्दोष था।

सिराजुद्दौला

अलीनगर की सन्धि—कलकत्ता का नाम अब अलीनगर रखा गया। राजा माणिकचन्द को वहाँ का क़िलेदार बनाकर नवाब मुर्शिदाबाद

वापस चला गया। ड्रेक सहित भागे हुए अँगरेज़ फलता पहुँचे और वहाँ से उन्होंने कुल हाल मदरास लिख भेजा। यहाँ इन लोगों को नवाब की ओर से कोई विशेष कष्ट नहीं दिया गया। बंगाल की दुर्घटना का समाचार मिलने पर बहुत कुछ बहस के बाद मदरास कौंसिल ने क्लाइव और वाटसन को स्थल और जल-सेना का अध्यक्ष बनाकर बंगाल भेजा। इन दोनों ने जनवरी सन् १७५७ में बिना अधिक लड़े भिड़े कलकत्ता फिर से छीन लिया। इतिहासकार ऊर्म लिखता है कि क़िले में नवाब के सैनिकों ने कम्पनी के सामान को कोई विशेष हानि न पहुँचाई थी। इसके बाद अँगरेज़ों ने हुगली की रसद को नष्ट कर डाला। यह समाचार मिलने पर नवाब फिर कलकत्ता पहुँचा और सन्धि की बातचीत प्रारम्भ हुई। यह बातचीत हो ही रही थी, तभी एक दिन रात को अँगरेज़ों ने नवाब के पड़ाव पर धावा कर दिया, जिससे नवाब बहुत घबड़ा गया और फ़रवरी सन् १७५७ में उसने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस सन्धि के अनुसार नवाब ने अँगरेज़ों के व्यापारसम्बन्धी अधिकारों को मान लिया और क़िले की मनमानी मरम्मत करने की अनुमति दे दी। बंगाल, विहार और उड़ीसा में अँगरेज़ी दस्तकवाले माल पर महसूल लेना बन्द कर दिया गया और सिक्का चलाने का अधिकार भी अँगरेज़ों को दे दिया गया। नवाब ने हरजाना देना भी मंज़ूर किया, पर हरजाने की ठीक ठीक रक़म का कोई निर्णय नहीं हुआ। इसी तरह फ़्रांसीसियों की कोई सहायता न करने का भी उसने वचन दिया, पर सन्धि-पत्र में इस विषय की कोई शर्त रखना मंज़ूर नहीं किया।

चन्द्रनगर पर अँगरेज़ों का अधिकार—फ़्रांसीसी शक्ति को नष्ट करने पर क्लाइव तुला ही हुआ था। नवाब के साथ सन्धि हो जाने पर उसने चन्द्रनगर छीनने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। बिना नवाब की अनुमति के ऐसा करना सम्भव न था, इसलिए बहुत सी चालें चली गईं और मुसाहिबों को घूस देकर फ़्रांसीसियों के विरुद्ध नवाब के कान भरे गये। इधर मुग़ल सम्राट् के आने का समाचार सुनकर नवाब कुछ घबड़ाया हुआ था और अँग-

रेज़ों का विरोध न करना चाहता था। एक दिन वह फ़्रांसीसियों से बहुत रुष्ट हो गया और अँगरेज़ों को उन पर आक्रमण करने की उसने अनुमति दे दी। पटना में नवाब से मिलने का बहाना करके एक बड़ी सेना के साथ क्लाइव चन्द्रनगर पहुँच गया। फ़्रांसीसी बड़ी वीरता से लड़े, परन्तु उनके पास अधिक सेना न थी, इसलिए अन्त में उन्होंने हार मानकर, मार्च सन् १७५७ में, चन्द्रनगर अँगरेज़ों को दे दिया। दो वर्ष बाद पांडुचेरी की तरह यहाँ की भी विशाल इमारतों को अँगरेज़ों ने नष्ट कर डाला।

नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र—क्लाइव मदरास से जब चला था, तभी उसने यह निश्चित कर लिया था, कि नवाब को बिना पदच्युत किये हुए बंगाल में अँगरेज़ों की रक्षा होनी कठिन है। इसलिए बंगाल में भी उसने दक्षिण की नीति से ही काम लिया। सन्धि हो जाने के बाद क़ासिमबाज़ार की कोठी का अध्यक्ष वाट्स नवाब के दरबार में अँगरेज़ों का प्रतिनिधि बनाया गया। वाट्स हिन्दुस्तानी अच्छी तरह बोल सकता था और वह नवाब तथा उसके मुसाहिबों की कमज़ोरियों को ख़ूब पहचानता था। धन के लालच में पड़कर अमीरचन्द अपने अपमान को भूल गया था और वह भी अँगरेज़ों की सहायता करने के लिए तैयार था। सिराजुद्दौला के बड़े बड़े मुसाहिब उसके उद्दंड व्यवहार के कारण सदा असन्तुष्ट रहते थे। वाट्स और अमीरचन्द ने इन सबको धन का लालच देकर अपने पक्ष में गाँठ लिया। ये लोग नवाब को उलटी सलाह देने लगे। अँगरेज़ों ने भी अपनी माँगें बढ़ा दीं; वे अपने न्यायालय खोलने और नवाब के कर्मचारियों को अँगरेज़ी दस्तकें न मानने के लिए दंड देने का अधिकार चाहने लगे। हरजाना की रक़म के लिए भी रोज़ झगड़ा होने लगा। सन्धि की शर्तों को न मानने और दक्षिण से फ़्रांसीसी सहायता माँगने के लिए नवाब दोषी ठहराया जाने लगा। अन्त में इन सब लोगों ने नवाब को गद्दी से उतारकर उसकी जगह पर मीरजाफ़र को नवाब बनाना निश्चित किया। मीरजाफ़र अलीवर्दीख़ाँ का बहनोई और नवाब की फ़ौज का बख़शी था।

नवाब के जवाहरात का चौथाई हिस्सा और नक़द रुपये पर पाँच प्रति सैकड़ा कमीशन न दिया जायगा तो मैं यह हाल सबसे कह दूँगा। अपना कमीशन पक्का करने के लिए वह यह चाहता था कि मीरजाफ़र और अँगरेज़ों के बीच जो सन्धि हो, उसमें यह शर्त लिख दी जाय। इस अवसर पर क्लाइव ने उसको ख़ूब छकाया। उसने एक नक़ली सन्धि-पत्र बनाकर अमीरचन्द को दिखला दिया। वाटसन ने इस पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया, इसलिए उसके हस्ताक्षर बना दिये गये। बाद को जब यह भेद खुला तब अमीरचन्द को बड़ा दुख हुआ। अमीरचन्द ऐसे धूर्त के साथ ऐसा ही व्यवहार उचित था, यह कहने से क्लाइव और उसके साथियों के आचरण पर जालसाज़ी का जो धब्बा लगता है, वह मिट नहीं सकता। अमीरचन्द ने अँगरेज़ों को कोई धोखा न दिया था। ता० १० अप्रैल सन् १७५७ को 'सेलेक्ट कमेटी' की जो बैठक हुई थी, उसमें कहा गया था कि हमें इस "उदार और धनी" व्यापारी का कृतज्ञ रहना चाहिए। इस कृतज्ञता का बदला उसको इस प्रकार दिया गया, पर तब भी मरते समय वह बहुत सा धन लन्दन के एक अस्पताल को दे गया।

पलासी का युद्ध—फ़्रांसीसियों के सचेत करने पर भी नवाब को इस षड्यंत्र पर विश्वास नहीं हुआ। एक दिन जब वाट्स उसके दरबार से छिपकर भाग गया, तब उसे इसका पता लगा। परन्तु मीरजाफ़र ने क़ुरान की शपथ लेकर स्वामिभक्त रहने का वचन दिया और जैसे तैसे नवाब को सन्तुष्ट किया। इन दिनों नवाब की ५० हज़ार सेना का पड़ाव पलासी में पड़ा हुआ था। यह स्थान मुर्शिदाबाद से २३ मील है। तीन हज़ार सिपाही लेकर क्लाइव यहां आ पहुँचा। ता० २३ जून सन् १७५७ को उसने सन्ध्या समय हमला किया। पहले ही धावे में नवाब का वीर सेनानायक मीरमदन मारा गया। मीरजाफ़र ने युद्ध में कोई भाग न लिया, वह दूर से खड़े हुए यही देखता रहा कि किस पक्ष की विजय होती है। मीरमदन की मृत्यु और मीरजाफ़र की धोखाबाज़ी देखकर नवाब हताश हो गया। उसी समय रायदुर्लभ ने उसको भागने की सलाह दी। उसके भागते ही सारी सेना तितर-बितर हो गई और अँगरेज़ों की पूर्ण विजय हुई।

पलासी युद्ध-क्षेत्र से भागकर नवाब मुर्शिदाबाद पहुँचा और अपने ख़ज़ाने का बहुत सा धन लुटाकर सेना को अपने पक्ष में करना चाहा, पर सफल न हुआ। दूसरे ही दिन अँगरेज़ी सेना के साथ मीरजाफ़र भी मुर्शिदाबाद पहुँच गया और सिराजुद्दौला को वहाँ से भागना पड़ा। रास्ते में वह पकड़ लिया गया और मीरजाफ़र के लड़के मीरन ने उसको बड़ी निर्दयता से मरवा डाला। सिराजुद्दौला के विषय में इतिहासकार मैलेसन लिखता है कि "उसमें चाहे जो कुछ दोष रहे हों, पर उसने देश को बेचा न था। ता० ६ फ़रवरी से २३ जून तक की घटनाओं पर विचार करनेवाले प्रत्येक निष्पक्ष अँगरेज़ को यह मानना पड़ेगा कि ईमानदारी में सिराजुद्दौला का पद क्लाइव से कहीं उच्च है। इस दुःखमय नाटक के प्रधान पात्रों में वही एक पात्र था, जिसने धोखा देने का प्रयत्न नहीं किया था"।[1]

युद्ध का परिणाम—सैनिक दृष्टि से पलासी का युद्ध कोई युद्ध न था, परन्तु अँगरेज़ों की दृष्टि में यह युद्ध बड़े महत्त्व का है। इसकी विजय ने भारतवर्ष में अँगरेज़ी साम्राज्य की नींव डाल दी। नवाब उनके हाथ का खिलौना बन गया और बंगाल सा धनी प्रान्त उनके अधिकार में आ गया। यहाँ की आय से अन्य राजाओं के साथ लड़ने का ख़र्चा चलने लगा और उत्तरी भारत में उनका आतंक जम गया। इस विजय से अँगरेज़ जाति का ही लाभ नहीं हुआ बल्कि कम्पनी और उसके प्रधान कर्मचारियों को भी बहुत सा धन मिला। क्लाइव को ३० लाख रुपया नक़द मिला और कौंसिल के अन्य मेम्बरों को १२ लाख तथा सैनिकों को ४० लाख रुपया दिया गया। इस समय क़रीब एक करोड़ रुपया नावों में भरकर मुर्शिदाबाद के ख़ज़ाने से कलकत्ता लाया गया।[2]

मीरजाफ़र की नवाबी—मीरजाफ़र ने अँगरेज़ों को इतना रुपया देने का वादा कर दिया था कि सिराजुद्दौला का कुल ख़ज़ाना ख़ाली हो जाने पर भी वह रक़म पूरी नहीं हुई। इसलिए तीन चार साल तक राज्य की आमदनी से उसने बाक़ी रुपया देना स्वीकार किया। दूरदर्शी नवाब अलीवर्दी-

१ डिसाइसिव बैटिल्स ऑफ़ इंडिया, पृ० ७१।

२ डाडवेल, डूप्ले ऐंड क्लाइव, पृ० १३६।

ख़ाँ ने अच्छी तरह समझ लिया था कि बिना हिन्दुओं के सहयोग के शासन करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसने बड़े बड़े पदों पर हिन्दुओं को नियुक्त कर रखा था। जगतसेठ से धनी हिन्दू धन से नवाब की पूरी सहायता करते थे। सिराजुद्दौला भी इसी नीति पर चलता रहा पर अँगरेज़ों का सहारा मिल जाने से मीरजाफ़र ने इस नीति को त्याग दिया। वह बिहार के हाकिम रामनारायण और राज्य के दीवान दुर्लभराय से लड़ बैठा। हिन्दुओं के विरोध का फल यह हुआ कि उसको आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई, जिसके कारण वह अँगरेज़ों के पंजे में बराबर फँसता चला गया।

अलीगौहर की चढ़ाई—बंगाल की दशा देखकर आसपास के सभी राजा और नवाबों को लाभ उठाने की इच्छा होने लगी। इन दिनों मुग़ल सम्राट् का लड़का अलीगौहर बेकार घूम रहा था। इन सब ने मिलकर उसको खड़ा किया। अवध के नवाब की सहायता से सन् १७५६ में उसने बंगाल पर हमला किया। मीरजाफ़र बड़ा व्यसनी और आलसी नवाब था। उसको अफ़ीम खाने की भी आदत पड़ गई थी; इस नई आफ़त को देखकर वह घबड़ा गया और उसने क्लाइव से, जो सन् १७५८ में बंगाल का गवर्नर बना दिया गया था, रक्षा करने की प्रार्थना की। क्लाइव थोड़ी सी सेना को लेकर पटने की ओर बढ़ा। इधर अवध के नवाब ने अवसर पाकर इलाहाबाद पर क़ब्ज़ा कर लिया और शाहज़ादा को अकेला ही छोड़ दिया। शाहज़ादा बंगाल और बिहार का सूबेदार बनकर आया था, परन्तु अब उसे क्लाइव के सामने गिड़गिड़ाना पड़ा। इस समय तक मुग़ल सम्राट् का नाम बना हुआ था और उसको अपमानित करने का साहस अँगरेज़ों को न था, इसलिए क्लाइव ने ५०० अशर्फ़ियाँ भेंट करके उसको वापस कर दिया। उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर मीरजाफ़र ने उसको एक जागीर दे डाली, जिसकी सालाना आमदनी ३०,००० पौंड थी। उसी के कहने पर बंगाल में शोरा के व्यापार का ठेका भी कम्पनी को दे दिया गया।

डच लोगों की पराजय—"क्लाइव का गधा" होने पर भी कुछ काल बाद मीरजाफ़र को अँगरेज़ों का भार असह्य होने लगा। उसने चिनसुरा

के डच लोगों से बातचीत शुरू की। उन्होंने बिना सोचे-विचारे जावा से सेना बुला भेजी। फ्रांसीसी नष्ट हो ही चुके थे, यूरोप की शक्तियों में केवल यही अँगरेज़ों का सामना करने के लिए भारतवर्ष में रह गये थे। इंग्लेंड और हालेंड में वैर न था, इसलिए इन लोगों के साथ किसी प्रकार की छेड़-खानी न की जा सकती थी। इस बहाने से इनको भी नष्ट करने का क्लाइव को अच्छा अवसर मिल गया। उसने उनके जहाज़ों को पकड़ लिया और विदेरा की लड़ाई में उन्हें हरा दिया। इस तरह अँगरेज़ों के मार्ग से यूरोप का एक और कंटक भी दूर हो गया।

क्लाइव की वापसी—फ़रवरी सन् १७६० में बहुत सा धन लेकर क्लाइव इंग्लेंड वापस चला गया। चार वर्ष में कम्पनी की स्थिति में उसने आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया, फ्रांसीसी और डच लोगों की शक्ति को नष्ट कर डाला तथा दक्षिण और बंगाल के नवाबों को अपने हाथ में कर लिया। इस तरह उसने अँगरेज़ों को व्यापारी से शासक बना दिया। उसके जाने पर वैनसिटार्ट बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ।

शासन का अभाव—मीरजाफ़र में शासन की योग्यता न थी, वह नाम मात्र को नवाब था। सारा शासन अँगरेज़ों के हाथ में था। इसका परिणाम यह हुआ कि शासन की ज़िम्मेदारी किसी पर भी न रही और बड़े बड़े कर्मचारी मनमानी करने लगे। शाहज़ादा और मराठों के भय से नवाब को बार बार अँगरेज़ों से सहायता माँगनी पड़ती थी। इस सहायता के लिए नवाब को अँगरेज़ी सेना का भार उठाना पड़ता था और कम्पनी के कर्मचारियों को प्रसन्न रखना पड़ता था। इसके लिए उसके पास धन न था, क्योंकि अँगरेज़ उसकी आमदनी में बराबर हस्तक्षेप करते थे। अँगरेज़ गुमाश्ता हिन्दुस्तानी व्यापारियों को बिना महसूल व्यापार करने के लिए अँगरेज़ी दस्तकें दे देते थे, जिससे नवाब की आमदनी में बड़ा घाटा होता था। ढाका के कुछ अँगरेज़ व्यापारियों ने नमक और सुपाड़ी का कुल व्यापार अपने हाथ में ले रखा था। वे न तो किसी हिन्दुस्तानी को इसमें भाग लेने देते थे और न नवाब को एक पैसा देते थे। महसूल माँगने पर वे नवाब के कर्मचारियों के साथ

बड़ा बुरा बर्ताव करते थे। ऐसी दशा में सरकारी ख़ज़ाना भरने के लिए प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार होते थे। कई सालों से सेना का वेतन बाक़ी पड़ा था, जिसके लिए सिपाही नवाब को बराबर तंग किया करते थे। इस तरह नवाब का ख़ज़ाना ख़ाली था और उसका कोई शासन न था।

दूसरी ओर कम्पनी की भी ऐसी ही दशा थी। उसके कर्मचारी अपने निजी व्यापार में लगे थे, कम्पनी के लाभ की ओर कुछ भी ध्यान न देते थे, और नवाब से बड़ी बड़ी रक़में ऐंठते थे। क्लाइव ऐसे बड़े बड़े अफ़सरों ने जब इस तरह बहुत सा धन कमाया था, तब फिर साधारण कर्मचारियों का कहना ही क्या था। वे तो अपने अफ़सरों का ही अनुकरण कर रहे थे। ख़ूब रुपया मिल जाने से वे इन दिनों बड़ी शान से रहते थे और कम्पनी के हानि या लाभ की कुछ भी पर्वाह न करते थे। कम्पनी को ख़ूब सम्पत्ति मिलने का समाचार पहुँचने पर इंग्लेंड से धन की सहायता आनी बन्द हो गई थी। बम्बई और मदरास से बराबर धन की माँग आ रही थी। इतिहासकार मिल के शब्दों में इन दिनों कलकत्ता का ख़ज़ाना ख़ाली था। सेना में वेतन न मिलने के कारण बड़ी अशान्ति फैल रही थी। कम्पनी की आय से कलकत्ता का ख़र्च तक नहीं चलता था।

दूसरा षड्यंत्र—कम्पनी की इस अवस्था को देखकर कलकत्ता के अधिकारियों ने दूसरा षड्यंत्र रचना प्रारम्भ किया। मीरजाफ़र अँगरेज़ों की लूट-खसोट से परेशान आ गया था। उसका लड़का मीरन जैसे तैसे काम चला रहा था। सेना उसके क़ाबू में थी। सन् १७६० में उसके एकाएक मरने से सेना में बड़ी अशान्ति फैल गई और नवाब बिलकुल हताश हो गया। इस अवसर पर उसके दामाद मीरक़ासिम ने उसकी सहायता की। उसने तीन लाख रुपया अपनी जेब से देकर सिपाहियों को शान्त किया। इससे सेना पर उसका बड़ा रोब जम गया। अँगरेज़ों ने अब इसी को नवाब बनाना चाहा। मीरक़ासिम ने भी बहुत सा धन देने का लालच दिया और सेना का ख़र्चा चलाने के लिए एक लाख रुपया माहवार देने का वादा किया। पहले तो कलकत्ता के गवर्नर ने मीरजाफ़र को धमकाकर इस बात पर राज़ी किया कि वह

मीरक़ासिम को नायब बना दे, पर बाद में थोड़ी सी सेना भेजकर मीरजाफ़र को गद्दी से उतार दिया और मीरक़ासिम को नवाब बना दिया। इस तरह बिना लड़े भिड़े अक्तूबर सन् १७६० में मीरक़ासिम बंगाल का नवाब बन गया। कौंसिल के कई एक सदस्यों की राय में पहले सहायता का वचन देकर फिर मीरजाफ़र को गद्दी से उतारना एक ऐसा कलंक का धब्बा था, जो मिट नहीं सकता।

मीरक़ासिम की नवाबी—मीरक़ासिम एक योग्य शासक था। उसने शासन में बहुत कुछ सुधार किया। एक लाख रुपया मासिक के बदले में उसने अँगरेज़ी फ़ौज का ख़र्चा चलाने के लिए बर्दवान, मिदनापुर और चटगांव के ज़िले कम्पनी को दे दिये। इन ज़िलों की आमदनी बहुत अधिक थी। मीरजाफ़र के समय में कई एक ज़मीन्दारों ने रुपया देना बन्द कर दिया था। मीरक़ासिम ने इन सबसे रुपया वसूल किया। फ़ौज का बहुत सा वेतन बाक़ी था, उसको भी चुकाने का उसने प्रयत्न किया। कम्पनी के माल को छोड़कर बाक़ी लोगों के माल पर चुंगी वसूल करने के लिए उसने अपने
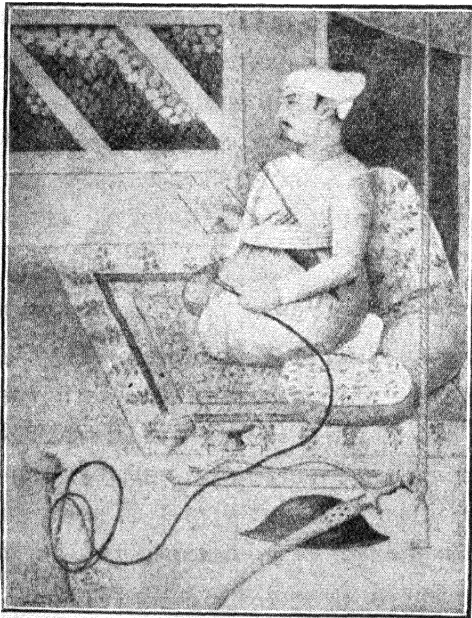
मीरक़ासिम

फ़ौजदारों को कड़ी ताकीद की। वह अपने को बंगाल का मुख्य शासक समझता था और अँगरेज़ों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था।

अँगरेज़ों से झगड़ा—मीरक़ासिम के सुधार अँगरेज़ों को बहुत खटके, इसलिए वे तरह तरह की बाधाएँ डालने लगे। पटना के ज़मीन्दार रामनारायण से जब नवाब ने हिसाब माँगा, तब वहां की कोठी के अध्यक्ष कूट ने उसको बहका दिया। मीरक़ासिम बंगाल की सूबेदारी के लिए मुग़ल सम्राट् की सनद चाहता था परन्तु कूट ने यह भी न होने दिया। पटना में खुले तौर से उसने नवाब का अपमान किया। कूट के बाद पटना में एलिस नियुक्त हुआ। यह बड़े उद्दंड स्वभाव का आदमी था। इसने नवाब को और भी तंग किया। नवाब ने कुछ अँगरेज़ अपराधियों को मुँगेर में छिपा रखा है, ऐसा कहकर उसने मुँगेर क़िले की तलाशी लेने का उद्योग किया। अँगरेज़ अफ़सरों के घृणित व्यवहार से परेशान होकर मीरक़ासिम ने कई बार कलकत्ता लिख भेजा कि इससे तो यही अच्छा है कि मेरे हाथ से शासन-भार ले लिया जाय।

दस्तकों का दुरुपयोग—कम्पनी के गुमाश्ते दस्तकों का दुरुपयोग बहुत दिनों से कर रहे थे। वे हिन्दुस्तानी व्यापारियों से रुपया लेकर उनको बिना महसूल के व्यापार करने देते थे। इससे नवाब को २५ लाख रुपया साल का नुक़सान होता था। अँगरेज़ व्यापारी केवल कपड़े का ही काम नहीं करते थे; उन्होंने नमक, सुपारी, तमाखू, चीनी, घी, तेल, चावल, शोरा सभी का काम अपने हाथ में ले रखा था और इन चीज़ों पर वे एक पैसा भी महसूल देने के लिए तैयार न थे। हिन्दुस्तानियों से इन वस्तुओं को सस्ते दाम पर ख़रीदकर वे मनमाने भाव से बेंचते थे। इससे जनता को बड़ा कष्ट मिलता था। नवाब तक को शोरा मिलना मुश्किल हो गया था। इसका ठेका अँगरेज़ों के हाथ में था, इसलिए वे किसी को हस्तक्षेप न करने देते थे। अँगरेज़ गुमाश्तों ने जगह जगह पर अपनी कचहरियां खोल रखी थीं। वहाँ वे लोगों को दंड देते थे और तरह तरह के नज़राने वसूल करते थे। नवाबी फ़ौजदारों को कोई पूछता तक न था।

उस समय की दशा का वर्णन करते हुए सर्जेंट ब्रिगो लिखता है कि "हर एक गुमाश्ता जज और उसका घर कचहरी हो रहा है, वह ज़मीन्दारों तक को दंड देता है। जहां वह पहुँच जाता है, जो कुछ माल मिलता है, ख़रीद लेता है और अपना माल ज़बरदस्ती बेंचता है। किसी के इनकार करने पर उसको कोड़े लगाये जाते हैं"।[1] नवाब ने कलकत्ता के हाकिमों से इस विषय में बहुत कुछ लिखा पढ़ी की, पर उसका कोई फल नहीं हुआ। इन दिनों कलकत्ता की कौंसिल में बड़ा झगड़ा चल रहा था। गवर्नर वैनसिटार्ट और हेस्टिंग्ज़ ने नवाब से समझौता करने का प्रयत्न किया, पर कौंसिल ने उनकी राय न मानी। तब नवाब ने खिजलाकर सब माल पर चुंगी लेना एकदम बन्द कर दिया। इस आज्ञा से हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ व्यापारियों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहा। अँगरेज़ इससे बहुत चिढ़ गये और उन्होंने मीर-क़ासिम को भी पदच्युत करना निश्चित कर लिया। इस पर नवाब भी युद्ध की तैयारी करने लगा।

अँगरेज़ों से युद्ध—पटना कोठी के हाकिम मिस्टर एलिस ने पटना नगर जीतना चाहा, पर नवाब की सेना ने उसको क़ैद कर लिया। इस पर कलकत्ता की कौंसिल ने सन् १७६३ में मीरजाफ़र को फिर से नवाब बना दिया। मीरक़ासिम बड़ी वीरता से लड़ा, पर धनाभाव के कारण वह अधिक दिनों तक सामना न कर सका। घेरिया और उदवा-नाला की लड़ाइयों में उसकी हार हुई। वहाँ से भागकर वह पटना आया और खिजलाकर उसने अँगरेज़ क़ैदियों को मार डालने की आज्ञा दे दी। इस घृणित कार्य्य को समरू नाम के एक यूरोपियन ने किया। अँगरेज़ सेना के आने का समाचार मिलने पर मीरक़ासिम पटना से अवध की तरफ़ भाग गया। वैनसिटार्ट लिखता है कि यदि हम लोग नवाब के अधिकारों में हस्तक्षेप न करते तो वह कभी झगड़ा न करता, यह मेरा विश्वास है। हम लोगों के अधिकारों का वह बराबर ध्यान रखता था। युद्ध छिड़ जाने पर भी कम्पनी के व्यापार में कोई बाधा नहीं पड़ी। इसके प्रतिकूल हममें से कुछ लोगों का व्यवहार

---

१ रमेशचन्द्र दत्त, इकनामिक हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृष्ठ २४।

था, जिन्होंने जिस दिन से वह नवाब हुआ, ज़रा ज़रा सी बात में उसके शासन को रौंदने तथा उसके अफ़सरों को अपमानित करने और धमकाने में कोई कसर उठा न रखी।[1]

मीरजाफ़र की दूसरी नवाबी—मीरजाफ़र को दूसरी बार मसनद पर बिठलाने के समय अँगरेज़ों ने उसके साथ एक नई सन्धि की। इसके अनुसार मीरक़ासिम की बिना चुंगी के व्यापार की आज्ञा रद्द कर दी गई। यह अधिकार केवल अँगरेज़ों के ही हाथ में रह गया। केवल नमक पर ढाई सैकड़ा चुंगी देना अँगरेज़ों ने स्वीकार किया। कम्पनी का सिक्का जायज़ मान लिया गया और महाजनों को उस पर बट्टा लेने से मना कर दिया गया। नवाब की सेना घटा दी गई। उसको केवल १२ हज़ार सवार और १२ हज़ार पैदल रखने की आज्ञा मिली। उसके दरबार में एक अँगरेज़ रेज़ीडेंट भी नियुक्त कर दिया गया। नवाब

बंगाल के बन्दूक़ची

१ वैनसिटार्ट, नैरेटिव्ज़, जि० ३, पृ० ३८१—८३।

ने कम्पनी को ३० लाख रुपया हरजाना देने का वादा किया और कम्पनी के अफ़सरों का जो कुछ नुक़सान हुआ था, उसको भी पूरा करने का वचन दिया। थोड़े दिन बाद अँगरेज़ी सेना के ख़र्च के लिए नवाब ने ५ लाख रुपया माहवार देना भी स्वीकार कर लिया।

आर्थिक दुर्दशा—दस्तकों के दुरुपयोग से व्यापार को जो हानि पहुँच रही थी, उसका उल्लेख किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त देश की कलाओं को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था। बोल्ट्स लिखता है कि जुलाहों को दादनी देकर मुचलका लिखवा लिया जाता था, इसके अनुसार उसे कुल माल कम्पनी को देना पड़ता था। मुचलके पर ज़बरदस्ती हस्ताक्षर करवा लिये जाते थे और दादनी का रुपया कोड़े लगा लगाकर जुलाहों के मत्थे मढ़ दिया जाता था। वे गुमाश्तों के गुलाम बन जाते थे और किसी दूसरे के हाथ अपना माल बेच न सकते थे। उन पर बराबर पहरा रहता था, जिसका ख़र्चा भी उन्हीं को देना पड़ता था और थान पूरा होते ही करघे से उतार लिया जाता था।[1] इस माल का दाम कम्पनी मनमाना देती थी। सन् १७८६ के एक पत्र में संचालकों ने भी इसको माना है। वे लिखते हैं कि जुलाहे कम्पनी के अधीन काम करना पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनको पूरा दाम नहीं मिलता है। अन्य विदेशी हमसे २० से ३० सैकड़ा अधिक दाम देते हैं। इसका फल यह हुआ कि बहुत से जुलाहों ने अपना काम छोड़ दिया।

खेती की भी यही दशा थी। बोल्ट्स का कहना है कि रैयत खेती के साथ साथ कताई बुनाई का काम भी करती थी, पर गुमाश्तों के अत्याचार के कारण खेती में भी बाधा पड़ने लगी। किसानों को लगान तक देना मुश्किल हो गया, जिसके लिए उन्हें मालविभाग के अफ़सर तंग करने लगे। इनका अत्याचार कभी कभी इतना बढ़ जाता था कि बेचारे किसानों को अपने बच्चे बेंचकर लगान चुकाना पड़ता था या देश छोड़कर भाग जाना पड़ता था। व्यापार और खेती की यह दशा होने के कारण जनता की आर्थिक

---

१ बोल्ट्स, कंसीडरेशन आन इंडियन अफ़ेयर्स, पृ० १९१–९४।

दशा बड़ी शोचनीय हो गई। इसके अतिरिक्त बहुत सा धन इँग्लेंड चला गया, नवाबी शासन के पतन से बहुतों की रोज़ी मारी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में बेकारी बहुत बढ़ गई और लूट-मार होने लगी।

बक्सर की लड़ाई—मीरक़ासिम भागकर अवध पहुँचा। वहाँ के नवाब शुजाउद्दौला ने उसका बहुत आदर किया। इन दोनों ने एक बड़ी सेना एकत्र की और मुग़ल सम्राट् शाहआलम को साथ लेकर, सितम्बर सन् १७६४ में, बिहार तथा बंगाल पर धावा कर दिया। मुग़ल सम्राट् वही शाहज़ादा था, जो पहले बिहार पर हमला कर चुका था। इन लोगों की सेना ४० से ६० हज़ार तक कही जाती है। मीरक़ासिम ने इस सेना को अच्छी शिक्षा दी थी। ता० २३ अक्तूबर सन् १७६४ को बक्सर में अँगरेज़ों से लड़ाई हुई। उनकी सेना में ७०७२ सिपाही थे, जिसमें ८५७ गोरे और २० तोपें थीं। मेजर मनरो इस सेना का सेनापति था। सबेरे ६ बजे से तीसरे पहर तक घोर युद्ध हुआ। नवाब की सेना बड़ी वीरता से लड़ी, पर सम्राट् की सेना ने पूरा साथ नहीं दिया और शुजाउद्दौला से भी कुछ भूलें हुईं, इसलिए अन्त में अँगरेज़ों की ही विजय हुई। शुजाउद्दौला तथा मीरक़ासिम मैदान से भाग निकले और शाहआलम अँगरेज़ों की शरण में आ गया। अँगरेज़ों ने शुजाउद्दौला का पीछा किया और चुनार तथा इलाहाबाद के क़िले छीन लिये। बक्सर की विजय ने पलासी का काम पूरा कर दिया।

मीरजाफ़र की मृत्यु—सन् १७६५ में वृद्ध नवाब मीरजाफ़र मर गया और उसका लड़का नजमुद्दौला गद्दी पर बैठा। इसके साथ अँगरेज़ों ने फिर एक नई सन्धि की। इसके अनुसार नवाब को अपनी सेना और भी घटानी पड़ी और अँगरेज़ी सेना को बराबर ५ लाख रुपया माहवार देना मंज़ूर करना पड़ा। मुहम्मदरिज़ा ख़ाँ नायब बनाया गया और नवाब के बड़े बड़े अफ़सरों को नियुक्त करने या निकालने का अधिकार अँगरेज़ों को दिया गया। नवाबी मालगुज़ारी वसूल करने के लिए मुतसद्दियों का रखना और निकालना भी अँगरेज़ों के ही हाथ में रखा गया। व्यापार के विषय में मीरजाफ़र

के साथ सन् १७६३ में जो सन्धि हुई थी, उसकी सब शर्तें मान ली गईं। अँगरेज़ों के द्वारा मुग़ल सम्राट् से सूबेदारी की सनद प्राप्त करने का वचन भी नवाब को देना पड़ा। इस तरह नवाब की शक्ति जकड़ दी गई और फिर से स्वाधीन होने की चेष्टा करने का कोई अवसर नहीं रखा गया।

शासन के कठिन भार से मुक्त होकर विषयी नजमुद्दौला बड़ा प्रसन्न हुआ, पर साथ ही साथ बंगाल में नवाबी शासन का अन्त हो गया। थोड़े दिन बाद अँगरेज़ों के अनुरोध से राजा नन्दकुमार दीवानी के पद से हटा दिया गया। सिराजुद्दौला के समय में यह हुगली का फ़ौजदार था, मीरजाफ़र ने इसको अपना दीवान बनाया था। यह राज्य की आमदनी का भेद अँगरेज़ों को कभी न देता था और शुजाउद्दौला तथा शाहआलम की सहायता से नवाब को स्वाधीन बनाना चाहता था।[1] इसी से अँगरेज़ चिढ़ते थे, परन्तु उनके बहुत कुछ कहने सुनने पर भी मीरज़ाफर ने उसको नहीं निकाला था। इस नई सन्धि के अनुसार नजमुद्दौला को वही करना पड़ा। इस तरह नवाब का एक योग्य सेवक भी हाथ से जाता रहा और उसके नायब, दीवान, मुतसद्दी, सभी अँगरेज़ों के आदमी हो गये।

क्लाइव की दूसरी गवर्नरी—बक्सर की लड़ाई के बाद की राजनैतिक स्थिति का वर्णन किया जा चुका है। शाहआलम और शुजाउद्दौला के साथ इस समय तक कोई समझौता नहीं हुआ था। उनके साथ सन्धि हो जाने पर बंगाल के नवाब की क्या स्थिति होगी, यह प्रश्न भी हल करना था। इधर कम्पनी की भीतरी दशा बड़ी शोचनीय हो रही थी। संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध उसके कर्मचारी बंगाल की राजनीति में भाग लेते थे और अपना निजी व्यापार करते थे। नवाबों से उनको बड़ा धन मिलता था और वे कम्पनी के हानि-लाभ की कभी चिन्ता न करते थे। सेना में भी अशान्ति थी, सिपाहियों को भी रुपये का लालच लगा हुआ था। इस दशा को सुधारने के लिए सन् १७६५ में क्लाइव फिर से गवर्नर बनाकर भेजा गया। इस बार उसको

---

१ डाडवेल, डूप्ले ऐंड क्लाइव, पृ० २४३–४४।

प्रधान सेनापति का पद भी दिया गया और शासन के दोषों को दूर करने के लिए बहुत से अधिकार दिये गये।

क्लाइव के सुधार—भारतवर्ष पहुँचकर क्लाइव ने पहले कम्पनी के कर्मचारियों को ठीक करने की ओर ध्यान दिया। संचालकों ने उसके आने के बहुत पहले नवाबों से इनाम न लेने और निजी व्यापार न करने के लिए लिख भेजा था, परन्तु कलकत्ता की कौंसिल ने उस पर कुछ भी ध्यान न दिया था। संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध कौंसिल तक के मेम्बर नवाबों से खूब धन लेते थे। कम्पनी के प्रायः सभी कर्मचारी घूस खाते थे। इस दशा का वर्णन करते हुए स्वयं क्लाइव, ता० ३० सितम्बर सन् १७६५ के पत्र में, संचालकों को लिखता है कि भारतवर्ष पहुँचने पर मैंने देखा कि शासन का कहीं नाम तक नहीं रह गया है। खूब धन मिलने से अफ़सर लोग बड़ी शान से रहते हैं और उनके मातहत भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। सेना-विभाग को भी इसका चस्का लग गया है और व्यवस्था का बन्धन ढीला हो रहा है। घूसखोरी और आरामतलबी अधिक बढ़ जाने से कोई राज्य क़ायम नहीं रह सकता है। कम्पनी के गुमाश्ता रैयत पर अत्याचार करते हैं। मुझे भय है कि इस देश में अँगरेज़ों के नाम पर यह ऐसा धब्बा लग रहा है, जो कभी न छूटेगा। महत्त्वाकांक्षा, सफलता और आराम-तलबी से एक नई शासन-व्यवस्था उत्पन्न हो गई है, जिससे अँगरेज़ों की प्रतिष्ठा घट रही है तथा कम्पनी में विश्वास उठ रहा है। यह साधारण न्याय तथा मानवता के भी विरुद्ध है।

इस दशा को सुधारने के लिए उसने कर्मचारियों से एक नया प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाया, जिसमें उन्होंने भेंट या नज़राना न लेने का वचन दिया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यह प्रथा बन्द हो गई। नये प्रतिज्ञा-पत्र का आशय केवल इतना ही था कि चार हज़ार से कम की रक़म के लिए कौंसिल की अनुमति लेनी पड़ेगी और अधिक होने से उस रक़म को कम्पनी को दे देना पड़ेगा। इसका फल यह हुआ कि कर्मचारियों के नज़राना लेने से कम्पनी की जो हानि होती थी, वह बन्द हो गई। इस पर इतिहासकार मिल

ने ठीक लिखा है कि नज़राने की रक़म अब बजाय कर्मचारियों के कम्पनी की जेब में जाने लगी। इस सुधार में क्लाइव को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु अन्त में उसने सबको दबा लिया।

कर्मचारियों के निजी व्यापार को वह बन्द न कर सका, इसका मुख्य कारण यह था कि उन दिनों इसके बन्द करने की उपयोगिता में उसको स्वयं विश्वास न था। उसका कहना था कि कर्मचारियों को अच्छा वेतन नहीं मिलता है, उनका नज़राना लेना भी बन्द करा दिया गया है, ऐसी दशा में बिना निजी व्यापार के उनका ख़र्चा पूरा नहीं पड़ता है। इसलिए उसने बड़े बड़े अफ़सरों की एक सोसायटी को नमक, सुपारी, अफ़ीम और तमाखू के व्यापार का ठेका दे दिया। इसके लाभ का कुछ हिस्सा कम्पनी को मिलता था और बाक़ी हिस्सेदारों में बँट जाता था। कम्पनी के संचालक इसके विरुद्ध थे, पर तब भी उसने इसका प्रबन्ध कर दिया।

इन दिनों कलकत्ता की कौंसिल में बड़ा गोलमाल था। कम्पनी का सारा प्रबन्ध और शासन इस कौंसिल के हाथ में था। कौंसिल के सदस्य प्रायः बड़ी बड़ी कोठियों के अध्यक्ष होते थे। जब उनके प्रबन्ध की आलोचना कौंसिल में होती थी, तब वे निष्पक्ष भाव से विचार नहीं करते थे। क्लाइव को यह भी पता लगा था कि कई एक सदस्यों ने नवाब नजमुद्दौला और नायब मुहम्मदरिज़ा ख़ां से बड़ी बड़ी रक़में ली हैं। इस कौंसिल में जब जगहें ख़ाली हुईं तब क्लाइव ने मदरास से चार आदमियों को बुलाकर मेम्बर बनाया। वह मदरास के कर्मचारियों को अधिक ईमानदार समझता था। कौंसिल को न्याय में निष्पक्ष रखने के लिए उसने यह भी नियम बना दिया कि कौंसिल के मेम्बरों को कोई और पद न दिया जाय।

क्लाइव ने सेना के संगठन में भी बहुत कुछ सुधार किया। मेजर कार्नक को उसने सेनापति बनाया और पैदल सेना के तीन बड़े बड़े दल कर दिये। इनका भार योग्य अफ़सरों को दिया गया। इन दिनों सेना का ख़र्च ख़ूब बढ़ा हुआ था। कम्पनी की कुल आमदनी इसी में ख़र्च हो जाती थी। अफ़सरों को वेतन के अतिरिक्त भत्ता मिलता था। मीरजाफ़र ने इस भत्ते की रक़म

को दुगना दिया था। जब तक नवाबों से यह रक़म मिलती रही, तब तक तो कोई बात न थी, पर लड़ाई बन्द हो जाने से यह रुपया इस समय कम्पनी को देना पड़ता था। दुगुने भत्ते का नियम बंगाल ही में था, मदरास में इतना भत्ता न मिलता था, इसलिए वहां के अफ़सर बहुत असन्तुष्ट थे। कम्पनी का ख़र्चा कम करने और मदरास के अफ़सरों को शान्त करने के लिए क्लाइव ने 'डबल भत्ते' के नियम को उठा दिया। इसके विरुद्ध अफ़सरों ने बड़ा आन्दोलन मचाया पर उसने सबको शान्त कर दिया।

राजनैतिक प्रबन्ध—क्लाइव के आने के पूर्व बक्सर का युद्ध हो चुका था, परन्तु इस समय तक कोई सन्धि नहीं हुई थी। बक्सर से भागकर शुजाउद्दौला ने मराठों और रुहेलों को मिलाने का प्रयत्न किया, परन्तु इसमें उसको सफलता न हुई। इधर अँगरेज़ों ने उसके कई अफ़सरों को फोड़ लिया।[1] इसलिए शुजाउद्दौला इस समय सन्धि के लिए तैयार था। शाहआलम की कोई गिनती ही न थी। बक्सर की विजय पर अँगरेज़ों को उसने सबसे पहले बधाई दी थी। मीरक़ासिम भागा हुआ था।

इलाहाबाद की सन्धि—अगस्त सन् १७६५ में इलाहाबाद की सन्धि हुई। शुजाउद्दौला से कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले लेकर शाहआलम को दिये गये। अँगरेज़ों के प्रार्थना करने पर उसने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की 'दीवानी' अर्थात् कर वसूल करने का अधिकार दे दिया। उसे "अपनी इच्छा के विरुद्ध" ऐसा करना पड़ा।[2] अँगरेज़ों ने सूबा की आमदनी से २६ लाख रुपया सालाना सम्राट् को देना स्वीकार किया और उसकी रक्षा का भार अपने हाथ में लिया। शुजाउद्दौला ने अँगरेज़ों को ५० लाख रुपया हरजाना देना स्वीकार किया और अवध में बिना महसूल के व्यापार करने की अनुमति दे दी। अँगरेज़ अवध में भी अपनी कोठियाँ खोलना चाहते थे, परन्तु बंगाल की दशा देखकर शुजाउद्दौला ने इस शर्त को मंज़ूर

१ कलेंडर ऑफ़ परशियन कररपांडेंस, जि० १, पृ० ३८५।

२ सियर-उल-मुताख़रीन, जि० ३, पृ० ९।

नहीं किया। शुजाउद्दौला और अँगरेज़ों ने एक दूसरे की रक्षा करने का भी वादा किया। बंगाल के नवाब नजमुद्दौला से कर वसूल करने के सब अधिकार ले लिये गये और उसके बदले में ५३ लाख रुपया सालाना उसको

दीवानी-प्रदान

दिया जाने लगा। उसके मरने पर यह रक़म घटाकर ४१ लाख कर दी गई। इस तरह प्रबन्ध करके सन् १७६७ में क्लाइव इँग्लेंड वापस चला गया।

क्लाइव की नीति—क्लाइव बड़ा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह देश और कम्पनी की स्थिति को खूब समझता था। बक्सर के युद्ध के बाद यदि वह चाहता तो अवध पर अधिकार करके दिल्ली तक बेधड़क धावा लगा सकता था, परन्तु ऐसा करना उसने उचित नहीं समझा। बंगाल और बिहार में अँगरेज़ों की शक्ति इस समय दृढ़ नहीं हो पाई थी। ऐसी दशा में आगे क़दम बढ़ाना कम्पनी के लिए उसकी राय में "पागलपन" था। इसी लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अँगरेज़ी शक्ति दृढ़ करना ही उसने अपना

उद्देश्य रखा। इसी उद्देश्य से उसने शुजाउद्दौला के साथ सन्धि की। मराठे उस समय दिल्ली तक पहुँच चुके थे और पूर्व की तरफ़ बराबर बढ़ रहे थे। इधर रुहेले ज़ोर पकड़ रहे थे। शुजाउद्दौला इन दोनों को मिलाकर अँगरेज़ों की शक्ति नष्ट करना चाहता था। ऐसी दशा में शुजाउद्दौला से मित्रता कर लेने ही में क्लाइव ने अँगरेज़ों का हित देखा। अब कोई शक्ति उत्तर-पश्चिम की ओर से बिना शुजाउद्दौला से लड़े हुए बंगाल पर आक्रमण न कर सकती थी। इस तरह बंगाल की पश्चिमी सीमा को उसने दृढ़ बना दिया। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अँगरेज़ों ने अवध के सम्बन्ध में इसी नीति से काम लिया। अवध उस समय बंगाल की बड़ी भारी आड़ था, उसको तोड़ना बुद्धिमानी न थी।

शाहआलम से दीवानी लेने में भी एक बड़ा भारी रहस्य था। सम्राट् को २६ लाख रुपया सालाना देना क्लाइव ने योंही स्वीकार नहीं कर लिया था। वह अँगरेज़ों की शरण में था और नवाब वज़ीर ने उसका साथ छोड़ दिया था; क्लाइव यह अच्छी तरह जानता था कि मुग़ल सम्राट् का नाम बना हुआ है। स्वतंत्र होते हुए भी देशी शासक उसी के साम्राज्य के पदाधिकारी होने में अपना मान समझते हैं। ऐसी दशा में बिना कोई बड़ा पद पाये अँगरेज़ों का सम्मान नहीं हो सकता, साधारण जनता में वे व्यापारी ही कहलायँगे। इसके अतिरिक्त बंगाल में फ्रांसीसी और डच लोगों का एकदम नाश नहीं हो गया था। उनकी सरकारों को देश की वास्तविक स्थिति का पता न था, वे इस समय भी मुग़ल सम्राट् को भारतवर्ष का सच्चा शासक मानती थीं। ऐसी दशा में बिना मुग़ल सम्राट् की आज्ञा के बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करना उचित नहीं जान पड़ता था। विदेशी सरकारों की दृष्टि में अपने कार्यों को नियमानुसार सिद्ध करने के लिए शाही फ़रमान की बड़ी आवश्यकता थी।[१]

बंगाल के नवाब के साथ भी इसी नीति का अवलम्बन करके दोहरे शासन की प्रथा चलाई गई। यदि अँगरेज़ चाहते तो बंगाल के नवाब स्वयं

१ डाडवेल, डूप्ले ऐंड क्लाइव, पृ० १४७।

बन सकते थे, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से खुले तौर पर शासन करना ठीक नहीं था। दूसरे कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, वह कोई राज्य न थी। भारत की जनता का भी ध्यान रखना था। नवाबों के अत्याचार से पीड़ित होते हुए भी वह किसी प्रकार के राज-परिवर्तन के लिए तैयार न थी। शताब्दियों से चले आये हुए नवाबी शासन को वह एकदम नष्ट होते हुए न देखना चाहती थी। कम्पनी के राज्याधिकार को स्वयं इँग्लेंड की पार्लामेंट भी इस समय न मानती। इसलिए पर्दे की ओट में शिकार खेलने के लिए दोहरे शासन की योजना की गई।

क्लाइव ने स्वयं इसको स्पष्ट शब्दों में माना है। प्रकट रूप से शासन-भार लेने में जो कठिनाइयां होतीं, उनका उल्लेख करते हुए वह ता० ३० सितम्बर सन् १७६५ के पत्र में लिखता है कि इससे कम्पनी का खर्चा बहुत बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त यदि कम्पनी के कर्मचारी कर वसूल करने लगेंगे, तो विदेशी राष्ट्र तुरन्त ही बुरा मानने लगेंगे और ब्रिटिश सरकार से शिकायत करेंगे, जिसका परिणाम कम्पनी को बड़े चक्कर में डालेगा। यह कभी सम्भव नहीं कि फ़्रांसीसी, डच और डेन लोग अँगरेज़ी कम्पनी को बंगाल का नवाब मान लेंगे और उसके हाथ में व्यापार का महसूल और उन ज़िलों की मालगुज़ारी, जिनको उन्होंने शाही फ़रमान, या भूतपूर्व नवाबों द्वारा पाया है, देने लगेंगे। ऐसी दशा में जिस नीति से काम निकाला जाता था, उसका वर्णन क्लाइव तथा उसके साथियों ने ता० २४ जनवरी सन् १७६७ के एक पत्र में इस प्रकार किया है—"अपनी वर्तमान अवस्था में हम लोग, नवाब के नाम की छाया के नीचे छिपे हुए एक पेंच की तरह हैं, जो असली संगठन में बिना किसी प्रकार की बाधा डाले हुए, शासन के बृहत् यंत्र को चुपचाप चला रहा है। इससे नवाब के अधिकारों पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता है, पर साथ ही साथ उसकी शक्ति घट जाती है और हमारी शक्ति बढ़ जाती है। शासन तथा न्याय, अफ़सरों का रखना या निकालना और ऐसे ही राजसत्ता के अन्य अधिकार, जो प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक हैं और जिनके कारण हमारे बीच बड़ी रुकावटें पड़ती हैं,

तथा अन्य यूरोपियनों को जलन होती है, अब भी सदा की भाँति नवाब के हाथ में हैं।"[1]

अपनी नीति में डूप्ले की भूलों को सुधारते हुए उसने उसका बहुत कुछ अनुकरण किया। उसके दोहरे शासन को आगे चलाना असम्भव हो गया, परन्तु इस समय इसके अतिरिक्त और कोई उपाय न था। भारतवर्ष में वह यूरोपियनों से बड़ा घबड़ाता था और उनके नष्ट करने का बराबर प्रयत्न किया करता था।

उसका चरित्र—अमीरचन्द को धोखा देने और मीरजाफ़र से बड़ी बड़ी रक़में लेने का उसके चरित्र पर बड़ा भारी कलंक लगाया जाता है। इतिहासकार स्मिथ की राय में जाली सन्धि का समर्थन "धार्मिक या राजनैतिक" दोनों में से किसी दृष्टि से नहीं किया जा सकता है। नज़राना और जागीरें लेना उन दिनों साधारण बात थी। फ़्रांसीसियों ने भी ऐसा ही किया था, अँगरेज़ कम्पनी के और कर्मचारी भी यही करते थे। यदि क्लाइव के साथ कोई भेद था, तो इतना ही कि वह स्वार्थ के वश होकर कम्पनी के हित को बिलकुल न भूल जाता था। जब इँग्लेंड वापस जाने पर उस पर अभियोग चलाया गया, तब पार्लामेंट की कामंस सभा ने यही कहकर उसको छोड़ दिया कि नज़राना लेने के "साथ ही साथ राबर्ट लार्ड क्लाइव ने देश की बड़ी भारी और योग्य सेवा की।"

कम्पनी के संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध उसने कर्मचारियों को निजी व्यापार जारी रखने दिया, इसकी इतिहासकार मिल ने बड़ी निन्दा की है। वह उसकी बनाई हुई 'सोसायटी' के कार्यों को "लज्जाजनक" बतलाता है। उसके इस मत का इतिहासकार स्मिथ भी समर्थन करता है। वह लिखता है कि किसी निष्पक्ष इतिहासकार के लिए यह कहना असम्भव है कि क्लाइव एशियाई लोगों के साथ उन्हीं के छल-कपट की चालों को न चलता था, धन का उसको लालच न था, और बिना किसी सोच-विचार के उसकी प्राप्ति के लिए वह चेष्टा न करता था। इस निर्णय से उसकी स्मृति पर निश्चय धब्बा

१ स्मिथ, ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृ० ५०७।

लगता है।[1] अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे साधनों के उचित या अनुचित होने का कुछ भी ध्यान न रहता था।

किस स्थिति में क्या करना चाहिए, यह तुरन्त ही उसकी समझ में आ जाता था। बिना किसी सैनिक शिक्षा के वह एक अनुभवी सैनिक की तरह काम करता था। विपत्ति के समय में वह कभी विचलित न होता था। कर्नाटक के नवाब ने उसको 'साबितजंग' की उपाधि दी थी, इसी नाम से वह देश भर में प्रसिद्ध था। भारत में रहते रहते नवाबी ढंग से रहने का उसे अभ्यास पड़ गया था। बुढ़ापे में वह बड़ा उदास रहा करता था और अफ़ीम भी खाने लग गया था। सन् १७७४ में उसने आत्महत्या कर ली। बड़े कठिन समय में फ़्रांसीसियों से उसने अँगरेज़ों की रक्षा की और बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली।

———

१ स्मिथ, ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृ० ५०६।

परिच्छेद ४

देश की दशा

पानीपत का प्रभाव—पहले तीन पेशवाओं के समय में मराठों की उन्नति देखकर जान पड़ता था कि किसी दिन सारे भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जायगा, परन्तु सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में यह आशा सदा के लिए विलीन हो गई। मुग़ल साम्राज्य का पतन हो ही चुका था, मराठों की हार के साथ साथ अँगरेज़ों का मार्ग साफ़ हो गया। बंगाल में क्लाइव ने जिस साम्राज्य-वृक्ष का आरोपण किया था, उसको मराठे कभी न पनपने देते, परन्तु अँगरेज़ों के सौभाग्य से कुछ काल के लिए मराठों की तीव्र गति रुक गई और इस अवसर में उस वृक्ष की जड़ें बंगाल की उपजाऊ भूमि में अच्छी तरह धँस गईं। इसी लिए कुछ इतिहासकारों का मत है कि ब्रिटिश भारत के इतिहास में पलासी के युद्ध की अपेक्षा पानीपत का युद्ध अधिक महत्त्व का है। इस युद्ध ने उत्तरी भारत में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि जिससे अँगरेज़ों को उत्तर-पश्चिम की ओर से कोई भय न रह गया।

सम्राट् शाहआलम—इलाहाबाद की सन्धि के बाद से सम्राट् शाह-आलम अँगरेज़ों के हाथ में आ गया था। इलाहाबाद में उसका हर तरह से अपमान किया जाता था। मेजर स्मिथ शाही महल में डट गया था और उसने नौबत का बजना तक बन्द कर दिया था।[१] अँगरेज़ों को जब उससे कोई काम

१ सियर-उल-मुताख़रीन, जि० ३, पृ० १०।

लेना होता था तब वे उसको रुपया भेजना बन्द कर देते थे। अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेज़ों के दबाव डालने पर उसे शुजाउद्दौला से भी मेल करना पड़ा था। इस तरह अपने को विवश देखकर वह इलाहाबाद से भागने का प्रयत्न करने लगा। इधर मराठों ने दिल्ली पर फिर अधिकार कर लिया और शाहआलम को बुला भेजा। सन् १७७२ में वह अँगरेज़ों के हाथ से निकल भागा और मराठों की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर जा बैठा। माहादजी सिन्धिया उसकी ओर से शासन करने लगा। शाहआलम ने कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले भी मराठों को दे दिये पर अँगरेज़ों ने क़िला ख़ाली नहीं किया।

अवध के नवाब वज़ीर—सन् १७३२ में सादतअली ख़ाँ अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ था। सन् १७३९ में उसका भानजा सफ़दरजंग नवाब हुआ। सन् १७५४ में उसके मरने पर शुजाउद्दौला गद्दी पर बैठा। इसकी सहायता से सन् १७६१ में अहमदशाह अब्दाली की पानीपत में विजय हुई। उसने शुजाउद्दौला को सम्राट् का वज़ीर बना दिया। नवाब शुजाउद्दौला ने अपनी सेना को पाश्चात्य रण-प्रणाली सिखलाने का प्रबन्ध किया और तोपें बनाने के लिए कई इंजीनियर रखे। उसने अँगरेज़ों को बंगाल से निकालने का कई बार प्रयत्न किया। बक्सर की हार के बाद उसने अँगरेज़ों से मित्रता
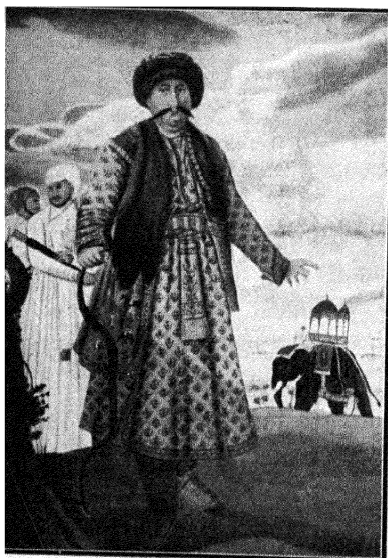
शुजाउद्दौला

कर लेने ही में अपना हित समझा और तब से बराबर उनका साथ देता रहा। अँगरेज़ों की नीति को वह ख़ूब समझता था, इसी लिए उनके बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी उसने उनको अवध में कोठियाँ खोलने की अनुमति नहीं दी। इलाहाबाद की सन्धि से उसको अवध तो वापस मिल गया, पर वह बिलकुल तबाह हो गया। कहा जाता है कि इस समय पर उसने अपनी बेगम की नथनी तक बेंचकर अँगरेज़ों को रुपया दिया था।[1]

रुहेलों का राज्य—रुहेलखंड में, जो पहले 'कठेर' कहलाता था, बहुत से अफ़ग़ानी बसते थे। ये बड़े वीर और लड़ाकू थे। औरंगज़ेब के मरने पर अलीमुहम्मद नाम के एक सरदार ने यहाँ अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। कुछ लोगों का कहना है कि पहले वह एक जाट हिन्दू था। उसने अपनी सेना का अच्छा संगठन किया और अपनी उदारता से प्रान्त के सब सरदारों को मिला लिया। आंवला में इसकी राजधानी थी। सन् १७४९ में यहीं उसकी मृत्यु हुई। मरने के पूर्व वह अपना राज्य अपने लड़कों को बांट गया और हाफ़िज़ रहमतख़ां को उनका संरक्षक तथा डुंडीख़ां को सेनाध्यक्ष बना गया।

हाफ़िज़ रहमतख़ां ने शासन में कई एक सुधार किये। व्यापार की उन्नति के लिए उसने सब प्रकार के महसूल उठा दिये। सरदारों ने इसका बड़ा विरोध किया, क्योंकि इससे उनकी आय को बड़ी हानि पहुँची, परन्तु उसने प्रजाहित की दृष्टि से इस विरोध की कुछ भी पर्वाह नहीं की। इस स्वतंत्र व्यापार से रुहेलखंड को बड़ा लाभ हुआ। उसके शासन-काल में हिन्दू प्रजा की भी रक्षा होती थी और उसके साथ कोई अत्याचार न होने पाता था।[2] हाफ़िज़ रहमतख़ां पीलीभीत में रहता था। वह बड़ा विद्वान् था। उसके पास पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह था, जो उसके मरने पर लखनऊ चला गया। रुहेलखंड की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों का ज़ोर रहता था और पूर्व की ओर अवध का राज्य था। इन दोनों की अति को

१ सियर-उल-मुताख़रीन, जि० २, पृ० ५८५।

२ स्ट्रैची, हेस्टिंग्ज ऐंड दि रुहेला वार, पृ० ३०-३१।

रोकने के लिए रुहेले कभी मराठों से मित्रता करते थे और कभी नवाब वज़ीर से।

सिखों का संगठन—इधर पंजाब में सिखों का ज़ोर बढ़ रहा था। अपने बल का ज्ञान होने पर धीरे धीरे इनमें भी ज़मीन के मालिक बनने की इच्छा हो रही थी। इनके कई एक दल बन गये थे, जो 'मिसल' कहलाते थे। इनमें १२ मिसलें मुख्य थीं। जो सरदार जिस मिसल को स्थापित करता था, वह मिसल उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाती थी। एक मिसल को स्थापित करनेवाला सरदार भांग बहुत पीता था, इसलिए उसकी मिसल 'भंगी' कहलाती थी। इन मिसलों को जहाँ जो ज़मीन मिल गई, उसी पर उन्होंने अधिकार कर लिया। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही काल में पंजाब मुग़ल बादशाहों के हाथ से जाता रहा। सरदार जसासिंह ने लाहोर जीत लिया और वह अपना सिक्का चलाने लगा। अहमदशाह दुर्रानी कई बार आक्रमण करके भी सिखों को दबा न सका, उन्होंने सरहिन्द छीन लिया और मुसलमानी अत्याचार का भरपूर बदला लिया। अन्त में दुर्रानी ने पटियाला के एक सरदार को सरहिन्द का हाकिम बना दिया।

इन भिन्न भिन्न मिसलों को एकता में बाँधनेवाले दो बन्धन थे, एक तो सिख धर्म की रक्षा और दूसरे खालसा की उन्नति। इन दो के सिवा मिसलों में और कोई परस्पर का सम्बन्ध न था। कोई बाहरी शत्रु न होने पर ये दल आपस ही में लड़ा करते थे। इन मिसलों के अतिरिक्त अमृतसर में 'अकालियों' का दल था, जिसके हाथ में गुरुद्वारों का प्रबन्ध था। ये अकाली हर समय लड़ने मरने के लिए तैयार रहते थे। खालसा की नीति निर्धारित करने के लिए एक सभा रहती थी, जो 'गुरुमाता' कहलाती थी। अकालियों के आमंत्रित करने पर अमृतसर में प्रतिवर्ष दो बार इसकी बैठक होती थी। सर जान मालकम लिखता है कि इस अवसर पर सिख सरदारों को परस्पर के वैर को भूलकर एकता की शपथ लेनी पड़ती थी। वे किसी एक योग्य सरदार को अपना नेता मान लेते थे और उसी की अध्यक्षता में बाहरी शक्ति का सामना करते थे। पर भय की आशंका दूर

हो जाने पर फिर सब मिसलें अलग अलग हो जाती थीं और आपस में ही लड़ने लगती थीं। सिख साम्राज्य स्थापित करने के लिए इन मिसलों का एक होना बड़ा आवश्यक था।

जाट और राजपूत—आगरा और जयपुर के मध्य का भाग जाटों के हाथ में था। सूरजमल इनका राजा था, जो भरतपुर में रहता था। पानीपत के युद्ध के अवसर पर पहले इसने मराठों का साथ दिया था, पर सदाशिवराव भाऊ के उद्दंड व्यवहार से रुष्ट होकर यह वापस चला आया था। इतिहासकार गुलामहुसेन का कहना है कि शासन की योग्यता में उससे बढ़कर उस समय कोई दूसरा हिन्दू राजा न था।[१] इसके मरने पर मराठों ने जाटों को भी दबाना प्रारम्भ कर
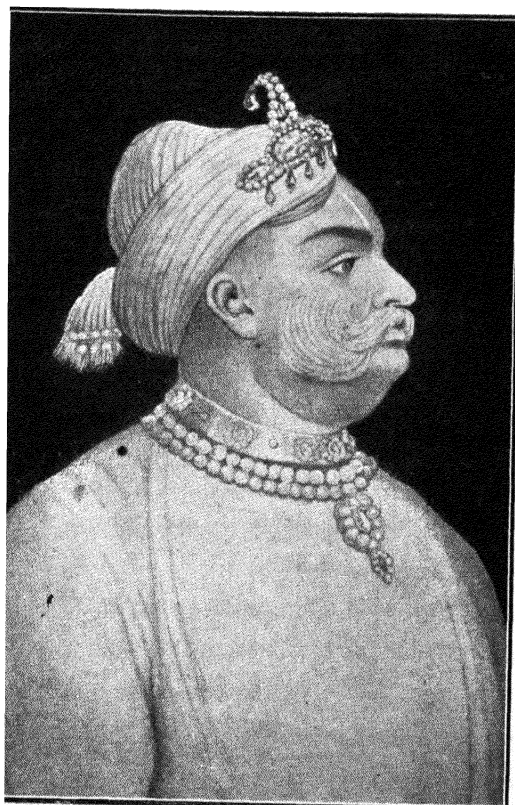
सूरजमल

१ सियर-उल-मुताख़रीन, जि० ४, पृ० २७।

दिया। राजपूतों ने मुग़ल साम्राज्य की अपने बाहुबल से बहुत दिनों तक रक्षा की थी, पर इन दिनों वे निर्बल हो रहे थे और उनका कोई योग्य नेता न था। राजपूताने में भी मराठों का आतंक जम रहा था और जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर के प्रसिद्ध राज्य सिन्धिया का प्रभुत्व स्वीकार करने लगे थे।

हैदरअली का राज्य—इधर दक्षिण में मराठा तथा निज़ाम के अतिरिक्त मैसूर की एक नई शक्ति उत्पन्न हो गई थी। मैसूर पहले विजयनगर साम्राज्य का एक भाग था। उसके नष्ट होने पर वादयार वंश के हिन्दू राजाओं के अधीन हो गया था। इन दिनों यह वंश निर्बल हो रहा था और मैसूर का राज्य हैदरअली के हाथ में था। हैदरअली का जन्म सन् १७३२ में हुआ था। इसका पिता मैसूर राज्य में नौकर था। हैदरअली ने पहले अपना एक दल बना लिया और इधर उधर धावा लगाने लगा। उसके साथियों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ने लगी। इस तरह उसकी शक्ति को बढ़ते हुए देख-कर मैसूर राज्य ने उसको सेना में नौकर रख लिया। उसने अपने सिपाहियों को खूब शिक्षा दी। डिंडीगल की मराठों से रक्षा करने पर सन् १७५५ में वह फ़ौजदार बना दिया गया। थोड़े दिन बाद उसे बंगलोर की जागीर दे दी गई और वह मैसूर सेना का सेनापति बना दिया गया। कर्नाटक की लड़ाइयों में उसने फ़्रांसीसियों का साथ दिया था, तभी से उसका फ़्रांसीसियों से परिचय था। उसने अपनी सेना में कई एक फ़्रांसीसियों को नौकर रखा और उनकी सहायता से अपना तोपख़ाना ठीक किया। उसने एक छोटा सा जहाज़ी बेड़ा बनाने का भी प्रयत्न किया। डेन लोगों से उसने एक जंगी जहाज़ ख़रीदा और उसका संचालन एक अँगरेज़ अफ़सर के हाथ में दिया। दुरुस्ती के लिए यह जहाज़ बम्बई भेजा गया। हैदर से लड़ाई छिड़ जाने पर अँगरेज़ों ने इस को वहीं रोक लिया।

हैदरअली का प्रभुत्व देखकर मैसूर राज्य के अर्थ-सचिव खांडेराव ने उसकी शक्ति को रोकने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर हैदरअली ने उसको क़ैद कर लिया और जन्म भर तक एक लोहे के पिंजड़े में बन्द

रखा।[1] इस तरह मैसूर से निश्चिन्त होकर उसने सन् १७६३ में बेदनूर का क़िला जीत लिया। उन दिनों बेदनूर व्यापारिक दृष्टि से बड़ा प्रसिद्ध नगर था और आठ मील के घेरे में बसता था। इस अवसर पर बहुत सा धन हैदरअली के हाथ लगा। वास्तव में उसकी भावी प्रसिद्धि का प्रारम्भ यहीं से हुआ जैसा कि वह स्वयं कहा करता था। सन् १७६६ में हिन्दू राजा के मरने पर वह एक प्रकार से मैसूर का राजा ही बन गया। कालीकट पर आक्रमण करके उसने मलाबार पर भी अधिकार कर लिया। उसका राज्य मराठों और निज़ाम के राज्य से मिला हुआ था, इसलिए उन दोनों से उसका बराबर युद्ध हुआ करता था। मराठों ने कई बार उस पर आक्रमण किया, पर समय के अनुसार कभी वह उनसे लड़ता था और कभी उनको धन तथा भूमि देकर अपनी रक्षा करता था। इस तरह तीन चार बार मराठों ने उससे बहुत सा धन लिया। दूसरी ओर निज़ाम में कोई दम न था, इसलिए हैदर ने उसके कई एक ज़िलों को दबा लिया।

अँगरेज़ों के साथ युद्ध—हैदरअली की बढ़ती देखकर अँगरेज़ चिन्तित हो रहे थे और हैदरअली भी जानता था कि बिना अँगरेज़ों को नष्ट किये वह निश्चिन्तता से राज्य न कर सकेगा। इसलिए दोनों युद्ध का अवसर ढूँढ़ रहे थे। अँगरेज़ों से युद्ध करने के पहले हैदरअली के लिए यह आवश्यक था कि वह निज़ाम और मराठों को अपने पक्ष में मिला लेवे। इन्हीं दिनों मराठों ने निज़ाम और मैसूर पर आक्रमण किया। निज़ाम ने पूर्व समझौते के अनुसार अँगरेज़ों से सहायता माँगी। हैदरअली ने बहुत सा धन देकर मराठों को लौटा दिया और कर्नाटक का लालच देकर निज़ाम को फोड़ लिया। जब अँगरेज़ी सेना कर्नल स्मिथ की अध्यक्षता में मराठों के विरुद्ध निज़ाम की सहायता करने को पहुँची, तब उसको निज़ाम और हैदर की सेना से सामना करना पड़ा। सन् १७६७ में चंगामा और त्रिनोमली

१ कहा जाता है कि खाँडेराव के क़ैद होने पर मैसूर की रानी ने उसकी प्राण-रक्षा की प्रार्थना की, उत्तर में हैदरअली ने कहा कि मैं उसको तोते की तरह पालूँगा। इसी लिए वह उसको दूध भात खिलाकर एक पिंजड़े में बन्द रखता था।

की लड़ाइयों में हैदरअली की हार हुई। निज़ाम से उसको कोई सहायता न मिली, उसने अँगरेज़ों से फिर सन्धि कर ली, पर हैदरअली अकेले ही लड़ता रहा।

मद्रास की सन्धि—सन् १७६८ में हैदरअली ने कप्तान निक्सन के दल को नष्ट कर डाला और अपने कई एक स्थान अँगरेज़ों से छीन लिये। वह बराबर अँगरेज़ों को दबाता हुआ मदरास के निकट तक पहुँच गया। अँगरेज़ों ने सन्धि का प्रस्ताव किया, उत्तर में हैदरअली ने दूत से कहला भेजा कि "मैं मदरास के द्वार पर आ रहा हूँ, वहीं पहुँचकर गवर्नर और कौंसिल की शर्तों को सुनूँगा।" इस पर अँगरेज़ घबड़ा गये और सन् १७६९ में उन्हें मजबूर होकर सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार दोनों दलों ने जीते हुए देश लौटा दिये और अँगरेज़ों ने किसी के हमला करने पर हैदरअली की सहायता करने का वचन दिया। इसमें मद्रास के गवर्नर ने बड़ी भूल की। अब उसको समय पड़ने पर हैदरअली की सहायता करने के लिए वचनबद्ध हो जाना पड़ा। इस तरह हैदरअली की पूर्ण विजय हुई और मैसूर का पहला युद्ध समाप्त हुआ।[1]

मराठों की शक्ति—पानीपत के युद्ध से मराठों की शक्ति नष्ट नहीं हुई, उत्तरी भारत में उनकी तीव्र गति कुछ काल के लिए अवश्य रुक गई, परन्तु इस क्षति को दक्षिण में पूरा करके वे शीघ्र ही दिल्ली फिर जा पहुँचे। युद्ध के बाद बालाजी के मरने पर उसका दूसरा लड़का माधवराव बल्लाल पेशवा हुआ। योग्यता, साहस, वीरता और राजनीतिज्ञता में वह पहले

---

१ कहा जाता है कि इस अवसर पर हैदरअली ने मदरास के क़िले के फाटक पर एक व्यंगचित्र लटकवा दिया था, जिसमें कौंसिल के मेम्बर और गवर्नर हैदरअली के सामने घुटने टेक रहे थे। हैदरअली गवर्नर की लम्बी नाक को, जो हाथी की सूँड़ की तरह थी, पकड़े हुए था और उससे मोहरें गिर रही थीं। पासही कर्नल स्मिथ सन्धिपत्र को हाथ में लिये हुए अपनी तलवार के दो टुकड़े कर रहा था। एम० डी० एल० टी० हिस्ट्री ऑफ़ हैदरशाह, पृ० २४६।

तीन पेशवाओं से किसी प्रकार कम न था। गद्दी पर बैठने के समय उसकी अवस्था १६ वर्ष की थी। उसके चचा रघुनाथराव ने सोचा था कि पूना का शासन-भार उसी के हाथ में रहेगा। परन्तु माधवराव अपने चचा का खिलौना बनकर न रहना चाहता था, साल ही भर में सब राजकाज वह स्वयं करने लगा। उसने कई बार मैसूर और निज़ाम पर आक्रमण किया और दोनों से बहुत सा धन तथा देश छीन लिया। सन् १७६६ में उसने एक सेना उत्तरी भारत की ओर भेजी। इस सेना के साथ माहादजी सिन्धिया और तुकोजी होलकर थे। इन दोनों ने पहले राजपूताना से दस लाख रुपया वसूल किया, फिर भरतपुर के निकट जाटों को हराकर और उनसे ६५ लाख रुपया लेकर वे दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर माहादजी ने शाहआलम को फिर से दिल्ली

माधवराव बल्लाल

के सिंहासन पर बिठला दिया और उसके नाम से वह उत्तरी भारत में शासन करने लगा।

दूसरे पेशवा बाजीराव के जीवनकाल ही में, गुजरात में गायकवाड़, मालवा में सिन्धिया और होलकर तथा मध्य भारत में भोंसला के राज्य स्थापित हो गये थे। पानीपत की लड़ाई में जनकोजी सिन्धिया के मर जाने पर माहादजी सिन्धिया गद्दी पर बैठा। इसका पिता राणोजी पटेल कभी पेशवा की जूतियां उठाया करता था। उसकी एक राजपूत स्त्री से इसका जन्म हुआ था। इसे पेशवा की निजी सेना का भार दिया गया और यह उत्तरी भारत भेजा गया। सन् १७६५ में मल्हारराव होलकर की मृत्यु हो गई। पानीपत के युद्ध में इसकी राय न मानी गई थी। पहले यह भी पेशवा का नौकर था। राजपूताना और पंजाब तक इसका आतंक जमा हुआ था। सर जान मालकम लिखता है कि वीरता और सादगी में सब मराठा सरदारों से यह बढ़ा चढ़ा था। उसके शासन से मालवा के राजा सन्तुष्ट थे। वह अपनी उदारता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था।[१] उसके लड़के की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। कुछ दिनों बाद पोता भी मर गया, ऐसी दशा में उसकी पुत्रवधू अहिल्याबाई गद्दी पर बैठी। उसने तुकोजी को अपना सेनापति बनाया। यह भी पेशवा की सेना के साथ उत्तरी भारत भेजा गया।

शाहू महाराज के समय से ही भोंसला 'सेनासाहब सूबे' कहलाते थे। सन् १७५३ में राघोजी की मृत्यु हो जाने पर जानोजी गद्दी पर बैठा। इसका अपने भाइयों से झगड़ा होने लगा। दमाजी गायकवाड़ भी, जिसने पानीपत के युद्ध में बड़ा शौर्य दिखलाया था, सन् १७६१ में मर गया। उसके लड़कों में भी आपस में लड़ाई होने लगी। गायकवाड़ को शाहू की ओर से 'सेनाख़ास खेल' की उपाधि थी। इन मराठा सरदारों को क़ाबू में रखना सहज काम न था। उत्तरी भारत में सिन्धिया का प्रभुत्व जम रहा था, होलकर राजपूताना को दबा रहा था, भोंसला निज़ाम की सहायता से प्रबल बनना चाहता था। तब

१ सर जान मालकम, मेम्वायर्स ऑफ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० १५७-५८।

भी माधवराव ने इनको सिर उठाने नहीं दिया, परन्तु अँगरेज़ों की शक्ति बढ़ जाने से मराठा-मंडल में भी एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई।

मराठा और अँगरेज़—अँगरेज़ों पर शिवाजी का कितना भारी दब-दबा था, इसका उल्लेख ईस्ट इंडिया कम्पनी के इतिहास में जगह जगह पर मिलता है। बंगाल के अँगरेज़ व्यापारियों को तो शिवाजी अमर प्रतीत होते थे। उनकी मृत्यु का समाचार मिलने पर वे लिखते हैं कि "हम उसे तब मरा हुआ समझेंगे जब उसके समान साहस-पूर्ण काम करनेवाला मराठों में कोई न होगा और हमें मराठों के पंजे से छुटकारा मिलेगा"। शम्भाजी तथा राजाराम का अँगरेज़ों से अधिक सम्बन्ध नहीं रहा, परन्तु इतने ही में कान्होजी आंग्रे का प्रताप बहुत बढ़ गया और कोंकण प्रान्त के किनारे पर अँगरेज़ों से उसकी मुठभेड़ होने लगी। यह पहले शिवाजी की जहाज़ी सेना में ख़लासी का काम करता था। अपने पराक्रम के कारण राजाराम के समय में उसका मुख्य सेनापति हो गया था। शाहू महाराज ने कुलाबा, सुवर्णदुर्ग, विजय-दुर्ग तथा अन्य कई क़िलों के साथ उसको 'सरखेल' की उपाधि प्रदान की थी। उसके पास दस बड़े जहाज़ थे, जिन पर १६ से ३० तक, और ५० छोटे छोटे जहाज़ थे, जिनपर ४ से १० तक तोपें चढ़ी रहती थीं। उसने कम्पनी के कई एक जहाज़ों को पकड़ कर लूट लिया। बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी अँगरेज़ उसको दबा न सके।

पहले तो पुर्तगालियों को दबाने के लिए अँगरेज़ मराठों का साथ देते रहे, पर जब पुर्तगालियों की शक्ति नष्ट हो गई और बेसीन (बसई) के क़िले पर मराठों का अधिकार हो गया, तब अँगरेज़ों को बम्बई के लिए चिन्ता होने लगी और वे मराठों के साथ भी कूटनीति से काम लेने लगे। सन् १७३९ में कप्तान इंचबर्ड को भेजकर पेशवा के साथ एक व्यापारिक सन्धि की गई। दूसरी ओर सन् १७४०-४१ में कप्तान गार्डन शाहू महाराज के पास कुछ नज़र लेकर भेजा गया। उससे कहा गया कि "शाहू राजा के दरबार में उसके मुख्य सलाहकार कौन हैं, उनके विचार कैसे हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसका पता सूक्ष्म दृष्टि से लगाना। दरबार में

बाजीराव पेशवा के शत्रु बहुत हैं, इसलिए योग्य अवसर देखकर उनके हृदय में स्पर्धा तथा ईर्ष्या उत्पन्न करने का प्रयत्न करना और उन्हें समझाना कि पेशवा पहले ही से प्रबल है, इधर पुर्तगालियों पर विजय प्राप्त करने के कारण वह और भी प्रबल हो रहा है, इसलिए उसके बढ़ते हुए प्रभाव के रोकने का यही अवसर है।"[१]

सन् १७३१ में कान्होजी की मृत्यु हो गई। उसके लड़कों से भी अँगरेज़ों की चलती रही। आंग्रे की शक्ति अधिक बढ़ जाने पर पेशवा ने उसे दमन करना निश्चित किया और इसके लिए सन् १७५५ में अँगरेज़ों से सहायता मांगी, जिसको उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों ने मिलकर पहले सुवर्णदुर्ग और बाद को विजयदुर्ग (घेरिया) छीन लिया। विजयदुर्ग की लड़ाई में क्लाइव भी मौजूद था। ये क़िले बड़ी मुश्किल से पेशवा को वापस दिये गये। सन् १७५६ में एक दूसरी सन्धि करने के लिए विलियम प्राइज़ वकील बनाकर भेजा गया, पर इसकी सारी वकालत व्यर्थ गई और मनमानी सन्धि न हो सकी। सन् १७६७ में टामस मास्टिन माधवराव पेशवा के दरबार में भेजा गया। वह प्राइज़ के साथ भी आया था, इसलिए उसको दरबार का अच्छा ज्ञान था। चलते समय उसको समझाया गया कि "माधवराव और रघुनाथराव में परस्पर झगड़ा होने के कारण माधवराव पेशवा का मन यदि अधिक व्यग्र हो, तो फिर हमें पेशवा की अधिक ख़ुशामद करने की ज़रूरत नहीं है।......हमारे विचार से चचा भतीजे का ऊपर से जो मेल-मिलाप दिखलाई देता है, वह वास्तविक नहीं है...... इन दोनों के झगड़े के सिवा और कोई ऐसी बड़ी गृह-कलह हो, जिसके कारण इनके राज्य-पतन की सम्भावना हो, तो उसकी सूचना हमें अवश्य देना। यदि निज़ाम या हैदर के वकीलों ने आकर पेशवा को प्रसन्न कर लिया हो, तो जिस तरह बने उस तरह पेशवा के मन में यह बात भर देना कि इसका परिणाम बहुत बुरा होगा।"[२]

१ फ़ारेस्ट, मराठा सिरीज़, जि० १, पृ० ७९।

२ वही, पृ० १४०-४३।

पेशवा माधवराव की मृत्यु—सन् १७७२ में २८ वर्ष की अवस्था में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। उसने हैदरअली को नीचा दिखलाया था और शासन में बहुत से सुधार किये थे। मामलतदार तथा राज्य के अन्य अफ़सरों पर उसकी बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। देश में धन की कमी न थी, इसलिए मालगुज़ारी वसूल करने में कठिनाई न होती थी। न्याय का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था। प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री अपनी योग्यता और निष्पक्षता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। इतिहासकार डफ़ की राय में माधवराव पेशवा की अकाल-मृत्यु मराठों के लिए पानीपत के युद्ध से कुछ कम घातक न थी। उसके मरने के बाद से ही जो आपस की फूट, राज्य की दुर्व्यवस्था और सैनिक प्रबन्ध में ढिलाई शुरू हुई, उसने साम्राज्य का अन्त ही कर दिया। उसका छोटा भाई नारायणराव गद्दी पर बैठा। उसमें न कोई योग्यता ही थी और न साहस, इसलिए रघुनाथराव को अपना प्रभुत्व जमाने का अवसर मिल गया। सन् १७७२ में रघुनाथराव और उसकी स्त्री आनन्दीबाई के षड्यंत्र से नारायणराव मार डाला गया और रघुनाथराव स्वयं पेशवा बन बैठा। इसने निज़ाम को परास्त किया और उसके पैरों पड़ने पर दया करके सब धन लौटा दिया। परन्तु इस विजय से भतीजे के वध का कलंक वह अपने मत्थे से न मिटा सका। बहुत से राजकर्मचारी, जिनमें मुख्य नाना फड़नवीस था, उसके विरुद्ध हो गये। सन् १७७४ में इन 'बारह भाइयों' ने नारायणराव के पुत्र सवाई माधवराव को, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुआ था, पेशवा मान लिया। इस पर रघुनाथराव पूना से भागकर अँगरेज़ों की शरण में चला गया।

निज़ाम और कर्नाटक—वांडवाश के युद्ध में फ़्रांसीसियों का पतन हो जाने पर हैदराबाद दरबार में भी अँगरेज़ों का प्रभुत्व जम गया। सन् १७६५ में क्लाइव ने बिना निज़ाम से पूछे बताये सम्राट् से लिखा-पढ़ी करके उत्तरी सरकार की सनद कम्पनी के नाम करा ली। इसको बड़ी मुश्किल से निज़ाम ने स्वीकार किया और दोनों में मित्रता की सन्धि हो गई। इसके बाद ही निज़ाम ने हैदर का साथ देना निश्चित किया, परन्तु उसकी हार

हो जाने पर सन् १७६८ में अंगरेज़ों से फिर सन्धि कर ली। सन् १७७९ से हैदराबाद दरबार में अंगरेज़ रेज़ीडेंट रख दिया गया। इसी समय मदरास सरकार ने निज़ाम के भाई बसालतजंग से मिलकर गंटूर पर अधिकार कर लिया। इससे निज़ाम बहुत चिढ़ गया।

युद्ध के पहले के कर्नाटक का वर्णन करते हुए स्क्रैफ़्टन लिखता है कि राज्य की ओर से बड़े बड़े तालाब बनवा दिये गये थे, कर देने पर जिनसे सिंचाई के लिए पानी मिलता था। डाकुओं से देश ऐसा शून्य था कि वहाँ के लोगों की याद में भी कोई डकैती नहीं हुई थी। जवाहरात के व्यापारी, जो प्रायः इस देश से आते-जाते थे, अपनी रक्षा के लिए कोई हथियार तक नहीं रखते थे। यहां यह नियम था कि जिस जगह लूट होती थी, वहां के हाकिम को या तो लूट का माल ढूँढ़कर निकालना पड़ता था, या हरजाना देना पड़ता था। हर एक गांव या नगर के किनारे पर वृक्षों का बड़ा बग़ीचा होता था जहां जुलाहे काम करते थे। अच्छा शासन होने का इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता था कि देश से कितना अधिक कर वसूल होता था। कई एक प्रान्त यूरोप के सबसे धनी देशों के बराबर रुपया देते थे। वहां हमारे देश की सी खानें न थीं, वहां के लोग अपने हाथों के बल धन कमाते थे।[१]

परन्तु फ़्रांसीसी और अँगरेज़ों के युद्ध से थोड़े ही दिनों में कर्नाटक तबाह हो गया। सन् १७६७ की सन्धि से निज़ाम ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का स्वतंत्र नवाब मान लिया। उसकी यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। कम्पनी की ओर से रुपये की मांग बराबर बढ़ती जाती थी, जिसे देने के लिए उसको अँगरेज़ महाजनों से क़र्ज़ा लेना पड़ता था। इन महाजनों के तंग करने पर उसने मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार इनको दे दिया। ये लोग प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार करने लगे। फ़ुलर्टन लिखता है कि इनकी लूट से दरबार का ख़र्चा बढ़ गया।[२] जार्ज स्मिथ का कहना है कि

---

१ स्क्रैफ़्टन, रिफ्लेक्शंस, पृ० १३-१४।

२ फ़ुलर्टन, ए व्यू ऑफ़ दि इंग्लिश इंटरेस्ट इन इंडिया, पृ० २७८।

चार ही पांच वर्ष में खेती की बुरी दशा हो गई, आबादी घट गई और व्यापार चौपट हो गया।[1]

तंजोर के साथ अन्याय—तंजोर के राज्य को शिवाजी के भाई ने स्थापित किया था। मराठा राज-मंडल से अलग होने के कारण मराठों के लिए इसकी रक्षा करना बड़ा मुश्किल था। यहां की अतुल सम्पत्ति देखकर दक्षिण के सभी राज्यों की इस पर दृष्टि लगी रहती थी। सन् १७४९ से इसका सम्बन्ध अँगरेज़ों से हुआ। इस अवसर पर राजा शाहू और प्रतापसिंह में गद्दी के लिए झगड़ा चल रहा था। अंगरेज़ों ने शाहू का पक्ष लेकर उसकी सहायता के लिए एक सेना भेजी, पर अन्त में शाहू का पक्ष निर्बल देखकर प्रतापसिंह से समझौता कर लिया और देवीकोट पर अपना अधिकार जमा लिया। इस तरह सहायता का वचन देकर अन्त में शाहू को धोखा दिया गया। सन् १७६९ में हैदरअली के साथ जो सन्धि हुई उसमें तंजोर का राजा अँगरेज़ों का मित्र मान लिया गया। परन्तु सन् १७७१ में मुहम्मदअली के कहने पर तंजोर घेर लिया गया और ४ लाख पौंड दंड लिया गया। इतने ही से सन्तोष न हुआ, सन् १७७३ में फिर आक्रमण किया गया। राजा ने अँगरेज़ों को बहुत कुछ समझाया। उसका कहना था कि "मेरे ऊपर आक्रमण करने के पूर्व मेरा अपराध बतलाना चाहिए, इस राज्य के दान से लाखों मनुष्यों का पालन होता है, इसकी रक्षा करने से अँगरेज़ों की कीर्ति बढ़ेगी।"[2] परन्तु इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा, राजा को क़ैद करके तंजोर नवाब के राज्य में मिला लिया गया। इस घटना का समाचार इँग्लैंड पहुँचने पर मदरास के प्रेसीडेंट की बड़ी निन्दा की गई और उसकी जगह पर तंजोर वापस करने की आज्ञा देकर दूसरा प्रेसीडेंट भेजा गया।

पेट्री का कहना है कि जब मैंने सन् १७६९ में तंजोर देखा था, तब इसकी बड़ी अच्छी दशा थी। खूब व्यापार होता था। बम्बई तथा सूरत से रुई,

१ नार्दर्न्थ रिपोर्ट, अपेंडिक्स, पृ० १२०, दत्त, पृ० १००।

२ कलेंडर ऑफ परशियन करस्पांडेंस, जि० ४, पृ० १४।

बंगाल से रेशम, पीगू से सोना, हाथी तथा घोड़े, और चीन से बहुत सा माल आता था। तंज़ेब, छींट, रूमाल तथा छपे मोटे कपड़े अफ्रिका और दक्षिणी अमरीका तक जाते थे। सन् १७७१ तक इसकी अच्छी दशा थी। पर चार ही पांच वर्ष में जब यह नवाब के अधीन रहा, यहाँ की दशा बदल गई। कलाएँ नष्ट हो गईं, व्यापार मन्दा पड़ गया, खेती की अवनति हो गई और हज़ारों आदमी राज्य छोड़कर चले गये।[1] इस तरह यह 'दक्षिण का बाग़' थोड़े ही दिनों में वीरान हो गया।

जनता की स्थिति—इस समय भी जनता की ऐसी शोचनीय दशा न थी, जैसी कि प्रायः दिखलाई जाती है। मुग़ल साम्राज्य का पतन हो गया था, पर साथ ही साथ भिन्न भिन्न प्रान्तों में ऐसे शासक उत्पन्न हो गये थे, जो अपना पक्ष प्रबल बनाने के लिए बराबर लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का सामाजिक संगठन ऐसा था कि जिसके कारण राजनैतिक विप्लवों का जनता पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। भारतवर्ष की अधिकांश जनता प्राचीन समय से गांवों में रहती है। उन दिनों इनका संगठन ऐसा था कि जिससे वहां की सब आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। भारतीय शासक यथासम्भव इस संगठन में हस्तक्षेप न करते थे। सर चार्ल्स मेटकाफ़ की राय में राजनैतिक अशान्ति के समय में भी जनता की दशा अच्छी रहने का यह सबसे मुख्य कारण था। वह लिखता है कि राजवंश नष्ट हो गये, साम्राज्यों का पतन हो गया, पर इन गाँवों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।[2]

यह बात ठीक है कि कभी कभी निष्ठुर स्वार्थी शासक की क्रूरता का जनता शिकार अवश्य बनती थी, पर साधारणतः इस समय के शासकों को भी उसका ध्यान रहता था। इन दिनों की अराजकता का जो मर्मस्पर्शी चित्र प्रायः खींचा जाता है, उसकी सत्यता में तत्कालीन अँगरेज़ों के ही दिये

१ फ़ोथ रिपोर्ट, सन् १८१२, अपेंडिक्स नं० [illegible], दत्त, पृ० १०५–१०६।

२ के, लाइफ़ ऑफ़ सर चार्ल्स मेटकाफ़, जि० २, पृ० १९१–९२।

हुए विवरण से सन्देह होने लगता है। अँगरेज़ों के हस्तक्षेप के पहले कर्नाटक तथा बंगाल की जो दशा थी, दिखलाई जा चुकी है। महाराष्ट्र देश का वर्णन करते हुए, सन् १७६२ में, पेरन लिखता है कि यहां सतयुग की सादगी और सुख का अनुभव होता है। युद्ध के कष्ट दिखलाई नहीं देते हैं। सब लोग प्रसन्न, फुर्तीले और ख़ूब तन्दुरुस्त हैं।[1] मैसूर के सम्बन्ध में फुलर्टन लिखता है कि हैदरअली के शासनकाल में प्रजा की जैसी कुछ उन्नति हुई वैसी किसी हिन्दुस्तानी शासक के समय में नहीं हुई। उसके राज्य के सभी भागों में किसान, कारीगर तथा व्यापारी धनी बन गये। खेती बढ़ गई, बहुत सी नई चीज़ें बनने लगीं और राज्य में धन भर गया।[2] परन्तु जहां जहां अँगरेज़ों का हस्तक्षेप होने लगा वहां कलाएँ नष्ट होने लगीं, लगान कड़ाई से लिया जाने लगा, गाँवों का संगठन छिन्न भिन्न होने लगा और धन बाहर जाने लगा।

सामाजिक जीवन—शताब्दियों से साथ रहने, कबीर तथा नानक के उपदेश और अकबर की उदार नीति के कारण हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर सम्बन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। औरंगज़ेब की उलटी नीति होने पर भी एकता के भाव सर्वथा नष्ट न हो गये थे। कट्टर हिन्दू तथा मुसलमान शासक कभी कभी अपनी हार्दिक संकीर्णता का परिचय अवश्य देते थे, पर इसका प्रभाव गांवों में बहुत कम दिखलाई देता था। वहां दोनों का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन बहुत कुछ एक था। हिन्दू घरानों से सूत कतकर मुसलमान जुलाहों के पास जाता था, खेती-बारी का काम साथ साथ होता था। मुसलमान गांव की बिरादरी में शामिल थे। दोनों जातियां एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा त्योहारों में भाग लेती थीं। इस समय भी मुसलमान राज्यों में बड़े बड़े पदों पर हिन्दू और हिन्दू राज्यों में मुसलमान काम करते थे। परन्तु इस परस्पर के सम्बन्ध में भी राजनैतिक क्षेत्र में एक नई

१ जेंटिलमेंस मेगज़ीन, सन् १७६२, रिफार्म ट्रैक्ट।

२ फ़ुलर्टन, ए व्यू ऑफ़ दि इंग्लिश इंटरेस्ट इन इंडिया, पृ० ६२।

आतिथ्य-सत्कार सब में पाया जाता है। शिष्टाचार, रहन-सहन की सुन्दरता और बातचीत में हिन्दू किसी सुशिक्षित फ्रांसीसी से कम नहीं हैं। "फ्रांसीसी

दीपक-प्रवाह

अपनी प्रतिष्ठा का ख़याल करके शायस्तगी का व्यवहार करते हैं, हिन्दुस्तानी इसको अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि फ्रांसीसी अपना ध्यान रखकर, तो हिन्दुस्तानी दूसरे का ख़याल करके शिष्टता दिखलाते हैं।"[१] भारतवर्ष में खाने-पहनने का खर्च बहुत कम होता है। यहाँ रुपया उड़ानेवाले व्यसन अधिक नहीं पाये जाते हैं। हिन्दुस्तानी मितव्ययी और परिश्रमी होते हैं।[२] हेस्टिंग्ज़ का भी कहना है कि ये गुण सभी में पाये जाते हैं, उनका खाना बहुत सादा होता है और वे शराब तथा अन्य मादक वस्तुओं से पूरा परहेज़ करते हैं।[३]

---

१ मेम्वायर्स ऑफ़ दि लेट वार इन एशिया, जि० २, पृ० २२६।

२ वहीं, पृ० १६४।

३ लडलो, ब्रिटिश इंडिया ऐंड इट्स रेसेज़, जि० २, पृ० ३०२।

बड़े घरानों में शराब का व्यसन अवश्य फैल रहा था, पर साधारण जनता उससे मुक्त थी।

हाजेज़ लिखता है कि गांवों में खूब आबादी है, पर तब भी बड़ी सफ़ाई रहती है। हिन्दुओं में सफ़ाई का भाव देखकर आश्चर्य होता है। गांवों की गलियां बराबर बटोरी और छिड़की जाती हैं।[1] फुलर्टन का कहना है कि हिन्दुस्तानी सभ्य, चतुर तथा शिष्ट होते हैं। युद्ध का भी उन्हें अभ्यास है, साथ ही साथ कला, विज्ञान तथा शान्ति के समय के अन्य गुणों में भी वे प्रवीण हैं।[2]

---

१ हाजेज, ट्रेवल्स इन इंडिया, सन् १७८०—८३, पृ० ३७, ३४।

२ फुलर्टन, सन् १७८७, पृ० ५०।

परिच्छेद ५

नींव की दृढ़ता

बंगाल का शासन---क्लाइव के जाने के पश्चात् वेरेल्स्ट और कार्टियर ने कुछ काल तक गवर्नर के पद पर काम किया। इन दोनों के समय में कोई विशेष राजनैतिक घटना नहीं हुई, परन्तु क्लाइव के चलाये हुए शासन के दोष प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगे। मुग़ल शासन के दो मुख्य अंग थे, एक दीवानी और दूसरा निज़ामत। दीवानी विभाग कर वसूल करता था, और न्याय तथा शासन निज़ामत विभाग के हाथ में रहता था। सन् १७६५ में दीवानी अँगरेज़ों को मिल गई थी, पर अँगरेज़ों ने कर वसूल करने का काम नवाब के कर्मचारियों के हाथ में ही छोड़ रखा था, वे केवल इसका निरीक्षण करते थे। सन् १७६९ में हिन्दुस्तानी आमिलों को हटाकर अँगरेज़ 'अमीन' रख दिये गये थे और इनका काम देखने के लिए सन् १७७० में पटना और मुर्शिदाबाद में दो बोर्ड बना दिये गये थे। इस तरह जो कुछ आमदनी होती थी, उसमें से सम्राट् और नवाब को देकर जो रुपया बच रहता था उससे कम्पनी का खर्चा चलता था। कर वसूल करनेवाले गुमाश्ता और फ़ौजदार होते थे, जो बहुत सा रुपया खा जाते थे। इसलिए कम्पनी की आमदनी दिन प्रतिदिन घटती जाती थी। नवाब केवल नाम के लिए नाज़िम था, सेना अँगरेज़ों के हाथ में थी। बिना सेना की सहायता के शासन और न्याय करना असम्भव था। न्यायालय के निर्णयों की किसी को भी पर्वाह न थी। अँगरेज़

गुमाश्ता जानते थे कि उनको दंड देने में नवाब असमर्थ है, इसी लिए वे मनमाना अत्याचार करते थे।

इस प्रथा में जिसके हाथ में शक्ति थी, उसकी कोई ज़िम्मेदारी न थी, और जिसकी ज़िम्मेदारी थी, उसके हाथ में कोई शक्ति न थी। इसका फल यह होता था कि दोनों के बीच बेचारी प्रजा पिसती थी। उसकी कहीं भी सुनवाई न थी। गुमाश्तों की शिकायत करने पर अँगरेज़ कहते थे कि न्याय नवाब के हाथ में है, और दूसरी ओर नवाब कहता था कि वह दंड देने में असमर्थ है। इस तरह इन दिनों प्रजा एक प्रकार से अनाथ थी।

भीषण दुर्भिक्ष—सन् १७७० में बंगाल में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। कहा जाता है कि इससे वहाँ की तिहाई आबादी नष्ट हो गई। मनुष्य मनुष्य को खाने लगे और सड़कों पर लाशों के ढेर लग गये। कई साल तक इस दुर्भिक्ष के कारण बंगाल की दशा न सुधर सकी। प्रजा के कष्ट-निवारण के लिए कोई विशेष उपाय नहीं किया गया। इन दिनों सर्वत्र अन्न पहुँचाने के लिए आजकल की तरह रेलें न थीं। राज्य की ओर से किसी प्रकार का प्रबन्ध न था। व्यक्तिगत दान और उदारता से, जिसकी उन दिनों कोई कमी न थी, इतनी बड़ी आपत्ति का सामना करना सम्भव नहीं था। राजकर्मचारियों की निष्ठुरता का इसी से पता चलता है कि उस दुर्भिक्ष के समय में भी उन्होंने सरकारी आमदनी में कोई कमी नहीं आने दी। कम्पनी के गुमाश्तों ने चावल ख़रीद लिया और उसे मनमाने दाम पर बेंचा, जिसका फल यह हुआ कि वे मालामाल हो गये।

हेस्टिंग्ज़ की नियुक्ति—बंगाल की शोचनीय दशा देखकर सन् १७७२ में कम्पनी के संचालकों ने वारेन हेस्टिंग्ज़ को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। सन् १७५० में वह लेखक होकर भारतवर्ष आया था। सिराजुद्दौला ने जब क़ासिमबाज़ार की कोठी को छीन लिया था, तब वह क़ैद कर लिया गया था, परन्तु पीछे से भाग निकला था। बजबज के युद्ध में वह नवाब के विरुद्ध लड़ा था। उसकी योग्यता देखकर क्लाइव ने उसको मीरजाफ़र के दरबार में रेज़ीडेंट बना दिया था। उसी के परामर्श से बाद को मीरकासिम

नवाब बनाया गया था। क्लाइव के लौटने पर सन् १७६१ में वह, २९ वर्ष की अवस्था में, कलकत्ता की कौंसिल का मेम्बर हो गया। सन् १७६४ में वह इँग्लेंड वापस चला गया। वहाँ उसकी योग्यता और भारतवर्ष-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिलने पर सन् १७६९ में कम्पनी के संचालकों ने उसको मदरास कौंसिल का मेम्बर बनाकर फिर से भेजा। सन् १७७२ में बंगाल की दशा सुधारने के लिए उन्होंने उसे फ़ोर्ट विलियम की कौंसिल का सभापति और बंगाल का गवर्नर बना दिया। इस समय उसकी अवस्था ४० वर्ष की थी और कम्पनी के संचालकों को उस पर पूरा भरोसा था।

वारेन हेस्टिंग्ज़

नया प्रबन्ध—हेस्टिंग्ज़ जब कलकत्ता पहुँचा तब वहाँ की दशा देखकर हैरान हो गया। सब विभागों में पिछला काम पड़ा हुआ था। किस विभाग का क्या काम है और उसकी क्या ज़िम्मेदारी है, इसकी कोई व्यवस्था न थी। बड़े बड़े कर्मचारी अपनी मनमानी करते थे और कोई भी किसी की न सुनता था। हेस्टिंग्ज़ दोहरे शासन के दोषों को अच्छी तरह

समझता था। उसने निश्चित कर लिया कि जब तक कम्पनी खुले तौर पर अपनी ज़िम्मेदारी नहीं लेगी तब तक किसी प्रकार का सुधार होना असम्भव है। इसलिए उसने धीरे धीरे दोहरे शासन को हटाना प्रारम्भ कर दिया।

नवाब नजमुद्दौला के समय में उसकी इच्छा के विरुद्ध नन्दकुमार को हटाकर मुहम्मद रिज़ाख़ाँ नायब नाज़िम और राजा शिताबराय नायब दीवान बनाये गये थे। हेस्टिंग्ज़ ने इन दोनों को निकाल दिया और उनकी जगह पर नन्दकुमार के लड़के राजा गुरुदास तथा राजवल्लभ को रखा। मुहम्मद रिज़ाख़ाँ और शिताबराय के ऊपर नवाब का धन खा जाने का अभियोग चलाया गया परन्तु अन्त में वे दोनों निर्दोष सिद्ध हुए। नवाब इन दिनों नाबालिग़ था। हेस्टिंग्ज़ ने मुन्नी बेगम को उसकी संरक्षिका बनाया। यह पहले एक वेश्या थी, जो बाद में नवाब मीरजाफ़र की बेगम बन गई थी। नवाब की पेंशन घटाकर १२ लाख कर दी गई। शाहआलम को भी २६ लाख रुपया सालाना भेजना बन्द कर दिया गया, क्योंकि वह अब मराठों के हाथ में चला गया था। शाहआलम ने कम्पनी को दीवान बनाया था, यह रुपया कर के स्वरूप में उसको दिया जाता था। ऐसी दशा में इसका बन्द कर देना कहां तक न्याय-संगत था? यह चाहे जो हो, पर इससे कम्पनी का खर्चा अवश्य घट गया।

मालगुज़ारी का निरीक्षण करने के लिए सन् १७६९ में जो अँगरेज़ अमीन रखे गये थे, उनको हेस्टिंग्ज़ ने 'कलेक्टर' बना दिया और मालगुज़ारी वसूल करने के अधिकार उनको दे दिये। कुल प्रान्त को उसने कई एक ज़िलों में बांट दिया और प्रत्येक ज़िले में एक कलेक्टर रख दिया। इस तरह कम्पनी ने दीवानी का काम खुले तौर पर अपने हाथ में ले लिया। इस समय तक मालगुज़ारी का बन्दोबस्त सालाना होता था। हेस्टिंग्ज़ ने हर पाँचवें साल बन्दोबस्त करने का नियम बना दिया। और सबसे अधिक देनेवालों के नाम उसके ठेके दे दिये। इस प्रबन्ध से बहुत से पुराने ज़मीन्दारों के हाथ से ज़मीन निकल गई, जिसके लिए उनको थोड़ा बहुत हरजाना दिया गया। उनकी जगह पर ठेका लेनेवाले नये ज़मीन्दार हो गये, जिनका रैयत

के साथ पहले से कोई सम्बन्ध न था। किसानों को नया पट्टा लिखवा दिया गया और कई एक अनुचित कर हटा दिये गये। परन्तु इन सुधारों से किसानों की दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नीलाम में बहुत से नये तथा पुराने ज़मीन्दारों ने बड़ी बड़ी बोलियां बोलकर ठेके ले लिये। मालगुज़ारी के लिए रुपया वसूल करने में वे रैयत पर तरह तरह के अत्याचार करने लगे। माल-विभाग का मुख्य दफ़्तर मुर्शिदाबाद और पटना से हटाकर कलकत्ते में खोला गया और उसका निरीक्षण एक बोर्ड को सौंप दिया गया।

न्याय-विभाग की दशा सुधारने के लिए हर एक ज़िले में दीवानी और फ़ौजदारी अदालतें खोली गईं। ये दोनों अदालतें कलेक्टर के अधीन थीं। दीवानी में वह प्रान्तीय दीवान की सहायता से फ़ैसला करता था और फ़ौजदारी में उसके साथ ज़िले के क़ाज़ी तथा मुफ़्ती भी बैठते थे। इस तरह कलेक्टर को दीवानी और फ़ौजदारी दोनों अधिकार दिये गये। दीवानी अदालत में मुसलमानों का न्याय 'हदीस' के अनुसार होता था। औरंगज़ेब के समय में उनके सब नियमों का एक संग्रह बन गया था, परन्तु हिन्दू नियमों का कोई ऐसा संग्रह न था। हेस्टिंग्ज़ ने दस पंडितों की सहायता से हिन्दू नियमों का एक संग्रह तैयार करवाया। फ़ौजदारी अदालत के फ़ैसले प्रायः मुसलमानी क़ानून के अनुसार होते थे। अँगरेज़ कलेक्टरों को इसका ज्ञान न था, इसलिए हर एक फ़ौजदारी अदालत में दो मौलवी रख दिये गये थे।

इन ज़िला अदालतों की अपील के लिए कलकत्ता में दो बड़ी अदालतें खोली गईं, जो 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर निज़ामत अदालत' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। 'सदर दीवानी अदालत' में खालसा के दीवान, कौंसिल के दो मेम्बर और कुछ हिन्दुस्तानी जजों की सहायता से गवर्नर फ़ैसला करता था। 'सदर निज़ामत अदालत' का अध्यक्ष 'दारोगा अदालत' कहलाता था और उसकी सहायता के लिए प्रधान क़ाज़ी, प्रधान मुफ़्ती और दो मौलवी रहते थे।

संन्यासियों का दमन—इस तरह न्याय की व्यवस्था करके उसने देश में शान्ति स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। इन दिनों कुछ लोगों का,

जो अपने को संन्यासी कहते थे, एक दल बन गया था। कहा जाता है कि ये लूट-मार किया करते थे। इनका वर्णन स्वयं हेस्टिंग्ज़ इस प्रकार करता है—"ये लोग तिब्बत की पहाड़ियों के दक्षिण भाग में रहते हैं। ये अधिकांश नंगे रहते हैं। इनके न कोई गाँव है, न कोई घर या कुटुम्ब। ये एक स्थान से दूसरे स्थानों में फिरा करते हैं। जिस देश में जाते हैं वहाँ से मोटे-ताजे बालकों को चुराकर अपनी संख्या बढ़ाया करते हैं। इस तरह भारत-वर्ष के मनुष्यों में ये सबसे अधिक हृष्ट-पुष्ट और फुर्तीले हैं। इनमें से कुछ व्यापार भी करते हैं। यात्रियों के भेष में रहने के कारण हिन्दू इनका बड़ा आदर करते हैं। इसी लिए इनके रहने का पता लगाना बड़ा मुश्किल हो जाता है और इनके विरुद्ध किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती है। कड़ी आज्ञाओं के प्रकाशित करने पर भी कभी कभी ये प्रान्त के किसी स्थान पर सहसा ऐसे टूट पड़ते हैं, मानो आकाश से कूद पड़े हों। ये लोग कितने दृढ़, वीर और उत्साही होते हैं, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता है।" इनकी लूट से कम्पनी को बड़ी हानि पहुँचती थी, इसलिए इनका दमन करने के लिए एक सेना भेजी गई और फ़ौजदारों को इन्हें दंड देने के लिए विशेषाधिकार दिये गये। इनमें भय फैलाने की दृष्टि से बड़े कठोर दंड दिये गये। जहाँ कहीं ये लोग मिले फाँसी पर लटका दिये गये, कुल माल असबाब छीन लिया गया और स्त्रियाँ तथा बच्चे गुलाम बना लिये गये।[१] इस तरह दो वर्ष में इनका अच्छी तरह से दमन कर दिया गया।[२]

व्यापार—हेस्टिंग्ज़ को पता लगा कि ज़िला के अमीन और कलेक्टर अपना निजी व्यापार खूब करते हैं। वे ज़िले का अन्न सस्ते दाम पर ख़रीदकर बनियों द्वारा बड़ा महँगा बेंचते हैं और प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार करते हैं। चुंगी न देने के कारण उनका माल हिन्दुस्तानी

---

१ कॅलंडर ऑफ परशियन करस्पांडेंस, जि० ४, भूमिका, पृ० १०।

२ इन्हीं दिनों की एक घटना को लेकर श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'आनन्दमठ' नाम का उपन्यास लिखा है, जिसमें सुप्रसिद्ध 'बन्दे मातरम्' गीत है।

व्यापारियों से सस्ता पड़ता है, जिससे जुलाहों और कारीगरों का बड़ा नुक़सान होता है। इसको दूर करने के लिए सन् १७७३ में अँगरेज़ों को ज़िलों में बसने की मनाही कर दी गई और गुमाश्तों को आज्ञा दी गई कि वे जुलाहों को दादनी देकर कम्पनी के हाथ माल बेंचने के लिए मजबूर न किया करें। दस्तकों की प्रथा बिलकुल उठा दी गई। नमक, सुपारी और तमाखू को छोड़कर सब पर महसूल घटा दिया गया और अँगरेज़ तथा हिन्दुस्तानी दोनों से यह महसूल लिया जाने लगा। नमक तथा अफ़ीम का व्यापार कम्पनी के ही हाथ में रखा गया और उनके ठेके भी नीलाम किये जाने लगे। भारतवर्ष से बहुत सा माल तुर्की, मिस्र और बसरा जाया करता था, परन्तु तुर्की में राजनैतिक अशान्ति होने के कारण यह व्यापार बन्द सा हो गया था। हेस्टिंग्ज़ ने एक जहाज़ हिन्दुस्तानी माल से भरवाकर मिस्र भेजा और फिर से व्यापार का सम्बन्ध जारी किया। भूटान और तिब्बत से भी व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ने का उसने प्रयत्न किया। 'सिक्का रुपया' भी उसी ने चलाया।

रुहेलों के साथ युद्ध—सन् १७७० में रुहेलों ने नवाब वज़ीर के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार मराठों के आक्रमण करने पर उनको "युद्ध या समझा बुझाकर" हटा देने के लिए उन्होंने नवाब वज़ीर को ४० लाख रुपया देने का वचन दिया। इस सन्धि पर अंगरेज़ सेनापति बार्कर ने सही की। सन् १७७३ में बनारस में नवाब वज़ीर की अँगरेज़ों के साथ भी एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा हेस्टिंग्ज़ ने कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले ५० लाख रुपये में नवाब वज़ीर के हाथ बेंच दिये। नवाब वज़ीर ने इस रक़म को तीन वर्ष में अदा करने का वचन दिया और सहायता करने के लिए अपने खर्च से कम्पनी की कुछ सेना रखना स्वीकार किया। यह प्रबन्ध भी हेस्टिंग्ज़ की चाल से ख़ाली न था। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि इससे वज़ीर और मराठों में एक झगड़ा खड़ा हो जायगा, जिसके कारण वज़ीर को अँगरेज़ों की सहायता पर अधिक निर्भर रहना पड़ेगा।[1] इसी अवसर पर हेस्टिंग्ज़ ने ४० लाख रुपये के बदले में

१ फ़ारेस्ट, सेलेक्शंस फ़्राम दि स्टेट पेपर्स, जि० १, पृ० २४।

हेलों के विरुद्ध नवाब वज़ीर की सहायता करने का भी वचन दे दिया और नवाब ने सेना का ख़र्चा भी देना स्वीकार कर लिया। सन् १७७३ में मराठों ने रुहेलों पर आक्रमण किया, परन्तु पूना में गड़बड़ होने के कारण और नवाब वज़ीर तथा अँगरेज़ों को रुहेलों की सहायता के लिए तुले देखकर वे बिना लड़े ही वापस चले गये। इस पर नवाब वज़ीर ने रुहेलों से ४० लाख रुपया माँगा। जब उन्होंने देने में हीला-हवाला किया, तब उसने रुहेलखंड पर आक्रमण कर दिया और बनारस के सम-झौते के अनुसार अँगरेज़ों से सहायता माँगी। कर्नल चैम्पियन की अध्यक्षता में एक अँगरेज़ी सेना भेजी गई। अप्रैल सन् १७७४ में मीरनपुर कटरा में रुहेलों के साथ घोर युद्ध हुआ, जिसमें रुहेला सरदार हाफ़िज़ रहमतख़ाँ मारा गया और नवाब वज़ीर की विजय हुई। रुहेले बड़ी वीरता के साथ लड़े, इसका वर्णन करते हुए स्वयं चैम्पियन लिखता है कि रुहेलों को युद्ध-विद्या का अच्छा ज्ञान था और जिस साहस के साथ वे लड़े उसका वर्णन करना असम्भव है।[1] नवाब वज़ीर के सैनिकों ने रुहेलों को ख़ूब लूटा। लूट में भाग लेने से गोरे सिपाहियों को मनाही थी, इसलिए वे बड़े असन्तुष्ट थे। परन्तु नवाब वज़ीर ने ६ महीने में ७ लाख रुपया देने का वादा करके उनको सन्तुष्ट किया। कहा जाता है कि सेना के अत्याचार से लगभग २० हज़ार

रुहेला सिपाही

१ कलेंडर ऑफ़ पराशियन करस्पांडेंस, जि० ४, भूमिका, पृ० १३।

रुहेलों को अपना देश छोड़कर भागना पड़ा। इन अत्याचारों का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है और नवाब वज़ीर को न रोकने के लिए अँगरेज़ों को भी दोष दिया गया है। कुछ दिन बाद नवाब वज़ीर और रुहेलों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार रुहेला सरदार फ़ैज़ुल्लाख़ाँ को रामपुर का इलाक़ा दे दिया गया, जो अब भी मौजूद है और बाक़ी रुहेलखंड अवध में मिला लिया गया।

इस युद्ध के सम्बन्ध में हेस्टिंग्ज़ की नीति की बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। कहा जाता है कि बनारस के समझौते की सब बातों को हेस्टिंग्ज़ ने कौंसिल को नहीं बतलाया था।[१] कम्पनी के संचालकों की आज्ञा थी कि आत्मरक्षा के अतिरिक्त और किसी प्रकार के युद्ध में भाग न लिया जाय। हेस्टिंग्ज़ ने इस आज्ञा के विरुद्ध रुहेलों के साथ युद्ध किया। अँगरेज़ों से रुहेलों की कोई शत्रुता न थी। झगड़ा नवाब वज़ीर और रुहेलों के बीच था। उसमें हेस्टिंग्ज़ का पड़ना बेजा था। रुहेलों के साथ जो अत्याचार हुए उनके रोकने का कोई प्रयत्न हेस्टिंग्ज़ ने नहीं किया।

इन आक्षेपों के उत्तर में हेस्टिंग्ज़ का कहना है कि उसने बनारस के समझौते का सब हाल कौंसिल के मेम्बरों को ज़बानी बतला दिया था। इन दिनों उत्तरी भारत में मराठों का ज़ोर बढ़ रहा था। उनके साथ रुहेलों का सम्बन्ध सन्देहजनक था। वे नवाब वज़ीर के विरुद्ध उनकी सहायता करते थे और नवाब वज़ीर को धोखा देते थे। यदि रुहेलों के साथ मराठे अवध पर धावा करते तो वे बंगाल की सीमा तक पहुँच जाते। इसलिए उनको रोकने की दृष्टि से रुहेलों के विरुद्ध नवाब वज़ीर की सहायता करना आवश्यक था। रुहेलखंड के अवध में मिल जाने से नवाब वज़ीर के राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा गंगा और पहाड़ों के कारण दृढ़ हो गई। इसमें उसने संचालकों की आज्ञा का वास्तव में उल्लंघन नहीं किया। इसके अतिरिक्त इन

१ कुछ लोगों को सन्देह है कि इस अवसर पर उसने नवाब से एक अच्छी रकम ली थी। ह्वीलर, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ३८२—८३

दिनों कम्पनी को रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। इस युद्ध से उसके लिए ४० लाख रुपये का ठिकाना हो गया और सेना के ख़र्चे का कुछ भार नवाब वज़ीर के मत्थे चला गया।

हेस्टिंग्ज़ की नीति का यह समर्थन ठीक नहीं जँचता। नवाब वज़ीर की निर्बलता को वह अच्छी तरह जानता था। बिना अँगरेज़ों की सहायता के उसको अपनी रक्षा करना कठिन हो रहा था। अवध और मराठों के बीच रुहेलों का राज्य एक प्रकार की आड़ था। उसके नष्ट हो जाने से अब नवाब वज़ीर को मराठों का सामना करना पड़ा, जिसके लिए वह सर्वथा अयोग्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब वज़ीर अँगरेज़ों के और भी अधीन हो गया। इस युद्ध में हेस्टिंग्ज़ का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ था, इसी लिए वह नवाब को बढ़ावा दे रहा था, इसको उसने स्वयं माना है। परन्तु जब उसका यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि नवाब वज़ीर उतनी बड़ी रक़म को न दे सका, तब वह कहने लगा कि उसका मुख्य उद्देश्य अवध की पश्चिमोत्तर सीमा को दृढ़ करके बंगाल की मराठों से रक्षा करना था। ऐसी दशा में यह कहना पड़ता है कि अँगरेज़ों का इस युद्ध में पड़ना न्याय-संगत नहीं था। रुहेलखंड की प्रजा का भी इससे कोई लाभ नहीं हुआ। रहमत-ख़ां के उदार शासन के स्थान पर, जिससे प्रजा सन्तुष्ट थी, नवाब वज़ीर का शासन हो गया, जिसमें प्रजा पर अधिक अत्याचार ही हुआ।

इँग्लेंड-सरकार का हस्तक्षेप—बंगाल में कम्पनी का प्रभाव देख-कर इँग्लेंड-सरकार को चिन्ता हो रही थी। कम्पनी के कर्मचारी माला-माल होकर अपने देश को लौटते थे और वहां नवाबों की तरह रहते थे। इस धन में इँग्लेंड-सरकार ने भी अपना हिस्सा लगाना चाहा और सन् १७६७ में दो साल तक ४ लाख पौंड सालाना देने के लिए कम्पनी को मजबूर किया। बंगाल की अतुल सम्पत्ति देखकर कम्पनी को भी ख़ूब धन मिलने की आशा हो रही थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। पिछले दुर्भिक्ष से प्रान्त की आर्थिक दशा बिगड़ गई, निजी व्यापार के कारण बहुत सा धन उसके कर्मचारियों की जेब में चला गया। व्यापार मन्दा पड़ गया और बराबर

लड़ाई रहने के कारण सेना का खर्चा बेहद बढ़ गया। क्लाइव और हेस्टिंग्ज़ के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी उसकी आर्थिक दशा न सुधर सकी और सन् १७७२ में एक बड़ी रक़म क़र्ज़ लेने के लिए उसको इँग्लेंड-सरकार से प्रार्थना करनी पड़ी। कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर सरकार के हाथ में आया और उसने पूरी जाँच करने के लिए दो कमेटियाँ नियुक्त कीं। इन कमेटियों की रिपोर्ट मिलने पर पार्लामेंट ने सन् १७७३ में दो क़ानून पास किये। पहले क़ानून के अनुसार यह निश्चित हुआ कि कम्पनी अपना छमाही हिसाब इँग्लेंड-सरकार को दिखलाया करे और दूसरे क़ानून से भारतीय शासन-व्यवस्था में बहुत कुछ हेर-फेर किया गया। यह दूसरा क़ानून 'रेग्यूलेटिंग ऐक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—इस नई शासन-व्यवस्था के अनुसार बंगाल का गवर्नर, 'गवर्नर-जनरल' बनाया गया और चार मेम्बरों की उसकी एक कौंसिल बनाई गई। गवर्नर-जनरल कौंसिल का सभापति रखा गया और उसको इस हैसियत से एक वोट अधिक देने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल इस कौंसिल के सर्वथा अधीन बना दिया गया और उसे इसके विरुद्ध कोई काम करने की अनुमति नहीं दी गई। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल की अवधि ५ साल की रखी गई और इनकी पहली नियुक्ति का अधिकार इँग्लेंड-सरकार को दिया गया। बाद को भी बिना सरकार की अनुमति के कम्पनी के संचालकों को इन पदाधिकारियों के नियुक्त करने का अधिकार न रखा गया।

बंगाल के गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को बम्बई तथा मदरास प्रान्तों के निरीक्षण का भी भार दिया गया। इन प्रान्तों के गवर्नरों से युद्ध तथा सन्धि के अधिकार ले लिये गये और अपने अपने प्रान्तों का कुल हाल गवर्नर-जनरल को लिखने और बराबर उसकी सलाह से काम करने के लिए उन्हें आज्ञा दी गई। कलकत्ते में 'सुप्रीम कोर्ट' नाम की एक बड़ी सरकारी अदालत भी खोली गई। इसमें प्रधान न्यायाधीश को मिलाकर चार जज रखे गये। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में बसनेवाली ब्रिटिश प्रजा तथा कम्पनी के कर्मचारियों के न्याय का अधिकार इस अदालत को दिया गया।

भारतवर्ष सम्बन्धी कुल पत्रव्यवहार कम्पनी ने इँगलेंड-सरकार को दिखलाना स्वीकार किया। उसके सभी कर्मचारियों को नज़राना लेने या निजी व्यापार करने की मनाही कर दी गई।

इस क़ानून से भारतीय शासन-व्यवस्था में बड़ा हेर-फेर हो गया। कम्पनी के बहुत से अधिकार जाते रहे और वह इँगलेंड-सरकार के अधीन हो गई। बिना पार्लामेंट की अनुमति के उसको किसी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार न रहा। परन्तु इस क़ानून में कई एक दोष थे, जिनके कारण आगे चलकर बड़े उपद्रव हुए और इसको फिर से बदलना पड़ा। जिन लोगों ने इस क़ानून को बनाया था, उन्हें भारतवर्ष की वास्तविक स्थिति का ज्ञान न था। गवर्नर-जनरल को कौंसिल के अधीन बना देने में साम्राज्य की दृष्टि से भूल की गई। उस समय की राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी कि बिना पूरे अधिकार के गवर्नर-जनरल का काम न चल सकता था। मद्रास और बम्बई की सरकारों से 'युद्ध तथा सन्धि' के अधिकार तो ले लिये गये, परन्तु साथ ही साथ आवश्यकता पड़ने पर या इँगलेंड से आज्ञा मिलने पर बंगाल की सरकार से बिना पूछे हुए भी काम करने की स्वतंत्रता दे दी गई। सुप्रीम कोर्ट की न तो कोई अधिकार-सीमाएँ ही निश्चित की गईं, न यही बतलाया गया कि उसको किस क़ानून के अनुसार निर्णय करना होगा और न उसका कौंसिल के साथ सम्बन्ध ही स्पष्ट किया गया।

कौंसिल से झगड़ा—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार हेस्टिंग्ज़ पहला गवर्नर-जनरल बनाया गया और क्लेवरिंग, मानसन, फ्रांसिस तथा बारवेल कौंसिल के मेम्बर नियुक्त किये गये। इनमें से पहले तीन मेम्बर तो सीधे इँगलेंड से आये थे, परन्तु बारवेल कम्पनी का नौकर था और बहुत दिनों से भारतवर्ष में रहता था। सर एलाइजा इम्पी, जो हेस्टिंग्ज़ का सहपाठी था, सुप्रीम कोर्ट का प्रधान जज बनाकर भेजा गया। ये सब लोग अक्तूबर सन् १७७४ में भारतवर्ष पहुँचे। कौंसिल के नये मेम्बरों ने आते ही हेस्टिंग्ज़ के शासन की जांच करनी शुरू कर दी। कहा जाता है कि फ्रांसिस स्वयं गवर्नर-जनरल बनना चाहता था, इसीलिए वह हेस्टिंग्ज़ की हर एक बात

का विरोध करता था। उसका साथ क्लेवरिंग और मानसन भी देते थे। इस तरह कौंसिल में फ़्रांसिस के दल की अधिकता थी और हेस्टिंग्ज़ को, नये क़ानून के अनुसार, उसकी बात माननी पड़ती थी। इन नये मेम्बरों को भारतवर्ष की परिस्थिति का पूरा ज्ञान न था, इसलिए वे प्रायः हेस्टिंग्ज़ की नीति का, बिना अच्छी तरह समझे हुए, विरोध करने लगते थे। उन्होंने हेस्टिंग्ज़ के नियुक्त किये हुए कई अफ़सरों को निकाल दिया और उसकी बहुत सी कार्रवाइयों को उलट दिया। यह झगड़ा दो साल तक बराबर चलता रहा। सन् १७७६ में मानसन के मरने पर फ़्रांसिस के दल की अधिकता नष्ट हो गई और हेस्टिंग्ज़ को कुछ शान्ति मिली। फ़्रांसिस और हेस्टिंग्ज़ की शत्रुता इतनी बढ़ गई कि सन् १७८० में दोनों में एक द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमें फ़्रांसिस घायल होकर इँग्लेंड वापस चला गया। तब से हेस्टिंग्ज़ को निर्विघ्न काम करने का अवसर मिला।

फ़िलिप फ़्रांसिस

नन्दकुमार को फाँसी—अपना काम निकालने के लिए, संचालकों की इच्छा से, पहले हेस्टिंग्ज़ ने ही नन्दकुमार को बढ़ावा दिया था, पर मतलब सिद्ध हो जाने के बाद से वह उसका विरोधी हो गया था। कौंसिल

में हेस्टिंग्ज़ के विरोधी दल को प्रबल देखकर नन्दकुमार ने भी बदला लेना निश्चित किया। कौंसिल से उसने हेस्टिंग्ज़ की कई एक शिकायतें कीं। इन शिकायतों में मुख्य बात यह थी कि हेस्टिंग्ज़ ने मुन्नी बेगम से साढ़े तीन लाख रुपया घूस में लिया है, और १४ लाख रुपया मुहम्मद रिज़ाखां तथा शिताब राय से लेकर उनको अदालत से छुड़वा दिया है। इन अपराधों को करने के लिए कौंसिल की एक बैठक में नन्दकुमार बुलाया गया। हेस्टिंग्ज़ गवर्नर-जनरल और कौंसिल का सभापति था। वह इस अपमान को न सह सका और बारवेल के साथ कौंसिल से उठकर चला गया। बाक़ी मेम्बरों ने नन्दकुमार की सब बातें सुनकर हेस्टिंग्ज़ को दोषी ठहराया और सब कागज़ात कम्पनी के वकील को देकर हेस्टिंग्ज़ से कुल रुपया वापस लेने की आज्ञा दे दी। हेस्टिंग्ज़ ने डेढ़ लाख रुपया मुन्नी बेगम से लिया था, यह ठीक है। इसको उसके समर्थक सर जेम्स स्टिफ़न ने भी उचित नहीं माना है।[1] इस तरह नन्दकुमार की शिकायतें निराधार न थीं। इधर हेस्टिंग्ज़ और बारवेल ने सुप्रीम कोर्ट में नन्दकुमार तथा उसके कुछ साथियों पर, दोनों के विरुद्ध, षड्यंत्र रचने का अभियोग चलाया। सुप्रीम कोर्ट ने केवल नन्दकुमार को बारवेल के विरुद्ध दोषी ठहराया। इसी अवसर पर मोहन-प्रसाद नाम के एक व्यक्ति ने नन्दकुमार पर जालसाज़ी का मुक़दमा चलाया। कहा जाता है कि किसी दीवानी के मामले में नन्दकुमार ने एक जाली दस्तावेज़ बनाई थी। अदालत की सहायता के लिए १२ अँगरेज़ों की जुरी बनाई गई, जो एक सप्ताह तक मुक़दमे को सुनती रही। अन्त में अदालत ने नन्दकुमार को दोषी पाया और उन दिनों के क़ानून के अनुसार उसको फाँसी देने की आज्ञा दी। नन्दकुमार बड़े धैर्य्य और साहस के साथ फांसी पर चढ़ा।[2]

---

१ जेम्स स्टिफ़न, दि स्टोरी ऑफ़ नन्दकुमार, जि० १, पृ० ७२। हेस्टिंग्ज़ का कहना है कि यह रक़म भत्ते की थी, जो मुर्शिदाबाद आने पर गवर्नरों को नवाब के ख़ज़ाने से मिला करती थी और हिसाब में दर्ज रहती थी।

२ कौंसिल के नाम अपने अन्तिम पत्र में नन्दकुमार का कहना था कि मैं अब मरने

कहा जाता है कि इस मामले में नन्दकुमार के साथ न्याय नहीं किया गया। सुप्रीम कोर्ट को यह मुक़दमा सुनने का अधिकार ही न था। जालसाज़ी का मामला बदला लेने के लिए हेस्टिंग्ज़ ने चलवाया और अँगरेज़ी अदालत ने निष्पक्ष भाव से निर्णय नहीं किया। प्रधान जज इम्पी हेस्टिंग्ज़ का सहपाठी था, उसने हेस्टिंग्ज़ का पक्षपात किया। इस तरह "न्याय के नाम में नन्दकुमार की हत्या की गई"। कौंसिल में हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध शिकायत करने के बाद ही, यह पुराना गड़ा हुआ मुक़दमा खोदकर निकाला गया था, इससे हेस्टिंग्ज़ पर सन्देह अवश्य होता है। पर हेस्टिंग्ज़ शपथ लेकर अपने को इस मामले में निर्दोष बतलाता है। इसको छेड़ने में देरी होने का कारण यह बतलाया जाता है कि जालसाज़ी का पूरा सबूत तब तक न मिल सका था। अदालत की निष्पक्षता का प्रश्न बड़ा जटिल है। मुक़दमा सुनने में जज स्वयं ही गवाहों से जिरह करने लगते थे। अदालत में सब अँगरेज़ थे, नन्दकुमार अँगरेज़ों का घोर शत्रु था, बंगाल के नवाबों को उनके पंजे से मुक्त करने का वह बराबर प्रयत्न करता था। इसी दोष के पीछे अँगरेज़ों ने उसको हटाकर मुहम्मद रिज़ाखां को नायब बनवाया था। गवर्नर-जनरल पर भी उसने घूस खाने के अपराध लगाने की धृष्टता की थी। उन दिनों की राजनैतिक परिस्थिति में ऐसे भयानक मनुष्य के साथ शुद्ध न्याय कहाँ तक किया जा सकता था, यह कहना बड़ा कठिन है। इस पर भी यदि अदालत की निष्पक्षता स्वीकार कर ली जाय, तब भी यह कहना पड़ेगा कि नन्दकुमार को जो दंड दिया गया वह सर्वथा अनुचित था। यह दंड इँग्लैंड के क़ानून के अनुसार दिया गया था। अपराध सिद्ध हो जाने पर यह दंड देने के लिए अदालत मजबूर थी, यह बात ठीक है। परन्तु यह जानते हुए कि भारतवर्ष में ऐसा निष्ठुर दंडविधान नहीं है, उसका कम से

जा रहा हूँ। इस लोक के लिए मैं परलोक को न बिगाड़ूंगा। मैं सत्य कहता हूं कि जालसाज़ी के मामले में मैं निर्दोष हूं। केवल बदला लेने के लिए यह मुक़दमा मुझ पर चलाया गया है। फ़ारेस्ट, सेलेक्शंस, जि० १, पृ० १३०–३१।

कम इतना कर्तव्य अवश्य था कि वह नन्दकुमार पर दया दिखलाने की सिफ़ारिश करती।

कौंसिल और कोर्ट—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट में कौंसिल और कोर्ट के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या न की गई थी, इसका फल यह हुआ कि दोनों में झगड़ा होने लगा। कोर्ट के हस्तक्षेप से शासन में बड़ी बाधाएँ पड़ने लगीं। इसके जज अपने को इँग्लेंड-सरकार के अधीन समझते थे और कौंसिल की कुछ भी पर्वाह न करते थे। पटना के एक मुसलमान ज़मीन्दार के मरने पर उसकी सम्पत्ति के विषय में उसकी विधवा स्त्री और भतीजे में झगड़ा हुआ। कोर्ट ने यह कहकर कि ज़मीन्दार कम्पनी के नौकर हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध के मामले उसके अधीन हैं, प्रान्तीय कौंसिल के निर्णय को रद्द कर दिया। एक दूसरे मामले में और भी तमाशा हुआ। कोसीजुरा के ज़मीन्दार के विरुद्ध किसी ने दावा किया। सम्मन देने में ज़मीन्दार के साथ बड़ी ज़बरदस्ती की गई। इस पर हेस्टिंग्ज़ की कौंसिल ने कोर्ट के जमादार और सिपाहियों के गिरफ़्तार करने की आज्ञा दे दी। स्टिफ़न लिखता है कि कौंसिल का यह कार्य्य सर्वथा अनुचित था। इसको इतिहासकार स्मिथ भी मानता है, पर साथ ही साथ वह लिखता है कि परिस्थिति बड़ी कठिन थी। कोर्ट के इन बनावटी अधिकारों को रोके बिना शासन-व्यवस्था का जारी रखना असम्भव था। शासक को कभी कभी क़ानून के विरुद्ध भी काम करना पड़ता है।[1] स्वयं हेस्टिंग्ज़ ने भी माना है कि "शासन के मार्ग में कोर्ट बड़ा बाधक था।"

प्रधान जज इम्पी की हेस्टिंग्ज़ से मित्रता होने के कारण यह झगड़ा आगे न बढ़ने पाया। उसने इसे मिटाने के लिए सन् १७८० में इम्पी को 'सदर दीवानी अदालत' का भी अध्यक्ष बना दिया। इस पद के वेतनस्वरूप इम्पी को ५ हज़ार रुपया माहवार अधिक मिलने लगा। लार्ड मैकाले का कहना है कि नन्दकुमार के मामले में सहायता करने का बदला इस तरह चुकाया

---

१ स्मिथ, आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृ० ५३०—३१।

गया। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इम्पी ने इस वेतन को लिया न था। पार्लामेंट ने इस प्रबन्ध को अनुचित समझकर इम्पी को वापस बुला लिया। इम्पी और हेस्टिंग्ज़ के मन के भाव चाहे जो कुछ रहे हों, यह मानना पड़ेगा कि उस पद पर थोड़े ही दिन रहकर इम्पी ने कई एक अच्छे सुधार किये। वह फ़ारसी और बँगला दोनों भाषाएँ जानता था। उसने अदालत के नियमों का एक संग्रह तैयार किया और उसका फ़ारसी तथा बँगला में अनुवाद कराया। कार्य्यवाही में यथासम्भव एकता और सुगमता लाने का भी प्रयत्न किया गया। बहुत दिनों तक भारत की अँगरेज़ी अदालतों में इन्हीं नियमों के अनुसार काम होता रहा।

एलाइजा इम्पी

मराठों के साथ युद्ध—बंगाल और मदरास की देखा-देखी बम्बई-सरकार को भी अपना प्रभुत्व बढ़ाने की धुन लगी हुई थी। मराठों की परस्पर फूट में इसके लिए उसको अच्छा अवसर मिल गया। यह बतलाया जा चुका है कि रघुनाथ राव, जो राघोबा के नाम से प्रसिद्ध था, पूना से भागकर अँगरेज़ों की शरण में चला गया था। राघोबा ने बम्बई के निकट के दो स्थान—बेसीन और सालसट—देने का वचन देकर अँगरेज़ों से सहायता मांगी। बम्बई-सरकार ने सहायता देना स्वीकार करके पहले ही से सालसट पर अधिकार कर लिया। सूरत की सन्धि से राघोबा को यह अधिकार मानना पड़ा। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार सूरत की सन्धि के लिए गवर्नर-जनरल की अनुमति

लेनी आवश्यक थी, परन्तु बम्बई-सरकार को नई शासन-व्यवस्था का पता भी न था। हेस्टिंग्ज़ को जब यह समाचार मिला तब उसने बम्बई-सरकार के इस कार्य्य को "असामयिक और नीति तथा न्याय के विरुद्ध" बतलाया। उसका कहना था कि राघोबा के अधिक पक्षपाती नहीं हैं। स्वयं बम्बई-सरकार के पास मराठा ऐसे प्रबल शत्रुओं के साथ लड़ने के लिए न तो काफ़ी सेना है और न धन। मराठों का राज्य स्वतंत्र है, उसमें हस्तक्षेप करना अनुचित है। इस निर्णय के अनुसार बम्बई-सरकार को राघोबा की सहायता करने के लिए मना कर दिया गया। साथ ही साथ कर्नल अप्टन को पूना भेजकर, पुरन्दर नामक स्थान पर, एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार अँगरेज़ों ने राघोबा का साथ छोड़ दिया। इधर बम्बई-सरकार सालसट और बेसीन को न छोड़ना चाहती थी, इसलिए उसने कम्पनी के संचालकों से लिखा-पढ़ी करके सूरत की सन्धि को स्वीकार करवा लिया और राघोबा की सहायता करने के लिए आज्ञा ले ली। पूना-सरकार के विरोध करते रहने पर भी मास्टिन फिर प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। इसके पहुँचने के थोड़े ही दिन बाद मंत्रियों में फूट हो गई और दीवान सखाराम बापू राघोबा के पक्ष में हो गया।

इस पर हेस्टिंग्ज़ भी उस युद्ध का समर्थन करने लगा, जिसको स्वयं उसने "असामयिक और नीति तथा न्याय के विरुद्ध" बतलाया था। फ़्रांसिस ने इस तरह पुरन्दर की सन्धि के प्रतिकूल जाने का घोर विरोध किया। उसकी तथा ह्वीलर की राय में बम्बई-सरकार का निर्णय "नियम, नीति तथा न्याय के विरुद्ध" था। हेस्टिंग्ज़ का अपने समर्थन में कहना था कि नाना फड़नवीस अँगरेज़ों के विरुद्ध फ़्रांसीसियों के एक दूत के साथ बातचीत कर रहा था। इसके अतिरिक्त पूना के स्वयं प्रधान सचिव ने राघोबा को गद्दी पर बिठलाने की प्रार्थना की थी। कम्पनी के संचालकों ने भी सूरत की सन्धि को मान लिया था। इसलिए बम्बई-सरकार की अब सहायता करना अनुचित न था। बहुमत से कौंसिल ने हेस्टिंग्ज़ की सलाह मानकर बम्बई सेना भेजने की आज्ञा दे दी।

वड़गाँव का समझौता—इस लिखा-पढ़ी और वाद-विवाद के समय में भी युद्ध बराबर जारी रहा। बम्बई-सरकार पहले से ही राघोबा की

सहायता करने के लिए एक सेना भेज चुकी थी। इस सेना का सामना करने के लिए नाना फड़नवीस तैयार था, होलकर और सिन्धिया अपनी बड़ी बड़ी सेनाएँ लिये हुए पड़े थे। नाना फड़नवीस को अपने जासूसों से बम्बई-सरकार की सब बातों का पता मिल जाता था। उसने ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा था कि अँगरेज़ी सेना को कोई रसद न मिले। राघोबा को लेकर जो अँगरेज़ी सेना आई थी उसको, मराठों के बराबर आक्रमण और रसद न मिलने के कारण, विवश होकर उनके साथ जनवरी सन् १७७६ में वड़गाँव नामक स्थान पर समझौता करना पड़ा। इसके अनुसार अँगरेज़ी सेना ने राघोबा का साथ छोड़ दिया, जो भागकर सिन्धिया की शरण में चला गया और कोंकण के कई एक स्थानों को लौटाने तथा सिन्धिया को ४१ हज़ार रुपया देने का वादा किया। बम्बई-सरकार ने इस समझौते को नहीं माना। उसका कहना था कि बिना उसकी अनुमति के सेना को ऐसा समझौता करने का कोई अधिकार न था। हेस्टिंग्ज़ लिखता है कि इस समझौते के पढ़ने पर उसकी लज्जा का कोई ठिकाना न रहा।

राघोबा

इन्हीं दिनों नाना फड़नवीस ने पेशवा की ओर से इँग्लेंड के बादशाह को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने बड़ी योग्यता से यह दिखलाया कि शुरू से ही अँगरेज़ों ने मराठों के साथ अपने वचन का पालन नहीं किया। वह लिखता है कि बम्बई और बंगाल की सरकारों के साथ हमने सन्धि के अनुसार ही व्यवहार किया, परन्तु उनका लिखना कुछ और कहना कुछ और है। बम्बई और कलकत्तावाले एक दूसरे के किये हुए इक़रारों को नहीं मानते हैं। परन्तु मत-भेद होते हुए भी दोनों के काम करने की पद्धति भीतर से एक जान पड़ती

है। मतलब की बात में भेद नहीं रहता है। राज्य में सब से बड़ी बात वचन पर दृढ़ रहना है। यदि उसमें भिन्न भिन्न झगड़े खड़े हों और ठहरी हुई शर्तें न मानी जायँ, तो फिर लाचारी है।[1]

सालबाई की सन्धि—युद्ध का समाचार मिलने पर नाना फड़नवीस ने फिर मराठा सरदारों को एकत्र किया और निज़ाम तथा हैदरअली के साथ मिलकर अँगरेज़ों से लड़ने का प्रबन्ध किया। उधर बंगाल से अँगरेज़ों की एक सेना जनरल गोडार्ड की अध्यक्षता में गुजरात की ओर चली और उसने बड़ौदा के गायकवाड़ को अपने पक्ष में मिलाकर अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया। दूसरी सेना ने मेजर पोफ़म की अध्यक्षता में मध्य भारत की ओर से आकर सिन्धिया के प्रसिद्ध दुर्ग ग्वालियर को छीन लिया। इस पर सिन्धिया ने हेस्टिंग्ज़ से समझौता कर लिया। ग्वालियर वापस लेकर उसने पूना-सरकार से सन्धि कराने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इधर हैदरअली की मृत्यु हो गई और भोंसला को अँगरेज़ों ने फोड़ लिया। इस तरह नाना फड़नवीस का बना-बनाया काम बिगड़ गया और मई सन् १७८२ में सालबाई की सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार सवाई माधवराव पेशवा मान लिया गया, राघोबा को पेंशन दे दी गई और अँगरेज़ों को सालसट मिल गया।

ब्रिटिश भारत के इतिहास में यह सन्धि बड़े महत्व की है। ज़ाहिरा तौर पर एक तरह से मराठों की ही विजय रही, क्योंकि सवाई माधवराव पेशवा मान लिया गया, पर वास्तव में हेस्टिंग्ज़ की नीति की यह सबसे बड़ी विजय थी। राघोबा को गद्दी पर बिठलाना अँगरेज़ों का कोई मुख्य उद्देश्य न था। मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए यह एक बहाना मात्र था। इसमें पड़कर हेस्टिंग्ज़ ने मराठा-मंडल की शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसने 'मराठा साम्राज्य के दो स्तम्भ' गायकवाड़ तथा भोंसला को तोड़ लिया और शक्तिशाली सिन्धिया को उत्तरी भारत का लालच देकर शान्त कर दिया। इस अवसर पर सिन्धिया ने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। मराठा साम्राज्य

---

१ न० चिं० केलकर, मराठे व इंग्रज, पृ० ७४-८०।

का उसको इस समय ध्यान न था, वह दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए चिन्तित हो रहा था। नाना फड़नवीस की यह बात कि मराठा साम्राज्य के हित का सर्वनाश किये बिना भी सिन्धिया उत्तरी भारत में अपना उद्देश्य सफल बना सकता है, क्योंकि यदि मराठा आपस में मिलकर दृढ़ता के साथ काम करेंगे तो अँगरेज़ों का प्रभुत्व दिल्ली में कभी न जम सकेगा,[1] सिन्धिया की समझ में न आई। वह हेस्टिंग्ज़ की नीति का गूढ़ रहस्य न समझ सका। उसके इस कार्य्य से मराठों की दृढ़ता नष्ट हो गई। हेस्टिंग्ज़ की चतुरता से बंगाल की पश्चिमोत्तर सीमा दृढ़ हो गई और मराठा साम्राज्य में अँगरेज़ों का पैर जम गया।

चेतसिंह पर जुरमाना—बनारस का राजा पहले अवध के नवाबों के अधीन था। सन् १७७५ में अवध के नवाब ने बनारस का इलाक़ा कम्पनी के हवाले कर दिया। राजा चेतसिंह ने कम्पनी को २३ लाख रुपया सालाना देना स्वीकार किया और कम्पनी ने इसके अतिरिक्त और किसी रक़म के न माँगने का वचन दिया। सन् १७७८ में इँग्लैंड और फ़्रांस में फिर लड़ाई छिड़ गई। इस पर हेस्टिंग्ज़ ने चेतसिंह से नियत 'कर' के अतिरिक्त ५ लाख रुपया सालाना ३ वर्ष तक लेना निश्चित किया। पहले साल तो चेतसिंह ने रुपया दे दिया, परन्तु दूसरे साल रुपया देने में देरी होने के कारण हेस्टिंग्ज़ ने उस पर जुरमाना कर दिया। तीसरे साल भी उसको एक लाख रुपया जुरमाना देना पड़ा। इस अवसर पर उसने अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं हेस्टिंग्ज़ को २ लाख रुपया दिया। हेस्टिंग्ज़ ने इसको कम्पनी के ख़ज़ाने में अपने नाम में जमा करा दिया, पर चेतसिंह से वह बराबर तक़ाज़ा करता गया। दक्षिण में युद्ध छिड़ जाने के कारण इन दिनों रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। चेतसिंह से दो हज़ार सवार भी माँगे गये। बड़ी कोशिश से उसने ५०० सवार तैयार भी किये, पर हेस्टिंग्ज़ को सन्तोष न हुआ। राजा को

---

१ नाना फड़नवीस का सिन्धिया के नाम पत्र, किंकेड और पारसनोस, हिस्ट्री ऑफ़ दि मराठा पीपुल, जि० ३, पृ० १४१।

सेना और रुपया भेजने में हीला-हवाला करते देखकर हेस्टिंग्ज़ ने उस पर ५० लाख रुपया जुरमाना करना निश्चित किया और उसको वसूल करने के लिए वह स्वयं बनारस आया। हेस्टिंग्ज़ के पहुँचने पर राजा ने बहुत कुछ अनुनय-विनय की, पर उसकी एक भी न सुनी गई, और हेस्टिंग्ज़ की आज्ञा से उसके महल पर गोरों का पहरा बैठा दिया गया। बनारस नगर में इस समाचार के फैलते ही उपद्रव मच गया। रामनगर से सैनिकों ने आकर गोरों को मार डाला। राजा चेतसिंह महल की एक खिड़की से कूदकर लतीफ़गढ़ की तरफ़ चला गया। हेस्टिंग्ज़ ने चेतसिंह को दमन करने के लिए एक सेना भेजी। रामनगर की तंग गलियों में सेना के दो दल नष्ट कर डाले गये। चेतसिंह के सिपाही बड़ी वीरता से लड़े। हेस्टिंग्ज़ को अपने प्राण लेकर चुनार भागना पड़ा। इसके बाद पतीता में फिर युद्ध हुआ। यहाँ भी चेतसिंह के सिपाहियों ने बड़ी वीरता दिखलाई। रामनगर की ढली हुई तोपें और बारूद देखकर अँगरेज़ अफ़सर दंग रह गये।[1] सितम्बर सन् १७८१ में अँगरेज़ों ने लतीफ़गढ़ पर अधिकार कर लिया। ख़ज़ाने में जो कुछ रुपया था, उसको सिपाहियों ने लूट लिया। चेतसिंह दक्षिण भाग गया। हेस्टिंग्ज़ ने बनारस लौटकर उसके भानजे को राजा बना दिया, जिसने कम्पनी को ४० लाख रुपया सालाना कर देना स्वीकार किया।

हेस्टिंग्ज़ का कहना है कि चेतसिंह कम्पनी का एक साधारण सनदयाफ़्ता ज़मीन्दार था। आपत्ति के समय पर अपने स्वामी की सहायता करना उसका कर्तव्य था। उसके पास धन और सेना की कमी न थी। वह मराठों और नवाब वज़ीर से मिलकर विद्रोह करना चाहता था। बनारस का उपद्रव इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह जान-बूझकर कम्पनी की सहायता करने में हीला-हवाला करता था। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि चेत-सिंह एक साधारण ज़मीन्दार न था। यह बात ठीक है कि कम्पनी ने उसको ज़मीन्दारी की सनद दी थी और उसने एक क़बूलियत लिख दी थी। इस सनद

१ फ़ारेस्ट, सेलेक्शंस, जि० १, पृ० २२८।

और कबूलियत में २३ लाख रुपया सालाना का नियत कर देने के अतिरिक्त और कोई बात स्पष्ट न की गई थी। किसी प्रकार का मुचलका लिखने से चेतसिंह ने साफ़ इनकार कर दिया था। सिक्का ढालने और अपने राज्य में न्याय तथा शासन करने के उसको पूर्ण अधिकार थे। उसके दरबार में अँगरेज़ों का एक रेज़ीडेंट भी रहता था। इससे स्पष्ट है कि उसका पद साधारण ज़मीन्दारों से कहीं ऊँचा था और उसकी गणना राजाओं में थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि जुलाई ५, सन् १७७५ को चेतसिंह के साथ जो समझौता हुआ था, उसमें यह साफ़ कह दिया गया था कि जो रक़म तय हुई है, उसे यदि चेतसिंह बराबर देता रहेगा, तो न तो उससे किसी रूप या "किसी बहाने से कम्पनी अधिक रुपया माँगेगी और न उसके अधिकारों में किसी को हस्तक्षेप या उसके राज्य की शान्ति भंग करने देगी।"[1]

फ़्रांस और इँग्लेंड में युद्ध ज़रूर छिड़ गया था, परन्तु भारतवर्ष में फ़्रांसीसियों का प्रभुत्व नष्ट हो चुका था। इसलिए कम्पनी पर कोई ऐसी बड़ी आपत्ति न थी, जिसके कारण चेतसिंह से असाधारण सहायता माँगनी उचित कही जा सके। रुपया देने में चेतसिंह जान-बूझकर बहाना न करता था। बनारस के रेज़ीडेंट मार्कहम ने इस बात को माना है कि वह ५० लाख जुरमाना देने में असमर्थ था। कुछ रियायत और मोहलत मिलने के लिए ही उसने २ लाख रुपया हेस्टिंग्ज़ को भेंट किया था। इस रुपये को हेस्टिंग्ज़ ने स्वयं नहीं लिया, पर साथ ही साथ जिस उद्देश्य के लिए रुपया दिया गया था, उसकी भी उसने पूर्ति नहीं की। उसे चेतसिंह को साफ़ जवाब दे देना चाहिए था। चेतसिंह विद्रोह की चेष्टा कर रहा था, यह हेस्टिंग्ज़ की कल्पना मात्र थी। नवाब वज़ीर में कोई दम न था, मराठे अपने घरेलू झगड़ों ही में फँसे थे, अँगरेज़ों से मुक़ाबला करना चेतसिंह की शक्ति के बाहर था। बनारस का उपद्रव चेतसिंह के प्रति हेस्टिंग्ज़ के कठोर व्यवहार का फल था। स्मिथ ने भी माना है कि उस अवसर पर हेस्टिंग्ज़

---

१ राबर्ट्स, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृ० २०५।

का व्यवहार सर्वथा अनुचित था।[1] लायल के मतानुसार हेस्टिंग्ज़ ने इस मामले में बड़ी भूल की और उसने अपनी स्वाभाविक विचारशीलता से काम नहीं लिया।[2]

यह बात ठीक है कि इन दिनों रुपये की बड़ी आवश्यकता थी पर साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हेस्टिंग्ज़ राजा चेतसिंह से चिढ़ा हुआ था। उसके विरुद्ध कौंसिल के मेम्बरों से चेतसिंह की मित्रता थी। इसका वह बदला लेना चाहता था कम्पनी की माँगों को पूरी करने के लिए चेतसिंह ने यथाशक्ति प्रयत्न किया था। बंगाल तथा बिहार में कम्पनी के मातहत और भी तो कई राजा तथा ज़मीन्दार थे, विपत्ति के समय में उनसे सहायता क्यों नहीं मांगी गई? "चेतसिंह की लूट" से कम्पनी के हाथ एक पैसा तक नहीं लगा। यदि उसके साथ नरमी का बर्ताव किया जाता तो कुछ सहायता मिल भी जाती। वह २२ लाख रुपया देने के लिए तैयार था परन्तु हेस्टिंग्ज़ ५० लाख पर ही डटा रहा। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि इस मामले में हेस्टिंग्ज़ ने अधिकतर अपने व्यक्तिगत भावों से ही काम लिया।

अवध के साथ व्यवहार—सन् १७७५ में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई। फ्रैंकलिन का कहना है कि अपने समय को देखते हुए वह एक योग्य शासक था। विपत्ति के समय में भी उसका धैर्य्य न छूटता था। कभी कभी निष्ठुर होते हुए भी उसे न्याय से प्रेम था और राज्य की उन्नति के लिए बराबर चिन्ता रहती थी। अपने योग्य अफ़सरों की सहायता से उसने राज्य में शान्ति स्थापित रखने की बड़ी चेष्टा की।[3] नये नवाब आसफ़ुद्दौला के साथ दूसरी सन्धि की गई, जिसके अनुसार सेना का माहवारी खर्चा बढ़ा दिया गया, बनारस का इलाक़ा ले लिया गया और अँगरेज़ों के अतिरिक्त यूरोप के

---

१ स्मिथ, पृ० ५३८।

२ सर एल्फ़्रैड लायल, वारेन हेस्टिंग्ज़, पृ० १२५—२७।

३ फ़्रैंकलिन, हिस्ट्री ऑफ़ दि रेन ऑफ़ शाहआलम, पाणिनि आफ़िस संस्करण, पृ० ६४।

किसी अन्य निवासी को नौकर रखने की मनाही कर दी गई। मालगुज़ारी वसूल करने में भी वह कम्पनी की सेना से सहायता लेने लगा और उसने कई एक अँगरेज़ अफ़सरों को भी रख लिया। इसका फल यह हुआ कि ख़र्चा बहुत बढ़ गया और सन् १७८१ में कम्पनी का क़र्ज़ा बढ़ते बढ़ते डेढ़ करोड़ तक पहुँच गया। इन्हीं दिनों हेस्टिंग्ज़ बनारस से भागकर चुनार आया। उसने नवाब का ख़र्चा घटाने के लिए कुछ सेना वापस बुला ली और कई अँगरेज़ अफ़सरों को निकाल दिया। कम्पनी का रुपया वसूल करने के लिए यहीं पर नवाब के साथ एक ख़ास प्रबन्ध किया गया।

बेगमों की दुर्दशा—कहा जाता है कि नवाब की माँ और दादी के पास बड़ा धन था। कम्पनी का क़र्ज़ा चुकाने के लिए आसफ़द्दौला इस धन को लेना चाहता था। बेगमों ने २६ लाख रुपया उसे दिया भी था, जिसके बदले में उन्हें एक जागीर दी गई थी। सन् १७७५ में अँगरेज़ रेज़ीडेंट तथा बंगाल कौंसिल के यह विश्वास दिलाने पर कि फिर उनसे रुपया न माँगा जायगा और उनकी जागीर न छीनी जायगी, बेगमों ने ३० लाख रुपया और देने का वचन दिया था। इसका कुछ भी ध्यान न रखकर अब हेस्टिंग्ज़ ने बेगमों से धन छीनने तथा जागीर ज़ब्त करने की अनुमति नवाब को दे दी।[1] रेज़ीडेंट को हेस्टिंग्ज़ ने लिख भेजा कि बेगमों के प्रति क्षमा दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर अँगरेज़ी सेना के साथ नवाब की सेना फ़ैज़ाबाद पहुँच गई और उसने बेगमों के साथ बड़ा कठोर बर्ताव किया। उनके दो विश्वासपात्र ख़ोजे गिरफ़्तार कर लिये गये और कहा जाता है कि उनके कोड़े तक लगाये गये। इस तरह बेगमों से बलात् रुपया छीनकर कम्पनी का क़र्ज़ा चुकाया गया।

---

१ इस अवसर पर हेस्टिंग्ज़ को नवाब से दस लाख रुपया मिला था, जिसे वह अपने ही लिए रखना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसने ता० २० जनवरी सन् १७८२ के पत्र में संचालकों को लिखा भी पर उन्होंने अनुमति नहीं दी। बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० २, पृ० ५४७।

हेस्टिंग्ज़ का कहना है कि बेगमों का धन राज्य की सम्पत्ति थी। उस पर उनका कोई निजी अधिकार न था। क़र्ज़ा चुकाने के लिए नवाब उसको ले सकता था। यह बात ठीक है कि रुहेलों की लूट से बेगमों को यह धन मिला था, परन्तु विपत्ति के समय पर उन्होंने शुजाउद्दौला की सहायता करने में कोई कसर उठा न रखी थी। अँगरेज़ों को रुपया देने के लिए इलाहाबाद की सन्धि के समय पर बहू बेगम ने अपनी नाक की नथनी तक निकालकर उसको दे दी थी। ऐसी दशा में शुजाउद्दौला से बाद को जो कुछ धन उसको मिला था उसे यदि वह निज की सम्पत्ति समझती थी, तो इसमें उसका क्या दोष था? दूसरे एक बार ३० लाख रुपया लेकर और बेगमों को यह विश्वास दिलाकर कि उनसे और रुपया न माँगा जायगा, फिर इस तरह बलात् रुपया लेना किसी तरह उचित न था। यदि यह मान भी लिया जाय कि बिना रुपये के काम न चलता था, तब भी जिन उपायों से रुपया लिया गया, वे सर्वथा निन्दनीय थे। हेस्टिंग्ज़ कलकत्ता में रहता था, लखनऊ और फ़ैज़ाबाद में क्या हो रहा था इसका उसे कुछ पता न था, ऐसा कहने से हेस्टिंग्ज़ अपनी ज़िम्मेदारी से बरी नहीं हो सकता। रेज़ीडेंट मिडिलटन के यह लिखने पर भी कि "इस देश की स्त्रियों के साथ जितना कड़ा बर्ताव किया जा सकता है, किया जा चुका है" वह मिडिलटन को और सख़्ती के साथ काम लेने के लिए बराबर लिखता रहा। लगभग साल भर तक बेगमों के ख़ोजे क़ैद रहे, मिडिलटन और ब्रिस्टो कुल हाल कलकत्ता लिखते रहे, परन्तु हेस्टिंग्ज़ ने उनकी करतूतों की निन्दा में कभी मुँह से एक शब्द भी नहीं निकाला, उलटे नरमी दिखलाने के लिए उन्हीं को डाँटता रहा। अपनी माता और दादी के साथ कुत्सित व्यवहार का जब स्वयं नवाब को पश्चात्ताप हुआ, तब हेस्टिंग्ज़ बिगड़कर कहने लगा कि वह अपने वज़ीर के प्रभाव में पड़कर मेरी अनुमति से किये हुए कार्यों का, क्रोध और घृणापूर्ण अनुचित शब्दों में, विरोध कर रहा है।

अपनी नीति के समर्थन में हेस्टिंग्ज़ का कहना था कि बेगमें अँगरेज़ों के विरुद्ध चेतसिंह का साथ दे रही थीं, इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। दूसरे, यदि ऐसा हो भी तो चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार

देखकर आत्म-रक्षा के लिए बेगमों का घबड़ाकर उसका साथ देना कुछ अस्वाभाविक न था। इसको कम्पनी के संचालकों ने भी माना है। स्मिथ के यह कहने से कि बिना बल का प्रयोग किये हुए भारतवर्ष में रुपया वसूल करना सहज न था, हेस्टिंग्ज़ की नीति का समर्थन नहीं हो सकता। सर एल्फ्रेड लायल सरीखे हेस्टिंग्ज़ के प्रशंसक को भी मानना पड़ा है कि अँगरेज़ अफ़सरों की अध्यक्षता में शारीरिक यातना पहुँचाकर स्त्रियों और उनके नौकरों से बलात् रुपया छीनना एक "घृणित कार्य्य" था। इक़रार के विरुद्ध उनके साथ नवाब का मनमाना व्यवहार भले ही उचित हो, परन्तु उनके विरुद्ध नवाब को उत्तेजित करना और उसकी सहायता करना सर्वथा निन्दनीय था, जिसका कोई समर्थन नहीं हो सकता।[1]

मैसूर के साथ दूसरा युद्ध—अमरीका के विद्रोही उपनिवेशों का साथ देने के कारण सन् १७७८ में इँगलेंड और फ्रांस में फिर युद्ध छिड़ गया। यह समाचार मिलने पर फ्रांसीसियों से पांडुचेरी छीन ली गई और मलाबार तट पर माही का बन्दरगाह नष्ट कर डाला गया। यह बन्दरगाह हैदरअली के राज्य में था और यहाँ से उसकी रसद आती जाती थी। इसलिए अँगरेज़ों का यह कार्य्य उसको बहुत बुरा लगा। मदरास की सन्धि के अनुसार अँगरेज़ों ने मराठों के आक्रमण करने पर हैदरअली की सहायता नहीं की थी, जिसके कारण वह पहले ही से अंगरेज़ों से चिढ़ा था। इस समय उनसे बदला निकालने का उसको अच्छा अवसर मिल गया। मराठों से अँगरेज़ों का युद्ध हो रहा था, इसलिए वे लोग भी साथ देने के लिए तैयार थे। इधर निज़ाम भी अपने मित्र अंगरेज़ों से चिढ़ा हुआ था। राघोबा के आक्रमण करने पर अँगरेज़ों ने उसका भी साथ नहीं दिया था, दूसरे बिना उसकी अनुमति के उत्तरी सरकार में गंटूर का ज़िला अपने अधीन कर लिया था। इसलिए हैदरअली, निज़ाम और मराठा तीनों मिलकर अँगरेज़ों के विरुद्ध लड़ने का प्रयत्न कर रहे थे।

१ लायल, हेस्टिंग्ज़, पृ० १३६, १३७।

सन् १७८० में हैदरअली अपने बेटे टीपू के साथ एक बड़ी भारी सेना लेकर कर्नाटक पर टूट पड़ा। उसने सारा देश उजाड़ दिया। मदरास के निकट कुछ गांवों को रात में जलते देखकर अँगरेज़ों को उसके आ जाने का पता लगा। बक्सर-विजयी सेनापति हेक्टर मनरो के उसने छक्के छुड़ा दिये। कर्नल बेली के दल को टीपू ने घेरकर नष्ट कर डाला और उसको गिरफ़्तार कर लिया। इस लड़ाई में अँगरेज़ों के पाँच हज़ार सिपाही तथा सात सौ गोरे मारे गये और लगभग दो हज़ार गोरे कैद कर लिये गये। हेस्टिंग्ज़ को जब यह समाचार मिला तब उसने मदरास के गवर्नर को अयोग्यता के कारण पद से हटा दिया और आयरकूट को सेनापति बनाकर दक्षिण की ओर भेजा। इस अवसर पर धैर्य्य न छोड़कर उसने बड़ी नीति से काम लिया। एक ओर मराठा राज-मंडल में फूट फैलाकर सिन्धिया से सन्धि का प्रस्ताव किया और मराठों को हैदरअली के विरुद्ध उत्तेजित कर दिया।[1] दूसरी ओर गंटूर वापस करके निज़ाम को शान्त कर दिया और [हैद]रअली मुग़ल सम्राट् से दक्षिण की सूबेदारी के लिए लिखा-पढ़ी कर रहा है, ऐसा सुझाकर निज़ाम को भी उसके विरुद्ध कर दिया। इस तरह इस समय का एक बड़ा भारी राजनैतिक गुट्ट, जिसका परिणाम अँगरेज़ों के लिए बड़ा भयानक होता, हेस्टिंग्ज़ की चतुर नीति से टूट गया और हैदरअली फिर अकेला रह गया। इतने पर भी उसका साहस न टूटा और वह डच तथा फ्रांसीसियों की सहायता से बराबर लड़ता रहा।

हैदरअली की मृत्यु—बड़ी कठिनता से आयरकूट की अध्यक्षता में अँगरेज़ी सेना ने उसको पोर्टोनोवो, शालिंगढ़ और पालीलूर की लड़ाइयों में हराया। परन्तु दूसरी ओर टीपू ने कर्नल ब्रेथवेट के दल को फिर नष्ट कर डाला और बेली की तरह उसको भी पकड़ लिया। इस तरह जब युद्ध चल ही रहा था, दिसम्बर सन् १७८२ में हैदरअली का सहसा देहान्त हो गया। मरने के पूर्व वह अच्छी तरह जानता था कि अँगरेज़ों पर विजय पाना सहज

१ फ़ारेस्ट, मराठा सिरीज़, जि० १, पृ० ४७४।

नहीं है, और उसने अपने मंत्री पुर्णिया से स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि "मैं अँगरेज़ों की शक्ति को भूमि पर नष्ट कर सकता हूँ, पर समुद्र को नहीं सुखा सकता हूँ।" फ्रांसीसी और मराठों ने उसका साथ नहीं दिया, इसका उसे बड़ा दुःख था। मराठों के विषय में यह कह देना उचित है कि इस समय स्वयं मराठा-मंडल में फूट फैल रही थी और वे हैदरअली की सहायता करने में असमर्थ थे। नाना फड़नवीस विवश था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जब तक हैदरअली की मृत्यु का समाचार नाना फड़नवीस को नहीं मिला, तब तक उसने सालबाई की सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये।

हैदरअली

हैदरअली ने अपनी बुद्धिमत्ता, योग्यता और साहस से थोड़े ही काल में मैसूर को दक्षिण का सबसे प्रबल राज्य बना दिया था। निज़ाम और अँगरेज़ दोनों ही उसकी शक्ति से डरते थे। कई बार हराकर भी मराठे उससे सदा सचेत रहते थे। उसको किसी प्रकार का अभिमान न था। साधारण से भी साधारण प्रजा को भी अपना दुःख स्वयं निवेदन करने का अधिकार प्राप्त था। उसमें धार्मिक पक्षपात बिलकुल न था। उसके बड़े बड़े अफ़सर और मंत्री हिन्दू थे। कहा जाता है कि सन् १७६१ में त्रिचनापल्ली पर आक्रमण करने के समय पर उसने श्रीरंगजी के मन्दिर के लिए बहुत सा धन

दिया था।[1] किसी प्रकार की अड़चन को वह सहन न कर सकता था। अपने बड़े बड़े अफ़सरों तथा बेटे टीपू तक की चाबुक से ख़बर लेता था। शासन के सभी विभागों को वह अपने आप देखता था। प्रजा के सुख का उसे बराबर ध्यान रहता था। अपनी सेना को उसने बड़े अच्छे ढंग से संगठित किया था। वह कुछ भी पढ़ा लिखा न था, पर अकबर और रणजीतसिंह की तरह उसको सभी बातों का ज्ञान था। उसकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। वह बड़े लम्बे-चौड़े हिसाब ज़बानी ही बतला देता था। वह पांच भाषाओं में बोल सकता था। अपने दिमाग़ पर उसका ऐसा अधिकार था कि वह कई एक काम एक साथ ही करता था। कहा जाता है कि वह महफ़िल में बैठकर नाच देखता था, मंत्रियों से गूढ़ विषयों पर परामर्श भी करता था और चार-चार पाँच-पांच पत्र एक साथ ही लिखवाता था। फ़ारेस्ट का कहना है कि उसमें कुछ ऐसे गुण थे, जिनका अँगरेज़ आदर करते हैं।

इतिहासकार स्मिथ की राय है कि "हैदरअली का न कोई धर्म था, न कोई नीति और न उसमें दया का कोई भाव था।"[2] इसके प्रतिकूल उसके जीवन-चरित के लेखक बावरिंग का कहना है कि "एक पूर्वीय होते हुए भी वह अपने क़ौल का पक्का था। अँगरेज़ों के प्रति उसकी नीति निष्कपट थी। शासन में वह कठोर था, उसके नाम से भय उत्पन्न होता था, इतने पर भी यदि प्रशंसा से नहीं तो आदर के साथ उसका नाम मैसूर में लिया जाता है। उसकी समय समय पर की कठोरताएँ भूल गईं, पर उसकी शक्ति और सफलता को जनता की स्मृति में सदा स्थान प्राप्त रहेगा।"[3]

मँगलोर की सन्धि—कहा जाता है कि मरने पर हैदरअली की पगड़ी में एक पर्चा मिला था, जिसमें उसने टीपू को अँगरेज़ों से सन्धि करने की सलाह

१ फ़ुलर्टन, ए व्यू ऑफ़ दि इंग्लिश इंटरेस्ट इन इंडिया, पृ० ७।

२ स्मिथ, पृ० ५४५।

३ बावरिंग, हैदर ऐंड टीपू, (रूलर्स ऑफ इंडिया) पृ० ११३।

दी थी।[1] परन्तु टीपू अपने पिता की इस अन्तिम आज्ञा के विरुद्ध अँगरेज़ों से लड़ता रहा। आयरकूट के मर जाने से टीपू का साहस बढ़ गया और उसने कई एक स्थान अँगरेज़ों से छीन लिये। मदरास के गवर्नर ने घबरा कर जल्दी में सन्धि का प्रस्ताव कर दिया। यूरोप में सन्धि हो जाने पर फ्रांसीसियों ने टीपू का साथ छोड़ दिया। मराठों और अँगरेज़ों में भी सालबाई की सन्धि हो गई। ऐसी दशा में टीपू ने भी सन्धि के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना उचित समझा। मार्च सन् १७८४ में मँगलौर नगर में सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इसके अनुसार दोनों के जीते हुए देश लौटा दिये गये और क़ैदी छोड़ दिये गये। इस अवसर पर टीपू के यहाँ से २६८० गोरे तथा हिन्दुस्तानी क़ैदियों को छुटकारा मिला। कुछ गोरे उसके हाथ में रह गये जिनकी उसने ख़ूब ख़बर ली।

हेस्टिंग्ज़ को जब इस सन्धि का समाचार मिला तब उसके क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। उसका कहना था कि मदरास का गवर्नर कर्नाटक को भी हाथ से खो बैठेगा। इँग्लेंड-सरकार सन्धि के पक्ष में थी, इसलिए अपनी इच्छा के विरुद्ध हेस्टिंग्ज़ को यह "निन्दनीय तथा अपमानजनक" सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। इस सन्धि में पेशवा और सिन्धिया की सहायता का कोई उल्लेख नहीं किया गया था, जिसके कारण वे बहुत चिढ़ गये। उन दोनों को एक पत्र लिखकर हेस्टिंग्ज़ ने जैसे तैसे शान्त किया।

हेस्टिंग्ज़ के अन्य सुधार—युद्ध में बराबर लगे रहने पर भी हेस्टिंग्ज़ का ध्यान सब ओर रहता था। सन् १७७७ में पांच सालवाला मालगुज़ारी का बन्दोबस्त समाप्त हुआ। अगले बन्दोबस्त के विषय में हेस्टिंग्ज़ और फ्रांसिस में बहुत वाद-विवाद हुआ। फ्रांसिस इस्तमरारी बन्दोबस्त के पक्ष में था। अन्त में सालाना बन्दोबस्त फिर जारी किया गया, परन्तु भूमि नीलाम करने की प्रथा उठा दी गई और यथासम्भव मौरूसी ज़मीन्दारों की ज़मीन उन्हीं के हाथ में ही देना निश्चित किया गया। कम्पनी के कर्मचारियों

[1] फारेस्ट, सेलक्शंस, जि० १, पृ० ०८३।

को भूमि लेने से मना कर दिया गया। प्रान्तीय बोर्डों की जगह कलकत्ता में एक बोर्ड बना दिया गया। कलेक्टरों के हाथ में माल और न्याय दोनों विभाग रहने से कभी कभी प्रजा पर बड़ा अत्याचार होता था, इसलिए इन दोनों विभागों को अलग करने का भी प्रयत्न किया गया और न्याय के लिए नई अदालतें खोली गईं। सन् १७८१ में फ़ौजदारी अदालतों में भी कुछ सुधार किये गये। दीवानी अदालतों के अँगरेज़ जजों को दारोग़ा के पास अपराधियों के चालान करने के अधिकार दिये गये और अंग-भंग के कई कठोर दंड उठा दिये गये। सुप्रीम कोर्ट की अधिकार-सीमाएँ कलकत्ता भर में ही परिमित कर दी गईं।

हेस्टिंग्ज़ को पूर्वीय साहित्य से बड़ा प्रेम था। उसको अरबी तथा फ़ारसी का ज्ञान था और वह हिन्दुस्तानी अच्छी तरह बोल सकता था। सन् १७८१ में उसने 'कलकत्ता मदरसा' खोला, जो आजकल एक बड़ा मुसलमानी कालेज है। बंगाल की सुप्रसिद्ध 'एशियाटिक सोसायटी' के स्थापित करने में उसने सर विलियम जोन्स की बड़ी सहायता की। जोन्स ने संस्कृत के कई एक ग्रन्थों का अँगरेज़ी में अनुवाद किया। इस सोसायटी से पूर्वीय साहित्य का बड़ा उपकार हो रहा है। हेस्टिंग्ज़ ने कई एक संस्कृत पंडितों को कलकत्ते में बसाया था और वह उनकी बराबर सहायता करता था। सन् १७८१ में उसने मेजर रेनल के द्वारा बंगाल का पहला 'अटलस' तैयार करवाया। रेनल सन् १७६४ से ही बंगाल में पैमायश का काम करता था। उसका

सर विलियम जोन्स

भौगोलिक ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ था कि 'वह भारतीय भूगोल का जन्म-दाता' माना गया है।

पिट का इंडिया ऐक्ट—फ्रांसिस जब से इँग्लैंड वापस गया था, तभी से हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध मंत्रियों के कान भर रहा था। सन् १७८० से पार्लामेंट में भारतवर्ष का प्रश्न फिर छिड़ गया। इसी साल बंगाल के शासन और कर्नाटक-युद्ध के कारणों की जाँच करने के लिए दो कमेटियाँ नियुक्त की गईं। इन कमेटियों के रिपोर्ट करने पर कामंस सभा ने बम्बई के गवर्नर और हेस्टिंग्ज़ को वापस बुलाने का निश्चय किया। परन्तु कम्पनी के संचालकों ने इसको न माना। इस पर फ़ाक्स ने एक बिल पेश किया, जिसके अनुसार वह कम्पनी के सब राजनैतिक अधिकार इँग्लैंड-सरकार के हाथ में देना चाहता था। कई कारणों से यह बिल पास न हो सका। सन् १७८४ में पिट ने एक नया क़ानून पास करवाया, जिसके अनुसार ६ सदस्यों की एक 'निरीक्षण समिति' बनाई गई, जो 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। भारतवर्ष में कम्पनी के शासन की सब देख-भाल इस बोर्ड को सौंप दी गई। आगे चलकर बोर्ड नाम मात्र को रह गया और कुल अधिकार इसके सभापति के हाथ में चले गये। बोर्ड की आज्ञाओं को भारतवर्ष भेजने और वहां के सब काग़ज़ात बोर्ड के सामने पेश करने के लिए कम्पनी के तीन संचालकों की एक 'गुप्त कमेटी' भी बनाई गई। अन्य संचालकों का अब राजनैतिक मामलों से कोई सम्बन्ध न रह गया, परन्तु कम्पनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने और निकालने का अधिकार 'कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स' के हाथ में ही छोड़ दिया गया। 'कोर्ट ऑफ़ प्रोप्राइटर्स' के अधिकार कम कर दिये गये और बोर्ड की कार्यवाही से उसका कोई सम्बन्ध न रह गया। भारतवर्ष में राज्य की वृद्धि के लिए युद्ध करना "राष्ट्र की नीति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा के विरुद्ध" बतलाया गया और संचालकों की बिना अनुमति के अपनी या अपने अधीन राज्यों की रक्षा के अतिरिक्त किसी प्रकार के युद्ध या सन्धि करने के लिए गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को स्पष्ट रूप से मना कर दिया गया। भारतवर्ष में गवर्नर-जनरल की

कौंसिल के मेम्बरों की संख्या चार से तीन कर दी गई, और मदरास तथा बम्बई प्रान्त, युद्ध, मालगुज़ारी तथा राजनीति के विषय में उसके पूर्ण रूप से, अधीन बना दिये गये। इस तरह भारतवर्ष में कम्पनी के नाम से इँग्लेंड-सरकार का शासन प्रारम्भ हुआ।

हेस्टिंग्ज़ का इस्तीफ़ा—इस क़ानून से हेस्टिंग्ज़ को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि उसकी नीति का अब इँग्लेंड-सरकार समर्थन नहीं कर सकती। उसकी राय थी कि "पचासों बर्क, फ़ाक्स और फ्रांसिस" इससे ख़राब क़ानून नहीं बना सकते थे। इँग्लेंड-सरकार की निगाह फिरी हुई देखकर, उसके अधीन अफ़सर भी उसकी पर्वाह न करते थे। मदरास के गवर्नर ने उसकी इच्छा के प्रतिकूल मँगलोर की "अपमानजनक" सन्धि कर ली थी। इन सब बातों से दुखी होकर उसने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया और फ़रवरी सन् १७८५ में वह भारतवर्ष से वापस चला गया।

पार्लामेंट का अभियोग—इँग्लेंड पहुँचने पर भी उसको शान्ति न मिली। सन् १७८६ में बर्क के प्रस्ताव पर उसके शासन की जांच फिर से प्रारम्भ की गई। पार्लामेंट की कामंस सभा ने रुहेला और मराठा युद्ध के सम्बन्ध में उसको निर्दोष पाया, पर चेतसिंह और अवध की बेगमों के प्रति उसके व्यवहार की बड़ी तीव्र आलोचना की। इस पर सन् १७८८ में पार्लामेंट की लार्ड्स सभा में उस पर अभियोग चलाया गया। इस अभियोग में नवाब वज़ीर के साथ सन्धि तोड़ने, उसके शासन में हस्तक्षेप करने, उसकी सेना को बढ़ा देने, बेगमों और चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा कई मामलों में घूस खाने के बीस अपराध लगाये गये। इसमें फ्रांसिस की सहायता से—बर्क, फ़ाक्स और शेरिडन—इँग्लेंड के तीन सुप्रसिद्ध वक्ताओं ने बड़े ज़ोरों से बहस की। हेस्टिंग्ज़ ने बड़े साहस और धैर्य के साथ अपनी नीति का समर्थन किया। यह अभियोग सात वर्ष तक चलता रहा। इतने दिनों में बहुत से परिवर्तन हो गये और अन्त में हेस्टिंग्ज़ निर्दोष प्रमाणित होकर छोड़ दिया गया।

निर्बल बना दिया। मैसूर-युद्ध के समय पर निज़ाम, हैदरअली तथा मराठों के प्रबल गुट्ट को उसने तोड़ डाला। जिन दिनों वह भारतवर्ष में था, अमरीका में अँगरेज़ों की बराबर हार हो रही थी। उसने इसका प्रभाव भारतवर्ष पर न पड़ने दिया। उसके समय में भारतवर्ष की अधिक भूमि कम्पनी के हाथ नहीं लगी, यह ठीक है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि कम्पनी की शक्ति को उसने ऐसा बना दिया कि जिससे सभी डरने लगे।

अपनी पर-राष्ट्र नीति के समर्थन में, पार्लामेंट के प्रति उसका कहना था कि कम्पनी के राज्य की स्थापना दूसरों की वीरता से हुई, "मैंने उसकी वृद्धि की और उसको एक निश्चित स्वरूप दिया। मैंने उसकी रक्षा की और थोड़े खर्चे में उसकी सेनाओं को शत्रुओं के अज्ञात देश में भेजकर आपके अन्य अधिकृत स्थानों की सहायता की। एक (बम्बई) को मैंने अप्रतिष्ठा और अपमान से बचाया और दूसरे (मदरास) की नष्ट तथा पराधीन हो जाने से रक्षा की। मैंने उन लड़ाइयों को जारी रखा, जिनको मैंने नहीं, पर आप या दूसरों ने छेड़ा था। मैंने प्रबल भारतीय गुट्ट के एक सदस्य (निज़ाम) को (गंटूर) वापस करके फोड़ लिया, दूसरे (भोंसला) के साथ गुप्त सम्बन्ध जारी रखकर उसको मित्र बना लिया, तीसरे (सिन्धिया) का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करके उसको सन्धि का साधन बना लिया। जब आप सन्धि के लिए चिल्ला रहे थे और वे लोग, जिनसे सन्धि करनी थी, सुन रहे थे, मैंने अपनी मांगों को बढ़ाकर अपने विरुद्ध जानेवाली बातों को रोका और ऐसी सन्धि की, जो मुझे आशा है, एक (मराठों के) राज्य के साथ स्थायी होगी। साथ ही साथ मैंने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये, जिनके द्वारा दूसरे (टीपू) के साथ, यदि इतनी स्थायी नहीं हो तो कम से कम समयोचित, सन्धि करना सम्भव हो गया।"

"मैंने आपको सब कुछ दिया, परन्तु आपने उसके इनाम में मेरा धन छीन लिया, मेरा अपमान किया और मुझ पर अभियोग चलाया।"[१]

---

१ फारेस्ट, सेलेक्शंस फ्रॉम दि स्टेट पेपर्स, जि० १, पृ० २९०।

इस समर्थन की भाषा वैसी ही है, जैसी भाषा में उस पर अभियोग चलाया गया था। वह लिखता है कि देश को उस समय शान्ति की आवश्यकता थी, मैं स्वयं शान्ति चाहता था, परन्तु अपमान के साथ नहीं। मुझे बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ राज्य की रक्षा के लिए लड़नी पड़ी।[1] यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मराठों या रुहेलों ने कम्पनी के राज्य पर कभी आक्रमण नहीं किया था। उपायों के उचित या अनुचित होने की बात छोड़कर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने भारतवर्ष में अँगरेज़ी शक्ति को बड़ी प्रबल बना दिया।

उसका शासन और चरि—हेस्टिंग्ज़ के समय में जिस ढंग से शासन किया जा रहा था, उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। ज़मीन को नीलाम करने और थोड़े काल के लिए ठेके पर उठाने का फल यह हुआ कि प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार होने लगे। ज़मीन्दार और सरकारी कर्मचारियों को अपने मतलब के सिवा और किसी का ध्यान न रहा। सन् १७८८ के एक पत्र में कोलब्रुक लिखता है कि हेस्टिंग्ज़ ने देश को कलेक्टर और जजों से भर दिया, जिनका एक मात्र उद्देश्य रुपया कमाना था। जहाँ ये पहुँच गये वहीं इन्होंने जनता को लूट लिया। न्याय की तो बिक्री होती थी। जो सब से अधिक धन देता था जज उसी की सुनते थे।[2] इनको रोकना तो दूर रहा, राबर्ट्स का कहना है कि मनुष्यों को अपने पक्ष में लाने के लिए कभी कभी स्वयं हेस्टिंग्ज़ खुले तौर पर ऐसे उपायों का प्रयोग करता था, जो बाद की नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहे जा सकते।[3] सर जान मालकम लिखता है कि उसके शासन-काल में घूस खूब चलती थी।[4] यह बात ठीक है कि इन दिनों ऐसे अत्याचारों का

---

१ हेस्टिंग्ज़, मेम्वायर्स रिलेटिव टु दि स्टेट ऑफ़ इंडिया, सन् १७८६।

२ वामनदास बसु, राइज़ ऑफ़ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया, जि० २, पृ० १५।

३ राबर्ट्स, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृ० २२३।

४ मालकम, स्केच ऑफ़ दि पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृ० ४०।

रोकना सहज न था। शासन-व्यवस्था को सुधारने का हेस्टिंग्ज़ ने प्रयत्न अवश्य किया था।

ख़र्च करने में उसका हाथ खूब खुला हुआ था, इसी लिए उसे रुपये की हर समय आवश्यकता रहती थी। क़ानूनी सबूत न होने के कारण घूसखोरी के सम्बन्ध में लार्ड मैकाले भी उसे निर्दोष पाता है। पर मुन्नी बेगम, चेतसिंह तथा आसफुद्दौला से उसे जो रक़में मिलीं थीं, उन्हें उचित नहीं कहा जा सकता। यह बात ठीक है कि चेतसिंह तथा नवाब की रक़में उसकी जेब में नहीं गईं, पर इससे वह निर्दोष नहीं माना जा सकता। चेतसिंह का रुपया अपने नाम से कम्पनी को देना 'सेलेक्ट कमेटी' की राय में एक प्रकार का धोखा था। नवाब की रक़मवाले कुल मामले को लायल ने "हर तरह से दूरदर्शितारहित" बतलाया है।

हेस्टिंग्ज़ की नीति तथा उसके कार्य्यों की बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। केवल मिल ने ही नहीं बल्कि मार्शमैन, थार्नटन, बेवरिज तथा अन्य इतिहासकारों ने भी उसके कई एक कार्य्यों की निन्दा की है। बेवरिज का कहना है कि वह बड़ा घमंडी था और प्रायः चालबाज़ी से काम लेता था।[1] हेस्टिंग्ज़ के समर्थन में सबसे अधिक ज़ोर इस बात पर दिया जाता है कि उसे बड़ी कठिन परिस्थिति में काम करना पड़ा था। मिल ने भी इसको माना है। परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत सी कठिनाइयां स्वयं उसकी पैदा की हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि वह बड़ा नीतिनिपुण था। उसका दिमाग़ बड़ा तेज़ था। अवसर पड़ने पर उसको बड़ी दूर की सूझती थी। धैर्य्य और साहस की उसमें कमी न थी। विपत्ति-काल में वह कभी घबड़ाता न था। कौंसिल के विरोध और इँगलैंड-सरकार की घुड़कियों की उसने पर्वाह न की। अभियोग के समय पर उसको छेड़ने और उत्तेजित करने के लिए कोई बात उठा न रखी गई, पर वह बराबर गम्भीर तथा शान्त रहा।

[1] बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० २, पृ० ६५१—५४।

उसके शासन में दोष थे, उसके उपाय निन्दनीय थे, उसके सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से उच्च न थे, इन सब बातों को मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि वह बड़ा प्रतिभाशाली मनुष्य था। पग पग पर बाधाएँ होते हुए भी उसने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की नींव को ऐसा दृढ़ बना दिया कि जिस पर आगे चलकर साम्राज्य का निर्माण हो सका।

सर जान मैकफ़र्सन—हेस्टिंग्ज़ के जाने पर कौंसिल के बड़े मेम्बर मैकफ़र्सन को चार्ज मिला। यह पहले मदरास में काम करता था, पर वहाँ से निकाल दिया गया था। अर्काट के नवाब ने इसको अपना गुप्त दूत बनाकर इँग्लेंड-सरकार के पास भेजा था। बाद में कम्पनी के संचालकों ने इसको कलकत्ता की कौंसिल का मेम्बर बना दिया था। सेना का ५० लाख रुपया बाक़ी था, उसको इसने चुका दिया और ख़र्चा कम करने के लिए बहुतों का वेतन घटा दिया। नवाब वज़ीर की भी यह कुछ सहायता करना चाहता था, पर हेस्टिंग्ज़ के विचारों का ध्यान रखते हुए, उसने उसकी नीति में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। इसी समय मुग़ल सम्राट् के नाम से माहादजी सिन्धिया ने अँगरेज़ों से कर माँगा, पर मैकफ़र्सन ने साफ़ जवाब दे दिया। लार्ड कार्नवालिस का कहना है कि मैकफ़र्सन कमज़ोर तथा झूठा था और उसके ज़माने में घूस ले लेकर कर्मचारी रखे जाते थे। वह २० महीने तक गवर्नर-जनरल के पद पर रहा।

परिच्छेद ६

हस्तक्षेप न करने की नीति

कार्नवालिस की नियुक्ति—पिट के इंडिया ऐक्ट की नीति को काम में लाने के लिए कार्नवालिस गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। वह एक उच्च श्रेणी का रईस था। अमरीका के स्वतंत्रता-युद्ध में हारकर इँग्लैंड वापस आया था। पहले दो बार वह गवर्नर-जनरल के पद को अस्वीकार कर चुका था। इँग्लैंड से चलने के पूर्व उसने 'रेग्यूलेटिंग ऐक्ट' के एक बड़े दोष को दूर करवा लिया। उस ऐक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल कौंसिल के सर्वथा अधीन था, जिससे शासन में बड़ी अड़चनें पड़ती थीं, जैसा कि हेस्टिंग्ज़ के सम्बन्ध में दिखलाया जा चुका है। अब आवश्यकता पड़ने पर कौंसिल के विरुद्ध भी काम करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को दे दिया गया। सन् १७८६ में कार्नवालिस भारतवर्ष पहुँचा।

कार्नवालिस

नौकरियों का सुधार—भारतवर्ष पहुँचने पर कार्नवालिस ने देखा कि कम्पनी के कर्मचारियों में घूस खाने का बाज़ार गरम है। बनारस के रेज़ीडेंट का मासिक वेतन तो एक हज़ार रुपया था, पर उसकी सालाना आमदनी चालीस हज़ार रुपये से भी अधिक थी। कहने के लिए तो कम्पनी के कर्मचारियों का निजी व्यापार बन्द हो गया था, पर शायद ही कोई ऐसा कलेक्टर रहा होगा, जो अपने किसी मित्र या रिश्तेदार के नाम से व्यापार न करता हो। इस व्यापार में वे लोग, जज और शासक की हैसियत से, तरह तरह के दबाव डालकर अनुचित लाभ उठाते थे। संचालक भी इस ओर अधिक ध्यान न देते थे। कर्मचारियों की सम्पत्ति से वे स्वयं लाभ उठाते थे। कार्नवालिस लिखता है कि इसका रोकना तो दूर रहा, वे लूट में अपने मित्रों को हिस्सा दिलाने के लिए लड़ा करते थे। इन दिनों कर्मचारियों का वेतन बहुत कम था, पेंशन मिलने की प्रथा न थी, इसलिए जब तक वे भारत में रहते थे, उनको धन बटोरने की ही चिन्ता रहती थी। इस दोष को दूर करने के लिए कार्नवालिस ने कलेक्टरों तथा बड़े बड़े अफ़सरों का वेतन बढ़ा देना ही उचित उपाय समझा। बहुत लिखा-पढ़ी के बाद संचालकों ने उसकी राय को स्वीकार करके वेतन बढ़ाने की आज्ञा दे दी। नौकरी के सम्बन्ध में वह सिफ़ारिशों का बड़ा विरोधी था। इस मामले में वह इँग्लेंड के राजकुमार तक की न सुनता था।

अदालतों का प्रबन्ध—कलेक्टर के हाथ में न्याय, शासन तथा माल तीनों विभागों के रहने के कारण अधिकारों का बड़ा दुरुपयोग होता था। माल और शासन के मामलों में कलेक्टर ही अपराधी होता था और वही न्याय करता था। ऐसी दशा में प्रजा के साथ क्या न्याय हो सकता था ? इस दोष को दूर करने के लिए उसने इन विभागों को अलग अलग कर दिया। कलेक्टर के हाथ में केवल माल का महकमा रह गया, न्याय से उसका कोई सम्बन्ध न रहा। दीवानी विभाग में छोटे छोटे मामलों को तय करने के लिए सदर अमीन और मुंसिफ़ों की अदालतें खोली गईं। उनकी अपील के लिए ज़िला जज की अदालत रखी गई। यह जज अँगरेज़ होता था, जो 'असेसरों' की सहा-

यता से निर्णय करता था। इसकी अपील के लिए कलकत्ता, पटना, ढाका और मुर्शिदाबाद में चार प्रान्तीय अदालतें स्थापित की गईं। इनके अँगरेज़ जजों के साथ भी हिन्दुस्तानी 'असेसर' रखे जाते थे। इन प्रान्तीय अदालतों की अन्तिम अपील कलकत्ता की 'सदर दीवानी अदालत' में होती थी, जिसमें गवर्नर-जनरल और कौंसिल के मेम्बर बैठते थे।

फ़ौजदारी का काम भी इन्हीं दीवानी अदालतों को सौंपा गया। नायब नाज़िम को फ़ौजदारी के मुक़दमे करने का अधिकार नहीं रहा। अँगरेज़ जज दौरा करके ये मुक़दमे सुनते थे। इनकी अपील 'सदर निज़ामत अदालत' में होती थी। मुसलमानी क़ानून से इन दिनों भी काम होता था, पर उसके कई एक कठोर दंड हटा दिये गये थे। कार्नवालिस ने अदालतों की सहायता के लिए नियमों का एक संग्रह भी तैयार करवाया था, जो 'कार्नवालिस कोड' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेस्टिंग्ज़ ने पुलिस का काम फ़ौजदारों और थानेदारों के हाथ में छोड़ रखा था, परन्तु शान्ति स्थापित रखने का भार अधिकतर ज़मीन्दारों के ही मत्थे था। कार्नवालिस ने इस काम को भी कम्पनी के अधीन कर लिया। इसके लिए कई एक थाने खोल दिये गये, जिनमें हिन्दुस्तानी दारोग़ा रख दिये गये। इन लोगों का वेतन २० या २५ रुपया मासिक से अधिक न होता था। इस वेतन के अतिरिक्त किसी चोर या डाकू के पकड़ने पर दस रुपया इनाम और चोरी का माल पकड़ने पर कुछ कमीशन मिलता था। तीन चार सौ मील में कहीं एक थाना होता था, जिसमें १५ या २० सिपाही रहते थे। इनके लिए इतने बड़े हलके में पूरी देख-भाल करना असम्भव था। वेतन कम होने के कारण और इनाम के लालच में पड़कर दारोग़ा बदमाशों की अपेक्षा भले आदमियों को ही अधिक तंग करता था।

भारतवर्ष के लिए कार्नवालिस की न्याय-व्यवस्था बड़ी जटिल थी। साधारण प्रजा को प्राचीन पंचायत या देशी अदालतों का ही ढंग सीधा और सुगम जान पड़ता था। उसमें विशेष ख़र्चा न था, वादी प्रतिवादी स्वयं अपनी बात न्यायाधीश को सहज में समझा सकते थे। परन्तु इन अदालतों के पेचीदा

क़ानून-क़ायदों का प्रजा को ज्ञान न था, दूसरी ओर अँगरेज़ जजों को भारतीय रीति-रिवाजों का पता न था। इसलिए बिना वकील के काम चलाना असम्भव हो गया। वकीलों के मेहनताने के अतिरिक्त अदालतों में बहुत सी नई फ़ीसें पड़ने लगीं, जिनसे मुक़द्दमों का ख़र्चा बढ़ गया और न्याय में भी अधिक समय लगने लगा। इन दोषों से कार्नवालिस अनभिज्ञ न था। कम्पनी का ख़र्चा और समय बचाने के लिए उसने दूसरे ही क़ायदे बना दिये थे, जिनके अनुसार बिना किसी प्रकार के झगड़ों में पड़े हुए कम्पनी का काम सहज में निकल जाता था। इस पर इतिहासकार मिल ठीक पूछता है कि किस सिद्धान्त के अनुसार सुलभ और सुगम न्याय सरकार के लिए उचित, पर प्रजा के लिए अनुचित, समझा गया ?

क्लाइव और हेस्टिंग्ज़ के समय में हिन्दुस्तानी बड़े बड़े पदों पर काम करते थे, पर कार्नवालिस इसके पक्ष में न था। उसका मत था कि "प्रत्येक हिन्दुस्तानी घूस खाता है।"[१] वह लिखता है कि "मेरी समझ में जितने सुधार (फ़ौजदारी विभाग में) किये गये हैं, वे सब व्यर्थ हो जायँगे, यदि उनका काम में लाना किसी हिन्दुस्तानी के हाथ में रहेगा।" क्या केवल हिन्दुस्तानी ही घूस खाते थे? बनारस और लखनऊ के रेज़ीडेंट तो अँगरेज़ थे, पर उनकी क्या दशा थी? यह दोष दूर करने के लिए अँगरेज़ों के वेतन बढ़ा दिये गये, पर हिन्दुस्तानियों के लिए यह क्यों उचित न समझा गया ? मार्शमैन ने इसको कार्नवालिस की "बड़ी भारी भूल" बतलाया है। उसका कहना है कि इससे हिन्दुस्तानियों के लिए बड़े बड़े ओहदों का दर्वाज़ा बन्द हो गया। इस भूल का प्रभाव अब तक चल रहा है।

बंगाल के ज़मीन्दार—मुग़लों के शासनकाल में किसान अपनी पैदावार का नियत भाग राज्य को लगान के रूप में देता था। यह लगान प्रायः गाँव के मुखिया या आमिलों द्वारा वसूल किया जाता था। इस तरह राजा और रैयत में सीधा सम्बन्ध था। लगान वसूल करने के लिए देश में अधिकतर इसी

१ कार्नवालिस, करस्पांडेंस, सं० रॉस, जि० १, पृ० २८२।

प्रबन्ध से काम लिया जाता था। बड़ी बड़ी जागीरों में किसानों से जागीरदार लगान वसूल करते थे और एक नियत रक़म मालगुज़ारी के रूप में राज्य को देते थे। कहीं कहीं लगान वसूल करने का ठेका भी दिया जाता था। ठेकेदारों को आमदनी पर एक नियत कमीशन मिलता था और उन्हें बाक़ी का हिसाब राज्य को देना पड़ता था। मुग़ल शासन-व्यवस्था बिगड़ने पर ठेकेदारी की ही प्रथा अधिक चल पड़ी। बहुत से ठेकेदार मौरूसी हो गये और वे भी ज़मीन्दार कहलाने लगे। ये लोग भी जागीरदारों की तरह राज्य को एक बँधी रक़म देने लगे। इन दिनों 'ज़मीन्दार' शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ न था। जागीरदार और राजा, मौरूसी मुखिया, आमिल और नये तथा पुराने ठेकेदार सभी ज़मीन्दार कहलाते थे।

अँगरेज़ों को दीवानी मिलने पर सालाना बन्दोबस्त होने लगा और ठेके नीलाम होने लगे। जो सबसे अधिक देता था, उसी को ठेका मिलता था। रैयत से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं, इसका कोई विचार न होता था। कभी कभी अँगरेज़ भी ठेका ले लेते थे और ज़मीन्दार कहलाने लगते थे। ठेकेदारों को केवल धन बटोरने की चिन्ता रहती थी, प्रजा की ओर उनका कभी ध्यान भी न जाता था। उनके गुमाश्तों तथा कारिन्दों के अत्याचार से प्रजा पीड़ित हो रही थी और आमदनी बराबर घट रही थी।

इस्तमरारी बन्दोबस्त—कार्नवालिस जब भारतवर्ष आया तब उसने देखा कि मालगुज़ारी की बड़ी भारी रक़म बाक़ी पड़ी हुई है। हेस्टिंग्ज़ के समय में, नीलाम की बड़ी बड़ी बोलियाँ बोलकर, बहुतों ने ठेके अपने नाम ले लिये थे, पर वे उतना रुपया देने में असमर्थ थे। उनके कारिन्दे प्रजा के साथ बड़ा कठोर बर्ताव करते थे। खेती की बुरी दशा हो रही थी। इसकी जांच करने के लिए उसने जान शोर को, जो एक योग्य और अनुभवी सिविलियन था, नियुक्त किया। जान शोर ने बड़े परिश्रम से जाँच-पड़ताल करके दस वर्ष के लिए बन्दोबस्त करने की सलाह दी, परन्तु कार्नवालिस उससे सहमत न हुआ। वह मालगुज़ारी की एक रक़म सदा के लिए निश्चित कर देना चाहता था। उसका कहना था कि मालगुज़ारी बढ़ जाने के भय से

ज़मीन्दार खेती की उन्नति का ध्यान नहीं रखते हैं। कम्पनी की एक तिहाई भूमि पर जंगल खड़े हैं। ज़मीन्दारों को यदि यह विश्वास हो जायगा कि मालगुज़ारी नहीं बढ़ेगी, तो वे जंगलों को कटवाकर उस भूमि पर खेती करवाने लगेंगे। दस वर्ष के बन्दोबस्त से उनकी पूरी दिलजमई न होगी। इसके अतिरिक्त सरकार को बार बार बन्दोबस्त का झंझट न करना पड़ेगा और उसकी आमदनी सदा के लिए निश्चित हो जायगी। अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए ज़मीन्दार खेती की उन्नति करेंगे और प्रजा के सुख का ध्यान रखेंगे। इँग्लेंड-सरकार ने कार्नवालिस की राय को मान लिया और सन् १७९३ से बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में इस्तमरारी बन्दोबस्त करने की आज्ञा दे दी। दो वर्ष बाद बनारस के इलाक़े में भी यही बन्दोबस्त कर दिया गया। यह प्रबन्ध ज़मीन्दारों के साथ किया गया था, इसलिए इसको 'ज़मीन्दारी बन्दोबस्त' भी कहते हैं।

सरकार की हानि—इस्तमरारी बन्दोबस्त से सरकार की बड़ी हानि हुई। कुछ दिनों में बंगाल की दशा सुधर गई, खेती भी अधिक होने लगी, पर सरकार का उससे कोई लाभ नहीं हुआ। उसको अब तक वही बँधी हुई रक़म मिलती है। इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि इस बन्दोबस्त से सरकार को ३ करोड़ रुपया सालाना का घाटा सहना पड़ता है, जिसको भारतवर्ष के अन्य प्रान्त पूरा करते हैं। इस मामले में कार्नवालिस ने बड़ी जल्दी की। यदि जान शोर की सलाह मानकर दस साल तक इतना स्थायी प्रबन्ध न किया जाता, तो उतने समय में खेती की ठीक ठीक दशा का पता लग जाता और ज़मीन्दारों की पूरी आमदनी मालूम हो जाती, जिससे सरकार को इतना बड़ा घाटा न सहना पड़ता। इस बन्दोबस्त से मालगुज़ारी में उसे एक पैसा भी बढ़ाने का अधिकार नहीं रहा।

ज़मीन्दारों का लाभ—इस बन्दोबस्त से सबसे अधिक लाभ ज़मीन्दारों का हुआ। वे अब ज़मीन के मालिक हो गये। जिस तख़मीना पर मालगुज़ारी बांधी गई थी, उससे कई गुनी आमदनी बढ़ गई। यह सब रुपया उन्हीं की जेबों में जाने लगा। परन्तु इस बन्दोबस्त से पहले उनका

भी नुक़सान हुआ। कार्नवालिज़ ने यह नियम बना दिया था कि यदि समय पर मालगुज़ारी वसूल न हो, तो ज़मीन्दारी ज़ब्त करके नीलाम कर दी जाया करे। यह बड़ा कठोर दंड था। मुग़लों के समय में मालगुज़ारी अदा न करने के लिए कभी कभी ज़मीन्दारों को कोड़े तक सहन पड़ते थे, पर उनकी रोज़ी न छीनी जाती थी। कार्नवालिस के इस कठोर नियम से राजशाही, दीनाजपुर और नदिया के प्राचीन राजघराने नष्ट हो गये। ज़मीन के मालिक हो जाने से ज़मीन्दारों को उसके रहन-बय करने का भी अधिकार मिल गया। इससे खर्च में उनका हाथ खुल गया और ज़मीन्दारियां क़ुर्क़ होकर नीलाम होने लगीं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही काल में बंगाल के पुराने रईसों की श्रेणी नष्ट हो गई और उनकी जगह पर ऐसे लोग ज़मीन्दार बन गये, जिनका रैयत से कोई सम्बन्ध न था।

प्रजा पर प्रभाव—इस बन्दोबस्त से कार्नवालिस रैयत की दशा भी सुधारना चाहता था, पर वास्तव में इसका परिणाम उलटा हुआ। शताब्दियों के सम्बन्ध से पुराने ज़मीन्दारों को प्रजा से कुछ स्नेह था, पर नये ज़मीन्दारों में इसका पूरा अभाव था। ये लोग बड़े बड़े शहरों में रहकर आनन्द में पड़ गये और इनके कारिन्दे प्रजा पर मन-माने अत्याचार करने लगे। काश्तकारों को बेदखल करने का अधिकार भी ज़मीन्दारों को दे दिया गया। इस अधिकार का बराबर दुरुपयोग होने लगा। इसका फल यह हुआ कि कितने ही काश्तकारों की ज़मीनें, जो बहुत दिनों से उनके पास थीं, और जिनमें एक प्रकार से उनका मौरूसी हक़ हो गया था, उनके हाथ से निकल गईं। लगान बांधने के समय पर पैदावार का पता क़ानूनगो के कागज़ात से लगता था। अब यह पद भी तोड़ दिया गया और पटवारी ज़मीन्दारों के नौकर होकर उन्हीं का पक्ष करने लगे। ज़मीन्दारों के अत्याचार का बदला लेने के लिए काश्तकार कभी कभी लगान देना बन्द कर देते थे। वे जानते थे कि समय पर मालगुज़ारी न दे सकने से ज़मीन्दारों को अपनी ज़मीन्दारी से हाथ धोना पड़ेगा। इसका फल यह होता था कि दोनों में बराबर झगड़ा हुआ करता था। ज़मी-

न्दार और काश्तकारों में 'पट्टा' और 'कबूलियत' का कोई ठीक प्रबन्ध न होने से काश्तकार की रक्षा का कोई उपाय न रह गया। सन् १८५९ में इनकी रक्षा के लिए एक नया क़ानून बनाना पड़ा। इस्तमरारी बन्दोबस्त का सिद्धान्त अवश्य ठीक है। पर कई बातों का ध्यान न रखने तथा जल्दी करने के कारण इस बन्दोबस्त में बहुत से दोष रह गये।

व्यापार की अवनति—कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार से पीड़ित होकर जुलाहे अपना काम छोड़ रहे थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इस समय कपड़े के व्यापार को एक और धक्का लगा। हिन्दुस्तानी कपड़े का व्यवहार इँग्लेंड में अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही बन्द कर दिया गया था, पर कम्पनी के द्वारा यह माल इँग्लेंड होकर यूरोप के अन्य देशों में जाता था। इँग्लेंड में तभी से सूती कपड़ा बनाने का प्रयत्न हो रहा था। इससे देश का ही काम न चलता था, बल्कि यह कपड़ा बाहर भी भेजा जाता था। सन् १७६४ तक बाहर जानेवाले कपड़े की तादाद अधिक न थी। अन्य देशों में भारतवर्ष का ही बढ़िया माल अधिक खपता था। इधर बीस-पचीस वर्षों में कई एक नई कलों का आविष्कार हो गया, जिनसे सूती कपड़ा बहुत अच्छा बनने लगा। सन् १७८३ में विलायती तंज़ेब का नमूना बंगाल भेजा गया। कम्पनी की आमदनी पूर्वीय व्यापार से होती थी, उसका हित भारतवर्ष में कपड़ा बनाने की कला की रक्षा करने में था, पर तब भी उसका ध्यान इसकी ओर नहीं गया। इसके कई एक कारण थे। वह अँगरेज़ों की संस्था थी, जिनको अपने देश के हित का सदा ध्यान रहता है। पार्लामेंट का उस पर पूर्ण अधिकार था। इँग्लेंड की जनता देश के व्यापार को बढ़ाना चाहती थी, उसके प्रतिकूल जाना कम्पनी की शक्ति के बाहर था। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी माल पर इँग्लेंड में बराबर चुंगी बढ़ती जाती थी, जिसके कारण इसको अन्य देशों में भी भेजने से कोई लाभ नहीं होता था। इन्हीं कारणों से हिन्दुस्तानी कपड़े की उन्नति के बजाय सन् १७८८ में कम्पनी के संचालकों ने मैंचेस्टर के माल को खपाने के लिए लिख भेजा और अँगरेज़ कारीगरों की सहायता करने के लिए बंगाल, सूरत तथा भड़ोंच से रुई भी मँगाना प्रारम्भ कर दिया।

फ़्रांस में भी हिन्दुस्तानी माल बहुत चलता था। भारतवर्ष में फ़्रांसीसियों का व्यापार चौपट ही हो गया था, इसलिए यह माल इँग्लेंड होकर जाता था। फ़्रांस में राजविप्लव होने पर इँग्लेंड से उसका व्यापारिक सम्बन्ध टूट गया और वहां भी हिन्दुस्तानी कपड़ा जाना बन्द हो गया। नेपोलियन के साथ युद्ध छिड़ने पर इँग्लेंड में हिन्दुस्तानी कपड़े की चुंगी २७ पौंड सैकड़े से बढ़ाकर ६७ पौंड कर दी गई। इस तरह कपड़े का रोज़गार बन्द होने लगा और विलायती माल की खपत बढ़ने लगी। सन् १७८६ में लाभदायक न होने तथा अन्य "कई आवश्यक कारणों" से सूत का भी विलायत भेजना बन्द कर दिया गया। इँग्लेंड में सूती कपड़ा इतना बढ़िया बनने लगा कि अँगरेज़ महिलाओं ने रेशमी कपड़ा पहनना छोड़ दिया, जिसका फल यह हुआ कि रेशम और रेशमी कपड़े का व्यापार भी मन्दा पड़ गया।

इस समय तक भारतवर्ष से बाहर माल भेजने और वहां से माल लाने का अधिकार केवल कम्पनी ही को था। सन् १७९३ के नये आज्ञापत्र से पार्लमेंट ने अन्य व्यापारियों को भी थोड़ा बहुत व्यापार करने की आज्ञा दे दी। कलकत्ते में बैंक खुल जाने से अँगरेज़ व्यापारियों को बड़ी सुविधा हो गई। सन् १७८८ में कार्नवालिस ने भारतवर्ष में भी चुंगी उठा दी और चौकियों को तोड़ देने के लिए आज्ञा दे दी। सन् १७८७ में उसने जुलाहों को भी मुक्त कर दिया। दादनी देकर मुचलका लिखाने की प्रथा को बिलकुल उठा दिया और चाहे जिसके हाथ माल बेंचने की आज्ञा दे दी। देश का निजी व्यापार कम्पनी की नीति के कारण पहले ही चौपट हो चुका था, इसलिए इन सुधारों से इस समय कोई विशेष लाभ न हुआ।

मैसूर का तीसरा युद्ध—अँगरेज़ों से सन्धि हो जाने के बाद से टीपू का घमंड बहुत बढ़ गया। वह अपने को 'सुलतान' कहने लगा और मराठों से अकारण ही भिड़ गया। इस पर सन् १७८७ में मराठों ने निज़ाम से मिलकर टीपू को ऐसा दबाया कि उसे कुछ देश और ३० लाख रुपया देकर अपनी रक्षा करनी पड़ी। यद्यपि टीपू और अँगरेज़ों में सन्धि थी, तब भी दोनों एक दूसरे से जलते थे। इधर कार्नवालिस ने एक ऐसा काम किया

कि जिससे टीपू अँगरेज़ों से बहुत चिढ़ गया। सन् १७६८ में निज़ाम के साथ अँगरेज़ों की जो सन्धि हुई थी, उसमें हैदरअली विद्रोही ठहराया गया था और यह कहा गया था कि उससे यदि कर्नाटक बालाघाट मिल जायगा तो वह अँगरेज़ों को दे दिया जायगा; उसके लिए उन्हें सात लाख साल का 'पेशकश' निज़ाम को देना पड़ेगा। निज़ाम के भाई बसालतजंग के मरने पर गंटूर का इलाक़ा भी अँगरेज़ों को दे दिया जायगा और वे निज़ाम की सहायता करने के लिए कुछ सेना और तोपें भेजेंगे। कर्नाटक बालाघाट मैसूर राज्य में था। सन् १७६९ में हैदरअली के साथ और सन् १७८४ में टीपू के साथ, अँगरेज़ों की जो सन्धियाँ हुई थीं, उनमें मान लिया गया था कि इस प्रान्त पर निज़ाम का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त मैसूर राज्य के साथ मित्रता कर ली गई थी। सन् १७८८ में कार्नवालिस ने चुपके से एक सेना भेजकर गंटूर पर फिर अधिकार कर लिया। इस पर निज़ाम सन् १७६८ की सन्धि के अनुसार सैनिक सहायता माँगने लगा और सन्धि की बाक़ी शर्तों को पूरा करने पर ज़ोर देने लगा। कार्नवालिस बड़े चक्कर में पड़ गया। निज़ाम

टीपू

को अपने पक्ष में मिलाये रखने के लिए उसने लिख भेजा कि यदि कर्नाटक बालाघाट कभी अँगरेज़ों के हाथ आ जायगा, तो निज़ाम का ध्यान रखा जायगा। सहायता के लिए एक अँगरेज़ी सेना भी भेजी जायगी, पर यह सेना कम्पनी के किसी मित्र के विरुद्ध काम में न लाई जाय। मित्रों की सूची में मराठा, कर्नाटक और अवध के नवाब वज़ीर तक का नाम लिख दिया गया, पर टीपू का कहीं भी ज़िकर न किया गया।

इस पर टीपू बिगड़ गया। सन् १७८४ में जो क़ानून पार्लामेंट ने पास किया था, उसके अनुसार बिना संचालकों की अनुमति के गवर्नर-जनरल को किसी देशी शक्ति के विरुद्ध सन्धि करने का अधिकार न था। इसको टालने के लिए ही निज़ाम को पत्र लिखने की चाल चलनी पड़ी। डफ़ लिखता है कि इस पत्र की चाल से तो खुले तौर पर टीपू के विरुद्ध सन्धि कर लेना ही अच्छा था। इधर टीपू ने त्रावणकोर पर आक्रमण कर दिया। त्रावणकोर राज्य कम्पनी का मित्र था। उसकी रक्षा के लिए टीपू के साथ लड़ना पिट के इंडिया ऐक्ट के विरुद्ध न था, इसलिए कार्नवालिस को अब खुले तौर पर युद्ध की घोषणा करने का अवसर मिल गया।

कोई क़ानूनी बाधा न रहने पर उसने निज़ाम और पेशवा के साथ टीपू के विरुद्ध सन्धि कर ली। टीपू इस युद्ध के लिए तैयार न था। उसके गुप्त भाव चाहे जो कुछ रहे हों, इस समय तक वह सन् १७८५ की सन्धि के विरुद्ध न गया था। त्रावणकोर के विषय में उसका कहना था कि उस राज्य ने दो स्थानों पर अधिकार कर लिया था। ये स्थान कोचीन के थे, जो मैसूर राज्य के अधीन था। इसके उत्तर में अँगरेज़ों की सलाह से त्रावणकोर राज्य की ओर से कहा जाता था कि ये दोनों स्थान डच लोगों से मोल लिये गये थे। इसके पहले वे पुर्तगालियों के पास थे और उनसे कोचीन का कोई सम्बन्ध न था। टीपू इस प्रश्न को लिखा-पढ़ी करके तय करना चाहता था, पर कार्नवालिस ने लड़ना निश्चित कर लिया था। समझौते का समर्थन करने के लिए मद्रास के गवर्नर हालेंड को कार्नवालिस की कड़ी डाट सुननी पड़ी और पद-त्याग करना पड़ा। उसके स्थान पर मेडोज़ गवर्नर बनाया गया, जिसने

गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। त्रावणकोर का झगड़ा तो केवल एक बहाना था। मराठे तथा निज़ाम को टीपू के विरुद्ध देखकर उसको दबाने का कार्नवालिस यह सबसे अच्छा अवसर समझता था।

जनरल मेडोज़ ने डिंडीगल छीन लिया। बम्बई की ओर से एक दूसरी सेना ने आकर मलाबार पर अधिकार कर लिया, परन्तु रसद की कमी और बरसात होने के कारण कोई गहरी लड़ाई न हुई। दिसम्बर सन् १७९० में स्वयं कार्नवालिस सेनापति बनकर आया और उसने बंगलोर छीन लिया। मराठों की सेना ने धारवार से टीपू की सेना को निकाल भगाया और दूसरी ओर निज़ाम ने एक क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। सन् १७९२ में कार्नवालिस ने श्रीरंगपट्टन का घेरा डाल दिया, तब विवश होकर टीपू को सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा।

श्रीरंगपट्टन की सन्धि—कार्नवालिस भी इस युद्ध को अधिक न बढ़ाना चाहता था। निज़ाम और मराठों पर उसका पूरा विश्वास न था, फ़्रांस से लड़ाई छिड़नेवाली थी, सेना में बीमारी फैली हुई थी और कम्पनी के संचालक सन्धि के लिए उत्सुक थे। बहुत दिनों तक सन्धि की शर्तें तय होती रहीं, अन्त में मार्च सन् १७९२ में सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार टीपू को अपने राज्य का आधा भाग और तीन करोड़ रुपया देना पड़ा। यह रुपया और राज्य अँगरेज़, मराठों तथा निज़ाम ने आपस में बाँट लिया। मराठों को तुंगभद्रा नदी तक का प्रदेश मिल गया। कड़ापा प्रान्त निज़ाम के हाथ आ गया। अँगरेज़ों को मैसूर के पश्चिम में मलाबार और कुर्ग, दक्षिण में डिंडीगल और पूर्व में सेलम ज़िले के कुछ भाग मिल गये। इनके मिल जाने से बम्बई तथा मदरास के अहाते बहुत बढ़ गये और लगभग ४० लाख रुपये सालाना की आमदनी हो गई। इन ज़िलों के निकल जाने से टीपू चारों ओर से घिर गया और पश्चिम में उसके लिए समुद्र का मार्ग बन्द हो गया। तीन करोड़ रुपये के अतिरिक्त अफ़सरों को बाँटने के लिए तीस लाख रुपया टीपू से 'दरबार ख़र्च' के नाम में और मांगा गया। वह उस समय डेढ़ करोड़ से अधिक रुपया न दे सका, बाक़ी के लिए उसको अपने दो बेटे अँगरेज़ों के पास बन्धक रखने पड़े। इस रुपये को उसने ठीक समय पर

अदा कर दिया। इस युद्ध के परिणाम के विषय में कार्नवालिस का लिखना है कि "बिना अपने मित्रों की शक्ति इतनी बढ़ाए हुए कि जिससे किसी प्रकार का भय हो, हमने अपने शत्रु को निर्बल बना दिया"।[१]

कर्नाटक और अवध—कर्नाटक के नवाब पर कम्पनी का बहुत देना हो गया था। दोहरे शासन के कुफल यहाँ भी दिखलाई दे रहे थे। तलवार अँगरेज़ों के हाथ में थी और रुपया वसूल करना नवाब का काम था। अँगरेज़ अफ़सरों को बड़ी बड़ी दावतें और बहुमूल्य भेंटें लेने में किसी प्रकार का संकोच न था। सेना का ख़र्च चलाने के लिए नवाब को बड़ी बड़ी रक़में क़र्ज़ लेनी पड़ती थीं। अँगरेज़ महाजन उससे मन-माना सूद खाते थे। पाल बेनफ़ील्ड नामक एक अँगरेज़ ने तो राज्य की कुल आय को हड़प करने का ही विचार कर लिया था। उसका कम्पनी के संचालकों पर ऐसा प्रभाव था कि वह नवाब के क़र्ज़े की जांच कभी न करने देता था। कार्नवालिस के आने पर सन् १७८७ में नवाब के साथ फिर एक नई सन्धि की गई। उसकी रक्षा और शासन में सहायता करने के लिए अँगरेज़ी सेना बढ़ा दी गई। नवाब ने उसका कुल ख़र्चा देना स्वीकार किया। साथ ही साथ यह भी तय हुआ कि यदि नवाब समय पर रुपया न दे सके, तो मालगुज़ारी कम्पनी की निगरानी में वसूल की जाया करे। समय पर रुपया देना नवाब के लिए असम्भव था। मैसूर से लड़ाई छिड़ने पर सन् १७९० में कार्नवालिस ने कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में ले लिया। मालगुज़ारी वसूल करने के लिए अँगरेज़ अफ़सर रख दिये गये। नवाब को केवल हिसाब देखने का अधिकार रह गया। यह प्रबन्ध सन् १७८७ की सन्धि के विरुद्ध था, परन्तु कार्नवालिस का कहना था कि लड़ाई के समय में कर्नाटक का शासन विषयी नवाब और उसके अयोग्य अफ़सरों के हाथ में छोड़ना न उसी के लिए हितकर था और न कम्पनी ही के लिए। लड़ाई समाप्त होने पर यह तय कर दिया गया कि जब कभी युद्ध छिड़ेगा, कर्नाटक का इसी प्रकार से शासन किया जायगा।[२]

---

१ कार्नवालिस, करस्पांडेंस, जि० २, पृ० १५४।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ९२—१०१।

अवध के नवाब वज़ीर की दशा भी कर्नाटक के नवाब की तरह थी। उस पर भी कम्पनी का बहुत देना हो गया था। उसके राज्य की रक्षा के लिए अँगरेज़ों की एक बड़ी सेना रहती थी। इसके अतिरिक्त मालगुज़ारी वसूल करने में सहायता देने के लिए भी एक सेना रहती थी। अँगरेज़ अफ़सर नवाब से खूब बहुमूल्य भेंटें एेंठते थे। कई एक अँगरेज़, जो कम्पनी के नौकर नहीं थे, पर संचालकों और मंत्रियों के रिश्तेदार या मित्र थे, अवध में नाम मात्र के लिए नवाब की नौकरी कर लेते थे और थोड़े ही दिनों में माला-माल हो जाते थे। कभी कभी अँगरेज़ अफ़सर मालगुज़ारी का ठेका ले लेते थे और प्रजा को मनमाना चूसते थे। 'गोरखपुर के अत्याचारी' हैने का नाम प्रसिद्ध है। कम्पनी का इस ओर कोई ध्यान न था और इन अँगरेज़ों को अवध से बाहर निकालना नवाब की शक्ति के बाहर था। नवाब की राज-नैतिक निर्बलता के कारण उसकी आर्थिक दशा न सुधर पाती थी और दिन प्रतिदिन अँगरेज़ों पर उसकी निर्भरता बढ़ती जाती थी। सन् १७८४ में हेस्टिंग्ज़ के वचन देने पर भी फ़तहगढ़ से अँगरेज़ी सेना नहीं हटाई गई। कार्नवालिस के आने पर नवाब ने अपने विश्वासपात्र और योग्य सचिव हैदर-बेगखां को कलकत्ता भेजा, पर वहां से भी जवाब मिला कि नवाब तथा कम्पनी की रक्षा के लिए अवध में अँगरेज़ी सेना का रहना नितान्त आवश्यक है। हैदरबेगखां के बहुत कुछ कहने सुनने पर कार्नवालिस ने यह स्वीकार किया कि नवाब को ५० लाख रुपया साल से अधिक न देना पड़ेगा। रेज़ी-डेंट को शासन में अधिक हस्तक्षेप न करने के लिए लिख दिया गया और बिना गवर्नर-जनरल की अनुमति के किसी अँगरेज़ को अवध में रहने का अधिकार न रहा। दूसरे साल एक व्यापारिक सन्धि की गई, जिसके अनुसार कम्पनी को अवध में कोठियां खोलने का अधिकार भी मिल गया। इलाहाबाद की सन्धि के समय से यह प्रश्न टल रहा था, पर इस समय नवाब को विवश हो-कर अँगरेज़ों की बात माननी पड़ी।

कार्नवालिस की वापसी—सन् १७९३ में कार्नवालिस इँगलेंड वापस चला गया। उसके जाने के पहले, इँगलेंड और फ़्रांस में लड़ाई छिड़

जाने के कारण, पांडुचेरी पर फिर अधिकार कर लिया गया। कार्नवालिस एक उच्च श्रेणी का रईस था। रुपये-पैसे के मामले में वह बड़ा ईमानदार था। टीपू से जो ३० लाख रुपया 'दरबार ख़र्च' के लिए मिला था, उसमें कार्नवालिस ने कोई हिस्सा नहीं लगाया था। उसकी इस ईमानदारी को मराठे तक मानते थे। तीन करोड़ हरजाने के रुपये का बटवारा और हिसाब-किताब उन्होंने कार्नवालिस के हाथ में ही छोड़ दिया था। वह सीधे स्वभाव का मनुष्य था और बहुत तड़क-भड़क तथा शान को पसन्द न करता था। उसकी योग्यता के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके सुधारों का सूत्रपात हेस्टिंग्ज़ के समय में ही हो चुका था। इस्तमरारी बन्दोबस्त की योजना फ्रांसिस पहले ही बना चुका था। इस सम्बन्ध में जान शोर कार्नवालिस से कहीं अधिक अनुभवी और योग्य था। भारतवर्ष से लौटने पर भी वह भारतीय प्रश्नों में बराबर भाग लेता रहा। इँग्लेंड-सरकार को उस पर बड़ा विश्वास था। मैसूर-युद्ध में पिट के इंडिया ऐक्ट के अन्तर्गत भावों के विरुद्ध काम करने के लिए उसकी कोई निन्दा नहीं की गई। उलटे वह 'मार्कुइस' की उपाधि से विभूषित किया गया और सन् १८०५ में फिर से गवर्नर-जनरल बनाकर भारतवर्ष भेजा गया।

माहादजी सिन्धिया—सालबाई की सन्धि के बाद से सिन्धिया का अधिक समय उत्तरी भारत में ही व्यतीत हुआ। वहाँ उसने डीब्रोयन की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना तैयार की। डीब्रोयन एक चतुर फ्रांसीसी सैनिक था। उसने सिन्धिया की सेना का पाश्चात्य ढंग पर संगठन किया और तोपख़ाने में बहुत कुछ सुधार किये। दिल्ली में शाहआलम नाम मात्र का सम्राट् था, कुल शासन सिन्धिया के हाथ में था। उसके इस प्रभुत्व से कई एक सरदार जलते थे। सन् १७८८ में उसकी अनुपस्थिति में एक रुहेला सरदार ग़ुलाम क़ादिर ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसने शाही महल को ख़ूब लूटा, बेगमों के कोड़े लगवाये और अभागे सम्राट् की आंखें निकाल लीं। यह समाचार मिलने पर सिन्धिया ने एक सेना भेजी। ग़ुलाम क़ादिर पकड़ लिया गया और सम्राट का बदला लेने के लिए अन्धा करके फांसी पर लटका दिया गया।

इस्माईलबेग नाम का एक दूसरा सरदार, राजपूताना भागकर, वहाँ के राजाओं को सिन्धिया के विरुद्ध भड़का रहा था। सन् १७६० में डीबोयन की सेना ने उसको पाटन के युद्ध में हरा दिया। मिरथा के युद्ध में वीर राठोरों को भी हार माननी पड़ी। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के राजाओं को सिन्धिया का आधिपत्य मानकर चौथ देना स्वीकार करना पड़ा। राजपूतों के, विशेष-कर उदयपुर के घराने के, मान का सिन्धिया को बराबर ध्यान रहता था। उदयपुर के महाराणा के साथ उसका मित्रता का व्यवहार था। कर्नल टाड का कहना है कि उद्दंड जागीरदारों के दमन करने में महाराणा को सिन्धिया के प्रसिद्ध सूबेदार अम्बाजी से बड़ी सहायता मिली। इस तरह उत्तरी भारत में सिन्धिया का आतंक पूर्ण रूप से जम गया। उद्दंड जागीरदारों की उसने जागीरें छीन लीं। मालगुज़ारी वसूल करने के लिए उसने गोपालराव को 'सरसूबा' बनाया और उसके नीचे डीबोयन तथा तीन मराठा सरदारों को सूबेदार नियुक्त किया।

सिन्धिया को शाहआलम के सम्मान का बड़ा ध्यान रहता था। वह उसके 'मुख़ारुल्मुल्क' की हैसियत से उत्तरी भारत में शासन करता था। दिल्ली के तख़्त को मराठे नष्ट न करना चाहते थे। देश की परिस्थिति को देखते हुए उनके लिए ऐसा करना सम्भव भी न था। मुग़ल सम्राटों की ओर से सारे देश में अपनी सत्ता स्थापित करना वास्तव में शुरू ही से उनकी 'बाद-शाही नीति' थी। दीवानी लेने में अँगरेज़ों ने भी उन्हीं की नीति का अनुकरण किया था।

अँगरेज़ों के साथ सम्बन्ध—हेस्टिंग्ज़ को सिन्धिया बहुत मानता था। उसके चले जाने पर अँगरेज़ों के प्रति सिन्धिया का भाव कुछ बदल गया। सालबाई की सन्धि की भूल का उसको पता लग गया। उसके प्रभुत्व से अँगरेज़ों को भी चिन्ता हो रही थी। सन् १७८६ के एक पत्र में सिन्धिया-दरबार का अँगरेज़ प्रतिनिधि ऐंडर्सन कार्नवालिस को लिखता है कि उस पर पूरी देख-रेख रखनी चाहिए। सम्भव है किसी समय उसकी शक्ति को रोकने की आवश्यकता पड़ जाय। ऐसी दशा में बिना लड़े ही अपना काम निकाल

लेना चाहिए।[1] जब कार्नवालिस को यह पता चला कि सिन्धिया के कहने से शाहआलम कम्पनी से कर मांगना चाहता है, तब उसने रेज़ीडेंट को लिख दिया कि सिन्धिया को यह अच्छी तरह समझा देना चाहिए कि इसमें उसका हित नहीं है। सिन्धिया भी इसको जानता था। उसकी शक्ति बहुत कुछ डीबोयन की सेना पर निर्भर थी और डीबोयन ने नौकरी करते समय यह स्पष्ट कह दिया था कि मैं अँगरेज़ों के विरुद्ध कभी युद्ध न करूँगा।[2]

पूना का दरबार—यद्यपि सिन्धिया उत्तरी भारत में रहने लगा था, पर उसका ध्यान दक्षिण की ओर बराबर रहता था। दिल्ली में वह अपने को सदा पेशवा का प्रतिनिधि कहता था। नाना फड़नवीस उसकी प्रकृति और स्वभाव से अच्छी तरह परिचित था। वह जानता था कि किसी न किसी दिन सिन्धिया दक्षिण में भी अपना आतंक जमायेगा। इसी लिए उसने होलकर को उत्तरी भारत भेज रखा था। मैसूर-युद्ध के समय पर सिन्धिया दक्षिण आना चाहता था, परन्तु नाना फड़नवीस ने उस अवसर को टाल दिया। सन् १७९३ में होलकर की सेना को हराकर सिन्धिया पूना की ओर चल पड़ा।

पूना पहुँचकर सिन्धिया ने एक बड़ा भारी दरबार किया, जिसमें उसने पेशवा को सम्राट् शाहआलम की ओर से 'वकील मुतलक़' की उपाधि प्रदान की। इसी अवसर पर सम्राट् का एक घोषणापत्र पढ़ा गया, जिसके द्वारा गोवध का निषेध किया गया। नाना फड़नवीस तथा कई मराठे सरदार नाम मात्र के सम्राट् की प्रदान की हुई 'वकील मुतलक़' की उपाधि के विरुद्ध थे। उनका मत था कि शिवाजी के वंशजों के पेशवा को मुग़ल सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार करना शोभा नहीं देता। परन्तु युवक पेशवा पर सिन्धिया का ऐसा रंग जम गया था कि नाना फड़नवीस की एक भी न चली। पेशवा से मिलते समय सिन्धिया ने यह कहते हुए कि "मेरे बाप का यही पेशा था और यही मेरा है" अपने हाथ से पेशवा को जूतियाँ पहनाईं। इस अभिनय

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, जि० २, पृ० ५३।

२ बर्वे, माहादजी सिन्धिया, पृ० १३३।

का पेशवा पर पूरा प्रभाव पड़ा। यह देखकर नाना फड़नवीस ने भी अपनी नीति बदल दी और उत्सव में सिन्धिया का पूरा साथ दिया।

माहादजी सिन्धिया

सिन्धिया और नाना—ये दोनों अपने समय के बड़े प्रतिभाशाली मनुष्य थे, जो पानीपत के युद्ध से जीवित बच गये थे। दोनों की शिक्षा पेशवा माधवराव बल्लाल के उच्च स्वदेश-प्रेम के आदर्श में हुई थी। दोनों सारे देश में मराठा साम्राज्य का स्वप्न देखते थे। दोनों का जीवन सादा और धार्मिक था। यदि नाना फड़नवीस में चतुरता थी तो सिन्धिया में

साहस था। यदि एक में मस्तिष्क था तो दूसरे में बाहुबल था। यह मराठा साम्राज्य और देश का दुर्भाग्य था कि ये दोनों एक साथ मिलकर काम न कर सके। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों अपनी शक्ति में किसी का हस्तक्षेप सहन न कर सकते थे। सिन्धिया उत्तर से लेकर दक्षिण तक अपना अटल प्रभाव देखना चाहता था। वह पूना-दरबार का भी प्रधान सचिव बनना चाहता था। नाना फड़नवीस इसको कभी सहन न कर सकता था। पहले नाना फड़नवीस की सहायता से ही सिन्धिया की बढ़ती हुई थी, पर सालबाई की सन्धि के समय से नाना को सिन्धिया का विश्वास न रहा था। सिन्धिया ने इस अविश्वास के हटाने की कई बार चेष्टा की। वह अपने एक पत्र में लिखता है कि "हम दोनों एक ही स्वामी के सेवक हैं, हम दोनों को अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए............हिन्दुस्तान में मराठा जाति की उन्नति करके अपने साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाना चाहिए।"[1] परन्तु इन शब्दों में पड़कर सिन्धिया पर विश्वास करना नाना फड़नवीस के लिए असम्भव था।

सिन्धिया की मृत्यु—इन दोनों के पारस्परिक मनमुटाव को मिटाने के लिए हरीपन्त तात्या ने बहुत प्रयत्न किया। इसमें कुछ सफलता भी हुई, परन्तु फ़रवरी सन् १७९४ में सिन्धिया की अचानक मृत्यु हो जाने के कारण देश इस मेल के लाभ से वंचित रह गया। सिन्धिया स्वयं बड़ी सादगी से रहता था। वह बड़ा हँसमुख और मिलनसार था। उसकी नम्रता और विनय बनावटी थी या स्वाभाविक, पेशवा के प्रति उसका व्यवहार केवल एक अभिनय था या उसमें कुछ सत्यता थी, यह कहना बड़ा कठिन है। उसकी महत्ता तथा योग्यता को सभी इतिहासकारों ने माना है।

सर जान शोर—सन् १७९३ में कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र दिया गया, जिसमें यह फिर स्पष्ट कर दिया गया कि भारतवर्ष में राज्य बढ़ाने के लिए युद्ध करना इस (अँगरेज़) "राष्ट्र की नीति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा के

---

१ वर्वे, माहादजी सिन्धिया।

विरुद्ध” है। इस नीति को काम में लाने के लिए कार्नवालिस की सलाह से सर जान शोर गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया। सर जान शोर सन् १७६९ में आठ रुपया मासिक वेतन पर नौकर होकर भारतवर्ष आया था। हेस्टिंग्ज़ के नीचे यह बहुत दिनों तक काम कर चुका था और इस्तमरारी बन्दोबस्त में कार्नवालिस को इससे बड़ी सहायता मिली थी। हेस्टिंग्ज़ पर इन दिनों अभियोग चल रहा था। उसके कई एक मामलों से सर जान शोर का भी सम्बन्ध था। ऐसी दशा में, बर्क की राय में, उसको यह पद देना उचित न था। कम्पनी के किसी कर्मचारी को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त करने के विरुद्ध कार्नवालिस भी था, परन्तु सर जान शोर से वह ऐसा प्रसन्न था कि उसने स्वयं उसकी सिफ़ारिश की। बहुत कहने सुनने पर सर जान शोर ने इस पद को स्वीकार किया। अक्तूबर सन् १७९३ में वह कलकत्ता पहुँचा।

जान शार

मराठे और निज़ाम—इन दोनों में बराबर झगड़ा हुआ करता था। निज़ाम ने बहुत दिनों से मराठों को चौथ नहीं दी थी। इस पुराने हिसाब को साफ़ करने के लिए नाना फड़नवीस ज़ोर देने लगा। निज़ाम का पहला दीवान रुकुनुद्दीन मराठों को किसी न किसी तरह समझाये रखता था, परन्तु यह बात नये ‘मशीरुलमुल्क’ में न थी। निज़ाम ने फ्रांसीसी रेमाँ की अध्यक्षता में एक सेना तैयार कर ली थी, इसलिए वह अब मराठों से दबता न था। नये दीवान की सलाह से उसने मराठों को एक पैसा तक देने से इनकार कर दिया और उलटे अपना बहुत सा हिसाब निकाल दिया। मशीरुलमुल्क ने खुले

दरबार में यहाँ तक कह डाला कि पेशवा को लँगोटी पहनाकर बिना बनारस भेजे हुए मैं चैन न लूँगा। इस अपमान को नाना फड़नवीस कब सहन करनेवाला था। उसने युद्ध के लिए तैयारी करना प्रारम्भ कर दिया। उसके उद्योग से सारे मराठा-मंडल की सेनाएँ एकत्र होने लगीं और टीपू ने भी सहायता करने का वचन दिया।

नाना फड़नवीस की तैयारी देखकर निज़ाम घबड़ा गया और उसने सर जान शोर से सहायता की प्रार्थना की। मैसूर-युद्ध के पश्चात् कार्नवालिस मराठों और निज़ाम के साथ परस्पर-रक्षा की सन्धि करना चाहता था। मराठों ने इसको अस्वीकार कर दिया था, पर निज़ाम को मराठों का सदा भय रहता था, इसलिए वह राज़ी था। ऐसी कोई सन्धि तो न हो सकी, पर निज़ाम को रक्षा का वचन देकर कार्नवालिस चला गया। सहायता की प्रार्थना करने पर सर जान शोर बड़े चक्कर में पड़ा। मराठे भी कम्पनी के मित्र थे, उनके विरुद्ध निज़ाम की सहायता करना पिट के इंडिया ऐक्ट के अनुसार जायज़ न था। कार्नवालिस की तरह चाल से काम लेना उसके स्वभाव में न था। कहा जाता है कि वह इस क़ानून का अक्षरशः पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। दूसरे मराठों की एकत्रित शक्ति से वह अच्छी तरह परिचित था। निर्बल निज़ाम का पक्ष लेकर मराठों और टीपू को कम्पनी का शत्रु बनाना उसकी राय में नीतियुक्त न था। अँगरेज़ी सेना में भी कुछ अशान्ति के लक्षण दिखलाई दे रहे थे। निज़ाम के साथ कोई ऐसी बाक़ायदा सन्धि न थी, जिसके अनुसार वह उसकी सहायता करने के लिए मजबूर हो। ऐसी दशा में उसने बहुत सोच-विचारकर इस युद्ध में उदासीन रहने में ही कम्पनी का हित समझा और निज़ाम को सहायता देने मे इनकार कर दिया।

सभी अँगरेज़ इतिहासकारों ने सर जान शोर की इस नीति की निन्दा की है। उनका कहना है कि यद्यपि निज़ाम के साथ कोई ऐसी सन्धि न थी, पर तब भी निज़ाम के घनिष्ठ सम्बन्ध का ध्यान रखना आवश्यक था। सर जान शोर के इस कार्य से देशी शक्तियों का कम्पनी पर से विश्वास उठ गया और मराठों की शक्ति बढ़ गई, जिसका परिणाम उसके उत्तराधिकारी वेलेज़ली को भुगतना पड़ा।

मराठों की विजय—अँगरेज़ों से निराश होकर निज़ाम को मराठों से अकेले ही युद्ध करना पड़ा। सन् १७९५ में अहमदनगर ज़िले के खर्दा नामक स्थान पर मराठों की पूर्ण विजय हुई। नाना फड़नवीस के चरणों पर अपनी तलवार रखकर निज़ाम को सन्धि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। उसने पेशवा के अपमान करनेवाले मशीरुलमुल्क को मराठों के हवाले कर दिया और दौलताबाद का क़िला, कुछ देश तथा बहुत सा रुपया नक़द देने का वचन दिया। यह अन्तिम समय था जब पेशवा की पताका के नीचे सिन्धिया, होलकर, भोंसला और गायकवाड़ की सेनाएँ एकत्र हुई थीं। वास्तव में यह नाना फड़नवीस की नीति और योग्यता की विजय थी।

निज़ाम की रक्षा करने के लिए जो अँगरेज़ सेना रहती थी, उसने इस युद्ध में भाग नहीं लिया था। हैदराबाद लौटने पर निज़ाम ने अँगरेज़ी सेना को हटा दिया और वह फ़्रांसीसी रेमां की सेना बढ़ाने लगा। हैदराबाद के दरबार से इस प्रकार अँगरेज़ों का प्रभुत्व उठते देखकर गवर्नर-जनरल को भी चिन्ता होने लगी। परन्तु निज़ाम में स्वतंत्र रहने का दम कहाँ था? इसी अवसर पर उसके एक लड़के ने बग़ावत कर दी, जिससे डरकर निज़ाम को अँगरेज़ी सेना फिर से वापस बुलानी पड़ी।

कर्नाटक और अवध—सन् १७९५ में कर्नाटक के वृद्ध नवाब मुहम्मदअली के मरने पर उसके बेटे उमदतुलउमरा के साथ अँगरेज़ एक नई सन्धि करना चाहते थे, जिसके अनुसार वे कर्नाटक के कुछ प्रसिद्ध क़िले, कुछ देश तथा मालगुज़ारी वसूल करनेवाले पालीगारों पर अधिकार चाहते थे। सर जान शोर के लिखने और मदरास के गवर्नर के बहुत कुछ समझाने पर भी नये नवाब ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अँगरेज़ महाजनों का उस पर क़र्ज़ा बढ़ने लगा। लार्ड कार्नवालिस ने अवध के नवाब वज़ीर आसफ़ुद्दौला को यह वचन दिया था कि ५० लाख रुपया सालाना से अधिक न माँगा जायगा और अँगरेज़ी सेना फिर न बढ़ाई जायगी। परन्तु सर जान शोर की राय में अवध में अँगरेज़ी सेना काफ़ी न थी, इसलिए उसने सेना बढ़ा देना निश्चित किया और

उसके खर्चे के लिए साढ़े पाँच लाख रुपया सालाना और माँगा। नवाब ने इस ज़्यादती का विरोध किया। इस पर सन् १७९७ में स्वयं सर जान शोर लखनऊ पहुँच गया। उसने नवाब के दीवान राजा झाऊलाल को निकाल दिया। नवाब को विवश होकर उसकी शर्तें माननी पड़ीं। इस घटना के कुछ ही दिन बाद आसफुद्दौला बीमार पड़ गया। उसका कहना था कि "भग्नहृदय की कोई औषध नहीं है।" आसफुद्दौला को इमारतों का बड़ा शौक़ था। इमामबाड़ा उसी का बनवाया हुआ है। लखनऊ में वह अपनी उदारता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। उसके मरने पर वज़ीर-अली, जिसको वह अपना लड़का बतलाता था, सर जान शोर की राय से गद्दी पर बैठा।

आसफुद्दौला

कुछ दिन बाद सर जान शोर को पता चला कि वज़ीरअली वास्तव में आसफुद्दौला का लड़का नहीं है। इस पर उसने आसफुद्दौला के भाई सादतअली को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया। सर जान शोर को फिर से एक बार लखनऊ जाना पड़ा और जनवरी सन् १७९८ में सादतअली गद्दी पर बिठला दिया गया। वज़ीरअली के सम्बन्ध में सर जान शोर को पहले ही पूरी जाँच कर लेनी चाहिए थी। लखनऊ के रेज़ीडेंट से उसको सब बातों का पता चल सकता था। वास्तव में बात यह थी कि वज़ीरअली अँगरेज़ों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था। सर जान शोर का यह कहना कि लखनऊ की जनता वज़ीरअली के विरुद्ध थी, ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि सर जान शोर को लखनऊ में अपनी रक्षा करना कठिन हो गया था।

सादतअली के साथ सब बातें पहले ही तय हो गई थीं। अब उसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार इलाहाबाद का क़िला अँगरेज़ों को मिल गया और उसकी मरम्मत के लिए आठ लाख रुपया भी लिया गया। गद्दी पर बिठलाने में सहायता करने के लिए कम्पनी ने १२ लाख रुपया लिया, वज़ीरअली को डेढ़ लाख की पेंशन दिलवाई और सालाना रक़म को ५६ लाख से बढ़ाकर ७६ लाख कर दिया। नवाब वज़ीर की निजी सेना घटाकर ३५ हज़ार कर दी गई। किसी बाहरी शक्ति से सन्धि करने का उसे अधिकार न रहा।

सर हेनरी लारेंस का कहना है कि इस सन्धि में अवध की प्रजा का कुछ भी ध्यान न रखा गया, सबसे अधिक रुपया देनेवाले के हाथ वह बेंच दी गई। 'अवध की मसनद' सर जान शोर के लिए एक प्रकार से कम्पनी की सम्पत्ति सी हो गई थी, जिसको वह चाहे जिसके हाथ बेंच सकता था। नवाब वज़ीर-अली के साथ व्यवहार करने में सर जान शोर ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। उसका यह हस्तक्षेप पुरानी सन्धियों के सर्वथा विरुद्ध था। सर जान शोर का मत था कि अँगरेज़ों ने दया करके अवध का राज्य शुजाउद्दौला को लौटा दिया था। सन्धियों के अनुसार अवध का अँगरेज़ों के साथ चाहे जो कुछ सम्बन्ध हो, अवध की जनता और बाहरवालों की दृष्टि में अवध अँगरेज़ों ही के अधीन था।[1] इस अनुचित हस्तक्षेप के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि उन दिनों अफ़ग़ानिस्तान के ज़मांशाह ने, जो प्रसिद्ध अहमद-शाह दुर्रानी का पोता था, भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। वह लाहौर तक पहुँच गया था। ऐसी दशा में कम्पनी के राज्य की रक्षा के लिए अवध का दृढ़ करना और उसमें अँगरेज़ी सेना बढ़ाना बड़ा आवश्यक था। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि सिख और मराठों के 'डबल ताले' को तोड़-कर ज़मांशाह का अवध तक पहुँचना साधारण बात न थी। पश्चिमोत्तर सीमा के पहाड़ों से आक्रमण करके विजय करने के दिन व्यतीत हो चुके थे।

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० २, पृ० १७१।

सेना में अशान्ति—कार्नवालिस के सुधारों से सेना में बड़ी अशान्ति फैल गई थी। कम्पनी और इँगलेंड-सरकार की सेनाओं में आपस में न पटती थी। अफ़सर लोग दोहरा भत्ता और बहुत से अधिकार माँग रहे थे। सन् १७६५ के अन्त में इन लोगों ने इतना ज़ोर बांधा कि सर जान शोर को उनकी बहुत सी बातें माननी पड़ीं। यह समाचार इँगलेंड पहुँचने पर कम्पनी के संचालकों ने सर जान शोर को वापस बुलाना निश्चित कर लिया। उसकी नीति के सम्बन्ध में ज़माँशाह के आक्रमण का भय और सेना की अशान्ति का ध्यान रखना बड़ा आवश्यक है। मराठों को सन्तुष्ट रखने और अवध के शासन में हस्तक्षेप करने के ये दो मुख्य कारण बतलाये जाते हैं। सर जान शोर ने कलकत्ता नगर की उन्नति करने का बहुत कुछ प्रयत्न किया था। उसने सड़कों की सफ़ाई, पुलिस तथा शराब की बिक्री के प्रबन्ध को देखने के लिए प्रतिष्ठित नगर-निवासियों को नियुक्त किया था, जो 'जस्टिस ऑफ़ दि पीस' कहलाते थे। सर जान शोर की व्यक्तिगत ईमानदारी में किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु गवर्नर-जनरल के पद की ज़िम्मेदारी के लिए वह योग्य न था, इसको उसने स्वयं माना है।

हस्तक्षेप का समर्थन—अँगरेज़ इतिहासकारों का कहना है कि उन दिनों भिन्न भिन्न राज्यों की सीमाएँ निश्चित न थीं। उनमें बराबर युद्ध हुआ करता था। ऐसी दशा में अँगरेज़ों का तटस्थ रहना सम्भव न था। अपनी रक्षा के लिए उन्हें मजबूरन दूसरों के झगड़ों में हस्तक्षेप करना पड़ता था। कार्नवालिस तथा सर जान शोर के समय की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति में उदासीनता की नीति का पालन असम्भव था। पर वास्तव में सच्चे हृदय से इसके पालन की चेष्टा ही कब की गई? कार्नवालिस ने जिस ढंग से इसका पालन किया था, दिखलाया जा चुका है। सर जान शोर प्रबल मराठों के भय से निर्बल निज़ाम की सहायता के लिए तैयार न था, पर बेचारे अवध का गला घोटने में उसे भी संकोच न था।

अहिल्याबाई की मृत्यु—सन् १७६५ में इन्दौर की रानी अहिल्याबाई की मृत्यु हो गई। तीस वर्ष तक उसने बड़ी योग्यता से शासन किया।

वह किसी प्रकार का पर्दा न करती थी, दरबार में बैठकर स्वयं सब मामले सुनती थी। उसका रहन-सहन सादा और स्वभाव धार्मिक था। भारतवर्ष के प्रायः सभी बड़े बड़े तीर्थों में उसके बनवाये हुए मन्दिर और धर्मशाले अब तक मौजूद हैं। उसके दरबार में खुशामदों की दाल न गलती थी। सबके साथ न्याय करने और प्रजा को यथाशक्ति सुख पहुँचाने का वह बराबर प्रयत्न करती थी।

अहिल्याबाई

उसके विषय में सर जान मालकम लिखता है कि उसने राज्य का शासन बड़ी योग्यता से किया। उसके समय में बाहर से कोई आक्रमण नहीं हुआ। राज्य में पूर्ण शान्ति रही। प्रजा से लगान बहुत कम लिया जाता था और गाँवों के अधिकारों की बराबर रक्षा होती थी। अपने चारों ओर सबको सुख देना उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। "उसकी उदारता केवल अपने राज्य के लिए ही न थी......भूमि के पशु, आकाश के पक्षी और नदियों की मछलियाँ भी उसकी दया के पात्र थीं।" वह एक आदर्श हिन्दू विधवा की तरह अपना जीवन

व्यतीत करती थी। अपने राज्य में वह अवतार मानी जाती थी। निज़ाम और टीपू भी उसका आदर करते थे। धार्मिक जीवन में कट्टर होते हुए भी उसमें असहिष्णुता का नाम न था। हिन्दू मुसलमान दोनों ही उसकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। "उसके चरित्र के विषय में खूब सोच-विचार करके भी यह कहना पड़ता है कि अपने परिमित क्षेत्र में सबसे पवित्र और आदर्श शासकों में से वह एक थी।"[1]

---

१ मालकम, ए मेम्वायर ऑफ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० १५७—९५।

परिच्छेद ७

साम्राज्य के लिए युद्ध

(१)

वेलेज़ली की नियुक्ति—सर जान शोर की नीति से असन्तुष्ट होकर इँग्लेंड-सरकार लार्ड कार्नवालिस को फिर से गवर्नर-जनरल बनाना चाहती थी, परन्तु लार्ड कार्नवालिस को, जिस तरह भारतीय सेना के अफ़सरों के साथ समझौता किया गया था, वह पसन्द न था। दूसरे इन दिनों आयर्लैंड की दशा बिगड़ रही थी। फ़्रांस की घोर राज्य-क्रान्ति का प्रभाव वहाँ भी पड़ रहा था। इसलिए इँग्लेंड-सरकार ने उसको आयर्लैंड और वेलेज़ली को भारतवर्ष भेजना निश्चित किया। वेलेज़ली का जन्म आयर्लैंड में हुआ था। सन् १७८७ से वह इँग्लेंड की पार्लामेंट का मेम्बर
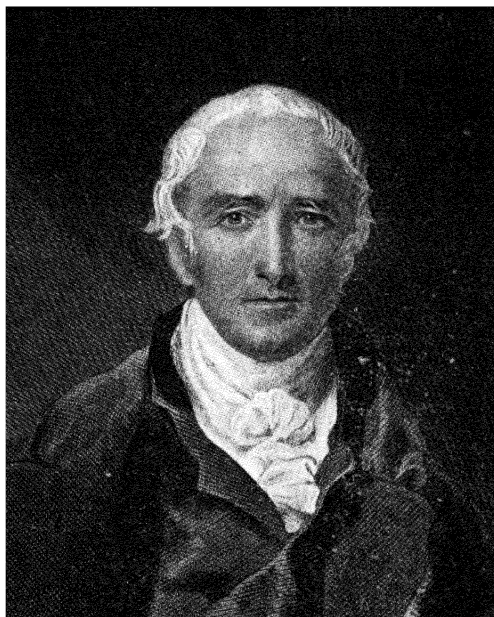
लार्ड वेलेज़ली

था। प्रधान सचिव पिट से उसकी बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी। भारतवर्ष की राजनीति से वह अपरिचित न था। सन् १७९३ से वह 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' में काम करता था। वहाँ भारतवर्ष सम्बन्धी सभी बातों का उसने पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। बोर्ड के सभापति डुंडाज़ को उसकी योग्यता में बड़ा विश्वास था। अँगरेज़ी भाषा का वह अच्छा पंडित था। पार्लामेंट में उसके भाषण बड़े चाव से सुने जाते थे। वेलेज़ली की योग्यता देखकर पार्लामेंट के सभापति का कहना था कि वह यहाँ पिसा जाता है, उसके लिए विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भारतवर्ष से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र कौन हो सकता था ?

इन दिनों इँग्लैंड की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी नाज़ुक हो रही थी। अमरीका के उपनिवेश उसके हाथ से जाते रहे थे। फ़्रांस की भीषण राज्य-क्रान्ति ने सारे यूरोप में हलचल मचा दी थी। आयर्लैंड में अशान्ति फैल रही थी। अँगरेज़ी शक्ति के इस ह्रास को कहीं न कहीं पूरा करना था। कहा जाता है कि इँग्लैंड से चलने के पहले पिट ने वेलेज़ली को अच्छी तरह समझा दिया था कि पश्चिम में जो हानि हुई है उसकी पूर्ति पूर्व में ही हो सकती है। तेरह वर्ष पहले इंडिया ऐक्ट में पिट ने ही यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि भारतवर्ष में राज्यवृद्धि के लिए युद्ध करना इस (अँगरेज़) "राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध है"। परन्तु वही पिट अब इस सिद्धान्त का अनुयायी न रहा था। फ़्रांस से उठी हुई "स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता" की आवाज़ से अँगरेज़ राजनीतिज्ञों के मत में भारी परिवर्तन हो रहा था। राज्य-क्रान्ति की विकराल मूर्ति से स्वतंत्रता का बर्क सरीखा उपासक भी भयभीत हो गया था।

भारतवर्ष की स्थिति—कहा जाता है कि सर जान शोर की नीति से भारतवर्ष में भी एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई थी। निज़ाम का अँगरेज़ों पर से विश्वास उठ गया था। वह फ़्रांसीसी अफ़सरों की अध्यक्षता में अपनी सेना बढ़ा रहा था। मराठों से पराजित होकर और अँगरेज़ों से धोखा खाकर वह टीपू से नाता जोड़ने का प्रयत्न कर रहा थी। खर्दा की विजय से मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। आगरा और दिल्ली में सिन्धिया का दबदबा था।

बरार से उड़ीसा तक भोंसला का राज्य फैला हुआ था। गायकवाड़ गुजरात को दबाये बैठा था। मालवा में होलकर का आतंक जमा हुआ था। पूना-दरबार में नाना फड़नवीस का बोलबाला था। इन सब मराठा राजाओं के यहाँ सेना के बहुत से अफ़सर फ़ांसीसी थे। इनकी अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी सिपाहियों को पाश्चात्य रण-पद्धति की शिक्षा दी जा रही थी। पिछली हार से टीपू जल-भुन रहा था। उसके राज्य में फ़ांसीसी अफ़सरों की संख्या सबसे अधिक थी। उसके दूत फ़ांस, काबुल और कुस्तुनतुनियाँ दौड़ रहे थे। उत्तरी भारत में ज़माँशाह के सहसा टूट पड़ने का भय हो रहा था। फ़ांस का सेनापति वीरवर नेपोलियन मिस्र की तरफ़ बढ़ रहा था। टीपू के साथ उसका पत्र-व्यवहार हो रहा था। भिन्न भिन्न राज्यों के फ़ांसीसी अफ़सर बड़ी उत्सुकता से उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।
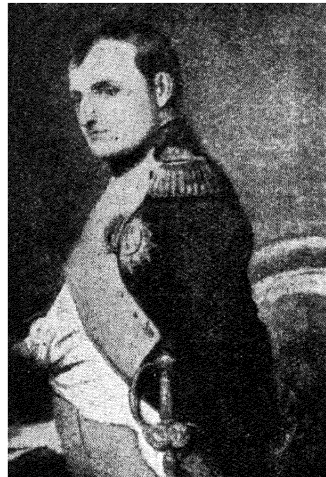
नेपोलियन

भारतवर्ष में फ़ांसीसियों के इस नये प्रभुत्व से इँग्लैंड-सरकार को बड़ी चिन्ता हो रही थी। इसको नष्ट करने के लिए वेलेज़ली पूर्ण रूप से उपयुक्त था। वह फ़ांसीसियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उनकी निन्दा में उसने कई एक कविताएँ रची थीं।

वेलेज़ली का आगमन—इस तरह भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य की वृद्धि और फ़ांसीसियों के नये प्रभुत्व का नाश ये दो मुख्य उद्देश्य पहले ही से निश्चित्त हो गये थे। इनकी प्राप्ति के लिए केवल उपाय सोचना बाक़ी था। नवम्बर सन् १७९७ में वेलेज़ली इँग्लैंड से रवाना होकर फ़रवरी सन् १७९८ में अन्तरीप 'गुडहोप' पहुँचा। यहाँ मदरास के भूतपूर्व गवर्नर तथा कुछ अँग-

रेज़ अफ़सरों से, जो टीपू के क़ैदी रह चुके थे, उसकी भेंट हुई, जिनसे उसको मैसूर का बहुत कुछ हाल मालूम हो गया। कर्क पैट्रिक पहले सिन्धिया और बाद को निज़ाम के दर्बार में रेज़ीडेंट रह चुका था। वह इन दोनों दरबारों में फ़्रांसीसियों के प्रभुत्व को अच्छी तरह जानता था। उससे भी वेलेज़ली को बहुत सहायता मिली और उसकी प्रसिद्ध 'सहायक प्रथा' के मुख्य अंश यहीं तय हो गये। मई सन् १७९८ में वह कलकत्ता पहुँचा। भारतवर्ष के मुख्य राजाओं में सबसे निर्बल निज़ाम ही था, इसलिए सबसे पहले वेलेज़ली ने उसी को सहायक प्रथा का शिकार बनाना निश्चित किया।

निज़ाम के साथ व्यवहार—खर्दा के युद्ध के समय से अँगरेज़ों पर से निज़ाम का विश्वास उठ गया था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। अपने बेटे के विद्रोह करने पर उसने अँगरेज़ी सेना को फिर से बुला लिया था, यह ठीक है, पर उसका ध्यान फ़्रांसीसी अफ़सर रेमाँ की सेना को बढ़ाने की ओर ही अधिक था। रेमाँ की पल्टन में १४ हज़ार सिपाही और ३० तोपें थीं। इसका खर्चा चलाने के लिए उसने कर्नाटक की सीमा के कुछ ज़िले दे रखे थे। लार्ड वेलेज़ली की दृष्टि में इस पल्टन से कम्पनी को बड़ा भय था। कहा जाता है कि टीपू की ओर से फ़्रांसीसी एक सेना एकत्र कर रहे थे। निज़ाम के फ़्रांसीसी अफ़सर भी उनका साथ देना चाहते थे। ऐसी दशा में टीपू के साथ लड़ाई छिड़ने पर निज़ाम से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं की जा सकती थी। शान्ति के समय में भी फ़्रांसीसी अफ़सर निज़ाम से फ़्रांस की शक्ति तथा सफलता की प्रशंसा किया करते थे और "अँगरेज़ों के आचरण, शक्ति तथा नियत की हर तरह से बुराई करते थे।"

इसलिए उसने निज़ाम को समझा बुझाकर इस पल्टन का तोड़ना निश्चित किया। यह काम हैदराबाद के नये रेज़ीडेंट कर्नल कर्क पैट्रिक (मेजर कर्क पैट्रिक के भाई) और जान मालकम को सौंपा गया। दूसरी ओर मदरास के गवर्नर हैरिस को सेना तैयार रखने की आज्ञा दे दी गई।

निज़ाम जानता था कि रेमाँ की पल्टन तोड़ने का परिणाम यह होगा कि उसको सदा अँगरेज़ों के अधीन रहना पड़ेगा, परन्तु वह विवश था। उसको

मराठों का भय था। उनसे रक्षा करने का अब उसको विश्वास दिलाया जा रहा था। चतुर कर्क पैट्रिक ने उसके दीवान को अपने पक्ष में मिला लिया था। यह वही दीवान था जिसने निज़ाम को मराठों से भिड़ा दिया था। अन्त में लाचार होकर सितम्बर सन् १७९८ में निज़ाम को हैदराबाद की नई सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि अँगरेज़ अफ़सरों की अध्यक्षता में ६ हज़ार सिपाहियों की एक सेना निज़ाम की रक्षा के लिए रहा करेगी। इसका ख़र्चा २४ लाख रुपया सालाना निज़ाम को देना पड़ेगा। इस सेना के पहुँचने पर निज़ाम फ़्रांसीसी अफ़सरों को निकाल देगा और उनकी पल्टनों को इस तरह छिन्न-भिन्न कर देगा कि "उनके अस्तित्व का कोई निशान बाक़ी न रह जाय।" बिना कम्पनी की अनुमति के किसी फ़्रांसीसी या यूरोप के अन्य निवासी को निज़ाम न तो नौकर रख सकेगा और न अपने राज्य में बसने की उन्हें आज्ञा दे सकेगा।

फ़्रांसीसी पल्टन तोड़ने की आज्ञा देने से निज़ाम हिचकिचा रहा था, पर अन्त में उसको यह आज्ञा भी देनी पड़ी। अँगरेज़ी सेना ने पल्टन की छावनी को घेर लिया। रेमाँ मर चुका था। फ़्रांसीसी अफ़सर आपस ही में लड़-झगड़ रहे थे। उन्होंने बिना लड़े-भिड़े अपने को अँगरेज़ों के हवाले कर दिया। सिपाहियों ने पहले तो विरोध किया, परन्तु मालकम के समझाने पर उन्होंने भी हथियार डाल दिये। वेलेज़ली की नीति की यह पहली विजय हुई। बात की बात में उसने १४ हज़ार सैनिकों की शक्ति को नष्ट कर डाला और निज़ाम को सदा के लिए अँगरेज़ों के अधीन बना लिया। इँगलेंड-सरकार और कम्पनी के संचालकों ने इसके लिए उसकी बड़ी प्रशंसा की।

टीपू पर सन्देह—कलकत्ता पहुँचने पर, जून सन् १७९८ में, मारिशस (मिर्च के टापू) के फ़्रांसीसी गवर्नर का एक घोषणा-पत्र वेलेज़ली के हाथ में पड़ा था। इसमें टीपू के दूतों के आने का उल्लेख करते हुए, अँगरेज़ों के विरुद्ध उसकी सेना में भरती होने का अनुरोध किया गया था। वेलेज़ली की दृष्टि में अँगरेज़ों के प्रति टीपू की शत्रुता का यह स्पष्ट प्रमाण था। उसका कहना था कि 'फ़्रांस के द्वीप' में दूतों को भेजने का "भारतवर्ष से अँगरेज़ जाति

को बाहर निकालने की प्रबल इच्छा''के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य न था। इस पर इँग्लेंड से 'गुप्त कमेटी' ने लिख भेजा कि यदि वास्तव में यह बात ठीक है, तो टीपू की ओर से लड़ाई छिड़ने की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही उस पर आक्रमण कर देना उचित है। पर इसका ध्यान रखना चाहिए कि बिना "नितान्त आवश्यकता" के युद्ध न छेड़ा जाय। यह पत्र उसको अक्तूबर में मिला, परन्तु वेलेज़ली इस समय तक लड़ाई के लिए तैयार न था, इसलिए वह चुप रहा।

फ़्रांसीसी गवर्नर के घोषणा-पत्र मिलने पर ही वेलेज़ली ने मदरास-सरकार को सेना एकत्र करने के लिए लिख दिया था। वह मराठों से भी बराबर पत्र-व्यवहार कर रहा था और निज़ाम को नई सन्धि से जकड़ने के प्रयत्न में लगा था। जब उसको यह ज्ञात हो गया कि मराठे अपने आपस के झगड़ों के कारण उसके विरुद्ध टीपू का साथ न देंगे, जब निज़ाम के साथ नई सन्धि हो गई, बम्बई तथा मदरास की सेनाएँ पूर्ण रूप से तैयार होगईं और काफ़ी रुपये का क़र्ज़ द्वारा प्रबन्ध हो गया, तब टीपू से बेधड़क बातचीत करने में उसके लिए कोई रुकावट न रह गई। युद्ध की धमकी देते हुए उसने निज़ाम के ढंग की सन्धि करने के लिए टीपू को लिख भेजा।

सेना का स्वयं निरीक्षण करने के लिए वह कलकत्ता से मदरास की ओर चल पड़ा। जनवरी सन् १७९९ में मदरास पहुँचने पर उसको टीपू का उत्तर मिला। इसमें उसने सेना की तैयारी और लड़ाई की धमकी पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा कि मैंने अपना कोई दूत मोरिशस नहीं भेजा था। मैसूर के कुछ व्यापारी वहाँ गये थे। उसी समय पर वहाँ के गवर्नर ने अँगरेज़ों से झगड़ा कराने के लिए उस घोषणा-पत्र को निकाल दिया, जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वहाँ से ४० फ़्रांसीसी आये थे, जिनमें से कुछ मेरे यहाँ नौकर हो गये और बाक़ी चले गये। फ़्रांसीसियों पर मुझे स्वयं विश्वास नहीं है, वे "बुराई और दग़ाबाज़ी से भरे हुए हैं"।[1] अपनी मित्रता का विश्वास दिलाते हुए, अन्त में उसने लिखा कि नई सन्धि की कोई आवश्यकता नहीं

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, सं० मार्टिन, जि० १, पृ० ३८१–८३।

जान पड़ती। इस उत्तर से वेलेज़ली को सन्तोष नहीं हुआ और ता० ३ फ़रवरी को उस पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी गई।

मैसूर का अन्तिम युद्ध—सन् १७९२ की सन्धि के विरुद्ध टीपू ने कोई काम नहीं किया था। रुपये की बड़ी रक़म को उसने समय से चुका दिया था। फ़्रांसीसियों से उसका सम्बन्ध अवश्य था, पर इसमें अँगरेज़ों की सलाह लेने की उसके लिए आवश्यकता न थी। वह स्वतंत्र शासक था और चाहे जिसके साथ सम्बन्ध रख सकता था। वेलेज़ली का अनुमान था कि फ़्रांसीसियों के साथ मिलकर टीपू अँगरेज़ों की शक्ति को नष्ट करना चाहता था। इसके समर्थन में श्रीरंगपट्टन के क़िले में मिले हुए नेपोलियन के कुछ पत्रों पर वह ज़ोर देता है। परन्तु जिस तरह अँगरेज़ों को टीपू का भय था, उसी तरह टीपू को अँगरेज़ों का भय हो सकता था। बंगाल, अवध और कर्नाटक का इतिहास उससे छिपा नहीं था। निज़ाम अँगरेज़ों के सर्वथा अधीन था। मराठों की नीति पर उसको विश्वास न था। ऐसी दशा में यदि वह फ़्रांसीसियों से सम्बन्ध जोड़ता था, तो इसमें उसका कौन सा दोष था? किसी के साथ सन्धि हो जाने पर उसकी शर्तों के विरुद्ध जब कोई घटना होती है, तभी प्रायः युद्ध किया जाता है। केवल भय के अनुमान पर युद्ध नहीं किया जाता है। यदि ऐसा होने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कभी स्थापित ही नहीं रह सकती है।

यदि वेलेज़ली और उसके समर्थकों की यह बात मान भी ली जाय कि टीपू फ़्रांसीसियों के साथ मिलकर अँगरेज़ों को निकालना चाहता था, तब भी यह प्रश्न होता है कि क्या ऐसा होना सम्भव था? टीपू के पास सौ डेढ़ सौ से अधिक फ़्रांसीसी अफ़सर न थे। फ़्रांसीसी उसकी अधिक सहायता कर सकेंगे, इसमें स्वयं वेलेज़ली को सन्देह था। अक्तूबर सन् १८९८ के पत्र में वह लिखता है कि मुझे विश्वास है कि टीपू को जितनी फ़्रांसीसी सहायता मिल रही है, उससे जब तक अधिक न मिलेगी, वह आक्रमण करने का साहस न करेगा। साथ ही साथ मुझे यह भी विश्वास है कि इँग्लैंड की सरकार और हमारा जहाज़ी बेड़ा फ़्रांसीसियों को इस ओर न आने देने

से टीपू का कोई सम्बन्ध न रह जाय। इन शर्तों को स्वीकार करके स्वाभिमानी टीपू जान-बूझकर अपने आप पैरों में बेड़ियाँ न डालना चाहता था।
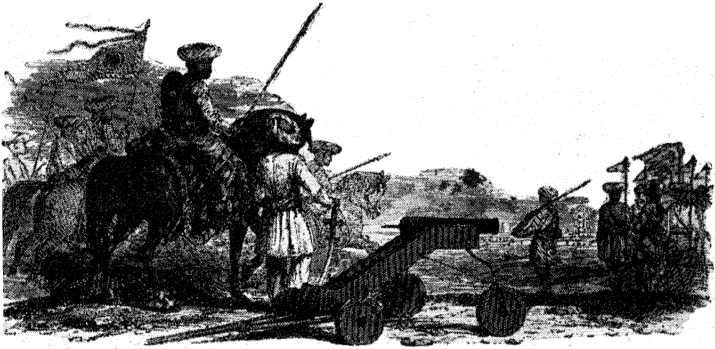
टीपू का तोपख़ाना

इस तरह के समर्थन से तो यह स्पष्ट कह देना कहीं अच्छा था कि टीपू वेलेज़ली की आँखों में खटकता था। उसकी शक्ति को नष्ट करके कम्पनी के राज्य को दृढ़ और विस्तृत बनाना उसका मुख्य उद्देश्य था। यह केवल अनुमान ही नहीं है, कलकत्ता पहुँचते ही जितनी शीघ्रता से युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी गई थीं, वे ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। टीपू को अपनी बात समझाने के लिए भी पूरा समय नहीं दिया गया और पहले से ही छिपे छिपे युद्ध की तैयारियाँ की जाने लगीं। जिन अफ़सरों को क़ैद करके टीपू "बन्दर की तरह" नचाया करता था, उनकी सलाह से टीपू का नाश भारतवर्ष पहुँचते ही, वेलेज़ली ने निश्चित कर लिया था। श्रीरंगपट्टन के पतन पर वेलेज़ली को बधाई देते हुए, ता० १७ मई सन् १७९९ के पत्र में, सर ओलार्ड क्लार्क लिखता है कि इस तारीख़ के ठीक १२ महीने पूर्व शासनभार लेते समय, टीपू को नीचा दिखलानेवाली आपकी बात मुझे स्मरण है।[१] इन सब बातों

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० १, पृ० ५९१।

को ध्यान में रखते हुए, वेलेज़ली सदृश सिद्ध-हस्त लेखक के योग्यतापूर्ण और ज़ोरदार समर्थन[1] में कितना तत्त्व है, इसको बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

टीपू का अन्त—लड़ाई दो ही महीने में समाप्त हो गई। अँगरेज़ों की पूरी तैयारी थी। टीपू की प्रजा, उसके अफ़सर तथा मैसूर के हिन्दू राज-घराने को भड़काने के लिए, गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेज़ली की अध्यक्षता में एक कमीशन पहले से ही काम कर रहा था।[2] टीपू अकेला था, बम्बई से बढ़ती हुई स्टुआर्ट की सेना को वह रोक न सका। मदरास की सेना ने उसके साथ मिलकर टीपू को मलावली नामक स्थान पर हराया। वहाँ से हटकर टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टन में चला आया। अँगरेज़ी सेना ने इसका घेरा डाल दिया। टीपू ने एक बार फिर सन्धि का प्रयत्न किया, परन्तु अब वेलेज़ली पिछली शर्तों के अतिरिक्त आधा राज्य, दो करोड़ नक़द और मुख्य अफ़सर तथा टीपू के चारों लड़कों को ज़मानत में माँगता था।[3] इस सन्धि के अपमान से टीपू ने युद्ध में प्राण देना ही उचित समझा। ता० ४ मई के युद्ध में अपने क़िले के फाटक पर बड़ी वीरता से लड़ते हुए वह मारा गया। इस तरह हैदर के राज्य का अन्त हो गया और अँगरेज़ों की पूर्ण विजय हुई।

युद्ध के समय में प्रजा की रक्षा करने के लिए गवर्नर-जनरल ने घोषणा निकाली थी, परन्तु उसका कुछ भी ध्यान न रखकर सेना ने नगर को ख़ूब लूटा। आर्थर वेलेज़ली ने सिपाहियों की कोड़ों से ख़बर लेकर जैसे तैसे शान्ति स्थापित की। क़िले में अँगरेज़ों को बहुत सी युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त एक करोड़ पौंड से अधिक का सामान मिला। श्रीरंगपट्टन का विशाल नगर आजकल उजाड़ है।

---

१ 'सीक्रेट डिपार्टमेंट मिनिट' ता० १२ अगस्त सन् १७९८, डेसपैचेज़, जि० १, पृ० १५९-२०८।

२ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० १, पृ० ४४२-४८।

३ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, जि० १, पृ० २२८।

टीपू का चरित्र—अपने पिता के प्रतिकूल वह फ़ारसी का अच्छा विद्वान् था। उसको उर्दू और कनाड़ी का भी ज्ञान था। हस्तलिखित
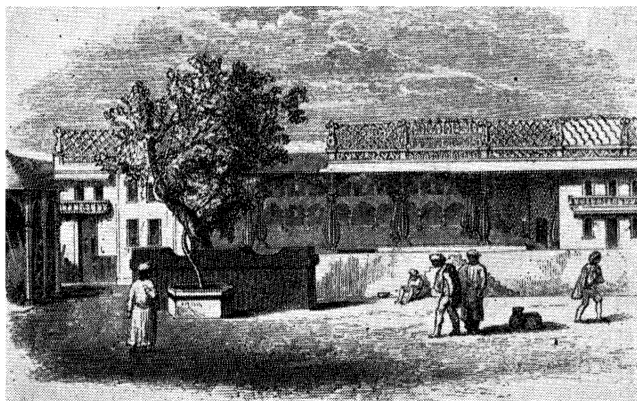
टीपू का महल

पुस्तकों का उसके पास एक अच्छा संग्रह था। इसमें कला, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, साहित्य सभी विषयों के ग्रन्थ थे। यह पुस्तकालय कलकत्ता भेज दिया गया। वह अपने को सब विषयों का ज्ञाता मानता था। नये नये नाम रखने का उसको बड़ा शौक़ था। कई स्थानों के नाम उसने बदल दिये थे। साल और महीनों के भी उसने नये नाम रखे थे। लिखने में उसका हाथ ख़ूब चलता था। हर एक क़ाग़ज़ पर वह अपने हाथ से बड़े बड़े हुक्म लिखता था।

वह अच्छा घोड़सवार और निशानेबाज़ था। सेना के संगठन में उसको बड़ी रुचि थी। इस सम्बन्ध में उसने नियमों का एक संग्रह भी तैयार किया था, जिसमें सेना के भिन्न भिन्न दलों और उनके कर्तव्यों का वर्णन किया गया था। जहाज़ी सेना की भी उसने एक योजना बनाई थी। इस बेड़े में २० जंगी जहाज़ों का रखना निश्चित किया गया था। इन जहाज़ों को बनाने के लिए उसने स्वयं बहुत सी हिदायतों को लिखा था। उसके मर जाने से

यह योजना काग़ज़ पर ही रह गई। हर एक काम को वह अपनी आँख से देखता था और सबेरे से शाम तक बराबर काम करता था। उस समय के अन्य मुसलमान शासकों की तरह वह अपना समय आरामतलबी में व्यतीत न करता था। उसके दफ़्तर में सब काग़ज़ात ठीक ढंग से रखे जाते थे। हैदरअली की तरह उसका रहन सहन तो सादा था, पर उसमें घमंड की मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। वह अपने को 'सुलतान' कहता था और कुछ दिनों तक उसने एक नया सिक्का भी चलाया था।

हिन्दू राजाओं के समय से जैसा कुछ शासन चला आ रहा था, उसमें उसने अधिक हस्तक्षेप नहीं किया था। समय पड़ने पर वह रुपया लेने में सख़्ती ज़रूर करता था, पर साधारणत: प्रजा सुखी थी और राज्य में खेती का अच्छा प्रबन्ध था। शराब का बनाना और बेंचना उसने अपने राज्य में बन्द कर दिया था। मलाबार में बहुपति-विवाह की प्रथा को रोकने का भी उसने प्रयत्न किया था। मेजर डिरोम का कहना है कि उसका शासन कड़ा और मनमाना अवश्य था, पर वह एक योग्य शासक की तरह प्रजा का पालन भी करता था। जिनको वह अपना शत्रु समझता था, उन्हीं के साथ उसका व्यवहार कठोर होता था।[1] मूर ने भी माना है कि उसके राज्य की दशा देखते हुए यह नहीं जान पड़ता था कि प्रजा पर अत्याचार हुआ है।[2]

इस्लाम धर्म का वह पक्का अनुयायी था। अपने राज्य को वह 'ख़ुदा-दाद' (ईश्वर-दत्त) कहा करता था। कट्टर मुसलमान होते हुए भी उसका विश्वासपात्र दीवान पुर्णिया एक हिन्दू था। अपने पिता की तरह वह भी मन्दिरों को दान देता था। विपत्ति के समय पर पंडितों से प्रार्थना करवाने में भी उसको विश्वास था। ईसाइयों के साथ उसका व्यवहार कभी कभी अवश्य कठोर होता था, परन्तु इसके कारण धार्मिक की अपेक्षा अधिकतर

---

१ मेजर डिरोम, कैम्पेन विद टीपू सुलतान, सन् १७९३, पृ० २५०।

२ मूर, नैरेटिव, पृ० २०१।

राजनैतिक थे। अँगरेज़ इतिहासकारों ने उसकी निर्दयता और कठोरता को बहुत बढ़ा चढ़ाकर लिखा है। मुसलमानों की दृष्टि में वह 'शहीद' था। हैदरअली के सुन्दर मक़बरे में वह भी दफ़न किया गया। उसकी क़ब्र पर मरने की तारीख़
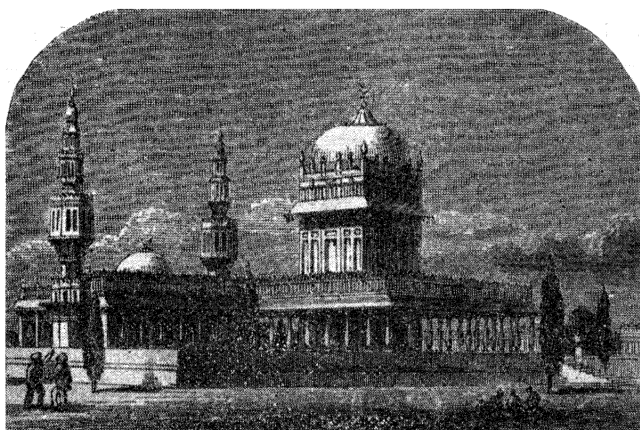
हैदर और टीपू का मक़बरा

बतलाते हुए ये शब्द लिखे हुए हैं—"नूर इस्लाम व दीन अज़ दुनिया रफ़्त" (दुनिया से इस्लाम और दीन का नूर उठ गया)।

राज्य का बटवारा—वेलेज़ली की राय में युद्ध के नियमों के अनुसार टीपू का राज्य विजेताओं का था और जिस तरह चाहें उसके बटवारा का उनको अधिकार था। निज़ाम और अँगरेज़ उसको बराबर बराबर बाँट सकते थे, पर वेलेज़ली का कहना था कि ऐसा करने से निज़ाम की शक्ति बहुत बढ़ जाती। सन् १७९२ के समझौता के अनुसार मराठों को तिहाई भाग देना भी उसकी राय में उचित न था, क्योंकि मराठों ने युद्ध में कोई सहायता नहीं की थी। तब भी वे यदि नई सन्धि करने के लिए तैयार हों तो उनको कुछ ज़िले दे देने में कोई हानि न थी। इन सब बातों को सोच-

विचार कर वेलेज़ली ने मैसूर के एक छोटे राज्य को बनाये रखना निश्चित किया। बाक़ी राज्य के बटवारे में कनाड़ा, कोयमबटूर, दारापुरम, वयनाड, श्रीरंगपट्टन और मलाबार तट के कुछ ज़िले कम्पनी को मिले। इस तरह अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक कुल समुद्र-तट अँगरेज़ों के अधिकार में आ गया। कम्पनी से कुछ कम हिस्सा निज़ाम को मिला। इसमें मैसूर राज्य के उत्तर-पूर्व के ज़िले थे। निज़ाम से आधा हिस्सा सहायक सम्बन्ध स्वीकार करने पर मराठों को देना निश्चित हुआ, परन्तु इन गये बीते ज़िलों के बदले में मराठों ने अपनी स्वाधीनता बेंचने से इनकार कर दिया। इस पर ये ज़िले भी निज़ाम और अँगरेज़ों ने आपस में बांट लिये। सैनिक दृष्टि से प्रसिद्ध गढ़ और स्थान अँगरेज़ों के ही हाथ में रहें, बटवारे में वेलेज़ली ने इसका बड़ा ध्यान रखा।

मैसूर का राज्य—बचे हुए आधुनिक मैसूर राज्य के सम्बन्ध में टीपू के बेटों का कुछ भी ध्यान न रखा गया। वेलेज़ली की राय में अँगरेज़ों के साथ उनकी मित्रता असम्भव थी। उनको टीपू से शिक्षा मिली थी, जो अँगरेज़ों का घोर शत्रु था। वे टीपू की मृत्यु और पराजय के अपमान को कभी भूल न सकते थे। उनको राज्य देने से "मैसूर की शक्ति कमज़ोर हो जाती, पर नष्ट न होती"; वे सदा स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया करते। इसलिए उसने टीपू के बेटों को पेंशन देकर विल्लौर भेज दिया और मैसूर की गद्दी पर हिन्दू राज-घराने के एक पांच वर्ष के बालक को बिठला दिया। इस सम्बन्ध में वह कम्पनी के संचालकों को लिखता है कि इससे उनकी "उदारता" का परिचय मिलेगा और मैसूर का घराना सदा उनका ऋणी तथा कृतज्ञ रहेगा। मैसूर के हिन्दू राजाओं को हैदर और टीपू के क्रूर व्यवहार और उनके अन्त का बराबर ध्यान रहेगा। "वे न कभी अपने शत्रुओं का साथ देंगे और न कभी अँगरेज़ों के विरुद्ध सिर उठावेंगे।"[१] अँगरेज़ों की इस "उदारता" के विषय में इतिहासकार ग्रिबिल का कहना है कि मैसूर के इस हिन्दू राज्यनिर्माण द्वारा वेलेज़ली,

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० २, पृ० ७२-१०६।

मराठों और निज़ाम को अधिक भूमि मिलने से, वंचित रखना चाहता था। यदि यह राज्य स्थापित न होता तो कम से कम निज़ाम को आधा हिस्सा अवश्य ही देना पड़ता।[1] इस प्रबन्ध से निज़ाम की शक्ति भी न बढ़ने पाई और मैसूर का राज्य अँगरेज़ों के सर्वथा अधीन हो गया।

नई सन्धि के अनुसार मैसूर राज्य को सहायक प्रथा की सब शर्तें माननी पड़ीं। वेलेज़ली दोहरे शासन के दोषों से अनभिज्ञ न था, इसलिए उसने मैसूर का शासन पुराने योग्य दीवान पुर्णिया के हाथ ही में छोड़ दिया। साथ ही साथ यह तय कर लिया कि शासन की देख-भाल और आवश्यकता पड़ने पर उसको अपने हाथ में ले लेने का अधिकार अँगरेज़ों को रहेगा। बन्दोबस्त के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया, जिसमें गवर्नर-जनरल के दोनों भाई आर्थर और हेनरी थे। इस कमीशन के टूटने पर मैसूर दरबार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रख दिया गया और सहायक सेना का आर्थर वेलेज़ली सेनापति बना दिया गया। सेना के ख़र्चा के लिए कुछ भूमि अलग कर दी गई।

पुर्णिया

इस तरह सन्धि के नाम से मैसूर की स्वतंत्रता का अपहरण किया गया। पुर्णिया ने प्रजा की दशा सुधारने का अच्छा प्रयत्न किया। उसने बड़े बड़े तालाबों की मरम्मत करवाई और लगान कम करके तथा कहीं कहीं पेशगी दे करके ग़रीब किसानों की सहायता की।

हैदराबाद की सहायक सन्धि—मैसूर-युद्ध के पहले निज़ाम के साथ जो सन्धि की गई थी, उससे वेलेज़ली सन्तुष्ट न था। उसमें उसकी

१ ग्रिबिल, ए हिस्ट्री ऑफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० ११३।

सहायक प्रथा का पूर्ण रूप से अनुसरण न किया गया था। इसलिए अक्तूबर सन् १८०० में एक नई सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार मैसूर के बटवारे से निज़ाम को जो कुछ भूमि मिली थी, वह सब सहायक सेना का ख़र्चा चलाने के लिए ले ली गई। अन्य राज्यों के साथ बिना कम्पनी से पूछे हुए सम्बन्ध जोड़ने का अधिकार निज़ाम को न रहा और उनमें से किसी के साथ झगड़ा होने पर कम्पनी को पंच बनाना निज़ाम को स्वीकार करना पड़ा।

कर्नाटक का अन्त—कार्नवालिस के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी नवाब उमदतुलउमरा कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में देने के लिए राज़ी नहीं हुआ था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। टीपू से लड़ाई छिड़ने पर वेलेज़ली ने इसके लिए फिर से प्रयत्न किया। उसने बहुत समझाया कि क़र्ज़ लेकर बराबर क़िस्त अदा करने में उसका राज्य नष्ट हो रहा है। कम्पनी के हाथ में शासन दे देने से वह सब झगड़ों से बच जायगा। परन्तु नवाब वेलेज़ली के पंजे में न आया, वह अपनी ही बात पर डटा रहा। युद्ध समाप्त होने पर कहा जाता है कि टीपू के काग़ज़ात में उसके और उसके बाप मुहम्मद-अली के कई एक पत्र मिले, जिनसे पता चला कि वे दोनों अँगरेज़ों के विरुद्ध टीपू के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते थे। युद्ध में भी नवाब से किसी प्रकार की सहायता न मिली थी। इन बातों की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया। उसकी रिपोर्ट मिलने पर वेलेज़ली की राय में अँगरेज़ों के प्रति नवाब की शत्रुता सिद्ध हो गई और उसने "सम्भव हो तो सन्धि द्वारा नहीं तो घोषणा द्वारा" कर्नाटक का शासन ले लेना निश्चित कर लिया। इस कार्य के लिए वह स्वयं मदरास जाना चाहता था, परन्तु अवध के झगड़ों में फँसे होने के कारण यह काम मदरास के गवर्नर लार्ड क्लाइव को सौंपा गया।

इन दिनों नवाब उमदतुलउमरा बहुत बीमार था। उसकी हालत ख़राब होने पर महल में गोरों का पहरा कर दिया गया। मृत्युशय्या पर पड़े हुए नवाब ने इस अपमान का विरोध किया, परन्तु उसको समझा दिया गया कि गड़-

बड़ होने का भय था, इसलिए ऐसा किया गया। नवाब के मरते ही, कर्नाटक के शासन का क्या प्रबन्ध होगा, इस पर परामर्श होने लगा। उसके १८ वर्ष के बेटे अलीहुसेन को नई सन्धि स्वीकार करने के लिए "एकान्त में" लार्ड क्लाइव ने कई बार बहुत कुछ फुसलाया, पर वह राज़ी न हुआ। इस पर उसके सिपाही गिरफ़्तार कर लिये गये और उसका चचेरा भाई अज़ीमुद्दौला मसनद पर बिठला दिया गया। नई सन्धि द्वारा कर्नाटक का कुल शासन कम्पनी के हाथ में आ गया और अज़ीमुद्दौला केवल नाम के लिए नवाब रह गया।

कर्नाटक का अँगरेज़ों से बहुत पुराना सम्बन्ध था। पहले पहल मुहम्मद-अली ही का साथ देकर अँगरेज़ों ने फ़्रांसीसियों से अपनी रक्षा की थी। हैदर और टीपू नवाब के घोर शत्रु थे। अँगरेज़ों के विरुद्ध उनकी सहायता करना अधिक सम्भव नहीं था। यदि ऐसा हो भी, तो बेचारे अलीहुसेन का क्या दोष था? दोषी था उसका बाप उमदतुलउमरा, जिस पर कोई अभियोग नहीं चलाया गया था। गवर्नर-जनरल की राय में बाक़ायदा अभियोग चलाने की कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि शत्रुता का प्रमाण मिलने पर इस तरह के व्यवहार करने का राज्यों का स्वयंसिद्ध अधिकार है।[1] कमीशन की रिपोर्ट मिलने के पहले ही वेलेज़ली ने कर्नाटक के सम्बन्ध में अपनी राय क़ायम कर ली थी। नवाबों पर जो अपराध लगाये गये थे, उनकी पूरी तरह जाँच भी नहीं की गई थी। विल्सन को भी मानना पड़ा है कि टीपू के नाम उनके पत्रों से ब्रिटिश सरकार के प्रति उनका "वास्तविक विश्वासघात" सिद्ध न होता था। तिस पर भी जो दंड दिया गया, वह तो हर तरह से कठोर था।[2]

कर्नाटक के शासन में बहुत से दोष थे, प्रजा पर अत्याचार होता था, शासक व्यसनी थे, यह सब ठीक है। पर इसके लिए अधिकतर ज़िम्मेदार कौन था? नवाब के हाथ में कोई शक्ति न थी, सेना अँगरेज़ों की थी, जिसके ख़र्चे की कोई

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० २, पृ० ५१५—२४।

२ मिल, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, जि० ६, फ़ुटनोट पृ० ३२४, ३२९।

हद न थी। भेंटों और दावतों की भरमार थी। समय पर क़िस्त अदा न करने से शासनाधिकार छीन लेने का भय दिखलाया जाता था, जिसके कारण तीन रुपया सैकड़ा माहवार तक के सूद पर नवाब को अँगरेज़ महाजनों से क़र्ज़ लेना पड़ता था।[१] महाजनों को सन्तुष्ट रखने के लिए मालगुज़ारी वसूल करने का ठेका उन्हीं को दिया जाता था। प्रजा से उनका कोई सम्बन्ध न था, इसलिए उनको तरह तरह के अत्याचार करने में भी किसी प्रकार का संकोच न होता था। नवाब की ओर से ज़रा सी भी स्वतंत्रता कम्पनी की आँखों में खटकती थी। इँग्लेंड के राज-घराने के साथ नवाबों के पत्र-व्यवहार से वेलेज़ली बहुत चिढ़ता था। उनकी धृष्टता, अँगरेज़ों के प्रति शत्रुता और प्रजा के ऊपर अत्याचारों को दिखलाते हुए, उसने अपनी नीति का बड़े ज़ोरों से समर्थन किया है। इस पर एक इतिहासकार का कहना है कि भेड़ का वध करने के लिए शेर अपना हर समय समर्थन कर सकता है।

तंजोर का झगड़ा—राजा तुलजाजी के कोई सन्तान न थी। मरते समय उसने सरफोजी नाम के एक लड़के को गोद लिया था। जिस ढंग से वह गोद लिया गया था, उसमें कुछ झगड़ा था, इसलिए अँगरेज़ों की सलाह से तुलजाजी का भाई अमरसिंह गद्दी पर बिठला दिया गया। उसके साथ सन् १७९३ की सन्धि करके अँगरेज़ों ने उसको तंजोर का राजा मान लिया। बाद में "पंडितों की सलाह" से पता लगा कि गद्दी का अधिकारी वास्तव में तुलजाजी का दत्तक पुत्र सरफोजी है। इसके अतिरिक्त अमरसिंह का शासन भी ठीक नहीं है। इस "अन्याय" को दूर करने के लिए अब सरफोजी को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया गया। सरफोजी की शिक्षा एक पादड़ी की निगरानी में हुई थी। वह वेलेज़ली की सब शर्तों को मानने के लिए तैयार था। कर्नल बेयर्ड की राय में राजा अमरसिंह एक योग्य शासक था और उसने अँगरेज़ों के विरुद्ध कोई काम नहीं किया था। वेलेज़ली की शर्तें को मान करके वह अपनी बची-खुची स्वतंत्रता को खोना न चाहता था, यही

---

१ हटन, वेलेज़ली, पृ० ५७।

उसका सबसे बड़ा अपराध था। बहुत दिनों से अँगरेज़ रेज़ीडेंट उसको हाथ में लाने के लिए साम, दाम, दंड, भेद से काम ले रहा था। सफलता न होने पर उसको गद्दी से उतारने के सिवा और कोई उपाय न था। वेलेज़ली की राय में उसके शासन की जांच करने के लिए किसी कमीशन के नियुक्त करने की आवश्यकता न थी। इस जाँच-पड़ताल से "तंजोर की प्रजा के सुख और समृद्धि में बड़ी बाधा पड़ती।" इस तरह राजा अमरसिंह गद्दी से उतार दिया गया। सरफोजी के साथ नई सन्धि कर ली गई, जिसके अनुसार पेंशन देकर वह तंजोर के क़िले में रख दिया गया और राज्य का शासन अँगरेज़ों के हाथ में आ गया।

अवध के साथ ज़बरदस्ती—वेलेज़ली की राय में अवध सुरक्षित न था। नवाब वज़ीर की सेना किसी काम की न थी। उसको स्वयं अपनी रक्षा के लिए अँगरेज़ों से प्रार्थना करनी पड़ती थी। अवध की निर्बलता से कम्पनी को अपने राज्य की रक्षा के लिए भय हो रहा था। अवध की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों की शक्ति बढ़ रही थी। ज़माँशाह आक्रमण करने की बराबर धमकी दे रहा था। बनारस से भागकर वज़ीरअली ऊधम मचा रहा था। इन शत्रुओं को रोकने के लिए अवध में काफ़ी अँगरेज़ी सेना न थी। जो सेना थी भी उसी का ख़र्चा चलाना नवाब के लिए कठिन हो रहा था। शासन-व्यवस्था ठीक न होने से नवाब वज़ीर की आमदनी घट रही थी। क़िस्तों के बराबर मिलने की उससे आशा न थी। अँगरेज़ महाजन धन चूस रहे थे। शासन में सुधार करने के लिए नवाब अशक्त था। दिसम्बर सन् १७९८ के एक निजी पत्र में इन दोषों को दूर करने के उपाय बतलाते हुए वेलेज़ली लिखता है कि मराठों और ज़माँशाह से रक्षा करने के लिए "दोआब पर अधिकार कर लेना चाहिए।" नवाब की निकम्मी सेना को, जिससे स्वयं नवाब को भय रहता है, तोड़ देना चाहिए और उसकी जगह पर कम्पनी की घोड़-सवार तथा पैदल सेना बढ़ा देनी चाहिए।[1]

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० १, पृ० ३८६–८७।

इस तरह टीपू से युद्ध छिड़ने के पूर्व ही अवध के विषय में वेलेज़ली की राय निश्चित हो गई थी। युद्ध से निश्चिन्त होने पर नवम्बर सन् १७९९ में उसने नवाब को अपनी सेना तोड़ने और अँगरेज़ी सेना बढ़ाने के लिए लिख भेजा। नवाब की स्वीकृति बिना मिले ही अवध में अँगरेज़ी सेना बढ़ा दी गई और उसका ख़र्चा नवाब से माँगा जाने लगा। वेलेज़ली की राय में नवाब की स्वीकृति की कोई आवश्यकता न थी; क्योंकि सर जान शोर के साथ जो सन्धि हुई थी, उससे अवध की रक्षा का भार कम्पनी ने ले लिया था। इसलिए भय की आशंका होने पर कम्पनी को अपनी सेना बढ़ा देने का अधिकार था और उसका ख़र्च देने के लिए नवाब मजबूर था।

नवाब वज़ीर का कहना था कि मैं क़िस्तों को बराबर अदा कर रहा हूँ, सेना बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी निज की सेना तोड़ देने से मेरा बड़ा अपमान होगा। पिछली सन्धि में यह वचन दिया गया था कि "मौरूसी राज्य, सेना तथा प्रजा पर मेरा पूरा अधिकार रहेगा" परन्तु सेना का प्रबन्ध छीन लेने से मेरा क्या अधिकार रह जायगा? वेलेज़ली की दृष्टि में नवाब का यह उत्तर "धृष्टता-पूर्ण" था। उसका कहना था कि सेना बढ़ाने की आवश्यकता है या नहीं, इसका निर्णय गवर्नर-जनरल कर सकता है न कि नवाब। उसने स्वयं माना है कि वह शासन में सुधार करने के अयोग्य है, ऐसी दशा में समय पर क़िस्तों का अदा होना असम्भव है।

"जाल में फँसी हुई चिड़िया की तरह नवाब फटफटा रहा था।" मसनद से उतरकर देश से बाहर चले जाने तक की नवाब ने धमकी दी, परन्तु गवर्नर-जनरल पर इसका भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। कई महीनों तक आपस में पत्र-व्यवहार होता रहा। नवाब को अपमानित करने और बुरा-भला कहने में वेलेज़ली ने अपने पत्रों में कोई बात उठा न रखी। अब केवल अँगरेज़ी सेना बढ़ाने से ही वेलेज़ली को सन्तोष न था, प्रत्युत अवध के सम्पूर्ण शासन को कम्पनी के हाथ में लेना उसका मुख्य उद्देश्य था। इसकी प्राप्ति में वह किसी प्रकार की बाधा को सहन न कर सकता था।[१] जनवरी सन् १८०१ में नवाब

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० २, पृ० ४२६।

को लिखा गया कि या तो वह तंजोर के राजा की तरह पेंशन स्वीकार करके चुपचाप अलग पड़ा रहे, या अँगरेज़ी सेना का यहाँ तक का ख़र्चा देकर आगे के लिए अपना आधा राज्य कम्पनी को दे देवे। अप्रैल में रेज़ीडेंट कर्नल स्काट को लिख दिया गया कि यदि इन शर्तों के मानने में नवाब हीला-हवाला करे, तो दोआब और रुहेलखंड पर ज़बरदस्ती अधिकार कर लिया जाय।[१] नवाब के विरोध की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया, उलटे उसको चेतावनी दी गई कि इन शर्तों के न मानने का परिणाम "उसके राज्य, तथा उसके वंशजों के लिए अच्छा न होगा।"

लखनऊ की सन्धि—जुलाई सन् १८०१ में शर्तों को मंज़ूर कराने के लिए गवर्नर-जनरल का भाई हेनरी लखनऊ भेजा गया। थोड़े दिन बाद स्वयं गवर्नर-जनरल भी कलकत्ता से चल पड़ा। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर नवम्बर सन् १८०१ में नवाब को सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि से दोआब और रुहेलखंड के कुछ ज़िले कम्पनी को मिल गये। वेलेज़ली ने छांटकर अवध की सीमा पर के ज़िलों को लिया। इन ज़िलों के निकल जाने से मराठा या अन्य किसी बाहरी शक्ति से अवध के राज्य का सम्बन्ध न रह गया। चारों ओर के ज़िलों पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। नवाब की सेना घटा दी गई और आवश्यकता पड़ने पर बिना ख़र्चा लिये हुए नवाब की सैनिक सहायता करने के लिए वचन दिया गया। अँगरेज़ अफ़सरों की सलाह से नवाब ने इस बचे-खुचे राज्य का शासन करना स्वीकार किया।

अवध में अँगरेज़ी सेना बढ़ाने की कोई आवश्यकता न थी। ज़मांशाह अपने ही झगड़ों में फँसा हुआ था, उसके भारतवर्ष लौटने की कोई सम्भावना न थी। वज़ीरअली से कोई ऐसा भय न था। सिन्धिया को पूना के झगड़ों से ही फ़ुरसत न थी, उसका ध्यान उत्तर की अपेक्षा दक्षिण की ओर ही अधिक था। नवाब की निजी सेना के घटाने का प्रस्ताव पिछली सन्धियों के सर्वथा विरुद्ध था। नवाब के ज़िम्मे कोई क़िस्त बाक़ी न थी।

---

१ वेलेज़ली, डेसपेचेज़, जि० २, पृ० ४९३-५०३।

कम्पनी की माँग बराबर बढ़ती जाती थी। बीस पचीस लाख रुपया सालाना से बढ़ते बढ़ते यह रक़म एक करोड़ पैंतीस लाख तक पहुँच गई थी। जब नवाब ने इतनी बड़ी रक़म देने में अपनी असमर्थता प्रकट की तब उसका आधा राज्य छीन लिया गया। सन् १७८७ में कार्नवालिस ने और सन् १७९८ में सर जान शोर ने शासन में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था। परन्तु इसका कुछ भी ध्यान न रखकर अँगरेज़ अफ़सरों की सलाह से शासन करने के लिए नवाब से कहा गया। इँग्लेंड लौटने पर, पाल नामक एक अँगरेज़ की सहायता से, जो बहुत दिनों तक अवध में रह चुका था, इस सम्बन्ध में वेलेज़ली पर भी पार्लामेंट में अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सफलता न हुई।

अवध का शासन—नवाब से छीने हुए ज़िलों का हेनरी वेलेज़ली लेफ़्टिनेंट-गवर्नर बनाया गया। यह गवर्नर-जनरल का छोटा भाई था और उसके प्राइवेट सेक्रेटरी का काम करता था। हेनरी वेलेज़ली कम्पनी का नौकर न था। उसकी नियुक्ति से कम्पनी के संचालक वेलेज़ली से बहुत चिढ़ गये। अन्त में उनकी आज्ञा से हेनरी को यह पद छोड़ना पड़ा। इन ज़िलों में अँगरेज़ी क़ानून-क़ायदे जारी कर दिये गये। जनता के रीति-रिवाजों का कुछ भी ध्यान न रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अदालतों द्वारा न्याय की अपेक्षा अधिकतर अत्याचार होने लगा। मनमाना लगान लिया जाने लगा, जिससे थोड़े ही दिनों में इन ज़िलों की आमदनी बहुत बढ़ गई। नवाब से जितना रुपया नक़द मिलता था, उससे कहीं अधिक इन ज़िलों से मिलने लगा। नवाब सादतअली ने भी सुधार का प्रयत्न किया। उसने मालगुज़ारी वसूल करने के लिए राज्य को 'चकलों' और 'इलाक़ों' में बांट दिया और उनको ठेके पर उठा दिया। हेनरी लारेंस का कहना है कि वह एक योग्य शासक था। यदि उसके साथ अच्छा बर्ताव किया जाता तो बहुत कुछ सुधार होने की सम्भावना थी। अँगरेज़ रेज़ीडेंट बराबर उसके शासन में बाधा डालते थे और किसी प्रकार की उन्नति न होने देते थे। तिस पर भी थोड़े ही काल में उसने ख़ज़ाने को धन से भर दिया था।

सूरत का अपहरण—भारतवर्ष आने पर अँगरेज़ों ने पहले पहल सूरत में ही पैर जमाया था। सन् १७५६ में उन्होंने जैसे तैसे क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया और नवाब के साथ सन्धि करके दोहरा शासन चला दिया। इस सम्बन्ध में एक डच यात्री का कहना है कि क़ानून-क़ायदे सब अँगरेज़ों के हाथ में थे, तिसपर भी नवाब को गद्दी पर बिठलाये रखने का ढोंग दिखलाया जाता था। अँगरेज़ों की माँगें बराबर बढ़ती जाती थीं। वेलेज़ली की राय में नवाब का शासन ठीक न था और रक्षा के लिए सेना बढ़ाने की आवश्यकता थी। नवाब के मरने पर अँगरेज़ी सेना सूरत पहुँच गई और उसके भाई को पेंशन स्वीकार करके सूरत का शासन अँगरेज़ों के हाथ में छोड़ देना पड़ा। वह एक लाख रुपया सालाना देने के लिए तैयार था, पर वेलेज़ली को उतने से सन्तोष न था। सूरत के अँगरेज़ प्रतिनिधि की राय में अधिक रुपया देना नवाब के लिए सम्भव न था, उससे राज्य छीन लेना सरासर विश्वासघात था।[१] वेलेज़ली का कहना था कि शासन और सैनिक प्रबन्ध कम्पनी के हाथ में आ जाने से ही सूरत की दशा सुधर सकती थी, इसलिए उसको ले लेना कम्पनी का "कर्तव्य और अधिकार" था। इस मामले में एक लेखक का कहना है कि न्याय तो बेचारे नवाब की ओर था, अँगरेज़ों की तरफ़ केवल चालबाज़ी और धींगाधींगी थी।[२]

फ़ोर्ट विलियम कालेज—कम्पनी के नौकर इँग्लेंड से आते थे। उनको भारतवर्ष का कुछ भी ज्ञान न होता था। उनकी शिक्षा और योग्यता की ओर भी विशेष ध्यान न दिया जाता था। इन दोषों को दूर करने के लिए सन् १८०० में वेलेज़ली ने कलकत्ता में एक कालेज खोलने की योजना तैयार की। उसका कहना था कि सोलह सत्रह वर्ष के लड़के इँग्लेंड से भेज दिये जाते हैं, भारतवर्ष में उन पर कोई देख-रेख नहीं रहती है, वे मनमाने ढंग से रहने लगते हैं। वे केवल एक व्यापारिक संस्था के ही नौकर नहीं हैं। अब

---

१ मिल, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० ६, पृ० २९५।

२ कलकत्ता रेव्यू, जि० ९, पृ० ११५।

उनको राजदूत, मंत्री, जज और शासकों का काम करना पड़ता है। जब तक उनकी शिक्षा, योग्यता और आचरण का ध्यान नहीं रखा जायगा, शासन में सफलता होना असम्भव है। इन लोगों के लिए पाश्चात्य राजनीति, विज्ञान और साहित्य के साथ साथ पूर्वीय इतिहास, भारतवर्ष सम्बन्धी क़ानून-क़ायदों और देशी भाषाओं का ज्ञान बड़ा आवश्यक है।[१] संचालकों की स्वीकृति बिना मिले हुए ही उसने यह कालेज बड़ी धूम-धाम से खोल दिया।

इसमें बहुत से अँगरेज़ अफ़सर और पादड़ी अध्यापक नियुक्त किये गये। देशी भाषाएँ सिखलाने तथा रीति-रिवाजों को बतलाने के लिए पंडित और मौलवी रखे गये। इँग्लेंड से आने पर कम्पनी के साधारण कर्मचारियों को इस कालेज में तीन वर्ष पढ़ने के लिए नियम बना दिया गया। कम्पनी के संचालक वेलेज़ली से सहमत न थे, कर्मचारियों की शिक्षा के लिए वे अपने को ज़िम्मेदार न मानते थे। इसके अतिरिक्त कालेज के चलाने में बड़ा ख़र्च पड़ता था। उनकी आज्ञा के विरुद्ध दो वर्ष तक इस्तीफ़े की धमकी देकर जैसे-तैसे वह इस कालेज को चलाता रहा। अन्त में उसे उनकी आज्ञा मानकर इसको तोड़ना पड़ा। अँगरेज़ लेखकों को, जो कहते हैं कि भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार के लिए इस कालेज की स्थापना की गई थी, ध्यान रखना चाहिए कि यह कालेज कम्पनी के केवल अँगरेज़ कर्मचारियों के लिए खोला गया था। हिन्दुस्तानियों को पढ़ाने की इसमें कोई व्यवस्था न थी। उनकी शिक्षा के लिए वेलेज़ली को कुछ भी चिन्ता न थी। इसमें सन्देह नहीं कि कालेज की योजना से वेलेज़ली की दूरदर्शिता और योग्यता का परिचय मिलता है। इससे कर्मचारियों की शिक्षा की ओर संचालकों का ध्यान भी आकर्षित हो गया। कुछ दिनों बाद इसी ढंग का एक कालेज इँग्लेंड में खोला गया, जो बहुत दिनों तक चलता रहा।

धार्मिक नीति—वेलेज़ली भारतवर्ष में ईसाई मत की उन्नति और प्रचार के लिए उत्सुक था। भारतवर्ष में अँगरेज़ों को पथ-भ्रष्ट होते

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० २, पृ० ३२५—५५।

हुए देखकर उसको बड़ी चिन्ता हो रही थी। इस दोष को दूर करने के लिए फ़ोर्ट विलियम कालेज में धार्मिक शिक्षा का ख़ास प्रबन्ध किया गया था। कालेज का अध्यक्ष नियमानुसार एक पादड़ी ही हो सकता था। इस कालेज से हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने में भी सहायता ली गई। वेलेज़ली की आज्ञा से बाइबिल का सात देशी भाषाओं में अनुवाद किया गया। परन्तु धर्म के प्रचार में वह पुर्तगालियों की सी भूल करनेवाला न था। इस सम्बन्ध में वह आधुनिक ढंग से काम लेना चाहता था। खुले तौर पर ज़बरदस्ती ईसाई बनाना उसकी नीति के विरुद्ध था। लंका के गवर्नर को स्पष्ट शब्दों में इसके लिए मना कर दिया गया था। उसकी राय में धर्म-प्रचार के लिए उसने जो कुछ किया, उससे कोई "ईसाई गवर्नर" कम न कर सकता था और न किसी "ब्रिटिश गवर्नर" को उससे अधिक करना ही वाजिब था।[1] सन् १८०२ में उसकी आज्ञा से बाल-हत्या बन्द कर दी गई। सती-प्रथा की जांच करने और रोकने का भी प्रयत्न किया गया, परन्तु अधिक सफलता न हुई।

मिस्र और फ़ारस—भारतवर्ष की सीमाओं को सुरक्षित रखने की चिन्ता वेलेज़ली को हर समय रहती थी। इसी दृष्टि से उसने मालकम को सन् १७९९ में फ़ारस भेजा। शाह के साथ मित्रता की सन्धि हो जाने से स्थल के मार्ग से फ्रांसीसी या रूसियों के भारतवर्ष आने की विशेष सम्भावना न रही, दूसरे ज़मांशाह को रोकने का भी अवसर मिल गया। व्यापारिक सम्बन्ध हो जाने से फ़ारस की खाड़ी में भी अँगरेज़ों का पैर जम गया। फ्रांसीसियों की शक्ति तोड़ने के लिए सन् १८०१ में उसने एक हिन्दुस्तानी सेना मिस्र भेजी। यह पहला ही अवसर था जब हिन्दुस्तानी सेना अँगरेज़ों की सहायता के लिए भारतवर्ष से बाहर भेजी गई। इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, यह ठीक है, पर इससे वेलेज़ली की दूरदर्शिता का परिचय अवश्य मिलता है। यूरोपीय युद्ध के समय में पूर्वीय देशों पर आक्रमण करने तथा हिन्दुस्तानी सेना बाहर भेजने की प्रथा को उसने चला दिया।

---

१ हटन, वेलेज़ली, पृ० १२७।

परिच्छेद ८

साम्राज्य के लिए युद्ध

(२)

मराठों की स्थिति—खर्दा की विजय मराठों की अन्तिम विजय थी। परन्तु इससे यदि किसी को भ्रम नहीं हुआ था, तो वह युवक पेशवा था। विजय की बधाई मिलने पर उसका कहना था कि बिना लड़े-भिड़े मुग़लों की बेढब हार और मराठों के गर्व को देखकर मुझे दोनों की पतित अवस्था पर दुख हो रहा है।[१] मराठों की इस अवस्था का प्रमाण उस समय का इतिहास है। इस अवसर पर नाना फड़नवीस ने

सवाई माधवराव

---

१ मैकडोनाल्ड, मेम्वायर ऑफ़ नाना फड़नवीस, पृ० ९७।

मराठा-मंडल में जो एकता स्थापित की थी वह एक दुर्घटना के कारण थोड़े ही काल में छिन्न-भिन्न हो गई।

राघोबा के मरने पर नाना फड़नवीस ने उसके बेटे बाजीराव को कैद कर रखा था। वह जानता था कि देशद्रोही राघोबा की सन्तान से मराठा-मंडल का हित होना असम्भव है। बाजीराव संस्कृत का अच्छा विद्वान् था और उसको मीठी मीठी बातें बनाना खूब आता था। वह गुप्त रीति से पेशवा के साथ पत्र-व्यवहार करने लगा। पेशवा तो भावुक था ही, थोड़े ही काल में उस पर बाजीराव का रंग जम गया। इसके लिए नाना फड़नवीस को कई बार पेशवा की भर्त्सना करनी पड़ी। इधर कुछ दिनों से उस का स्वास्थ्य बिगड़ रहा था और वह बराबर उदास रहा करता था। अक्तूबर सन् १७९५ में वह छत पर से गिरकर मर गया।[1] यह माधवराव का गिरकर मरना ही न था वास्तव में पेशवाई का पतन था।

माधवराव के कोई सन्तान न थी। मरते समय उसने बाजीराव को गद्दी पर बिठलाने की इच्छा प्रकट की थी। नाना फड़नवीस इसका परिणाम जानता था। सिन्धिया और होलकर की सलाह से वह एक दत्तक पुत्र को गद्दी पर बिठलाना चाहता था, परन्तु बाजीराव के षड्यंत्र से नाना का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया और बाजीराव पेशवा हो गया। वह अपने कुटुम्ब के प्रति नाना फड़नवीस का व्यवहार भूल न सकता था। कभी वह उसके विरुद्ध सिन्धिया को भड़काता था, कभी सिन्धिया को दबाये रखने के लिए उससे नाता जोड़ता था। पूना में इन दिनों बड़ा हलचल मचा था। कितने ही राजनैतिक दल हो गये थे। सबको अपने स्वार्थ-साधन की सूझ रही थी, मराठा-

---

१ ग्रांट डफ़ की राय के आधार पर अंगरेज़ इतिहासकारों का कहना है कि नाना के कठिन नियंत्रण से तंग आकर पेशवा ने छत से कूदकर आत्महत्या कर ली। इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। तुकोजी होलकर, अंगरेज नायब रेज़ीडेंट के पत्रों तथा मराठी कागज़ात से यह बात सिद्ध नहीं होती है। किंकेड, हिस्ट्री ऑफ दि मराठा पीपुल, जि० ३, पृ० १७८-८०।

साम्राज्य या देश के हित का ध्यान किसी को भी न था। उधर तुकोजी होलकर की भी मृत्यु हो गई। वह सीधे स्वभाव का योद्धा था और उसने बड़ी योग्यता से अहिल्याबाई की आज्ञाओं का पालन किया था। इन दिनों उसके बेटों में भी युद्ध हो रहा था। सिन्धिया और होलकर में पुराना वैर था। होलकर घराने में फूट देखकर सिन्धिया अपना मतलब सिद्ध करना चाहता था।

तुकोजी होलकर

नाना फड़नवीस की मृत्यु—इन झगड़ों में नाना फड़नवीस को कुछ दिनों के लिए अहमदनगर के क़िले में क़ैद भी रहना पड़ा। सिन्धिया से तंग आकर बाजीराव ने उसको फिर एक बार प्रधान सचिव बनाया। परन्तु मराठों की दुर्दशा और अपने अपमान को नाना बहुत दिन तक सहन न कर सका। मार्च सन् १८०० में उसकी मृत्यु हो गई। कर्नेल पामर के शब्दों में उसके साथ मराठा सरकार की "बुद्धि और नम्रता" का भी अन्त हो गया। मैकडोनाल्ड की राय में नाना फड़नवीस निस्सन्देह एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसके मुख्य दोषों की उत्पत्ति, व्यक्तिगत साहस के अभाव तथा उसकी महत्त्वाकांक्षा से, जिस पर कभी कभी सिद्धान्तों की रोक-टोक न रहती थी, हुई थी। अपने जीवन के दुःखमय अन्तिम समय में भी उसने एक सच्चे देशभक्त के भावों से काम लिया, इसको मराठा तथा अँगरेज़ दोनों ही ने माना है। इसके लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। अपने लिए क्या परिणाम होगा इसका बिना कुछ ध्यान किये हुए

उसने अपने विश्वास के अनुसार बाजीराव को सदा उसके हित की सलाह दी। यदि मराठा शासन बिना अँगरेज़ों की सहायता के फिर अच्छी तरह चलाया जा सकता था, तो वह लार्ड वेलेज़ली के प्रस्ताव को मानकर अँगरेज़ी सेना बुलाने के सर्वथा विरुद्ध था। अँगरेज़ों का वह आदर करता था, उनके चरित्र की सत्यता तथा उनके शासन की दृढ़ता की वह प्रशंसा करता था। परन्तु

नाना फड़नवीस

राजनैतिक शत्रु की दृष्टि से अँगरेज़ों का भय और उनकी जलन उससे अधिक किसी को न थी। वह जानता था कि गवर्नर-जनरल के इच्छानुसार अँगरेज़ों को पैर जमाने की आज्ञा देने का अन्तिम परिणाम यह होगा कि उनका प्रभाव

सबको दबा लेगा। "व्यक्तिगत जीवन में वह बड़ा सत्यवादी, दयावान्, दानी और मितव्ययी था। अपने समय की पाबन्दी के लिए उसने बड़े कड़े नियम बना रखे थे। सब काम वह स्वयं कैसे करता था, इसका अनुमान करना कठिन है।"[१]

वेसीन की सन्धि—मराठों की फूट में ही अँगरेज़ों का सबसे अधिक लाभ था, इसको वेलेज़ली अच्छी तरह जानता था। इसी लिए जब से वह आया था, इस फूट के फैलाने में उसने कोई कसर उठा न रखी थी। कभी वह सिन्धिया के दबाने के लिए भोंसला से सन्धि का प्रस्ताव करता था,[२] कभी सिन्धिया को पूना से हटाने के लिए ज़माँशाह का भय दिखलाता था।[३] कभी वह पेशवा को नाना फड़नवीस और सिन्धिया के पंजे से छुड़ाने का विश्वास दिलाता था, कभी फिर से प्रधान सचिव बनवाने का वचन देकर नाना फड़नवीस को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करता था।[४] परन्तु इस समय तक कोई मराठा राजा या सरदार उसके जाल में न फँसा था। नाना के मरने से अँगरेज़ों के मार्ग का एक बड़ा भारी कंटक दूर हो गया। पूना में भी ऐसी घटनाएँ होने लगीं, जिनमें अपना मतलब सिद्ध करने के लिए वलेज़ली को अच्छा अवसर मिल गया। यशवन्तराव होलकर की अनुपस्थिति में सिन्धिया ने उसके भाई को बड़ी निर्दयता से मरवा डाला। बदला लेने के लिए होलकर ने पूना पर चढ़ाई कर दी, जिसमें सिन्धिया और पेशवा की हार हुई। बाजीराव भाग गया। होलकर ने राघोबा के दत्तक पुत्र अमृतराव के लड़के को गद्दी पर बिठला दिया।

---

१ मैकडोनाल्ड, नाना फड़नवीस, पृ० १५६-५७।

२ इस सम्बन्ध में, ता० ३ मार्च सन् १७९९ के एक पत्र में, बरार के रेज़ीडेंट कोलब्रुक को लिखा गया कि सन्धि के वास्तविक उद्देश्य को गुप्त रखकर यह दिखलाना चाहिए कि सन्धि टीपू के विरुद्ध की जा रही है। डेसपैचेज़, जि० १, पृ० ४७९-८०।

३ ग्रांट डफ़, पृ० ५४०।

४ कर्नल पामर के नाम निजी पत्र, डेसपैचेज़, जि० १, पृ० १११-१२।

जिस बात को नाना फड़नवीस और सिन्धिया चार वर्ष से टाल रहे थे, जिसके लिए वेलेज़ली ने कोई कसर उठा न रखी थी, वही बात अब आप ही आप सम्भव हो गई। पूना से भागकर बाजीराव ने अँगरेज़ों से सहायता मांगी। उसने उनकी सब शर्तों को स्वीकार कर लिया और दिसम्बर सन् १८०२ में अँगरेज़ी जहाज़ पर बेसीन पहुँचकर सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। उसने अपने खर्च से अँगरेज़ी सेना को रखना स्वीकार किया और इसके लिए २६ लाख रुपया सालाना की आमदनी के ज़िलों को दे देने का वचन दिया। यूरोप के किसी अन्य निवासी को अपने यहाँ नौकर न रखने तथा किसी राज्य से ब्रिटिश सरकार की इच्छा बिना युद्ध या सन्धि न करने की भी प्रतिज्ञा की; और निज़ाम तथा गायकवाड़ सम्बन्धी झगड़ों में अँगरेज़ों को पंच मान लिया। अँगरेज़ों ने उसको फिर से गद्दी पर बिठला देने और बराबर उसकी रक्षा करने का वचन दिया। इस तरह गद्दी के लालच में पड़कर बाजीराव ने राष्ट्रीय सम्मान और स्वतंत्रता को अँगरेज़ों के हाथ बेंच दिया। राघोबा के बेटे से इसके अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती थी ?

कार्नवालिस के मैसूर-युद्ध की आलोचना करते हुए फ्रांसिस ने ठीक कहा था कि हिन्दुस्तानी राजा अपने तात्कालिक लाभ के लिए बच्चों की तरह उत्सुक रहते हैं। अपना मतलब सिद्ध करने के लिए उपायों को ढूँढ़ निकालने में वे बड़े चतुर होते हैं। उनके चुनने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है। सुदृढ़, स्थायी तथा दूरवर्ती लाभ का उन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता है। यदि ऐसा न होता तो क्या यह सम्भव था कि बंगाल के नवाबों का नाश, अवध के नवाबों की अधीनता और स्वयं बादशाह तथा अन्य राजाओं को, जो ब्रिटिश मित्रता के शिकार बन चुके हैं, निगाह में रखते हुए भी वे ऐसी सन्धियाँ करते, जिनमें उनको हमारी सहायता माँगने की आवश्यकता पड़ती ?[१]

१ फारेस्ट, सेलेक्शंस फ्रॉम दि स्टेट पेपर्स ऑफ लार्ड कार्नवालिस, जि० १, पृ० १०३।

सन्धि का परिणाम—पेशवा मराठों का नेता था। गवर्नर-जनरल की राय में उसके साथ सन्धि हो जाने से सारे मराठा-मंडल से सन्धि हो गई। उसे आशा थी कि इससे "देश भर में शान्ति स्थापित हो जायगी"। परन्तु परिणाम उलटा हुआ, शान्ति की अपेक्षा घोर युद्ध छिड़ गया। 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' के सभापति कैसलरी को पहले ही से इसका भय था। आर्थर वेलेज़ली को भी ऐसी ही आशंका थी, यद्यपि इस समय वह सन्धि का पूरा समर्थन कर रहा था।[1] पेशवा मराठा-मंडल का नेता अवश्य था, पर इस समय वह निर्बल हो रहा था। ऐसी दशा में यह आशा नहीं की जा सकती थी कि मराठा-मंडल के अन्य सदस्य बेसीन की अपमानजनक सन्धि को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे। यह बात नीति-निपुण गवर्नर-जनरल की समझ में न आई हो, ऐसा अनुमान करना उसकी दूरदर्शिता में सन्देह करना है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। वास्तव में इसका परिणाम उससे भी छिपा न था, पर अगले युद्ध के समर्थन के लिए पहले शान्ति पर ज़ोर देना आवश्यक था। युद्ध छिड़ जाने पर कहा जाने लगा कि चाहे यह सन्धि होती या न होती युद्ध अनिवार्य्य था। सन्धि कर लेने से युद्ध में भी सुगमता हो गई और विजय द्वारा शान्ति स्थापित हो गई। दोनों ढंग से सन्धि का यह विचित्र समर्थन था।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि मराठे स्वतंत्र थे, उनके झगड़ों में हस्तक्षेप करने की इस समय क्या आवश्यकता थी? उत्तर में कहा जाता है कि फ्रांसीसियों का भय था।[2] यह भय जैसा कुछ था दिखलाया जा चुका है। दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि सिन्धिया, भोंसला और होलकर के पास बड़ी बड़ी सेनाएँ थीं, जिनका ख़र्च चलाने के लिए वे प्रायः लूट-मार करते थे। कम्पनी तथा उसके मित्र निज़ाम और मैसूर के राज्यों पर उनके आक्रमण की

---

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज़, सं० ओयन, भूमिका पृ० ४८—५०।

२ हटन, वेलेज़ली, पृ० ८९।

आशंका थी ।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मराठों को इन दिनों अपने ही झगड़ों से छुट्टी न थी, फिर अन्य राज्यों पर आक्रमण का कहना ही क्या था ? यह भी कहा जाता है कि पेशवा ने अँगरेज़ों से सहायता माँगी थी, उसको सहायता न देना केवल नीति-विरुद्ध ही नहीं बल्कि "नीचता" थी ।[2] परन्तु जब कम्पनी के परम मित्र निज़ाम पर संकट पड़ा था, तब यह उदारता कहाँ चली गई थी ? इसके अतिरिक्त होलकर को, जिसने बाजीराव को निकाल बाहर किया था, दंड देने की क्या व्यवस्था की गई थी ? मराठों के झगड़ों में पड़ने की आवश्यकता भले ही न रही हो, सन्धि का तात्कालिक परिणाम युद्ध ही हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि अन्ततः अँगरेज़ों का इससे पूरा लाभ हुआ । सिडनी ओवन का कहना है कि इस समय तक भारत में एक "ब्रिटिश साम्राज्य" था, परन्तु इससे कम्पनी के हाथ में "भारत का साम्राज्य" आ गया । उत्तर, दक्षिण और पूर्व में अँगरेज़ों का प्रभुत्व स्थापित ही हो चुका था, अब पश्चिम के मराठा साम्राज्य में भी उनका आतंक जम गया ।[3]

बाजीराव की वापसी—अप्रैल सन् १८०३ में आर्थर वेलेज़ली ने एक बड़ी सेना के साथ पूना आकर बाजीराव को फिर से गद्दी पर बिठला दिया । बेसीन की सन्धि से चिढ़कर सिन्धिया और भोंसला ने बाजीराव का साथ नहीं दिया । होलकर भी चुपचाप रहा और बेचारे अमृतराव ने पेंशन स्वीकार कर ली । पेशवा की रक्षा के लिए पूना में अँगरेज़ी सेना रख दी गई । गवर्नर-जनरल लिखता है कि अधिकांश मराठा जागीरदार बाजीराव के पक्ष में थे और प्रजा उसको फिर से गद्दी पर बिठलाने में सहायता देने के लिए तैयार थी । यदि ऐसा न होता तो मैं उसको मसनद पर बिठलाने का प्रयत्न फ़ौरन ही छोड़ देता । प्रजामत के प्रतिकूल मराठों पर किसी शासक का रखना "न्याय और

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० २४९ ।

२ हटन, वेलेज़ली, पृ० ९० ।

३ वेलिंगटन, डेसपैचेज, भूमिका, पृ० ४६ ।

बुद्धि" के विरुद्ध था।[1] दक्षिण के जागीरदारों के सम्बन्ध में आर्थर वेलेज़ली लिखता है कि जब तक ख़ूब सेना एकत्र करके उनको यह अच्छी तरह नहीं दिखला दिया जायगा कि हम बिना अपना मतलब सिद्ध किये हुए नहीं हटेंगे, तब तक वे हमारा साथ न देंगे।[2] यदि गवर्नर-जनरल के कथनानुसार अधिकांश जागीरदार बाजीराव के ही पक्ष में थे, तो फिर इस सैनिक भय के दिखलाने की क्या आवश्यकता थी? प्रजा उसके अत्याचार से पीड़ित थी, उसी की अनुमति से सिन्धिया ने पूना में लूट मचा रखी थी। फिर उसके साथ प्रजा की सहानुभूति कैसे हो सकती थी?

बाजीराव की अयोग्यता गवर्नर-जनरल से छिपी न थी। उसकी राय में वह निर्बल, कपटी और शासन के अयोग्य था। आर्थर का कहना था कि सार्वजनिक बातों का तो उसे कभी ध्यान ही न आता था। उसका व्यक्तिगत जीवन "भयंकर" था।[3] यदि प्रजा के हित का ही ध्यान था तो अमृतराव, जो आर्थर के शब्दों में "बड़ा योग्य" था, पेशवा क्यों न बनाया गया? उत्तर में आर्थर का, जो अपने भाई की तरह नीति-निपुण न था, स्पष्ट शब्दों में कहना है कि यदि वह विद्रोह करता तो अँगरेज़ों के मार्ग में बाजीराव से भी बढ़कर कंटक होता।[4] यह ठीक है कि शासक की अयोग्यता ही में अँगरेज़ों का हित था।

सिन्धिया और भोंसला—पूना दरबार से सिन्धिया को हटाने के लिए वेलेज़ली पहले ही से प्रयत्न कर रहा था। वह जानता था कि सिन्धिया की उपस्थिति में बाजीराव का फँसना असम्भव है। इसलिए पहले उसको उत्तरी भारत में ज़मांशाह के आक्रमण का भय दिखलाया गया। इस पर भी जब वह नहीं हटा, तब उसके विरुद्ध निज़ाम और भोंसला के साथ गुप्त सन्धि का प्रयत्न किया गया। इसमें भी असफलता होने पर यह दिखलाया

---

१ वेलज़ली, डेसपेचेज, जि० ३, पृ० ४२-४३।

२ वेलिंगटन, डेसपेचेज, पृ० २००-२०१।

३ वहीं, पृ० ३६७।

४ वहीं, पृ० ३६७।

जाने लगा कि उत्तरी भारत में सिन्धिया के राज्य में अशान्ति फैली हुई है। सन् १७९९ में ही क्लार्क को अवध की सीमा पर सेना एकत्र करने के लिए आज्ञा दे दी गई थी। साथ ही साथ यह भी लिख दिया गया था कि सिन्धिया या उसके सूबेदार अम्बाजी के कारण पूछने पर यह कह देना चाहिए कि अवध का पदच्युत नवाब वज़ीरअली बनारस से भागकर ज़माँशाह के पास जानेवाला था। उन दोनों के आक्रमण को रोकने के लिए ऐसा करना पड़ा। इतना ही नहीं यह भी कह दिया गया था कि लड़ाई छिड़ते ही राजपूत राजाओं को अपने पक्ष में मिला लेना चाहिए और सिन्धिया के कुटुम्बियों तथा नौकरों को, जो उससे असन्तुष्ट हों, सहायता का वचन देकर भड़काना चाहिए।[१] इस तरह पहले ही से सिन्धिया के विरुद्ध तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं, परन्तु इस समय उनका गुप्त रखना आवश्यक था। सिन्धिया को विवश होकर कुछ काल के लिए पूना छोड़ना ही पड़ा, पर वह शीघ्र ही फिर लौट आया।

सिन्धिया के विरुद्ध भोंसला को हाथ में लाने का काम कोलब्रुक को सौंपा गया। परन्तु टीपू के पतन से अँगरेज़ों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि भोंसला मराठों की रक्षा के लिए चिन्तित हो रहा था। मई सन् १८०१ में निराश होकर कोलब्रुक वापस चला गया। भोंसला ने दो प्रतिनिधियों को पूना भेजा और सिन्धिया तथा होलकर के परस्पर वैर को मिटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु बेसीन की सन्धि हो जाने से उसका बना बनाया काम बिगड़ गया।

मराठों का दूसरा युद्ध—बेसीन की सन्धि के सम्बन्ध में सिन्धिया या अन्य किसी मराठा राजा से कोई परामर्श नहीं किया गया था। उसकी क्या शर्तें थीं, इसका भी उनको ठीक ठीक पता न था। सिन्धिया और भोंसला की राय में सन्धि के पूर्व अँगरेज़ों तथा पेशवा का उनके साथ परामर्श करना कर्तव्य था। जब सिन्धिया, होलकर और भोंसला को सन्धि के समाचार मिले, तब उन लोगों ने इस सम्बन्ध में परस्पर विचार करना आवश्यक

१ ता० ८ मार्च का "गुप्तपत्र", डेसपैचेज़, जि० २, पृ० ४८७-९१।

समझा। इसी उद्देश्य से फ़रवरी सन् १८०३ में सिन्धिया उज्जैन से चलकर बरहानपुर पहुँचा। यहीं उसको अँगरेज़ रेज़ीडेंट कालिंस मिला। मई में नागपुर से भोंसला भी चल पड़ा। कालिंस की राय में इन दोनों का उद्देश्य पूना की ओर बढ़ने का था। इन दोनों के मिलने में वह अँगरेज़ों का हित न समझता था। वह सिन्धिया का स्पष्ट मन जल्दी जानना चाहता था, इसी लिए निज़ाम की सीमा से सेना हटाने का आग्रह कर रहा था। ता० २७ मई को कालिंस के बहुत ज़ोर देने पर सिन्धिया की ओर से उसको विश्वास दिलाया गया कि अँगरेज़ों के मार्ग में वह किसी प्रकार की बाधा नहीं डालना चाहता। कहा जाता है कि इसी अवसर पर सिन्धिया ने यह भी कहा कि भोंसला से भेंट होने के बाद कहा जा सकता है कि "युद्ध होगा या सन्धि"।

बरार में मलकापुर नामक स्थान पर सिन्धिया और भोंसला की भेंट हुई। इन दोनों ने कालिंस को विश्वास दिलाया कि निज़ाम के राज्य की सीमा पार करने या पूना की ओर बढ़ने का उनका कोई विचार नहीं है। बेसीन की सन्धि की रक्षा करने का वे गवर्नर-जनरल को वचन दे चुके हैं। परन्तु कालिंस की राय में यह सब बहानाबाज़ी थी। उस स्थान से हटना ही मित्रता का केवल प्रमाण हो सकता था। इस पर ता० २८ जुलाई को सिन्धिया और भोंसला ने कहला भेजा कि यदि जनरल वेलेज़ली अपनी सेना लेकर हट जाय, तो वे भी बरहानपुर वापस चले जायँगे। ता० ३१ जुलाई के पत्र में सिन्धिया ने गवर्नर-जनरल को भी स्पष्ट लिख दिया कि इस समय तक पेशवा ने सन्धि के विषय में मुझे कुछ नहीं लिखा है, सब हाल जानने के लिए मैं पेशवा के यहाँ दूत भेज रहा हूँ। पेशवा, भोंसला तथा अन्य मराठा सरदारों के साथ मेरे जो परस्पर के प्राचीन सम्बन्ध हैं, यदि उनमें बेसीन की सन्धि से कोई रुकावट नहीं पड़ती है, तो उसके विरुद्ध जाने का मेरा कभी विचार नहीं है।[1] इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया गया, निज़ाम की सीमा से हटने के लिए कोई तारीख़ भी निश्चित नहीं की गई और न अँगरेज़ी सेना हटाने के विषय में

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ३, पृ० २५०—५१।

ही कुछ कहा गया। ता० ३ अगस्त को कालिंस दरबार छोड़कर चला गया और ता० ६ अगस्त को अहमदनगर पर आक्रमण करके सेनाध्यक्ष आर्थर वेलेज़ली ने युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध पर विचार—सिन्धिया और भोंसला बेसीन की सन्धि से असन्तुष्ट अवश्य थे, पर इस युद्ध में पड़ने का न उनका विचार ही था और न वे तैयार ही थे। ता० १६ अप्रैल के पत्र में स्वयं गवर्नर-जनरल गुप्त कमेटी को लिखता है कि सिन्धिया बराबर अँगरेज़ों से झगड़ा बचा रहा है। भोंसला से बेसीन की सन्धि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका नहीं है। सिन्धिया, होलकर और भोंसला आत्मरक्षा के लिए एक गुट्ट बनाना चाहते हैं, जिससे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शत्रुता का भाव सिद्ध नहीं होता है।[1] ता० २३ अप्रैल के पत्र में आर्थर वेलेज़ली ने भी स्टिवेंसन से ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।[2] ता० १५ मई के पत्र में पूना का रेज़ीडेंट कर्नल क्लोज़ भी गुप्त कमेटी को लिखता है कि किसी शत्रुता के भाव से सिन्धिया इस गुट्ट में शामिल हो यह "बिलकुल असम्भव" है। सिन्धिया और भोंसला ने कोई आक्रमण नहीं किया था। उनकी सेनाएँ उनके राज्य में थीं, तब भी आर्थर वेलेज़ली के हटने पर वे बरहानपुर वापस जाने के लिए तैयार थे और गवर्नर-जनरल तथा रेज़ीडेंट कालिंस को अपनी मित्रता का सब तरह से विश्वास दिला रहे थे। युद्ध की कोई तैयारी न थी। कालिंस ही के शब्दों में सिन्धिया के पास पचास हज़ार से अधिक रुपया न था।

दूसरी ओर गवर्नर-जनरल ने सन् १७६६ में ही निश्चित कर लिया था कि अच्छा अवसर मिलने पर सिन्धिया की शक्ति को नष्ट कर डालना चाहिए। जनवरी सन् १८०३ में ही सेनापति लेक को सिन्धिया के राज्य की सीमा पर सेना एकत्र करने की आज्ञा दे दी गई थी। वेलेज़ली लिखता है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य केवल भय दिखलाना था। इस तरह भय दिखलाने

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ३, पृ० ७३–८३।

२ वेलिंगटन, डेसपैचेज़, पृ० २२५।

के बहाने से लड़ाई की पूरी तैयारी करने में कोई दोष न था, पर सिन्धिया और भोंसला का आत्मरक्षा के लिए भी आपस में मिलना घोर अपराध था। गवर्नर-जनरल ता० २० जून के पत्र में संचालकों को शान्ति की आशा दिला रहा था और दूसरी ओर ता० २७ जून के "अत्यन्त गुप्त" पत्र में अपने भाई आर्थर वेलेज़ली को लिख रहा था कि शत्रुता का प्रमाण मिलने पर सिन्धिया और भोंसला की शक्ति को नष्ट कर डालना चाहिए, तोपखाना छीन लेना चाहिए, यदि सम्भव हो तो दोनों को पकड़ लेना चाहिए। उनके यूरोपियन अफ़सरों को भी नौकरी छोड़ देने के लिए कहना चाहिए। इसमें चाहे जो कुछ खर्च हो, किसी को दूत बनाना पड़े, इसकी कोई पर्वाह नहीं है। गोहद के राजा और राजपूतों को मैं भी भड़काने का प्रयत्न करूँगा और तुम भी इसमें कोई कसर उठा न रखना। यशवन्तराव के विरुद्ध उसके भाई काशीराव को भड़काने का भी ध्यान रखना।[1]

इतने पर भी अँगरेज़ इतिहासकारों का कहना है कि वेलेज़ली युद्ध नहीं चाहता था। वह बराबर शान्ति के लिए प्रयत्न कर रहा था, परन्तु मराठे अपनी तैयारी में लगे हुए थे और केवल समय को टाल रहे थे। यही बात अँगरेज़ों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे भी तैयारी में लगे थे और केवल समय को टाल रहे थे। जनरल वेलेज़ली जानता था कि मराठों पर आक्रमण करने का सबसे अधिक सुभीता बरसात में था, क्योंकि वर्षा होने पर घोड़सवार सेना, जिसका मराठों को बड़ा घमंड था, अधिक काम नहीं कर सकती थी। इसी लिए वह जैसे-तैसे बरसात की प्रतीक्षा कर रहा था। जान-बूझकर वह सिन्धिया के हटने के लिए कोई तारीख़ निश्चित न करना चाहता था। वह लिखता है कि इस बात को मैं गुप्त रखना चाहता हूँ, जिसमें समय आने पर मैं पहला प्रहार कर सकूँ।[2]

फ्रांसिस का मत—इस युद्ध के सम्बन्ध में फ्रांसिस का कहना था कि भारतवर्ष में जितनी लड़ाइयाँ होती हैं, उनकी उत्पत्ति के कारणों

१ वेलेज़ली, डिसपैचेज, जि० ३, पृ० १५३-१५८।

२ वेलिंगटन, डिसपैचेज़, पृ० २६४।

का पार्लामेंट को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। हिन्दुस्तानी राजाओं के दूत पार्लामेंट के सामने नहीं आते हैं। उन्हीं का देश लूटा जाता है, उन्हीं की सम्पत्ति अपहरण की जाती है और उन्हीं पर युद्ध छेड़ने तथा शान्ति-भंग करने का दोष लगाया जाता है। मराठा युद्ध के जो कारण बतलाये जाते हैं, उनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। देशी राजाओं के दोष दिखलाना, उन्हें विषयी बतलाना एक साधारण बात है। वेलेज़ली की सरकार जिस भाषा का प्रयोग कर रही है, उसी से सन्देह होता है। सिन्धिया को जैसा बुरा-भला कहा गया है वह छिपा नहीं है। जिन फ़्रांसीसियों के भय पर ज़ोर दिया जाता है, सिन्धिया की सेना में उनके अफ़सरों की संख्या १२ से अधिक नहीं थी। सिन्धिया स्वयं विदेशियों को सेना में रखने का पक्षपाती नहीं है, यह सबको ज्ञात है। इस तरह मराठों के विरुद्ध युद्ध का किसी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता। बेसीन की सन्धि की उद्दंड शर्तों पर क्षोभ का होना स्वाभाविक था। यदि ऐसा न होता तो आश्चर्य्य की बात थी। मराठा साम्राज्य की राजधानी को विदेशियों के हाथ में देखकर कौन मराठा राजा, जिसमें किंचित् भी सम्मान था, चुप रह सकता था? इस कार्य्य में उनसे सहायता के लिए कहना निस्सन्देह अपमान करके लात मारना है। इस अवस्था का स्वयं अनुभव करना चाहिए। ऐसे मामलों में मनुष्य-स्वभाव सर्वत्र एक ही सा है।[१]

युद्ध के उद्देश्य और क्षेत्र—इस युद्ध में वेलेज़ली के उद्देश्य पहले ही से निश्चित थे। फ़्रांसीसी अफ़सरों की सेना को नष्ट करके वह गंगा और जमुना के बीच का सिन्धिया का कुल राज्य जीतना चाहता था और इस तरह कम्पनी के राज्य की सीमा को जमुना नदी तक पहुँचा देना चाहता था। दिल्ली तथा आगरा के क़िलों पर अधिकार करके वह इस सीमा को सुरक्षित रखना चाहता था। इसी विचार से वह वृद्ध मुग़ल सम्राट् शाहआलम को भी अपने हाथ में लाना चाहता था, जिसमें उसकी निर्बलता के कारण

१ बसु, राइज़ ऑफ़ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया, जि० ३, पृ० ११५-२३।

उस ओर से किसी शत्रु के घुसने का भय न रहे और उसके नाम का भी पूरा लाभ उठाया जा सके। आगरा की रक्षा करने के लिए वह बुँदेलखंड पर अपना अधिकार दृढ़ करना आवश्यक समझता था। गुजरात में भड़ौच नगर तथा ज़िले पर बम्बई-सरकार की बहुत दिनों से दृष्टि थी। उस पर अधिकार कर लेने के लिए भी यह अच्छा अवसर था। पूर्व में मदरास और बंगाल के प्रान्तों को मिलाने के लिए कटक छीन लेने की आवश्यकता थी। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए युद्ध का क्षेत्र बड़ा विस्तृत रखा गया और ५० हज़ार सेना एकत्र करके दक्षिण, उत्तरी भारत, गुजरात, बुँदेलखंड तथा उड़ीसा में एक ही साथ मराठों पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया।

आर्थर वेलेज़ली
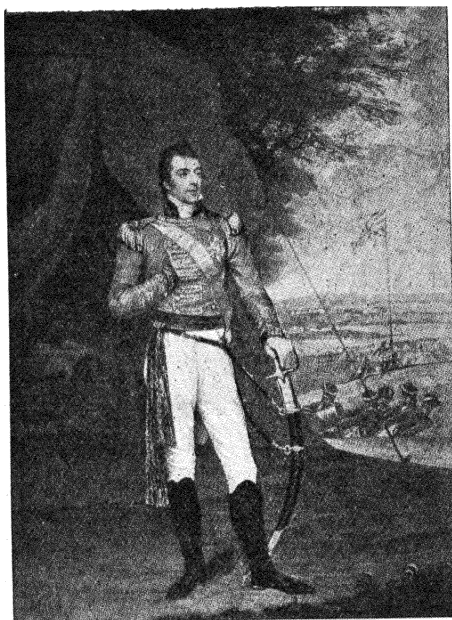
दक्षिण की लड़ाइयाँ—दक्षिण में गवर्नर-जनरल का भाई आर्थर वेलेज़ली प्रधान सेनापति बनाया गया और उसको युद्ध तथा सन्धि के पूर्ण अधिकार दिये गये। युद्ध छिड़ने के पहले ही उसने अपना पूरा प्रबन्ध कर लिया था। दक्षिणी मराठा जागीरदारों को क़ाबू में रखने के लिए मैसूर की सीमा पर एक सेना रख दी गई थी। अमृतराव द्वारा तरह तरह के लालच देकर इस युद्ध में होलकर को उदासीन रखने के लिए भी प्रबन्ध कर लिया गया था। सिन्धिया के यूरोपियन अफ़सरों को भी मिलाने

का प्रयत्न किया गया था। रेज़ीडेंट कालिंस के सिन्धिया-दरबार छोड़ने पर आर्थर वेलेज़ली ने अहमदनगर के क़िले पर अधिकार कर लिया। इस अवसर पर घूस से काम लिया गया।[1] सैनिक दृष्टि से यह क़िला बड़े महत्त्व का था। इससे निज़ाम-राज्य के पश्चिम-दक्षिण की सीमा सुरक्षित हो गई और पूना से सहायता आने का मार्ग साफ़ हो गया।

असेई और अरगाँव—अहमदनगर के पतन का समाचार सुनकर सिन्धिया और भोंसला निज़ाम के राज्य में घुसे। उनका पीछा करते हुए आर्थर वेलेज़ली भी आ पहुँचा। ता० २३ सितम्बर को असेई का विख्यात युद्ध हुआ, जिसमें मराठों की हार हुई। सिन्धिया का कुल तोपखाना अँगरेज़ों के हाथ में आ गया और उसकी सेना खानदेश की ओर चली गई। इस युद्ध में सिन्धिया मौजूद न था, वह घोड़सवार सेना के साथ हैदराबाद की ओर बढ़ गया था। सिन्धिया की गोलाबारी से अँगरेज़ों के बहुत सैनिक मारे गये। आर्थर वेलेज़ली ता० ३ अक्तूबर सन् १८०३ के एक पत्र में लिखता है कि सिन्धिया की पैदल सेना टीपू की सेना से कहीं अच्छी थी। उसका तोपखाना तो ऐसा था कि जिससे अपनी सेना में बहुत काम लिया जा सकता था। इस युद्ध में सिन्धिया के यूरोपियन अफ़सरों ने उसका पूरा साथ नहीं दिया। फ़ार्टेस्क्यू का कहना है कि इस अवसर पर यदि पालमैन नामक जर्मन अफ़सर ने अपने कर्तव्य का पालन किया होता, तो आर्थर वेलेज़ली बड़ी मुश्किल में पड़ता।[2] इतिहासकार डफ़ लिखता है कि ब्रिटिश सरकार की एक घोषणा द्वारा सिन्धिया की नौकरी छोड़नेवाले अँगरेज़ तथा अन्य यूरोपियन अफ़सरों को पूरा वेतन देने का वचन दिया गया था। इस पर बहुतों ने नौकरी छोड़ दी थी।[3] ता० २४ अक्तूबर के एक पत्र में आर्थर वेलेज़ली ने ऐसे १६

---

१ अहमदनगर गज़ेटियर, पृ० ६९५।

२ फॉर्टेस्क्यू, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश आर्मी, जि० ५, पृ० ३२।

३ डफ़, जि० ३, पृ० २४४।

अफ़सरों का उल्लेख किया है।[1] बेगम समरू की सेना भी सिन्धिया की ओर से लड़ी थी, परन्तु बेगम को अँगरेज़ों के पक्ष में मिलाने का प्रयत्न युद्ध छिड़ने के पहले ही से हो रहा था।[2]

मराठों की सेना का पीछा करने के लिए स्टिवेंसन भेजा गया। परन्तु इसने बरहानपुर छीनकर असीरगढ़ का घेरा डाल दिया। इसकी रक्षा करने के लिए भोंसला आगे बढ़ा, पर उसके पहुँचने के पहले ही किला अँगरेज़ों के हाथ में आ गया। भोंसला के अलग होने पर सिन्धिया को अकेले दबाने का अच्छा अवसर मिल गया। तोपख़ाना नष्ट हो जाने से सिन्धिया की शक्ति कम पड़ गई थी, उसके पड़ाव में रसद की भी बड़ी कमी थी। मजबूर होकर उसे सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा। आर्थर वेलेज़ली भी थका हुआ था। सिन्धिया की घोड़सवार सेना का बहुत दूर तक पीछा करना उसकी राय में उचित न था। इसलिए उसने सन्धि की शर्तों को तय करने के लिए दस दिन तक युद्ध बन्द रखने का वचन दे दिया। यह समझौता ता० २३ नवम्बर को हुआ था, परन्तु दस दिन पूरे भी न होने पाये थे कि आर्थर वेलेज़ली ने अरगाँव नामक स्थान पर ता० २९ को सिन्धिया और भोंसला की सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में भी मराठों की पराजय हुई।

युद्ध बन्द रखने का वचन देकर बीच ही में आक्रमण कर देने का कारण आर्थर वेलेज़ली यह बतलाता है कि समझौते के अनुसार सिन्धिया एलिच-पुर से २० कोस पीछे न हटा था। ता० २९ तक १० दिन की अवधि पूरी नहीं हुई थी, फिर आक्रमण करना कहाँ तक उचित था? वास्तव में बात दूसरी ही थी। आर्थर वेलेज़ली सिन्धिया का पीछा करने में असमर्थ था। सेना को विश्राम देने और तैयारी करने के लिए कुछ समय की आवश्यकता थी।

---

१ वेलेज़ली, डिसपैचेज़, जि० ३, पृ० ४१६।

२ जेनरल लेक, मेमोरेंडम, ता० १८ जुलाई सन् १८०३। डिसपैचेज़, जि० ३, पृ० १९२।

अकेले सिन्धिया के साथ सन्धि की बातचीत करके भोंसला से उसको अलग करना था। ये सब बातें इस समझौते से हो सकती थीं, परन्तु बराबर इसकी पाबन्दी करने का विचार उसका कभी न था। इसको उसने स्वयं स्वीकार किया है। ता० २४ नवम्बर के पत्र में वह जनरल स्टुअर्ट को लिखता है कि मैं जब चाहूँ, इस समझौते को तोड़ सकता हूँ।[१]

अरगाँव से बढ़कर अँगरेज़ी सेना ने भोंसला के प्रसिद्ध दुर्ग गाविलगढ़ पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही साथ दक्षिण का युद्ध समाप्त हो
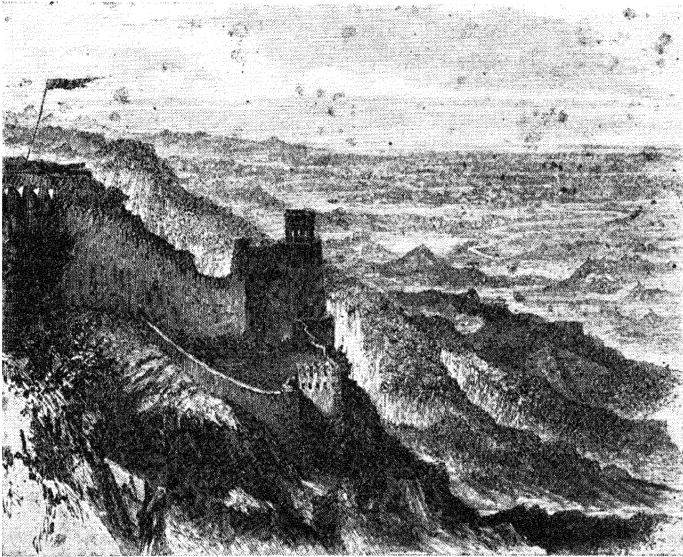
गाविलगढ़

गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस युद्ध में आर्थर वेलेज़ली ने बड़ी चतुरता

---

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज़, पृ० ३२१—२२।

से काम लिया। मराठों की हर एक बात का उसे पता रहता था, रसद का पूरा प्रबन्ध था, ऐसी तोपें साथ में थीं, जो आसानी से सेना के साथ जा सकती थीं। इस युद्ध ने उसको नेपोलियन के साथ युद्ध करने के योग्य बना दिया। बड़े कठिन समय में उसने स्पेन की रक्षा की और वाटरलू के युद्ध में स्वयं नेपोलियन को हराया। इँग्लैंड का वह प्रधान सचिव भी हुआ। इतिहास में वह 'ड्यूक ऑफ़ वेलिंगटन' के नाम से प्रसिद्ध है।

गुजरात और बुँदेलखंड—सालबाई की सन्धि से भड़ौच और गुजरात का कुछ भाग सिन्धिया के हिस्से में पड़ा था। व्यापार की दृष्टि से भड़ौच बड़े महत्व का स्थान था। बम्बई-सरकार की बहुत दिनों से इस पर दृष्टि लगी हुई थी। बड़ोदा से भड़ौच पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया। गायकवाड़ ने इस पर कुछ आपत्ति की, परन्तु उसको स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया कि अँगरेज़ों की सहायता करना उसका कर्तव्य है। मराठा राज्यों में सबसे पहले गायकवाड़ ही अँगरेज़ों की शरण में गया था, इसका उसे ध्यान रखना चाहिए था। भड़ौच के विजय करने में कोई कठिनता न हुई और थोड़े ही काल में गुजरात में सिन्धिया के अन्य स्थानों पर भी अँगरेज़ों का अधिकार हो गया।

बुँदेलखंड पर पहले पेशवा के समय में मराठों ने अधिकार कर लिया था। उसी के वंशज इस समय भी कई स्थानों में शासन कर रहे थे। बुँदेल-खंड की सीमा कम्पनी के राज्य से मिली हुई थी, इसी लिए अँगरेज़ इसको बहुत दिनों से चाहते थे। यह देश पहाड़ियों के ऊँचे स्थल पर बसा हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से यह "भारतवर्ष का स्विट्ज़र्लैंड" है। इन दिनों पेशवा का इस पर नाम मात्र के लिए अधिकार था, वास्तव में बहुत से सरदार स्वतंत्र थे। बेसीन की सन्धि से बाजीराव ने सहायक सेना के ख़र्च के लिए कुछ ज़िले अँगरेज़ों को दक्षिण में दिये थे। अब अँगरेज़ों ने उन ज़िलों के बदले में बुँदेलखंड ले लिया था, परन्तु बुँदेला सरदार अँगरेज़ों का आधिपत्य मानने के लिए तैयार न थे।

इन सरदारों को दबाने के लिए एक अँगरेज़ी सेना भेजी गई। मुख्य बुँदेला सरदार राजा हिम्मतबहादुर गोसाईं अँगरेज़ों से मिल गया। सिन्धिया का एक अँगरेज़ अफ़सर भी, जिसका नाम शेफ़र्ड था, अपनी पैदल सेना लेकर अँगरेज़ों की सहायता के लिए आ गया।[१] पहले कालपी पर आक्रमण किया गया। यह स्थान उन दिनों रुई के व्यापार के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। यहाँ के सूबेदार नाना गोविन्दराव को हार माननी पड़ी। इसी अवसर पर झाँसी के सूबेदार से भी सन्धि हो गई और सिन्धिया का मुख्य सरदार अम्बाजी इंग्लिया भी अँगरेज़ों से मिल गया। माहादजी के समय में उत्तरी भारत का यह मुख्य सूबेदार बनाया गया था। ग्वालियर का क़िला, उसके आस-पास के ज़िले तथा गोहद का इलाक़ा भी इसी के अधीन था। अम्बाजी ने बुँदेलखंड का कुछ भाग अपने लिए लेकर ग्वालियर का क़िला और उसके आस-पास की भूमि अँगरेज़ों को देना स्वीकार कर लिया।[२] सिन्धिया के साथ यह सबसे बड़ा विश्वासघात किया गया।

बुँदेलखंड के गोसाईं

उत्तरी भारत की रक्षा के लिए ग्वालियर सिन्धिया का मुख्य स्थान था। यहाँ उसका सबसे मज़बूत क़िला था, जिसमें सब सैनिक सामग्री रहती थी। मुग़लों के समय में उद्दंड राजकुमारों को क़ैद करने के लिए यह क़िला काम

१ थोर्न, मेम्वायर्स ऑफ़ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० २४४।

२ वही, पृ० २४५।

कठिनाई न हुई। उड़ीसा पर अधिकार हो जाने से उस ओर से भोंसला के राज्य पर आक्रमण करने में भी सुभीता हो गया।

उत्तरी भारत की लड़ाइयाँ—माहादजी सिन्धिया दक्षिण जाते समय दिल्ली और उसके आस-पास का राज्य फ्रांसीसी अफ़सर डीबोयन को सौंप गया था। जब डीबोयन चला गया तब उसकी जगह पर पेरां नियुक्त किया गया। सेना का खर्च चलाने के लिए दोआब के कुछ ज़िले पहले ही से दे दिये गये थे। पेरां यहां बड़े ठाट-बाट से रहता था। राजाओं और सरदारों से सन्धि तथा युद्ध करने के उसे पूरे अधिकार थे। दौलतराव सिन्धिया को दक्षिण के झगड़ों से ही छुट्टी न थी, इसलिए उत्तर का राज्य उसने बिलकुल पेरां के हाथ ही में छोड़ रखा था। उसकी कुछ सेना दिल्ली में वृद्ध शाहआलम की रक्षा के लिए रहती थी, कुछ सेना सिन्धिया के साथ थी और बाक़ी सेना का पड़ाव अलीगढ़ में था। पेरां की जागीर को वेलेज़ली जमुना-तट पर "फ्रांसीसियों का राज्य" कहा करता था। इससे उसको सदा भय रहता था और जब से वह भारतवर्ष आया था, इसके नष्ट करने के प्रयत्न में लगा था।

कोयल और अलीगढ़—युद्ध छिड़ने के पहले ही वेलेज़ली ने उत्तरी भारत में पूरा प्रबन्ध कर लिया था। अन्धे बादशाह को तरह तरह की आशाएँ दिलाई गईं, सिखों को उदासीन रखने के लिए चेष्टा की गई और राजपूतों तथा गूजरों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए भी बड़ा उद्योग किया गया। सिन्धिया के विदेशी सैनिक अफ़सरों को फोड़ने में कोई कसर उठा न रखी गई। नौकरी छोड़कर अपने देश को वापस जाने के लिए पेरां को बहुत से लालच दिखलाये गये। इन सब बातों की सफलता से वेलेज़ली को उत्तरी भारत के युद्ध में बहुत कुछ सहायता मिली। लड़ाई छिड़ने के समाचार मिलने पर सेनापति लेक कानपुर से आगे बढ़ा। कोयल जीतने में उसको कोई विशेष कठिनता न हुई। ता० २९ अगस्त के पत्र में वह गवर्नर-जनरल को लिखता है कि पेरां की एक पल्टन के कुछ अफ़सर पहले ही से

आकर मिल गये थे और जाट तथा सिख जागीरदारों ने सिन्धिया का साथ छोड़ दिया था।[1]

इस तरह कोयल जीतकर लेक अलीगढ़ पहुँच गया। वहां उसने बिना लड़े हुए किला खाली कर देने के लिए सिपाहियों को बहुत लालच दिखलाया। वह लिखता है कि धन खर्च करके मैं लड़ाई और हत्या से बचना चाहता था।[2] परन्तु इन सिपाहियों की प्रशंसा में कहना पड़ता है कि इन लोगों ने विश्वासघात करके कलंक का टीका अपने मत्थे नहीं लगवाया। जिस समय पर सिन्धिया के बड़े बड़े अफ़सर उसका साथ छोड़ रहे थे, इन मुट्ठी भर सिपाहियों ने अपनी अद्भुत स्वामिभक्ति का परिचय दिया। अपने मनोरथ में विफल होने पर लेक ने आक्रमण किया। लूकन नाम के अँगरेज़ अफ़सर से, जो सिन्धिया की नौकरी छोड़कर लेक से मिल गया था, किले के भीतरी मार्ग जानने में बड़ी सहायता मिली और किला अँगरेज़ों के हाथ में आ गया।[3] लेक का कहना है कि सिन्धिया के सिपाही बड़ी वीरता से लड़े।[4]

दिल्ली और आगरा—अलीगढ़ से लेक दिल्ली की ओर बढ़ा। यहां शाहआलम उसका साथ देने के लिए पहले ही से तैयार था। इलाहाबाद में अँगरेज़ों ने उसके साथ जैसा व्यवहार किया था और ग़ुलामक़ादिर की निष्ठुरता का सिन्धिया ने जैसा कुछ बदला लिया था, वह सब इस समय अन्धे शाहआलम को भूल गया था। फ़्रांसीसी अफ़सर लुई की अध्यक्षता में सिन्धिया की सेना को हराकर लेक मुग़लों की राजधानी दिल्ली में पहुँच गया। अपना काम निकालने के लिए नाम मात्र के बादशाह का सब तरह से सम्मान करने में लेक ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। उसकी रक्षा के लिए आक्टरलोनी की अध्यक्षता में एक सेना छोड़कर वह आगरा पहुँचा। इसी

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ३, पृ० २८४—८५।

२ वही, पृ० २८७।

३ वही, पृ० २९२।

४ वही पृ० २९३।

अवसर पर सिन्धिया की ढाई हज़ार सेना उससे मिल गई।[1] आगरा का क़िला जीतने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

लासवाड़ी की लड़ाई—सिन्धिया की बची-खुची सेना आगरा से कुछ दूर लासवाड़ी नामक स्थान पर पड़ी हुई थी। बिना योग्य नेताओं के इसकी बड़ी दुर्दशा हो रही थी। परन्तु जब लेक ने इस पर आक्रमण किया, तब यह बड़ी वीरता से लड़ी। स्वयं लेक लिखता है कि ये सैनिक "भूतों की तरह" लड़े, यदि इनका कोई फ़्रांसीसी सेनानायक होता तो जीतना कठिन हो जाता। जीवन भर में मुझे कभी ऐसी लड़ाई लड़नी नहीं पड़ी थी।[2] इस लड़ाई से उत्तरी भारत का युद्ध समाप्त हो गया। लासवाड़ी की विजय के लिए बधाई देते हुए शाहआलम ने लेक को खिलत भेजी, जिसको उसने एक दरबार में सम्मान के साथ ग्रहण किया। इसी के बाद अलवर, जयपुर और जोधपुर के राजाओं के साथ सन्धियां की गईं, जिनमें अंगरेज़ों ने उनकी रक्षा करने का वचन दिया। बेगम समरू की सेना भी सिन्धिया का साथ छोड़कर दक्षिण से वापस आ गई। उसके साथ भी सन्धि कर ली गई।

देवगाँव और अर्जुनगाँव की सन्धियाँ—इस तरह सैनिक शक्ति नष्ट हो जाने पर भोंसला और सिन्धिया ने दिसम्बर सन् १८०३ में सन्धि करना स्वीकार कर लिया। देवगांव की सन्धि से भोंसला ने कटक तथा अन्य कई स्थान अँगरेज़ों को दे दिये और बरार के कुछ ज़िलों पर निज़ाम का अधिकार मान लिया। अंगरेज़ों से शत्रुता रखनेवाले किसी देश के निवासी को नौकर न रखने का भी उसने वचन दिया। अर्जुनगाँव की सन्धि से सिन्धिया को दोआब के सब ज़िले अँगरेज़ों को देने पड़े। शाहआलम और राजपूत राजाओं पर भी उसका किसी प्रकार का अधिकार न रहा। गुजरात में भड़ोच और दक्षिण में अहमदनगर तथा अन्य कुछ स्थान अंगरेज़ों को मिल गये। सिन्धिया ने भी अँगरेज़ों से शत्रुता रखनेवाले किसी देश के निवासी को

१ वेलेज़ली, डेसपेचेज़, जि० ३, पृ० ४०० ।

२ वही, पृ० ४४५–४६ ।

नौकर न रखने का वचन दिया और पेशवा तथा निज़ाम के साथ कोई झगड़ा होने में अँगरेज़ों को पंच मान लिया।

गवर्नर-जनरल इन दोनों को भी सहायक सम्बन्ध के जाल में बांधना चाहता था, परन्तु आर्थर वेलेज़ली इसके विरुद्ध था। उसने अच्छी तरह समझ लिया था कि सिन्धिया का अधिक दबाना असम्भव है। गवर्नर-जनरल को इन सन्धियों से सन्तोष न था। वह इनकी शर्तों का मनमाना अर्थ लगाकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहता था। उसकी इस नीति से आर्थर वेलेज़ली भी तंग आ गया था। ग्वालियर का वापस न करना और देवगांव की सन्धि के पहले छोटे छोटे ज़मीन्दारों के साथ जो ज़बानी सम-झौते हुए थे, उन पर ज़ोर देना उसकी राय में गवर्नर-जनरल की सरासर ज़बर-दस्ती थी। वह स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि गवर्नर-जनरल जिसको "नम्रता" कह रहा है, दूसरों की दृष्टि में उसी का नाम "महत्त्वाकांक्षा" है। उसको अपने ऊपर विश्वास बहुत बढ़ गया है। कलकत्ते में डर की वजह से उसको कोई उचित सलाह देनेवाला नहीं है। देशी राजाओं के साथ नम्रता का व्यवहार करने ही से हित हो सकता है।[1] वेलेज़ली इन बातों को कब सुनने-वाला था? जब तक फ़रवरी सन् १८०४ में सिन्धिया के साथ दूसरी सन्धि नहीं हो गई, उसको सन्तोष नहीं हुआ। भोंसला के दरबार में भी रेज़ीडेंट रख दिया गया और घूस देकर सब भेदों का पता लगाये रखने की उसको पूरी ताकीद कर दी गई।[2]

मराठों की हार के कारण—इन दिनों आपस ही में फूट थी, पहले से युद्ध की कोई तैयारी न थी, विदेशी अफ़सरों ने धोखा दिया था, इन सब का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि मराठों ने अपनी युद्ध-पद्धति छोड़कर क़वायदी ढंग से काम लेने और पैदल सेना पर अधिक ज़ोर देने में बड़ी भूल की। एक मराठा लेखक का कहना

---

१ वेलिंगटन, डिसपेचेज, पृ० ३६९–७०, ३९७, ३९९।

२ वही, पृ० ३५८–६०।

है कि "जिस दिन मराठों ने घोड़े की सवारी छोड़ी उसी दिन उनका राज्य भी चला गया"। आर्थर वेलेज़ली का भी कुछ ऐसा ही मत था, वह अपने भाई गवर्नर-जनरल की इस बात को पसन्द न करता था कि मराठा यूरोपियन अफ़सर न रखें। उसका कहना था कि पुराने ढंग की घोड़सवार मराठी सेना से लड़ना सहज नहीं है।[1] किसी अंश में यह बात ठीक है। परन्तु अपने ढंग से लड़ाई लड़कर अन्त में मराठों की विजय हुई होती, इसमें बहुत सन्देह है। युद्ध के नये साधनों को स्वीकार करने में भूल न थी, वास्तव में भूल थी विदेशी सरदारों के रखने में। माहादजी के समय में डिब्रोयन का जो प्रभाव और उपयोग था, वह दौलतराव सिन्धिया के समय में न रहा था।

होलकर के साथ युद्ध—यदि होलकर ने पूना पर आक्रमण न किया होता, तो बहुत सम्भव था कि पेशवा अँगरेज़ों की शरण में न जाता। होलकर को इसका कुछ सन्देह भी न था। वह आक्रमण के पहले और बाद में भी पेशवा को अपनी मित्रता का विश्वास दिला रहा था और उसकी रक्षा करने के लिए तैयार था। उसको जलन केवल सिन्धिया से थी, जिसका पेशवा खुले तौर पर पक्षपात करता था। बेसीन की सन्धि हो जाने पर भोंसला इन दोनों में मेल कराना चाहता था, परन्तु अँगरेज़ों की कुटिल नीति के सामने उसकी कुछ भी न चली। मराठों के परस्पर वैर से लाभ उठाना वेलेज़ली की मुख्य नीति थी। वह पहले ही से सिन्धिया को दबाये रखने के लिए होलकर को जिस तरह सम्भव हो मिलाये रखने का प्रयत्न कर रहा था। पेशवा अँगरेज़ों का मित्र था। जिस समय होलकर ने पूना पर आक्रमण किया, अँगरेज़ रेज़ीडेंट वहीं मौजूद था, परन्तु उसने किसी तरह का विरोध प्रकट नहीं किया। त्रावणकोर राज्य पर आक्रमण करने के लिए टीपू के साथ युद्ध छेड़ दिया गया था, परन्तु कम्पनी के परम मित्र निज़ाम के राज्य में औरंगाबाद लूटने के लिए होलकर को दंड देना तो दूर रहा, स्पष्ट रीति से विरोध तक

---

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज़, पृ० ३५७।

नहीं किया गया। इस तरह एक ओर तो होलकर को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया और दूसरी ओर गुप्त रीति से उसके मुख्य सेनानायक अमीरखाँ को फोड़ने में कोई कसर उठा न रखी गई। होलकर अँगरेज़ों की इन चालों को समझ न सका। वह किसी न किसी तरह सिन्धिया का नाश देखना चाहता था, इसी लिए वह युद्ध में चुपचाप रहा।

होलकर की यह बड़ी भूल थी। यदि इस अवसर पर उसने सिन्धिया और भोंसला का साथ दिया होता, तो अँगरेज़ों का इस तरह विजय पाना सहज न था। उन दोनों के हारने पर उसकी आँखें खुलीं। अँगरेज़ों की विजय से उसका कोई लाभ भी नहीं हुआ और मराठों की शक्ति नष्ट हो गई। जिस तरह अब सिन्धिया, भोंसला और पेशवा के साथ व्यवहार किया जा रहा था, उसे देखकर होलकर को अपने लिए भी चिन्ता होने लगी। अपना सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए वह कुछ प्रश्नों को समझौता द्वारा निपटाना चाहता था। उसका कहना था कि चौथ वसूल करना मेरा पुराना अधिकार है, उसमें अंगरेज़ों को हस्तक्षेप न करना चाहिए और दोआब, बुँदेलखंड तथा दक्षिण की कुछ भूमि को, जो मेरे पूर्वजों के पास थी, वापस कर देना चाहिए। ऐसा करने से वह सिन्धिया के ढंग की सन्धि करने के लिए तैयार था।

परन्तु विजय की उमंग में अँगरेज़ उसकी इन बातों को कब सुननेवाले थे? अपना काम निकल जाने पर यह कहा जाने लगा कि वह तो गद्दी का अधिकारी तक नहीं है, वास्तव में गद्दी उसके भाई काशीराव को मिलनी चाहिए। अंगरेज़ों के अधीन जयपुर के राजा पर वह आक्रमण करने का विचार कर रहा है, समरूबेगम तथा रुहेलों को अपने पक्ष में मिलाने के प्रयत्न में लगा हुआ है और हिन्दू तथा मुसलमानों को अँगरेज़ों के विरुद्ध भड़का रहा है। जब होलकर ने देखा कि समझौते की कोई आशा नहीं है, तब उसने अपनी सेना के तीन अँगरेज़ अफ़सरों को, जो उसकी नौकरी छोड़कर सेनापति लेक से मिलना चाहते थे, मरवा डाला। वह सिन्धिया की सी भूल करनेवाला न था, उसको विदेशियों पर कभी विश्वास न था। उसका यह कार्य भी अँगरेज़ों के प्रति शत्रुता के भावों का प्रमाण समझा जाने लगा।

युद्ध के लिए समय उपयुक्त न था। इसके अतिरिक्त अपनी ओर से लड़ाई छेड़ने के दोषारोपण से भी गवर्नर-जनरल बचना चाहता था। इसलिए कुछ दिनों तक सन्धि की बातचीत होती रही। परन्तु सेनापति लेक तो लड़ाई के लिए कमर कसे बैठा था। वह लिखता है कि "मुझे किसी ने इतना परेशान नहीं किया जितना कि यह शैतान कर रहा है।" जब तक इस "लुटेरे" की शक्ति नष्ट नहीं की जायगी, भारतवर्ष में शान्ति स्थापित होना असम्भव है।[1] उसकी बात मानकर, अप्रैल सन् १८०४ में, गवर्नर-जनरल ने होलकर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी।

आर्थर वेलेज़ली का मत—आर्थर वेलेज़ली की दृष्टि में भी होलकर केवल एक "लुटेरा सरदार" ही था, परन्तु इस अवसर पर उसके साथ युद्ध करने का वह पक्षपाती न था। उसकी राय में होलकर "मराठों में सबसे अधिक शक्तिशाली" था। अँगरेज़ों की सेना पिछले युद्ध से थकी हुई थी, होलकर की सेना में सिन्धिया और भोंसला के बहुत से सिपाही मिल गये थे। धन की भी कमी थी, सब रुपया युद्ध में खर्च हो जाने से कम्पनी के संचालक वेलेज़ली की नीति से असन्तुष्ट हो रहे थे। सिन्धिया तथा भोंसला पिछली हार से छटपटा रहे थे और बदला निकालने के लिए अवसर ताक रहे थे। गवर्नर-जनरल सन्धियों का मनमाना अर्थ लगाकर इन दोनों के साथ ऐसा व्यवहार कर रहा था कि जिससे उन दोनों से किसी प्रकार की सहायता मिलने की सम्भावना न थी। उलटे होलकर के पक्ष में उन दोनों के मिल जाने का बराबर भय था। दक्षिण में दुर्भिक्ष पड़ रहा था। ऐसी दशा में देशी राजाओं के साथ नम्रता की नीति का अनुसरण करके उनको सन्तुष्ट रखना ही उचित था।[2] परन्तु सेनापति लेक गवर्नर-जनरल को बराबर बढ़ावा दे रहा था। विजय के मद में वास्तविक स्थिति का उसको ज्ञान न था और न इस समय उसको कोई स्पष्ट सलाह ही देनेवाला था। आर्थर वेलेज़ली की उचित

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ४, पृ० ४६–४८।

२ वेलिंगटन, डेसपैचेज़, भूमिका, पृ० ६७–६८।

राय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। पिछली सन्धियों के समय से ही दोनों भाइयों में मतभेद था। युद्ध या सन्धि करने का पूरा अधिकार इस बार लेक को दिया गया। आर्थर वेलेज़ली की एक एक बात सच निकली। यदि उसकी राय मानी गई होती, तो इस युद्ध में अँगरेज़ों की जैसी कुछ दुर्दशा हुई, न होने पाती।

युद्ध का प्रारम्भ—इस युद्ध में भी दक्षिण, गुजरात और उत्तरी भारत में तीनों ओर से होलकर पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया। पूर्ण सहायता देने के लिए सिन्धिया को लिखा गया और पंजाब में सिखों को शान्त रखने का भी प्रयत्न किया गया। पहले तो कोई अड़चन न पड़ी और उत्तरी भारत में होलकर के मुख्य स्थान रामपुरा पर अधिकार कर लिया गया। इस पर वह मालवा की ओर हटने लगा। उसका पीछा करने या बरसात भर आगे न बढ़ने की आर्थर वेलेज़ली ने सलाह दी, पर सेनापति लेक ने, उसकी बात न मानकर, कर्नेल मानसन को होलकर का मार्ग रोकने के लिए भेज दिया। इतने ही में समाचार मिला कि बुँदेलखंड की रक्षा के लिए जो अँगरेज़ी सेना थी, उसको अमीरखाँ ने लूट लिया और बहुत सी तोपें छीन लीं। अँगरेज़ों के बहुत कुछ लालच देने पर भी उसने होलकर की नौकरी छोड़ी न थी। इस समय तक अँगरेज़ी सेना की बराबर विजय होती रही थी, यह एक ऐसा धक्का लगा, जिसकी गवर्नर-जनरल को कभी सम्भावना न थी। वह लिखता है कि ब्रिटिश सेना के लिए यह बड़ी लज्जा की बात थी, ऐसी दुर्घटना कभी नहीं हुई थी। इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा यह अनुमान करना कठिन है।[1]

दूसरी ओर कर्नेल मानसन की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। वह एक सेना लेकर चम्बल की ओर इस आशा से बढ़ रहा था कि मालवा की तरफ़ से कर्नेल मरे आ रहा होगा। परन्तु जब वह मुकुन्दरा पहुँचा तब उसको पता लगा कि होलकर के पड़ाव का समाचार पाकर कर्नेल मरे गुजरात लौट गया। होलकर पर अकेले आक्रमण करने का मानसन को साहस न हुआ, रसद भी चुक गई, इस

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ४, पृ० ८१–८५।

पर वह पीछे हटने लगा। होलकर के सवार अवसर पाकर भागती हुई अँगरेज़ी सेना पर टूट पड़े। उन्होंने रसद लूट ली और सारी सेना को छिन्न-भिन्न कर

मुकुन्दरा

दिया। बची हुई सेना बेतहाशा भाग निकली। इतने ही में वर्षा प्रारम्भ हो गई और नदियों का पार करना मुश्किल हो गया। जैसे तैसे मानसन रामपुरा पहुँचा। यहाँ उसको कुछ और सेना मिली पर तब भी उसको शत्रु पर आक्रमण करने का साहस न हुआ। वह एक महीने तक रामपुरा में पड़ा रहा, वहाँ से निकलने पर होलकर की सेना ने फिर उसका पीछा किया। बड़ी कठिनता से वह बचे-खुचे सिपाहियों के साथ आगरा पहुँचा। लेक लिखता है कि इस सेना में उसके चुने हुए सिपाही थे। उनकी मृत्यु से जो हानि हुई, ईश्वर ही जानता है, उसकी पूर्ति कैसे होगी।[1] वेलेज़ली के शासन का तो इस घटना ने अन्त ही कर दिया।

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ४, पृ० १९७—९८।

भरतपुर का घेरा—होलकर की सफलता देखकर उसका दल धीरे धीरे बढ़ने लगा। सिन्धिया और पेशवा को गवर्नर-जनरल अपने पक्ष में किसी न किसी तरह मिलाये रखना चाहता था। होलकर के जीते हुए राज्य को उसने उन्हीं दोनों में बाँट देने तक का वचन दे दिया था। पहले सिन्धिया ने भी अँगरेज़ों की सहायता के लिए एक सेना भेजी, परन्तु अब यह सेना होलकर से मिल गई। सिन्धिया ने अपने एक अँगरेज़ अफ़सर को क़ैद कर दिया और वह खुले तौर पर होलकर की सहायता करने का विचार करने लगा। मध्य भारत के कुछ राजा भी अँगरेज़ों के व्यवहार से असन्तुष्ट थे और होलकर का साथ देने के लिए तैयार थे। इनमें सबसे मुख्य भरतपुर का राजा रण-जीतसिंह था। यह पहले सिन्धिया के अधीन था, परन्तु युद्ध छिड़ने पर इसने अँगरेज़ों के साथ सन्धि कर ली थी। अब वह अँगरेज़ों के व्यवहार से बहुत असन्तुष्ट हो रहा था। उसके शासन में किसी तरह का हस्तक्षेप न करने का वचन दिया गया था, पर अँगरेज़ इसके लिए बराबर प्रयत्न कर रहे थे और उसके राज्य में अपनी अदालतें खोलना चाहते थे। तीर्थस्थानों में भी गोवध करने में अँगरेज़ों को संकोच न होता था। इससे हिन्दू जनता बड़ी क्षुब्ध हो रही थी। अँगरेज़ों के विरुद्ध भरतपुर के राजा को यह बड़ी भारी शिकायत थी।[१]

होलकर ने पहले मथुरा पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली छीनने का भी प्रयत्न किया, पर लेक के बढ़ने का समाचार पाकर वह आगरे की तरफ़ हट गया। मानसन की हार से लेक झुँझला गया था और बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। होलकर अपनी घोड़सवार सेना के साथ फ़तेहगढ़ के निकट पड़ा हुआ था। लेक ने उस पर सहसा आक्रमण कर दिया। उसको पहले से इसका कुछ पता भी न था। वहां से बढ़कर लेक ने डीग के क़िले पर, जहां पहले ही से युद्ध हो रहा था, अधिकार कर लिया। भरतपुर का पहला राजा सूरजमल डीग ही में रहता था। थॉर्न लिखता है कि यहां का

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ४, पृ० १८३—८८।

किला बड़ा दृढ़ बना हुआ था। उसके पास ही राजा का सुन्दर महल और विशाल उद्यान था।
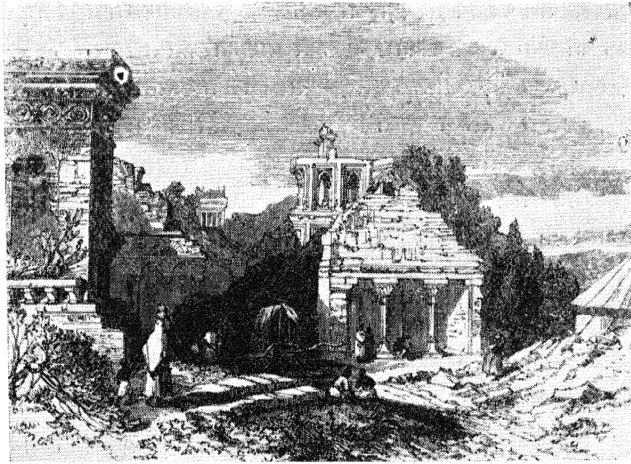
डीग के खँडहर

डीग से भागकर अपनी सेना के साथ होलकर भरतपुर आया। इस पर लेक ने भरतपुर को घेर लिया। इस किले का घेरा लगभग आठ मील के है; इसी के भीतर नगर बसा हुआ है। किले की दीवाल के चारों ओर एक बड़ी चौड़ी और गहरी खाईं है, जो उन दिनों पानी से भरी हुई थी। इसको पार करके किले में जाने का मार्ग तक लेक को मालूम न था। परन्तु एक सिपाही भेष बदलकर और जाटों को धोखा देकर इसका पता लगा लाया।[1] लेक ने चार बार किले पर धावा किया, परन्तु किले की दीवाल पर से गोलियों की बौछार के कारण उसको बराबर पीछे हटना पड़ा। तीसरे धावे में अँगरेज़ों

१ थॉर्न, मेम्वायर्स ऑफ़ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० ४२२।

की हिम्मत ऐसी टूटी हुई थी कि उनसे आगे बढ़ा न जाता था, इस पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने आगे बढ़कर अपने साहस का परिचय दिया।[1] इन धावों में लगभग तीन हज़ार अँगरेज़ी सैनिक मारे गये। अन्त में लेक को इस किले के लेने का विचार छोड़ना पड़ा। सुरंग और तोपों से किलों को तोड़ने का जो ढंग है, उससे काम न लेकर बार बार धावा करने में सेनापति लेक ने अपना हठ दिखलाया। यदि ऐसा न किया जाता तो सम्भव था कि अँगरेज़ों की इतनी हानि न होती। इसके बाद ही सन्धि की बात-चीत होने लगी। एक छोटे से राज्य के लिए अँगरेज़ों की शक्ति से अधिक दिनों तक टक्कर लेना असम्भव था। दूसरे होलकर की भी हार हो रही थी। बीस लाख रुपया राजा से हरजाना माँगा गया, पर उसने तीन लाख से अधिक नहीं दिया। अँगरेज़ों ने उसको डीग भी वापस कर दिया और जैसे तैसे इस मामले को, जिससे उनकी चारों ओर बदनामी हो रही थी, समाप्त किया।

वेलेज़ली की वापसी—कम्पनी के संचालकों और वेलेज़ली में बहुत दिनों से मतभेद चल रहा था। वे लोग रुपया चाहते थे, वेलेज़ली शान चाहता था। जहां वे बचत करना चाहते थे, वहां वह खर्च करना चाहता था। वे लोग प्रत्येक कार्य्य को आर्थिक लाभ की दृष्टि से देखते थे, पर वेलेज़ली को रुपये की पर्वाह न थी, उसे किसी न किसी तरह साम्राज्य का निर्माण करना था। इस मतभेद के कारण दोनों में ज़रा ज़रा सी बात पर झगड़ा होता था। वेलेज़ली ने उनसे बिना पूछे ही अपने दोनों भाइयों को बड़े बड़े ओहदे दे दिये थे, फ़ोर्ट विलियम कालेज खोल दिया था, कलकत्ते में गवर्नर-जनरल के रहने के लिए शानदार कोठी बनवा ली थी और अवध का मामला भी अपने मनमाने ढंग से निपटा लिया था। उसकी इन सब बातों से संचालक बहुत चिढ़ रहे थे। निजी व्यापार के सम्बन्ध में भी दोनों की राय एक न थी। इँग्लैंड की सरकार वेलेज़ली के पक्ष में रहती थी, इसलिये वह संचालकों की कुछ भी पर्वाह न करता था। खुले तौर पर वह उनकी आज्ञाओं

१ थॉर्न, मेम्वायर्स आॅफ़ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० ४५२।

का उल्लंघन करता था और उनको "बनिया" कहकर सदा उनका तिरस्कार किया करता था।

बेसीन की सन्धि से इँग्लेंड-सरकार को भी उसकी नीति में सन्देह होने लगा था। सिन्धिया और भोंसला के साथ युद्ध में विजय होने पर यह सन्देह कुछ काल के लिए दब गया और उसकी बड़ी प्रशंसा की गई। संचालकों ने भी उसको बधाई दी, पर साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के न्याय-संगत होने में उनको सन्देह है। उनकी इस "अनुदारता" से वेलेज़ली बहुत चिढ़ गया। वह पहले दो बार इस्तीफ़ा दे चुका था, लेकिन कॅसलरी के समझाने-बुझाने पर ठहरा हुआ था।

परन्तु सन् १८०४ की दुर्घटनाओं से यह स्थिति एकदम बदल गई। अब इँग्लेंड-सरकार को भी उसका समर्थन करना कठिन हो गया। कम्पनी का क़र्ज़ा दुगुना हो गया था, खर्चे का कोई अन्त न था, ख़ज़ाना ख़ाली था, युद्ध के शीघ्र समाप्त होने की आशा न थी, होलकर बराबर लड़ रहा था और सिन्धिया भी युद्ध की तैयारी कर रहा था। बेहद खर्च, मनमानी नियुक्ति और बार बार आज्ञा उल्लंघन करने के लिए संचालक उसकी निन्दा कर रहे थे। कौंसिल की बैठकों में अनुपस्थित रहना 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' की राय में भी अनुचित था। आर्थर वेलेज़ली और जनरल स्टुआर्ट को सन्धि तथा युद्ध के पूर्ण अधिकार दे देना बहुतों की दृष्टि में नियम-विरुद्ध था। मानसन की दुर्दशा का समाचार मिलने पर संचालकों ने उसको वापस बुलाना निश्चित कर लिया। वेलेज़ली के सबसे बड़े समर्थक, इँग्लेंड के प्रधान सचिव, पिट की भी राय थी कि गवर्नर-जनरल "बिना कुछ सोचे विचारे बिलकुल नियम-विरुद्ध काम कर रहा है, अब उसके हाथ में शासन रखना ठीक नहीं है।" वेलेज़ली भी किसी तरह जाना चाहता था, इँग्लेंड-सरकार को वह लिख भी चुका था। परन्तु उसके पत्र पहुँचने के पहले ही लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिया गया। ता० ३० जुलाई सन् १८०५ को वह कलकत्ता पहुँचा और १५ अगस्त को वेलेज़ली इँग्लेंड वापस चला गया।

सहायक प्रथा—देशी राज्यों के सम्बन्ध में वेलेज़ली की मुख्य नीति सहायक सन्धियों की थी। इसके अनुसार देशी राज्यों को अपनी रक्षा के लिए अँगरेज़ों की सेना रखनी पड़ती थी, जिसके खर्च के लिए कुछ भूमि देनी पड़ती थी। अँगरेज़ों के अतिरिक्त किसी विदेशी को नौकर न रखने, युद्ध या सन्धि के सम्बन्ध में कम्पनी की सलाह लेने तथा अन्य राज्यों के साथ झगड़ा होने पर उसको पंच मानने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। पहले देशी राजाओं की सहायता करने के लिए अँगरेज़ कुछ सेना रखते थे। जब उनका राज्य स्थापित हो गया और वे स्वयं लड़ने लग गये, तब देशी राज्यों से सहायता के लिए सन्धि करने लगे। परन्तु इन राज्यों की सेनाएँ किसी काम की न थीं, इसलिए उनसे रुपया लेकर अँगरेज़ी ढंग की सेनाएँ रखी जाने लगीं। जब रुपया वसूल करने में कठिनता होने लगी तब उसके बदले में भूमि ले लेने की शर्त जोड़ दी गई। इतिहासकार लायल के अनुसार इस तरह सहायक प्रथा का विकास हुआ।

अँगरेज़ों के पहले मराठे भी अन्य राज्यों से रुपया लेकर उनकी सहायता करते थे। डूप्ले ने भी इसी नीति से काम लिया था। सन् १७७७ में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अवध के साथ जो सन्धि की थी, उसमें नवाब वज़ीर की रक्षा के लिए अँगरेज़ अफ़सरों की अध्यक्षता में एक सेना रखने और उसके खर्च के लिए कुछ ज़िलों की आमदनी लेने की शर्त रखी गई थी। सर जान शोर ने सन् १७९७ की सन्धि से अवध के नवाब वज़ीर को बिना कम्पनी की अनुमति के किसी अन्य राज्य के साथ सम्बन्ध रखने के लिए मना कर दिया था। वेलेज़ली ने इन सब बातों को एक साथ रखकर स्पष्ट कर दिया।

वेलेज़ली का कहना था कि इन सन्धियों से देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार में ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो गया, जिससे आपस में लड़ने झगड़ने की कोई सम्भावना न रही, देशी नरेशों की रक्षा का प्रबन्ध हो गया और उनको निश्चिन्तता के साथ अपने राज्यों में सुधार करने का अवसर मिल गया। परन्तु वास्तव में इन सन्धियों का परिणाम राजा या उनकी प्रजा किसी के लिए भी हितकर न हुआ, उलटे ब्रिटिश सरकार का प्रभुत्व जम गया। सर

टामस मनरो, जो वेलेज़ली के समय में इस नीति का पक्षपाती था, सन् १८१७ में लिखता है कि जिस राज्य में रक्षा के लिए सहायक सेना रखी जाती है, उसका राजा निर्बल और अत्याचारी हो जाता है। समाज की उच्च श्रेणियों में आत्म-सम्मान के भाव नष्ट हो जाते हैं और साधारण प्रजा दरिद्र तथा पतित हो जाती है। पहले राजा को प्रजा का कुछ भय रहता था, परन्तु रक्षा के लिए अँगरेज़ी सेना मिल जाने से, वह निश्चिन्त होकर भोग-विलास में पड़ जाता है और प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार करने लगता है। इन सन्धियों में जो शर्तें रखी जाती हैं, उनका पूर्ण रूप से पालन करना असम्भव है। भारतवासियों में आत्म-सम्मान का भाव एकदम नष्ट नहीं हो गया है। वे चुपचाप अपमान को सहन न करेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि उनके राज्य कर्नाटक की तरह ज़ब्त कर लिये जायँगे। यह रक्षक नीति भक्षक का काम करेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इससे शान्ति स्थापित हो जायगी, तब भी यह कहना पड़ेगा कि इसके लिए स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चरित्र और मनुष्य को उच्च बनानेवाले सभी भावों का बलिदान करना पड़ेगा। इस तरह भीतरी फूट फैलाकर राज्यों के अपहरण करने से लड़कर जीत लेना कहीं अच्छा है।[१]

सिडनी ओयन का भी ऐसा ही मत था। वह लिखता है कि राज-सत्ता के जो वास्तविक चिह्न हैं, उनके छीन लेने से किसी राजा में अच्छा शासन करने का उत्साह नहीं रह जाता है। वह विषयी हो जाता है और प्रजा भी उसी का अनुकरण करने लगती है। इस प्रथा से वास्तव में "राज्य की रीढ़ टूट जाती है" और राजनैतिक जीवन चला जाता है। ऐसी दशा में उनको ब्रिटिश राज्य में मिला लेने के अतिरिक्त शासन के सुधार का कोई उपाय नहीं रह जाता है।[२] केवल सेना हाथ में न होने से राजाओं में ये दोष क्यों आ जाते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में विल्सन लिखता है कि "जब ज़िम्मेदारी

१ अर्बथनट, मेलेक्शंस फ़्राम दि मिनिट्स ऑफ सर टामस मनरो, पृ० ११४—१५।
२ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, सं० ओयन, भूमिका, पृ० २७—२८।

नहीं रहती है और रक्षा के लिए निश्चिन्तता हो जाती है, तब अच्छे काम करने की प्रवृत्ति निर्बल पड़ जाती है, या नष्ट हो जाती है और व्यक्तिगत सुख में ही सबसे अधिक रुचि उत्पन्न हो जाती है"।[१]

आर्थर वेलेज़ली भी इन सन्धियों के पक्ष में न था। उसकी राय में इनका एक और बुरा परिणाम हुआ। राजाओं की निजी सेनाएँ टूट जाने से बहुत से सैनिक बेकाम हो गये और वे लूट-पाट मचाने लगे। उसने गवर्नर-जनरल को इसके समझाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर इन लोगों ने बड़ा उपद्रव मचाया।

वेलेज़ली का उद्देश्य—उसका उद्देश्य और उसकी नीति पहले से निश्चित थी। घटनाओं के अनुसार अपनी नीति स्थिर करने की उसके लिए कोई आवश्यकता न थी। उसे तो किसी न किसी तरह घटनाओं को खींच-तानकर अपनी नीति के अनुसार लाना था। जो अधीन राज्य थे, उनमें हस्त-क्षेप करने के लिए शासन ठीक न होने का बहाना था। जो स्वतंत्र राज्य थे, उनको अधीन बनाने के लिए ज़मांशाह और फ्रांसीसियों के भय का दिखावा था। सारे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करना वास्तव में उसका मुख्य उद्देश्य था। परन्तु इसको छिपाकर जब कहा जाता है कि भारत में शान्ति स्थापित करना और जनता की दशा सुधारना उसका उद्देश्य था, तब उसकी नीति की विस्तृत रूप से आलोचना करने की आवश्यकता होती है। ज़मांशाह और फ्रांसीसियों के आक्रमण के भय में कितना तत्व था, यह दिखलाया जा चुका है। अवध और कर्नाटक में शासन की जो दशा थी, उसके भी कारण दिखलाये जा चुके हैं। टीपू और मराठों को किस तरह लड़ने के लिए मजबूर किया गया था, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। इतने पर भी हटन लिखता है कि उसको रुपये-पैसे की पर्वाह न थी। स्थायी शासन, अत्याचार से रक्षा, स्वतं-त्रता तथा उन्नति के लिए भारत व्याकुल हो रहा था। कोई भी हिन्दू या मुसल-

१ मिल, जि० [illegible], पृ० [illegible]।

सन् १८०५ में भारत
७०
७५
८०
८५
९०
काश्मीर
पंजाब
लाहौर
रावी न०
सतलज न०
सिन्ध न०
राजपूताना
सिन्ध
ग्वालियर
अवध
लखनऊ
पटना
बनारस
बंगाल
मुर्शिदाबाद
मालवा
बड़ोदा
इन्दौर
नर्मदा न०
असीरगढ़
सूरत
नागपुर
बरार
भौंसला
निज़ाम
बम्बई
पूना
गोदावरी न०
राज्य
हैदराबाद
कृष्णा न०
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
मैसूर
बंगलोर
मदरास
श्रीरंगपट्टन
संरक्षित राज्य
मराठा राज्य
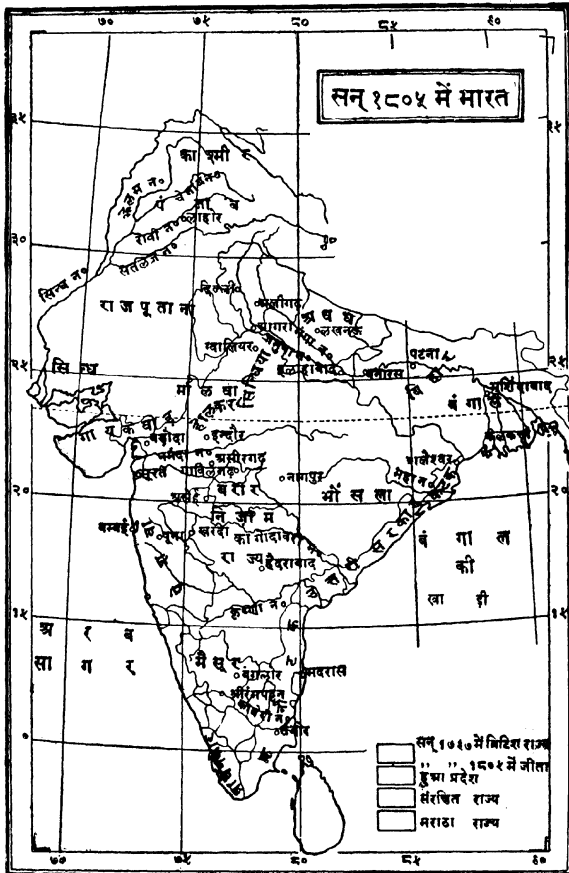
मान शासक ऐसा न था, जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता। एक कम्पनी ही ऐसी थी, जिससे भारतवर्ष का उद्धार हो सकता था। वेलेज़ली इसको अच्छी तरह जानता था और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बराबर प्रयत्न करता था।[१] उसके भावों की उच्चता और शुद्धता पर अविश्वास करना असम्भव है।[२] एक दूसरे इतिहासकार ने तो उसको "कम्पनी का अकबर" तक बना डाला है। परन्तु घटनाओं से इस समर्थन की पुष्टि नहीं होती। वह स्वतंत्र न था, पिट के इंडिया ऐक्ट से उसके हाथ बँधे हुए थे, उसे एक व्यापारिक संस्था को सन्तुष्ट रखना था, इसी लिए वह नीति की भाषा से काम लेता था। इस भाषा से उसके भावों का पता नहीं लग सकता।

मैसूर-विजय पर इँग्लेंड-सरकार की दी हुई उपाधि पर असन्तोष प्रकट करते हुए वह एक पत्र में लिखता है कि "मैं राज्यों पर राज्य, विजयों पर विजय, आय पर आय के ढेर लगा दूँगा। मैं इतनी शान, इतना धन और इतनी सत्ता एकत्र कर दूँगा कि मेरे मालिकों के लालच और महत्त्वाकांक्षा को भी दया के लिए चिल्लाना पड़ेगा।"[३] उसके लम्बे लम्बे 'खरीतों' की अपेक्षा, जिनके लिखने में वह सिद्ध-हस्त था, इन वाक्यों से उसके वास्तविक भावों का कहीं अधिक पता लगता है।

उसका चरित्र—वेलेज़ली अपने समय का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने थोड़े ही समय में अँगरेज़ों की शक्ति को भारतवर्ष में सबसे प्रबल बना दिया। अँगरेज़ों के मार्ग में टीपू और मराठे सबसे बड़े बाधक थे। अवसर पाकर उसने पहले एक को नष्ट कर डाला फिर दूसरे को निर्बल बना दिया। निस्सन्देह इससे उसकी दूरदर्शिता का परिचय मिलता है। उसकी दृष्टि से कोई बात छूटने न पाती थी। भारतवासियों के स्वभाव

१ हटन, वेलेज़ली, पृ० १०९।

२ वहीं, पृ० १९२।

३ लेडी एन बर्नार्ड के नाम पत्र, ता० २ अक्तूबर सन् १८००, वसु; जि० २, ० २६७-६८।

और कमज़ोरियों को उसने थोड़े ही काल में अच्छी तरह समझ लिया था। संचालकों के प्रति उसकी धृष्टता की कई एक इतिहासकारों ने निन्दा की है। महत्त्वाकांक्षा की मात्रा उसमें कितनी अधिक थी, यह उसके कार्यों ही से प्रकट है। परन्तु इसमें व्यक्तिगत लाभ का उस पर दोष नहीं लगाया जा सकता। हां, अपने भाइयों की उसको अवश्य बड़ी चिन्ता रहती थी। यश और मान की उसमें एक बड़ी भारी कमज़ोरी थी। अपने पद का ध्यान रखते हुए उपाधियों पर असन्तोष प्रकट करना उसके लिए शोभा न देता था। वह अपने को एक व्यापारिक संस्था का सेवक न समझता था। उसको भारतवर्ष के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य के शासक होने का अभिमान था। अपने बोल-चाल, रहन-सहन, सभी में वह इस बात के दिखलाने की चेष्टा करता था। तड़क-भड़क को वह बहुत पसन्द करता था। उसको लोग "सुलतानी अँगरेज़" कहा करते थे।

साहित्य से उसको बहुत प्रेम था। अँगरेज़ी भाषा लिखने में वह बड़ा निपुण था। अपनी बात के समर्थन में वह दलीलों की भरमार करता था। बोलने-चालने में उसका मुक़ाबला करना सहज न था। व्यंग और हास्य की भी उसमें कमी न थी। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी वह काम से कभी घबड़ाता न था। उसका कहना था कि काम करने में मुझे कुछ कठिनाई अवश्य होती है, पर ये कठिनाइयां ही मेरे प्रतिदिन का भोजन हैं, जिनसे मेरे शरीर का पालन होता है।[१] उसका ध्यान सभी ओर रहता था। भारतवर्ष के पशु-पक्षियों का अध्ययन करने के लिए उसने डाक्टर बुकानन को नियुक्त किया था। उसी की सहायता के लिए बारिकपुर में पशुओं का अजायबघर बनवाया गया। कलकत्ता नगर की शोभा बढ़ाने के लिए वेलेज़ली बराबर चिन्तित रहता था। शहर की सफ़ाई और सड़कों के प्रबन्ध के लिए उसने एक योजना तैयार की थी। कलकत्ता का विशाल और सुन्दर 'सरकारी भवन' उसी का बनवाया हुआ है। इँग्लेंड जाकर वह बहुत दिनों तक जीवित रहा। उस पर भी अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया, पर सफ-

१ हटन, वेलेज़ली, पृ० १९६।

लता न हुई। बाद में कम्पनी के संचालकों ने भी उसकी योग्यता को स्वीकार किया। भारतवर्ष में उसकी एक मूर्ति स्थापित करने की आज्ञा दी
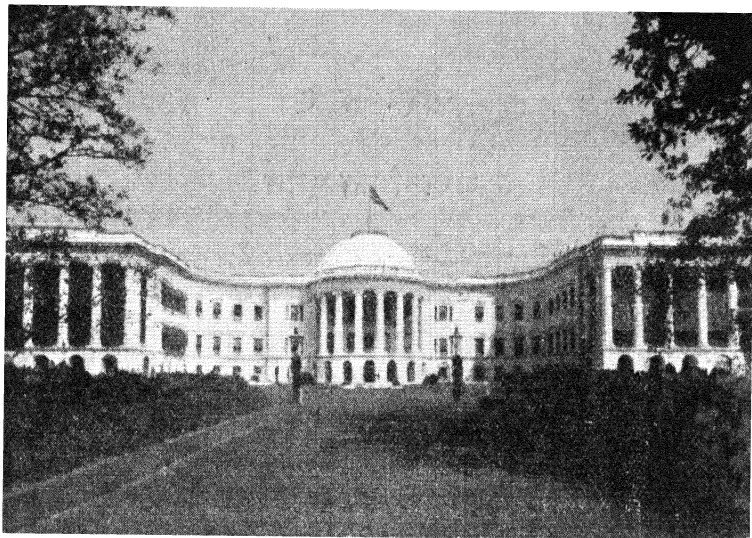
कलकत्ता का सरकारी भवन

गई और २० हज़ार पौंड उसको भेंट किये गये। सन् १८४२ में उसका देहान्त हुआ।

परिच्छेद ६

मराठों का पतन

नीति में परिवर्तन—इँग्लेंड की सरकार और कम्पनी के संचालक दोनों वेलेज़ली की नीति से तंग आ गये थे। ख़ज़ाना ख़ाली हो रहा था और लड़ाइयों का कोई अन्त न था। वे किसी न किसी तरह भारतवर्ष में शान्ति स्थापित करना चाहते थे। यह कार्य्य वृद्ध कार्नवालिस को सौंपा गया। ६७ वर्ष की अवस्था में वह दूसरी बार गवर्नर-जनरल होकर जुलाई सन् १८०५ के अन्त में भारतवर्ष पहुँचा। इस समय सिन्धिया को किसी तरह युद्ध से अलग रखना था। उसके साथ सबसे बड़ा झगड़ा ग्वालियर और गोहद का था। पिछले युद्ध में इन दोनों स्थानों पर अधिकार कर लिया गया था और अर्जुनगाँव की सन्धि हो जाने पर भी ये स्थान उसको वापस नहीं किये गये थे। आर्थर वेलेज़ली की राय में गवर्नर-जनरल की यह सरासर ज़बरदस्ती थी। सिन्धिया के कुछ सरदारों को १६ लाख रुपया साल की पेंशन देना भी निश्चित हुआ था। इसके हिसाब में भी झगड़ा पड़ रहा था। इन सब बातों से चिढ़कर सिन्धिया ने नायब रेज़ीडेंट को निगरानी में रख छोड़ा था और होलकर से मेल करने का प्रयत्न कर रहा था।

इन झगड़ों के मिटाने के लिए कार्नवालिस ने ग्वालियर और गोहद का वापस करना निश्चित कर लिया। सन्धि के लिए वह ऐसा उत्सुक था कि नायब रेज़ीडेंट को मुक्त करने की शर्त पर भी वह इस समय ज़ोर देना उचित न समझता था। वह जमुना नदी को कम्पनी के राज्य की

पश्चिमी सीमा बनाना चाहता था। राजपूत राजाओं के झगड़ों में पड़ना उसकी राय में भूल थी। वह शाहआलम को दिल्ली में रखकर उसकी रक्षा का भार लेने का भी पक्षपाती न था। मछेरी (अलवर) और भरतपुर के साथ जो सन्धियाँ हुई थीं, उनको भी वह तोड़ देना चाहता था। उसका अनुमान था कि इस तरह कम्पनी उनकी रक्षा की ज़िम्मेदारी से बच जायगी और सिन्धिया उनके झगड़ों में पड़ जायगा। जीती हुई भूमि को लौटाकर वह होलकर के साथ भी सन्धि करने के लिए तैयार था। उसका कहना था कि पिछली घटनाओं से ब्रिटिश सरकार के "न्याय तथा नम्रता" पर से देशी राज्यों का विश्वास उठ गया है। मैं उसको फिर से स्थापित करना चाहता हूँ। मेरी राय में "कम्पनी के राज्य की रक्षा तथा शान्ति के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है।"[1]

कार्नवालिस की मृत्यु—सेनापति लेक की राय में कार्नवालिस का यह प्रबन्ध राजपूत तथा अन्य छोटे छोटे राजाओं के साथ सरासर "विश्वासघात" था। सिन्धिया के साथ युद्ध के समय पर उनको रक्षा का वचन दिया जा चुका था। अब उनको इस तरह छोड़ देना किसी तरह उचित न था। यह समझौते लेक के ही किये हुए थे। अपनी बात को इस तरह जाते हुए देखकर उसे बड़ा दुख हो रहा था और वह इस्तीफ़ा देकर वापस जाना चाहता था। परन्तु कार्नवालिस अपनी बात पर तुला हुआ था। लेक का उसे पहले ही से अनुभव था। वेलेज़ली की तरह उसको पूर्ण स्वतंत्रता देकर वह युद्ध को बढ़ाना न चाहता था। उसकी राय में गवर्नर-जनरल और सेनापति के पदों को अलग अलग रखना नीतियुक्त न था। इसी लिए वह सेनापति भी बनकर आया था। भारतवर्ष में पहुँचते ही उसने युद्ध स्थगित करने के लिए लिख दिया था। सब झगड़ों को निपटाने के लिए वह कलकत्ते से उत्तरी भारत के लिए स्वयं चल पड़ा, परन्तु ता० ५ अक्तूबर को ग़ाज़ीपुर ही में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी अवस्था बहुत हो चुकी थी; कर्तव्यवश उसने

१ लार्ड लेक के नाम पत्र, ता० १९ सितम्बर सन् १८०५।

गवर्नर-जनरल के पद को स्वीकार किया था। भारतवर्ष पहुँचने पर उसका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। ग़ाज़ीपुर में उसका मक़बरा बना हुआ है।

कार्नवालिस का यह विश्वास था कि मराठों के साथ अन्याय किया गया है। वह लिखता है कि होलकर एक "योग्य और शक्तिशाली" शासक था। किसी न किसी तरह सिन्धिया और भोंसला के साथ युद्ध शान्त हो जाने पर उसके साथ भिड़ना वेलेज़ली की बड़ी भूल थी। टीपू से वह स्वयं अकारण लड़ बैठा था, परन्तु बुढ़ापे में वह मराठों के साथ अन्याय को दूर करने के लिए चिन्तित था। आते ही उसने सिन्धिया और भोंसला को सहानुभूति-सूचक पत्र लिखे थे और उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए वचन दिया था। साथ ही साथ उसका यह भी विश्वास था कि कम्पनी की आर्थिक दशा देखते हुए अधिक दिनों तक युद्ध का चलाना असम्भव था। वह लिखता है कि वास्तव में शासन का साधारण काम चलाने के लिए भी रुपया नहीं था। इसके लिए उसको मदरास से रुपया मँगाना पड़ा था और चीन को जो चाँदी जा रही थी, उसे रोक लेना पड़ा था। इस लड़ाई से कम्पनी को अधिक लाभ होने की भी उसे आशा नहीं थी क्योंकि जो कुछ मिलना था, वह मिल चुका था। ऐसी दशा में उसने केवल "शान" के लिए धन का लुटाना और नरहत्या करना उचित न समझा।

इस नीति के लिए प्रायः सभी अँगरेज़ इतिहासकारों ने उसको बहुत बुरा-भला कहा है। कुछ का तो कहना है कि बुढ़ापे में उसकी मति ठिकाने न थी। उन लोगों की राय में यदि वेलेज़ली कुछ दिन भारतवर्ष में और रह जाता, तो वह सबको ठीक कर देता। उन दिनों की स्थिति देखते हुए इसका विश्वास नहीं होता। होलकर पंजाब अवश्य भाग गया था, पर मराठों में धीरे धीरे एका हो रहा था। वेलेज़ली के अकारण हस्तक्षेप से बहुत से राजा असन्तुष्ट हो रहे थे। फिर सबसे भारी बात तो यह थी कि कम्पनी का ख़ज़ाना ख़ाली था, २० लाख रुपया अवध के नवाब से लेकर युद्ध का ख़र्च चलाया जा रहा था। वेलेज़ली स्वयं इस समय जैसे-तैसे सन्धि करने के लिए चिन्तित हो रहा था। भारतवर्ष छोड़ते समय इस सम्बन्ध में बार्लो ने उससे

परामर्श भी किया था।[1] दूसरी बात यह कही जाती है कि उन राजाओं का, जिनको रक्षा का वचन दिया गया था, कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि मराठों के लूटने पर लाखों करोड़ों ग़रीब किसानों की क्या दशा होगी, इसका कार्नवालिस ने कुछ भी विचार न किया।[2] वचन का पालन न करना हर समय निन्दनीय है। परन्तु भारतवर्ष के इतिहास में अँगरेज़ों को इसका ध्यान ही कब रहा? वेलेज़ली ने किस सन्धि का पालन किया? जिस रीति से उसने सन्धियों का पददलन किया, शायद ही किसी दूसरे गवर्नर-जनरल ने किया हो। इसके लिए उसको दोष नहीं दिया जाता है, परन्तु उन सन्धियों को, जो केवल स्वार्थवश की गई थीं, तोड़ने के लिए कार्नवालिस बड़ा दोषी ठहराया जाता है।

सर जार्ज बार्लो—कार्नवालिस के मरने पर कौंसिल का सबसे बड़ा मेम्बर बार्लो गवर्नर-जनरल हुआ। मराठों से युद्ध करने के लिए वेलेज़ली को सबसे अधिक परामर्श इसी ने दिया था। उसका मत था कि भारतवर्ष में एक भी ऐसे देशी राज्य को नहीं छोड़ना चाहिए, जिसकी रक्षा का भार और नीति का संचालन अँगरेज़ों के हाथ में न हो।[3] परन्तु अपने मालिकों की निगाह फिरी हुई देखकर अब उसको अपनी बात बदलने में भी किसी प्रकार का संकोच न था। उसने भी कार्नवालिस की नीति का ही अनुसरण करना निश्चित कर लिया।

युद्ध का अन्त—नवम्बर सन् १८०५ में सिन्धिया के साथ फिर से सन्धि की गई। ग्वालियर और गोहद उसको वापस कर दिये गये। "ब्रिटिश शान" को बनाये रखने के लिए यह कहा गया कि उसके "मित्रता के भावों का ध्यान रखकर" ऐसा किया गया। सिन्धिया के सरदारों को जो १६ लाख रुपये की पेंशन दी जाती थी, बन्द कर दी गई और स्वयं

१ जान के, लाइफ ऑफ़ मेटकाफ़, जि० १, पृ० १७२।

२ स्मिथ, आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृ० ६०८।

३ हटन, वेलेज़ली, पृ० ९१।

उसको ४ लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया गया। इस चार लाख के बदले में बार्लो होलकर की मुख्य जागीर टोंक-रामपुरा सिन्धिया को देना चाहता था। मालकम लिखता है कि इस तरह से वह सिन्धिया और होलकर में परस्पर का वैर बराबर बनाये रखना चाहता था; परन्तु सिन्धिया ने उसकी इस चाल को समझकर उस जागीर को मुफ़्त लेने से भी इनकार कर दिया।[1] सिन्धिया की स्त्री और लड़की के लिए उत्तरी भारत में ३ लाख रुपये की जागीरें दी गईं। उसके राज्य की चम्बल नदी उत्तरी सीमा मान ली गई। चम्बल के उत्तर या कोटा के पूर्व किसी राज्य से चौथ लेने का अधिकार सिन्धिया को न रहा। जयपुर के राजा के साथ जो सन्धि की गई थी, वह तोड़ दी गई। अपनी मित्रता का विश्वास दिलाने पर भी यह कहा गया कि वह शत्रुओं का साथ दे रहा था। उदयपुर, जोधपुर, कोटा तथा मालवा के कई राज्यों के साथ सन्धि न करने का अँगरेज़ों ने वचन दिया और यह मान लिया कि अपने अधीन राज्यों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करने का सिन्धिया को पूरा अधिकार है। इस तरह राजपूत राज्यों को जो रक्षा का वचन दिया गया था, वह तोड़ दिया गया। इन मनमानी शर्तों को पाकर सिन्धिया ने होलकर का साथ छोड़ दिया।

होलकर सिखों से सहायता लेने की आशा से पंजाब गया था। परन्तु सिखों के राजा रणजीतसिंह को पहले अपनी शक्ति दृढ़ करने की पड़ी थी, इन दिनों वह अँगरेज़ों से टक्कर न लेना चाहता था। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ों ने कई एक सिख सरदारों को पहले से ही अपने पक्ष में मिला रखा था।[2] इस अवसर पर होलकर ने काबुल से भी सहायता लेने का विचार किया था। परन्तु फ़ारस दूत भेजकर अँगरेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पर भी युद्ध छिड़वा रखा था। इसलिए वहाँ से भी सहायता की आशा न थी। सिन्धिया

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ३६३।

२ कहा जाता है कि रणजीतसिंह होलकर की सहायता करने के लिए तैयार था, परन्तु झिन्द के राजा ने समझा बुझाकर उसको मना कर दिया। इस राजा का अँगरेज़ों से मेल था।

ने साथ छोड़ ही दिया था। ऐसी दशा में होलकर ने भी सन्धि कर लेना उचित समझा। जनवरी सन् १८०६ में जो सन्धि की गई, उसके अनुसार दक्षिण में उसका जितना राज्य जीत लिया गया था, वापस कर दिया गया। चम्बल नदी के उत्तर की ओर उसका कुछ अधिकार न रहा, परन्तु उसके दक्षिण में उसको स्वतंत्रता दे दी गई। होलकर ने बिना अँगरेज़ों की सलाह के किसी यूरोपियन को नौकर न रखने का वचन दिया।

होलकर वंश के साथ अँगरेज़ों की यह पहली सन्धि थी। यशवन्तराव अपनी हार को सहन न कर सका। इन्दौर वापस आकर वह नई तोपें ढलवा रहा था और सेना का फिर से संगठन करने में लगा था। शासन में भी वह सुधार करना चाहता था। पर इतने ही में उसका दिमाग़ ठिकाने न रहा और वह पागल हो गया। बन्दूक़ की नली फटने से उसकी एक आँख जाती रही थी, इसी लिए वह 'एकचश्मुद्दौला' के नाम से प्रसिद्ध था। मालकम लिखता है कि उसकी शिक्षा अच्छी हुई थी। वह फ़ारसी समझ सकता था, पर लिख न सकता था। मराठी लिखने का उसको अच्छा अभ्यास था, हिसाब में भी वह बड़ा चतुर था। घोड़े की सवारी और भाला चलाने में वह अद्वितीय था। उसकी योग्यता के अनुसार उसका साहस भी था। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी बात में हिचकता न था। वह एक वीर योद्धा था, पर शासन की उसमें योग्यता न थी। वह मराठा युद्ध-प्रणाली के सहारे भारतवर्ष में फिर से मराठा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था।[1] यदि वह नीतिज्ञ हुआ होता और सिन्धिया तथा भोंसला के साथ मिलकर युद्ध करता, तो मराठा साम्राज्य का इतना शीघ्र पतन न होता।

निज़ाम और पेशवा—बार्लो यद्यपि हस्तक्षेप न करने की नीति का पक्षपाती था, पर जब मतलब का प्रश्न आ जाता था, तब वह भी न चूकता था। निज़ाम अपने दीवान मीरआलम को निकालकर उसकी जगह पर राजा महीपतराम को रखना चाहता था। मीरआलम कहने को तो निज़ाम का

---

१ मालकम, मेम्वायर्स ऑफ़ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० २५४—५५।

दीवान था, पर वास्तव में वह अँगरेज़ों का नाकर था। निज़ाम की इच्छा के विरुद्ध वह दीवान बनाया गया था और उसको बराबर रुपया दिया जाता था। निज़ाम के दीवान को अपने हाथ में रखना अँगरेज़ों की नीति थी। अन्त में राजा चन्दूलाल नायब दीवान बनाया गया, जो बराबर अँगरेज़ों का कहना करता रहा और भोग-विलास में फूँकने के लिए निज़ाम को भी काफ़ी रुपया देता रहा।[1] सहायक सन्धियों से देशी राजाओं को यही शासन की स्वतंत्रता दी गई थी।

कम्पनी के संचालक बेसीन की सन्धि को भी, जिसके कारण मराठा युद्ध हुआ था, बदलना चाहते थे। यह सन्धि बार्लो की सलाह से हुई थी, इसका बदलना वह सहन न कर सकता था। परन्तु प्रकट रूप से अपने स्वामियों की आज्ञा का विरोध करने की अपेक्षा उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि स्वयं पेशवा सन्धि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता था।[2] यह बात सत्य नहीं जान पड़ती। सन्धि होने के बाद से ही वह स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहा था। उसकी तरफ़ से जो चाहे कह दिया जाता था, अपने विचार प्रकट करने की उसको स्वतंत्रता ही कब दी जाती थी?

विल्लौर का उपद्रव—टीपू के बेटे और रिश्तेदार विल्लौर में नज़रबन्द रहते थे। जुलाई सन् १८०६ में यहां एक बड़ा उपद्रव हो गया। मदरास के गवर्नर विलियम बेंटिंक की अनुमति से स्थानीय सेनापति ने एक आज्ञा निकाल दी कि सिपाहियों को एक नये ढंग की पगड़ी बाँधनी पड़ेगी, दाढ़ी मूछ भी एक खास ढंग से बनवानी पड़ेगी और माथे पर तिलक या अन्य कोई धार्मिक चिह्न न लगाया जायगा। इस "मूर्खता की आज्ञा" से सारी सेना में सनसनी फैल गई और सिपाही समझने लगे कि उनको ईसाई बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। उन्होंने क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया और कुछ अँगरेज़ों को मार डाला। अर्काट से एक अँगरेज़ी सेना आ गई और

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० १४६--४७।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ३८१--८३।

उपद्रव शीघ्र ही शान्त हो गया। सिपाहियों को बड़ा कड़ा दंड दिया गया और टीपू के बेटे कलकत्ता भेज दिये गये। वास्तव में उनका कोई दोष था या
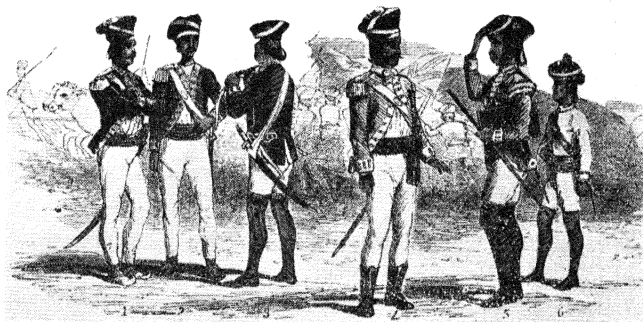
मदरास के सिपाही

नहीं, इसकी पूरी तरह से जाँच तक नहीं की गई। इस पर संचालकों ने मदरास के सेनापति तथा गवर्नर दोनों को वापस बुला लिया।

बार्लो ने खर्च घटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, इसी लिए कम्पनी को कुछ लाभ भी होने लगा। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि वह "सबसे नीच गवर्नर-जनरल" था। उसके समय में सिन्धिया और होलकर के साथ जो सन्धियाँ की गईं, उनसे "ब्रिटिश शान" पर धब्बा लग गया। वह नीच था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसकी नीचता इन सन्धियों के करने में न थी; इसका पता उसके दूसरे ही कामों में मिलता है। वह देशी राज्यों को आपस में लड़ाने का बराबर प्रयत्न किया करता था। मालकम लिखता है कि वह कुछ भूमि देकर के भी मछेरी और भरतपुर के साथ सन्धियाँ तोड़ देना चाहता था।[1] मेटकाफ़ का तो यहाँ तक कहना है कि गवर्नर-जनरल की राय में देशी राज्यों के झगड़ों ही में ब्रिटिश शासन की दृढ़ता थी, इसी लिए वह जान-बूझकर इन झगड़ों को

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ३७३।

बढ़ाया करता था।[1] अपने स्वामियों को प्रसन्न रखने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार था।

लार्ड मिंटो

लार्ड मिंटो—संचालक बार्लो को ही गवर्नर-जनरल रखना चाहते थे, परन्तु इँग्लेंड की सरकार एक दूसरे ही व्यक्ति को चाहती थी। अन्त में

---

१ जान के, सेलेक्शंस फ्राम दि पेपर्स ऑफ़ मेटकाफ़, पृ० ७।

दोनों की राय से, सन् १८०७ में 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' का सभापति लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल बनाया गया और बार्लो मद्रास का गवर्नर बना दिया गया। मिंटो बर्क का मित्र था, हेस्टिंग्ज़ पर अभियोग चलाने में भी उसने भाग लिया था, परन्तु फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से उसके विचारों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था।

महाराजा रणजीतसिंह—रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० में हुआ था। उसका पिता महानसिंह 'सुकर चकिया' नामक मिसल का मुख्य सरदार था। रणजीतसिंह बचपन से ही अपने पिता के साथ लड़ाइयों पर जाया करता था। अपने पिता के मरने पर वह बराबर लड़ता रहा और धीरे धीरे उसने कई एक मिसलों को दबा लिया। सन् १७९९ में ज़मांशाह ने उसको लाहोर का राजा बना दिया। लाहोर सिखों का मुख्य स्थान था, सन् १७९७ में इसको ज़मांशाह ने छीन लिया था। सन् १८०२ में रणजीतसिंह ने अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया। अब वह एक स्वतंत्र राजा हो गया और उसके नाम के सिक्के चलने लगे। रणजीतसिंह की उन्नति से सिख मिसलों की स्वतंत्रता नष्ट हो गई। कई एक मिसलों का एक बड़ा राज्य बन गया और उसके भाग्य का निपटारा लाहोर के राजा के हाथ में आ गया।

खालसा दल—रणजीतसिंह के पहले मिसलों की सेनाएँ अलग अलग थीं, इनका आपस ही में युद्ध हुआ करता था। परन्तु रणजीतसिंह ने इन सबको मिलाकर एक बड़ी सेना तैयार की। मराठों की तरह उसने भी सिखों की युद्धप्रणाली को छोड़ दिया और सेना को क़वायद सिखलाने के लिए कई एक यूरोपियन अफ़सरों को नौकर रखा। इनमें सब से मुख्य वेंचुरा था, यह महाराजा की 'फ़ौज खास' का सेनापति था। रणजीतसिंह का इस पर बहुत विश्वास था। उसने इसको लाहोर का 'क़ाज़ी' और 'हाकिम' भी बना दिया था। सिखों की सेना में भी घोड़सवार की अपेक्षा पैदल पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इस पैदल सेना में ज़्यादातर 'अकाली' थे, जो सदा लड़ने मरने के लिए तैयार रहते थे। तीस तीस मील का

धावा यह पैदल सेना एक दिन में लगाया करती थी। दीवान मोहकमचन्द प्रधान सेनापति था। उसके अधीन कई प्रसिद्ध सिख सरदार थे। तोपख़ाना का अध्यक्ष इलाहीबख़्श नाम का एक मुसलमान था। सिपाही अँगरेज़ी ढंग की वर्दी पहनते थे। सेना में भर्ती होने का सिखों को ऐसा चाव था कि रणजीतसिंह को सिपाहियों का कभी अभाव न रहता था। इसी विशाल सेना के सहारे वह अपने राज्य की सीमा को बराबर बढ़ाया करता था।

अमृतसर की सन्धि—सिन्धिया के साथ जब युद्ध हो रहा था, तभी से अँगरेज़ सिखों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। रणजीतसिंह ने पंजाब में होलकर का पीछा करने के लिए भी अँगरेज़ी सेना को आज्ञा दे दी थी। इस समय उसके राज्य का प्रारम्भ ही था, ऐसी दशा में वह अँगरेज़ों से कोई झगड़ा न करना चाहता था। परन्तु अब एक ऐसा प्रश्न उपस्थित हो गया, जिसके कारण उसको अँगरेज़ों का सामना करना पड़ा। सतलज और जमुना के बीच का देश पहले नाम मात्र को सिन्धिया के अधीन था। इसमें कई एक छोटे छोटे सिख राज्य भी थे, जिनमें मुख्य पटियाला, नाभा और झिन्द, 'फुलकिया मिसल' के राज्य थे। इन सबके राजा एक ही घराने के थे और बराबर आपस में लड़ा करते थे। सन् १८०६ में अपने चचा झिन्द के राजा के बुलाने पर रणजीतसिंह अपनी सेना लेकर पहुँच गया। लुधियाना पर उसका अधिकार हो गया और वह धीरे धीरे इस ओर भी अपना राज्य बढ़ाने लगा।

इस पर इन राजाओं ने अँगरेज़ों से सहायता माँगी। लार्ड मिंटो ने हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर देखा। इधर फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान होकर फ़्रांसीसियों के आक्रमण की ख़बर उड़ रही थी। यह भी एक बहाना मिल गया। रणजीतसिंह से कहा गया कि सिन्धिया पर विजय पाने से यह प्रदेश अँगरेज़ों के अधीन हो गया, उसकी रक्षा करना उनका कर्तव्य है। ऐसी दशा में सेना लेकर रणजीतसिंह को सतलज नदी के उस पार चला जाना चाहिए। उसको समझाने का काम मेटकाफ़ को सौंपा गया। साथ ही साथ लुधियाने की ओर अँगरेज़ी सेना भी भेज दी गई। रणजीतसिंह ने

पहले तो बहुत विरोध किया, वह लड़ने तक के लिए तैयारी करने लगा, परन्तु अपने एक मंत्री अज़ीज़ुद्दीन के बहुत समझाने पर उसने सन्धि करना स्वीकार
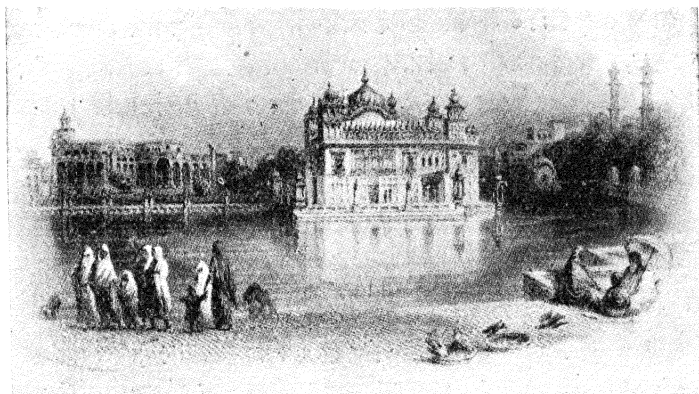
अमृतसर

कर लिया। सन् १८०९ में अमृतसर की सन्धि हो गई। सतलज नदी दोनों राज्यों की सीमा मान ली गई। इसके उत्तर तथा पश्चिम में रणजीत-सिंह को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई और इसके दक्षिण का देश अँगरेज़ों के अधीन मान लिया गया। इसके बाद से रणजीतसिंह अपने जीवन भर अँगरेज़ों से बराबर मित्रता का व्यवहार करता रहा।

सीमाओं की रक्षा—भारतवर्ष में कुछ शान्ति होने के कारण मिंटो का ध्यान अधिकतर राज्य की सीमाओं को सुरक्षित बनाने की ओर था। जब उसको पता लगा कि फ्रांस से एक दूत फ़ारस भेजा गया है, तब उसने भी मालकम को फिर से फ़ारस भेजा। वेलेज़ली के समय में यह एक बार फ़ारस जा चुका था। तभी अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पर ज़र्मांशाह को अरझाये रखने के लिए फ़ारस के शाह को कुछ रुपया देने का भी वचन दिया गया था। इधर इँग्लेंड-सरकार का भी एक दूत तेहरान पहुँच गया। शाह ने

उसको फ़्रांसीसियों की सहायता न करने का वचन दे दिया। उसके सामने मालकम की कोई पूछ न हुई और वह वापस लौट आया। मिंटो इस प्रबन्ध से सन्तुष्ट न था। उसने मालकम को दूसरी बार फिर से भेजा, परन्तु कोई लाभ न हुआ। सन् १८१० में लौटने पर मालकम अपने रोज़नामचे में लिखता है कि "झूठ, कपट और षड्यंत्रों" से मेरा पिंड छुटा।[1] जिस ढंग से उसको फ़ारस में काम करना पड़ा था, उसका पता इसी से लगता है।

इसी उद्देश्य से एलफ़िंस्टन काबुल भेजा गया, परन्तु उसे पेशावर ही में पता लगा कि अमीर शाहशुजा अफ़ग़ानिस्तान से निकाल दिया गया है। यहीं अमीर के मंत्रियों से उसकी भेंट हुई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यदि फ़्रांसीसियों के विरुद्ध हमसे सहायता चाहते हो, तो शत्रुओं के विरुद्ध हमारी सहायता करना तुम्हारा कर्तव्य है। एलफ़िंस्टन के पास इसका कुछ उत्तर न था। अफ़ग़ानिस्तान में झगड़ा बढ़ाये रखने के लिए फ़ारस को रुपया दिया जा रहा था, काबुल पर आक्रमण करने के लिए रणजीतसिंह को स्वतंत्रता दे दी गई थी, तिस पर भी अफ़ग़ानिस्तान के साथ मित्रता की सन्धि का प्रस्ताव किया जा रहा था। इस अवसर पर एक लाभ अवश्य हुआ, एलफ़िंस्टन को कई एक सरदारों से अफ़ग़ानिस्तान की बहुत सी बातों का पता लग गया।

सिन्ध के अमीरों के साथ भी फ़्रांसीसियों के विरुद्ध एक सन्धि की गई। फ़्रांसीसियों का जो कुछ भय था, वह तो था ही, पर सिन्ध में हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर मिल गया। इस तरह लार्ड मिंटो की नीति से चार स्वतंत्र राज्यों में अँगरेज़ों का पैर जमने लगा।

समुद्री युद्ध—मिंटो ने केवल स्थल से ही भारत पर आक्रमण करने के मार्गों को नहीं रोका, बल्कि उसने समुद्र की ओर से भी किसी के आने की सम्भावना नहीं रखी। भारतवर्ष के निकट दो ऐसे स्थान थे, जहां से आक्रमण होने की आशंका थी। एक तो मारिशस और उसके निकटवर्ती टापू, जो

---

१ जान के, सर जान मालकम, जि० २, पृ० ३५।

फ़्रांसीसियों के अधीन थे और दूसरे जावा तथा मसाला के टापू, जो डच लोगों के पास थे। मारिशस से फ़्रांसीसी अँगरेज़ों के व्यापार को बड़ी हानि पहुँचाया करते थे। दस वर्ष में उन्होंने लगभग ३० लाख रुपये का नुक़सान किया था। मसाला के टापुओं पर अँगरेज़ों की पहले ही से दृष्टि थी। सन् १८१० में एक जहाज़ी बेड़ा भेजकर फ़्रांसीसी टापू जीत लिये गये। उसी समय गवर्नर-जनरल ने स्वयं जाकर जावा तथा मसाला के टापुओं पर भी अधिकार कर लिया। सन् १८११ में वह जावा से लिखता है कि "गुडहोप अन्तरीप से लेकर हॉर्न अन्तरीप तक ब्रिटिश जाति का कोई शत्रु या सामना करनेवाला नहीं रह गया"। फ़्रांस और हालैंड के साथ सन्धि हो जाने पर सब टापू वापस कर दिये गये, केवल मारिशस रख लिया गया। यही "मिर्च के टापू" के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ भारतवर्ष से कुली भेजे जाते हैं। यहाँ ऊख की खेती होती है और कुलियों से बड़ी निर्दयता के साथ काम लिया जाता है।

कृष्णाकुमारी का आत्मबलिदान—इस समय राजपूताने की बड़ी शोचनीय दशा थी। अँगरेज़ों ने रक्षा का विश्वास दिलाकर राजाओं का साथ छोड़ दिया था। होलकर सबसे मनमाना रुपया वसूल कर रहा था। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर में बड़े झगड़े चल रहे थे। इनका मुख्य कारण उदयपुर के महाराणा की लड़की कृष्णाकुमारी थी। जयपुर तथा जोधपुर दोनों के राजा उसके साथ विवाह करना चाहते थे और होलकर की सहायता माँग रहे थे। इस पर अमीरख़ाँ ने राजकुमारी को मरवा डालने की महाराणा को सलाह दी। उस वीर बालिका ने सब झगड़ों को मिटाने के लिए सहर्ष विष-पान कर लिया।

ईसाई मत का प्रचार—वेलेज़ली की नीति से पादड़ियों का उत्साह बढ़ गया था और भारत में ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा था। मिंटो को भारत आने पर पता लगा कि श्रीरामपुर के 'मिशन' से कई एक किताबें देशी भाषाओं में निकाली गई हैं, जिनमें हिन्दू और मुसलमानों के धर्मों पर अनुचित आक्षेप किये गये हैं। मिंटो ने ऐसी किताबों का छापना बन्द

करवा दिया और कलकत्ते में प्रचार-कार्य्य के लिए देशी भाषाओं में व्याख्यान न देने की आज्ञा दे दी। उसका विश्वास था कि यदि लोगों को यह सन्देह हो जायगा कि सरकार उनके धर्म में हस्तक्षेप करना चाहती है, तो राज-विद्रोह फैलेगा।

लार्ड मिंटो की नीति—मिंटो हस्तक्षेप न करने की नीति का ही अनुयायी था, पर साथ ही साथ उसने इँग्लेंड-सरकार और कम्पनी के संचालकों को यह दिखलाने का भी प्रयत्न किया कि भारतवर्ष की तत्कालीन स्थिति में इस नीति का अनुसरण करना असम्भव है। वह लिखता है कि भारतवर्ष में 'शक्ति-सामंजस्य' के आधार पर शान्ति स्थापित रखना बड़ा मुश्किल है। लार्ड कार्नवालिस के समय में इसके लिए चेष्टा की गई थी, परन्तु निज़ाम की हार से मराठों की शक्ति बढ़ गई। वेलेज़ली की लड़ाइयों से स्थिति और भी बदल गई। बिना पीछे हटे हुए अब वैसा होना असम्भव है, परन्तु पीछे हटना "आगे बढ़ने से भी अधिक हानिकारक है"। मिंटो नम्रता और दृढ़ता दोनों से अच्छी तरह काम लेना जानता था। भारत की स्थिति को उसने ख़ूब समझ लिया था। वह न अकारण झगड़ा ही उठाना चाहता था और न किसी से दबता ही था। उसके शासन-काल में देश में कुछ शान्ति रही। जनवरी सन् १८१४ में वापस जाने के लिए वह संचालकों को लिख चुका था। परन्तु अप्रैल सन् १८१३ ही में उसकी जगह पर लार्ड हेस्टिंग्ज़ नियुक्त कर दिया गया।

कम्पनी का नया आज्ञापत्र—हर बीसवें साल कम्पनी को भारतवर्ष में व्यापार करने के लिए पार्लामेंट से आज्ञापत्र लेना पड़ता था। इसी रीति के अनुसार सन् १८१३ में उसको नया आज्ञापत्र मिला। इस अवसर पर उसके शासन की जांच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसने बहुत से तत्कालीन दोषों को दिखलाया। इस पर कुछ लोगों की राय थी कि कम्पनी के हाथ से शासन ले लेना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं किया गया। शासन में सुधार करने के लिए उसे केवल चेतावनी दे दी गई और

यह भी स्वतंत्रता के आन्दोलन को दबाने के लिए अमरीका गया था। इँग्लेंड के युवराज का यह बड़ा घनिष्ठ मित्र था और उसके साथ पड़कर अपनी बहुत सी सम्पत्ति उड़ा चुका था। उसी की सिफ़ारिश से, लार्ड मिंटो का बिना कुछ ध्यान किये हुए, यह भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल और सेनापति बना दिया गया। जब यह भारतवर्ष पहुँचा तब इसको "सात ऐसे झगड़े जान पड़े जिनमें युद्ध की सम्भावना थी।" इनमें सबसे पहला झगड़ा नैपाल राज्य के साथ था।

नैपाल का राज्य—इस राज्य में पहले राजपूत शासन करते थे, परन्तु सन् १७६८ से गोरखों का अधिकार हो गया था। सतलज नदी से लेकर भूटान तक हिमालय की दक्षिणी पहाड़ियों में यह राज्य फैला हुआ था। यही एक ऐसा राज्य रह गया था, जिसमें मुसलमान न पहुँच सके थे और जहाँ प्राचीन हिन्दू ढंग से शासन होता था। उत्तर में इसका चीन के साम्राज्य से सम्बन्ध था। दक्षिण का ढालू भाग, जो तराई के नाम से प्रसिद्ध है, अवध के राज्य से मिला हुआ था। सन् १७६५ में एक अँगरेज़ी सेना ने तराई में घुसने का प्रयत्न किया था, परन्तु गोरखों ने इसको निकाल बाहर किया था। सन् १७९१ में कार्नवालिस ने कर्नल कर्कपैट्रिक को भेजकर नैपाल के साथ एक व्यापारिक सन्धि की थी। इस राज्य का वर्णन करते हुए कर्कपैट्रिक लिखता है कि यहां परम्परा से चली आई हुई शासन-व्यवस्था इतनी दृढ़ हो गई थी कि किसी स्वेच्छाचारी राजा का उसके विरुद्ध जाना एक प्रकार से असम्भव था। शासन का कुल भार प्रधान सचिव के हाथ में रहता था। न्याय विभाग का अध्यक्ष 'धर्माधिकारी' कहलाता था। इस विभाग का ऐसा उत्तम प्रबन्ध था कि चोरी का कहीं नाम तक न सुनाई देता था। यहां से भारत का माल तिब्बत और चीन जाता था। व्यर्थ की शान में बहुत रुपया न फूँका जाता था, इसी लिए ख़ज़ाने में ख़ूब धन था। संस्कृत विद्या का अच्छा प्रचार था। वृक्ष की छाल से, जो 'काग़ज़ी-पाट' कहलाती थी, काग़ज़ बनता था। भाटगांव 'नैपाल का बनारस' समझा जाता था। यहां के केवल एक पुस्तकालय में उस समय भी १५ हज़ार से अधिक

अवश्य किया जाता। बिना विशेष आज्ञा के नैपाल में कोई जाने नहीं पाता है। गोरखों को विदेशियों पर बड़ा सन्देह रहता है। किसी राजनैतिक संकट के समय पर इनके सरदारों की एक सभा एकत्र होती है। सन् १८४६ में कई झगड़ों के कारण इस सभा ने तत्कालीन महाराजा को गद्दी से उतार दिया था।[1] तभी जंगबहादुर प्रधान सचिव बनाया गया। सन् १८५० में वह इँग्लेंड गया और वहाँ से लौटने पर उसने शासन में कई सुधार किये। सन् १८५७ के ग़दर में उसने अँगरेज़ों का साथ दिया। सन् १९२८ में दासता की प्रथा, जो बहुत दिनों से नैपाल में प्रचलित थी, उठा दी गई।

पिंडारियों का दमन—दक्षिण के कुछ पठानों ने अपना पेशा लड़ना-भिड़ना बना रखा था। राज्यों के परस्पर युद्ध में ये बराबर भाग लिया करते थे और शत्रुओं को लूटकर अपना काम चलाते थे। औरंगज़ेब के समय में इन्होंने शिवाजी का साथ दिया था और मुग़ल सेना को ख़ूब लूटा था। नसरू नाम का इनका एक सरदार शिवाजी की सेना का जमादार था। इसी के वंशज ग़ाज़ीउद्दीन की सहायता से पेशवा बाजीराव पहले ने मालवा पर आक्रमण किया था। तभी से ये लोग मालवा में बस गये थे। कुछ हिन्दुओं के शामिल हो जाने से इनका दल बहुत बढ़ गया था। इनमें धर्म या जाति का कुछ भी भेद न था। लड़ना इनका मुख्य काम था, तलवार और भाला इनके अस्त्र थे। घोड़े की सवारी में ये बड़े निपुण होते थे। एक दिन में चालीस चालीस, पचास पचास मील का धावा लगाते थे। ये सबके सब पिंडारी कहलाते थे। यह नाम कैसे पड़ा, इस पर मतभेद है। मालकम का कहना है कि ये 'पिंड' नाम की शराब बहुत पिया करते थे, इसी लिए पिंडारी कहलाते थे।

इनकी सेनाएँ बन गई थीं, जो हर समय लड़ाई के लिए तैयार रहती थीं। उनको वेतन देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, वे केवल शत्रु को

---

१ ह्वीलर, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृ० ५८२—८६।

लूटने की आज्ञा चाहती थीं। सिन्धिया और होलकर दोनों पिंडारियों से सहायता लेते थे। इसलिए इनके दो दल बन गये थे, जो 'सिन्धियाशाही' और 'होलकरशाही' के नाम से प्रसिद्ध थे। पिछले मराठा युद्ध में आर्थर वेलेज़ली भी पिंडारियों से सहायता लेना चाहता था। शत्रुओं को ये खूब लूटते थे और उनके साथ कभी कभी निर्दयता का भी व्यवहार करते थे, इसमें सन्देह नहीं है। पर केवल लूटना ही इनका पेशा न था जैसा कि अँगरेज़ इतिहासकारों का कहना है। मालकम लिखता है कि होलकर की सेना में इनका पड़ाव अलग रहता था और चार आना रोज़ के हिसाब से इनको भत्ता मिलता था। इसके अतिरिक्त अपने टट्टुओं और बैलों पर नाज तथा लकड़ी लाद करके भी ये लोग कुछ कमा लेते थे। जब लूटने की आज्ञा मिलती थी तब यह भत्ता बन्द कर दिया जाता था। विल्सन का कहना है कि सिन्धिया और होलकर ने नर्मदा के निकट इनको जागीरें दे रखी थीं, जहाँ ये शान्ति के समय में रहते और लड़ाई छिड़ने पर अपने मालिकों का साथ देते थे।

वेलेज़ली की नीति से इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। निज़ाम, टीपू तथा मराठों के बहुत से बेकाम सिपाही इनमें शामिल हो गये थे। आर्थर वेलेज़ली ने गवर्नर-जनरल को तभी सचेत किया था, परन्तु तब इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। इन दिनों करीमखाँ, वासिल-मुहम्मद और चीतू इनके मुख्य सरदार थे। सिन्धिया के राज्य में करीमखाँ तथा चीतू की जागीरें थीं और ये दोनों नवाब कहलाते थे। इन दिनों मालवा, राजपूताना और दक्षिण में पिंडारी ऊधम मचाये हुए थे। कर्नल टाड ने राजपूताने में इनके अत्याचारों का बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया है। इधर कुछ दल बिहार की सीमा तक पहुँच गये थे और कुछ निज़ाम के राज्य में लूट-पाट मचाये हुए थे। सन् १८१५ में जब निज़ाम की अँगरेज़ी सेना ने इन पर आक्रमण किया तब ये उत्तरी सरकार के ज़िलों पर टूट पड़े। इस पर 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' की अनुमति से लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने इनका दमन करना निश्चित कर लिया।

अँगरेज़ इतिहासकारों ही के मतानुसार इनकी संख्या ३० हज़ार से अधिक न थी। पर इनके दमन करने के लिए १ लाख २० हज़ार सेना एकत्र की गई, जिसमें १३ हज़ार गोरे सिपाही थे। पहले नये समझौते करके मराठों की शक्ति अच्छी तरह जकड़ दी गई, जिसमें उनसे पिंडारियों को किसी प्रकार की सहायता न मिले। फिर यह सेना पिंडारियों पर टूट पड़ी। इतनी बड़ी सेना से लड़ने के लिए उनमें दम ही कितना था? करीमखां ने हथियार डाल दिये, उसको गोरखपुर के ज़िले में एक जागीर दे दी गई। वासिल-मुहम्मद ने निराश होकर आत्मघात कर लिया। चीतू कुछ दिनों तक लड़ता रहा, पर जंगल में एक चीते ने उसको खा डाला। इनकी सेनाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं और सैनिक अन्य कामों में लग गये। इस तरह सन् १८१८ में पिंडारियों का अन्त हो गया।

मराठों का भय—पिंडारियों को दमन करने के लिए जैसी कुछ तैयारी की गई थी, उसे देखकर मराठे चिन्तित हो रहे थे। सर जान के लिखता है कि इस अवसर पर चारों ओर से जिस तरह सेना उमड़ रही थी, उससे यही जान पड़ता था कि घेरकर मराठा राजाओं का शिकार किया जायगा। उनका यह सोचना कि "फिरंगी अब काफ़ी विश्राम कर चुके हैं, वे फिर से घोर युद्ध के लिए कमर कस रहे हैं और अपनी सारी सैनिक शक्ति को एकत्र करके इस बार भूमि पर से देशी राजाओं का नाम मिटा देना चाहते हैं," स्वाभाविक था।[1] इतनी भारी सेना के आगे बढ़ने से वे डर रहे थे। उनको भय था कि अन्त में इसका वार मराठों पर अवश्य होगा। उनका यह सन्देह निरा-धार न था। पिंडारियों पर आक्रमण के परिणाम स्वरूप मराठा युद्ध की सम्भावना की चर्चा उन दिनों सरकारी काग़ज़ात में बड़े विस्तार के साथ हो रही थी। कौंसिल भवन में राजनीतिज्ञ बड़ी गम्भीरता से इस पर बहस कर रहे थे। मराठा राजाओं को पूर्ण रूप से अधीन बना लेने पर मेटकाफ़ ज़ोर दे रहा था। उसका कहना था कि यदि पिंडारी-युद्ध में मराठे पूरा साथ न दें या

---

१ जान के, लाइफ़ ऑफ़ सर जान मालकम, जि० २, पृ० १८७।

किसी प्रकार की बाधा डालें तो, शत्रु समझकर, उन पर आक्रमण कर देना चाहिए और उनके राज्यों को थोड़ा बहुत छीन लेना चाहिए। इससे युद्ध का खर्च भी चल जायगा और अधिक सेना रखने के लिए काफ़ी रुपया भी मिल जायगा।[१] इन वाक्यों से पिंडारी-युद्ध का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। के लिखता है कि ऐसी दशा में भी यदि मराठों के साथ युद्ध न हुआ होता तो आश्चर्य्य था। जिस तरह भावी भय के लिए तैयारी करने का हमें अधिकार था उसी तरह उनको भी था। यदि उनकी तैयारी को, जिन्हें हमसे कहीं अधिक भय की आशंका थी, हम विद्रोह या मूर्खता कहते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय स्वार्थ से हम अन्धे हो रहे थे। जब हमारी तोपें भरी हुई हैं और हाथ में पलीता सुलग रहा है, तब निस्सन्देह हम इस बात की आशा नहीं कर सकते कि अन्य राज्य अपनी चढ़ी हुई तोपों को उतार लेंगे।[२]

मराठों से इस समय कोई ऐसा भय न था। ब्रिटिश सरकार की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मनरो की राय में अब देशी राज्यों के किसी गुट्ट से उसे कोई डर नहीं था।[३] परन्तु अँगरेज़ों की नीति अब पलट चुकी थी। वास्तव में नैपाल का युद्ध नीति के परिवर्तन की घोषणा थी। वीर नेपोलियन, जिसके नाम से अँगरेज़ काँपते थे, कम्पनी के अधीन सेंट हेलेना के टापू में पड़ा सड़ रहा था। उसके साथ लड़ने में इँग्लैंड की जो क्षति हुई थी, उसकी किसी न किसी तरह पूर्ति करनी थी। पिंडारियों के दमन के बहाने से मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप करने का लार्ड हेस्टिंग्ज़ को अच्छा अवसर मिल गया। भारत आते ही उसने निश्चित कर लिया था कि ब्रिटिश सरकार को 'सर्वोच्च' बना देना चाहिए और देशी राजाओं को नाम से भले ही नहीं पर वास्तव में उसके 'जागीरदार' बनाकर रखना चाहिए।[४]

---

१ जान के, लाइफ़ ऑफ़ मेटकाफ़, जि० १, पृ० ४३७।

२ जान के, लाइफ़ ऑफ़ सर जान मालकम, जि० २, पृ० १८९-९०।

३ ग्लीग, लाइफ़ ऑफ़ मनरो, पृ० २४६, २५०।

४ लार्ड हेस्टिंग्ज, प्राइवेट जर्नल, (पाणिनि आफ़िस संस्करण) पृ० ३०।

भोंसलाओं की अवनति—मार्च सन् १८१६ में राघोजी भोंसला की मृत्यु हो गई। नागपुर का यह अन्तिम स्वतंत्र राजा था। इसका पुत्र, जो अन्धा था, नाम मात्र के लिए राजा मान लिया गया, परन्तु शासन किसके हाथ में रहे, इस पर झगड़ा चल पड़ा। घुसने के लिए अँगरेज़ों को यह अच्छा अवसर मिल गया। लार्ड हेस्टिंग्ज़ लिखता है कि "राघोजी भोंसला की अचानक मृत्यु से मैं उस कार्य्य को कर सका जिसके लिए बारह वर्ष से बराबर प्रयत्न किया जा रहा था।" इस मामले में तरह तरह की चालें चली गईं और घूस से काम लिया गया।[1] राघोजी का भतीजा अप्पा साहब अँगरेज़ों की सहायता से राजा का संरक्षक बन गया। उसने गुप्त रीति से अँगरेज़ों के साथ सहायक सन्धि कर ली। जब तक नागपुर में अँगरेज़ी सेना पहुँच न गई, इसका किसी को पता भी न लगा। मालकम लिखता है कि इस सन्धि का समाचार मिलने पर रनिवास तक में कोलाहल मच गया। "मराठा-मंडल की शक्ति पर यह भीषण आघात हुआ"।[2]

फ़रवरी सन् १८१७ में नये राजा बाला साहब की भी मृत्यु हो गई, इस पर अप्पा साहब राजा बना दिया गया। अब स्वयं अप्पा साहब को अँगरेज़ों का हस्तक्षेप असह्य होने लगा। राज्य की आमदनी के एक तिहाई भाग से भी अधिक केवल सेना का खर्च माँगा जा रहा था और मंत्रियों की नियुक्ति में भी बाधा डाली जा रही थी। भोंसला मराठा-मंडल का सेनापति माना जाता था, इसी लिए गद्दी पर बैठते समय पेशवा के यहां से खिलत आई थी। यह बात अँगरेज़ों को बहुत खटकी, क्योंकि एक तो इन दिनों पेशवा से उनकी चल रही थी, दूसरे मराठा-मंडल के अस्तित्व को जतानेवाले किसी रीति-रिवाज को वे मानने के लिए तैयार न थे। अप्पा साहब को हाथ में रखने के लिए रेज़ीडेंट ने अँगरेज़ी सेना को नागपुर बुला भेजा।[3] अप्पा साहब

---

१ लार्ड हेस्टिंग्ज़, प्राइवेट जर्नल, पृ० २५४।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ४९४-९५।

३ वहीं, पृ० ५०५।

की सेना इस अपमान को सहन न कर सकी और उसने सीताबल्दी की छावनी पर आक्रमण कर दिया, पर सफलता न हुई। अप्पा साहब ने फिर समझौता कर लिया, जिससे सेना का प्रबन्ध और मुख्य गढ़ अँगरेज़ों के हाथ में आ गये। इस पर भी अँगरेज़ों को सन्तोष न हुआ। अब कहा जाने लगा कि वह सेना को भड़का रहा है और बाजीराव से पत्र-व्यवहार कर रहा है। इतने दिनों बाद बाला साहब की मृत्यु का दोष भी उसी के मत्थे मढ़ा जाने लगा। रेज़ीडेंट की आज्ञा से वह गिरफ्तार करके इलाहाबाद भेज दिया गया, जहां से वह भाग निकला। कुछ दिनों तक वह रणजीतसिंह के दरबार में रहा। वहाँ से हटाये जाने पर वह जोधपुर चला गया, जहाँ के राजा ने उसे अँगरेज़ों के हवाले करने से इनकार कर दिया। जून सन् १८१८ में राघोजी का नाती, जो बालक था, नाम मात्र के लिए राजा बना दिया गया। कुल शासन रेज़ीडेंट के निरीक्षण में होने लगा। नर्मदा नदी के उत्तर का प्रदेश, जिसमें सागर का ज़िला है, सेना का खर्च चलाने के लिए ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। इस तरह आधुनिक 'मध्यप्रान्त' की नींव पड़ी।

सिन्धिया के साथ नई सन्धि—इस समय तक सिन्धिया की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट न हुई थी। पिछली सन्धि में अँगरेज़ों ने यह वचन दिया था कि राजपूत राज्यों के साथ उसका जो सम्बन्ध है, उसमें वे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेंगे। उसे निर्बल बनाने के लिए किसी न किसी तरह इस शर्त को बदलना था। अब उस पर यह अपराध लगाया गया कि वह गुप्त रीति से पिंडारियों की सहायता कर रहा है और अँगरेज़ों के विरुद्ध नैपाल के राजा से भी सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। इसी बात पर पिंडारियों को दमन करने के लिए जो सेना तैयार की गई थी, उसे लेकर स्वयं गवर्नर-जनरल ने सिन्धिया को इस तरह घेर लिया कि मजबूर होकर उसे अँगरेज़ों की सब शर्तें माननी पड़ीं। उसके दो मुख्य क़िले ज़मानत में ले लिये गये और राजपूत राज्यों के साथ सन्धियाँ करने के लिए अँगरेज़ों को स्वतंत्रता मिल गई। लार्ड हेस्टिंग्ज़ लिखता है कि मैंने सिन्धिया को ऐसा जकड़ दिया है कि अब

विश्वासघात के लिए उसमें दम नहीं रह गया। इस सन्धि से "वास्तव में मराठों का पतन हो गया"।[1]

होलकर के राज्य की दुर्दशा—इस राज्य का कोई देखनेवाला न था। अमीरखां, जिस पर यशवन्तराव को बड़ा भरोसा था, उसके जीवन-काल से ही विश्वासघात कर रहा था। इस समय तो अँगरेज़ों ने होलकर के राज्य का ही एक भाग (टोंक) देकर उसको अपने पक्ष में मिला लिया था। नोलन नाम का एक अँगरेज़ अपने इतिहास में लिखता है कि "होलकर के राज्य की एकता नष्ट करने के लिए अमीरखां और अँगरेज़ जो चालें चल रहे थे, वे हमारे राष्ट्र के लिए प्रतिष्ठास्पद न थीं। उनके सम्बन्ध में, दरबार के सभी आदमी, राज्य के सभी दल, अँगरेज़ों के पक्ष में या उनके विरुद्ध और एक दूसरे के प्रतिकूल षड्यंत्र रच रहे थे। झूठ, धोखेबाज़ी, अपहरण, वध, हत्या, लूट, विद्रोह और परस्पर के युद्ध से वह राज्य, जिस पर सुप्रसिद्ध होलकर कभी शासन करता था, छिन्न-भिन्न और कलुषित हो रहा था"।[2] रानी तुलसीबाई मार डाली जा चुकी थी। ऐसी दशा में भी यह सन्देह किया गया कि इस राज्य से भी पिंडारियों को सहायता मिल रही थी। दिसम्बर सन् १८१७ में महीदपुर में होलकर की सेना चारों ओर से घेर ली गई। बड़ी घोर लड़ाई हुई जिसमें अँगरेज़ों के बहुत से सैनिक मारे गये। रोशनबेग के तोपख़ाना ने बड़ा काम किया, परन्तु इतने ही में अब्दुलग़फ़ूर ख़ां, जो होलकर का एक मुख्य सेनानायक था, अँगरेज़ों से मिल गया। इसी के सिपाहियों ने रानी तुलसीबाई का वध किया था। इस विश्वासघात के लिए उसके वंशजों को जावरा की जागीर दी गई।[3] जनवरी सन् १८१८ में सन्धि हो गई, तब से होलकर राज्य भी अँगरेज़ों के अधीन हो गया।

---

१ लार्ड हेस्टिंग्ज़, प्राइवेट जर्नल, पृ० ३०९।

२ नोलन, ब्रिटिश एम्पायर, जि० २, पृ० ५२१।

३ लुतफ़ुल्ला, आटोबायग्रैफ़ी, पृ० १०३-१०४।

पेशवाओं का अन्त—बाजीराव अपने को बड़ा नीति-निपुण समझता था, पर अँगरेज़ों से कूटनीति में पार पाना सहज न था। पिछले मराठा युद्ध के समय से ही अँगरेज़ों ने घूस देकर उसके मंत्रियों को फोड़ रखा था।[1] इन दिनों उसके दरबार में एलफ़िंस्टन रेज़ीडेंट था। पेशवा पर उसकी बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। बाजीराव लिखता है कि वह किस दिन क्या खाता था, इसका भी पता रेज़ीडेंट को रहता था। इन्हीं दिनों गंगाधर शास्त्री, जो बड़ौदा राज्य का कुछ हिसाबी झगड़ा निपटाने के लिए पूना आया था, मार डाला गया। रेज़ीडेंट का कहना था कि यह कार्य्य पेशवा की राय से उसके मंत्री त्र्यम्बकजी द्वारा किया गया। त्र्यम्बकजी अँगरेज़ों का बड़ा विरोधी था। रेज़ीडेंट के बहुत दबाने पर पेशवा ने उसको अँगरेज़ों के हवाले कर दिया, जिन्होंने उसे एक क़िले में क़ैद कर दिया। थोड़े दिन बाद वह क़िले से भाग निकला। रेज़ीडेंट की राय में इसमें भी पेशवा की साज़िश थी। उसको यह भी सन्देह था कि पेशवा गुप्त रीति से युद्ध की तैयारी कर रहा था। इस पर गवर्नर-जनरल ने घोषणा कर दी कि बाजीराव 'शत्रु' है। अँगरेज़ी सेना भी पूना की ओर बढ़ने लगी। घबड़ाकर बाजीराव ने सन् १८१७ में नई सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके अनुसार मराठा-मंडल नष्ट कर दिया गया। अन्य मराठा राज्यों पर पेशवा का कोई अधिकार न रहा और दंड स्वरूप उसे रायगढ़ तथा पुरन्दर के क़िले और मालवा तथा उत्तरी भारत के सब इलाक़े अँगरेज़ों को दे देने पड़े। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने भी माना है कि ये शर्तें बड़ी कड़ी थीं। पर उसका कहना है कि यदि बाजीराव को गद्दी पर बिठलाये रखना था और अपनी रक्षा का भी प्रबन्ध करना था, तो उसे इस तरह से "पंगु बना देने" के अतिरिक्त और कोई उपाय न था।[2] यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बाजीराव के गुप्त भाव चाहे जो कुछ रहे हों, इस समय तक उसने बेसीन की सन्धि को किसी तरह

---

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज़, पृ० २७३-७६।

२ लार्ड हेस्टिंग्ज़, प्राइवेट जर्नल, पृ० २९१।

भंग नहीं किया था। शासन में भी वह थोड़े बहुत सुधार कर रहा था। इसको इतिहासकार मालकम ने भी माना है।[1]

इस नई सन्धि के अपमान को भी यदि बाजीराव चुपचाप सहन कर लेता तो आश्चर्य था। परन्तु अब यह बात उसके हाथ की न थी। पेशवा की गद्दी का इस तरह अपमान देखकर उसकी सेना उत्तेजित हो रही थी। मुख्य सरदार गोखले, जो स्वयं पहले अँगरेज़ों का पक्षपाती था, उनकी ज़्यादती देखकर बिगड़ रहा था। इन दिनों कुछ अँगरेज़ी सेना पिंडारियों के साथ लड़ने के लिए बाहर गई हुई थी। अवसर पाकर गोखले ने नवम्बर सन् १८१७ में किरकी (खड़की) की छावनी पर आक्रमण कर दिया। मालकम के कथनानुसार पेशवा इस समय भी पहले अपनी तरफ़ से वार न करना चाहता था, परन्तु गोखले ने ऐसे स्वामी की बात न सुनना ही उचित समझा। रेज़ीडेंसी में आग लगाकर पेशवा की सेना ने घोर युद्ध किया, परन्तु अँगरेज़ी सेना अधिक आ जाने से उसे पीछे हटना पड़ा और पूना पर अँगरेज़ों का फिर से धिकार हो गया। बाजीराव भाग निकला।

बापू गोखले

गोखले ने बराबर युद्ध जारी रखा, अन्त में वह बड़ी वीरता के साथ लड़ते हुए मारा गया। पेशवा का दल बढ़ रहा था। जिसके पूर्वजों ने "मलाबार से लेकर लाहोर" तक भगवा झंडा फहराया था, उसकी गद्दी का

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ४६६-६७।

इस तरह नष्ट होना मराठा सरदार सहन न कर सकते थे। इस भाव को दबाने के लिए मैसूरवाली चाल चली गई। शिवाजी के वंशज सतारा के राजा को पेशवा का बहुत सा राज्य देने की घोषणा की गई। इस चाल का भी कोई प्रभाव न पड़ा, अँगरेज़ों की नीति से बराबर असन्तोष फैलने लगा। परन्तु बाजीराव ने इस अवसर पर भी अपनी कायरता का परिचय दिया। उसने अपने को अँगरेज़ी सेनाध्यक्ष मालकम के हवाले कर दिया, जिसने उसको ८ लाख रुपये साल की पेंशन देकर बिठूर भेज दिया, जहाँ वह बहुत दिनों तक जीवित रहा।

बाजीराव को इतनी बड़ी पेंशन देना गवर्नर-जनरल की राय में उचित न था। अँगरेज़ इतिहासकारों का कहना है कि पेशवा के साथ बड़ी उदारता की गई। परन्तु वास्तव में बात कुछ और ही थी। मालकम, जिसको तत्कालीन स्थिति का सबसे अधिक ज्ञान था और जिसने पेशवा को गद्दी छोड़ देने के लिए आठ लाख रुपया सालाना देने का लालच देकर राज़ी किया था, लिखता है कि पेशवा के पास इस समय भी चार पाँच हज़ार घोड़सवार बाक़ी थे, जो कुछ दिन विश्राम करके, फिर से लड़ने के लिए तैयार थे। उसके पास इतनी ही पैदल सेना थी, जिसमें बहुत से अरब लोग थे। "हम लोगों की दृष्टि में उसकी दशा चाहे जितनी गिरी हुई हो, पर उसके नाम से सहस्रों सैनिक एकत्र हो रहे थे।" सिन्धिया भी उसका साथ देने का विचार कर रहा था। मैसूर से लेकर मालवा तक सारा देश उसके लिए चिन्तित हो रहा था। पेशवा अपनी सेना के साथ असीरगढ़ की ओर बढ़ रहा था, जिसका बर्सात में जीतना कठिन था। ऐसी

दूसरा बाजीराव

दशा में किसी न किसी तरह समझा-बुझाकर बाजीराव को हाथ में लाने के सिवा और कोई उपाय न था।[1]

बाजीराव के प्रति जो राजभक्ति दिखलाई गई, उसके योग्य वह न था। उसमें व्यक्तिगत साहस का सर्वथा अभाव था, केवल धूर्तता में वह बड़ा निपुण था। संस्कृत का वह अच्छा विद्वान् था और पंडितों का सदा आदर करता था। ज़बान का वह ऐसा मीठा था कि उसका सभी पर प्रभाव पड़ता था और उसके भावों का जानना कठिन हो जाता था। वह बड़ा व्यसनी और आलसी था, इसी लिए गंगा के तट पर आठ लाख रुपया सालाना से आनन्द करने के सामने उसको पेशवाओं का नाम मिटाने में भी संकोच नहीं हुआ।

पेशवाई शासन—पेशवाओं के समय में शिवाजी की राज्य-व्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। इन दिनों मराठों का साम्राज्य कई एक राज्यों का समूह था। इन राज्यों को शासन की स्वतंत्रता थी, पर तब भी इन सब की शासन-पद्धति में बहुत कुछ समानता थी। गाँव का मुखिया पटेल कहलाता था। इसका मुख्य काम लगान वसूल करना होता था। इसके नीचे एक 'कुलकर्णी' रहता था, जो प्रायः ब्राह्मण होता था। इसको गाँव का कुल हिसाब रखना पड़ता था। पटेल की ही अध्यक्षता में गाँव का काम करनेवाले पेशेवर रहते थे।[2] इन सब का सालियाना बँधा होता था, जो गाँव की आमदनी से ही मिलता था। पटेलों की निगरानी के लिए सूबेदार और सर सूबेदार रहते थे, जिनके ऊपर राज्य के दीवान और मंत्री होते थे। पटेलों से रुपया वसूल करने के लिए कभी कभी सूबेदार अपने नौकर रखते थे, जो मामलतदार और तहसीलदार कहलाते थे। शिवाजी के समय में मालगुज़ारी के लिए मलिक अम्बर का चलाया हुआ बन्दोबस्त था। बालाजी बाजीराव ने फिर से पैमा-

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ५२१-२३।

२ बढ़ई, लोहार, धोबी, नाई, कुम्हार, सोनार, पुजारी, भिश्ती, मोची, रस्सी बटनेवाला, चौकीदार और मुल्ला ये गाँव के 'बारह बलुते' कहलाते थे।

यश कराकर कई साल के लिए नया बन्दोबस्त किया था, जिससे गाँवों की मालगुज़ारी बहुत बढ़ गई थी। दूसरे बाजीराव ने अँगरेज़ों की देखा-देखी ठेके की प्रथा चला दी थी, जिससे प्रजा पर अत्याचार होने लग गया था।

पूना के न्यायाधीश के पद पर चार शास्त्री काम करते थे। न्यायाधीश रामशास्त्री की योग्यता प्रसिद्ध थी। प्रान्तों में इसी ढंग की छोटी छोटी अदालतें थीं। इनके अतिरिक्त पटेल, मामलतदार और तहसीलदारों को भी फ़ौजदारी तथा दीवानी के कुछ अधिकार रहते थे। परन्तु अधिकतर न्याय पंचायतों द्वारा होता था। उनका फ़ैसला मान्य न होने पर सरकारी अदालतों में अपील होती थी। दीवानी में स्मृति ग्रन्थों से क़ानून का काम लिया जाता था, पर अधिकतर देश, कुल तथा गाँव के रीति-रिवाजों ही पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजनैतिक अपराधों को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था बहुत कठोर न थी। प्राणदंड तो बहुत ही कम दिया जाता था। जेल का अच्छा प्रबन्ध रहता था। क़ैदियों को बहुत कुछ स्वतंत्रता रहती थी और उनका अपमान कभी न किया जाता था। अपराधियों के साथ यथाशक्ति सौम्य व्यवहार किया जाता था।

ज़मीन के लगान के सिवा और भी बहुत से कर लिये जाते थे। परन्तु इनके वसूल करने में देनेवालों की स्थिति का बराबर ध्यान रखा जाता था।[1] पेशेवरों से जो कर लिया जाता था, वह 'मोहतरफ़ा' कहलाता था। व्यापार पर चुंगी लगती थी, जो 'ज़कात' के नाम से प्रसिद्ध थी। लोकोपयोगी व्यापार पर 'ज़कात' माफ़ कर दी जाती थी। बिना माफ़ी के परवाने के पेशवा तक के माल पर ज़कात ली जाती थी। विदेशियों को बिना रोक-टोक के व्यापार करने की आज्ञा थी और उन्हें सब तरह की सुविधाएँ दी जाती थीं। अनेक स्थानों पर सरकारी दूकानें रहती थीं, जिनके द्वारा विशेष वस्तुओं का व्यापार किया जाता था। इन दूकानों से किसानों को कभी कभी क़र्ज़ भी दिया जाता था। नये बाज़ार और हाट बसाने की ओर पेशवाओं

१ सुरेन्द्रनाथ सेन, ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम ऑफ़ दि मराठाज़, पृ० २९८।

का बड़ा ध्यान रहता था। खाने-पीने की चीज़ें बहुत सस्ती बिकती थीं।[1] खेती की उन्नति के लिए भी प्रयत्न किया जाता था। पड़ती ज़मीन को तोड़कर चैनी बनाने के लिए किसानों को धन दिया जाता था और बहुत दिनों तक लगान वसूल न किया जाता था। दुर्भिक्ष या युद्ध के समय पर भी किसानों के साथ ख़ास रियायत की जाती थी। सिंचाई के लिए नहरें और बड़े बड़े तालाब खोदवाये जाते थे। खेतों को रहन या बय करने का अधिकार किसानों को न था।

उन दिनों गांवों का जीवन ऐसा था कि गाँववाले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध आप ही कर लेते थे। इसलिए राज्य को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता न रहती थी। पर तब भी ग़रीबों के लिए चिकित्सालय खोलना, उनको अन्न देना, धर्मशाले और मन्दिर बनवाना, सभी हिन्दू राजा अपना कर्तव्य समझते थे। राज्य की ओर से शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था, यह कार्य्य साधारणतः गाँव के शिक्षकों द्वारा ही होता था। बड़े बड़े पंडितों को राज्य से दक्षिणा अवश्य मिलती थी। गाँवों की उन्नति के लिए आजकल की तरह न कोई अलग विभाग ही था और न उसके लिए अलग धन ही रखा जाता था। उनकी जो कुछ आमदनी होती थी, उसमें से इन कार्यों के लिए कुछ भाग अलग कर दिया जाता था। बाहरी आक्रमण से उनकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था।

गांव की रखवाली वहाँ का चौकीदार ही कर लेता था। विशेष अवसरों पर सरकार की ओर से इसका प्रबन्ध किया जाता था। तहसीलदार की मातहती में पहरेदार और सवार पुलिस का काम करते थे। बड़े बड़े नगरों में कोतवाल भी रहते थे, जिन्हें वहां का सब हाल लिखकर रखना पड़ता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पूना की पुलिस बड़ी अच्छी समझी जाती थी।[2]

१ माधवराव के समय में चावल एक रुपया चार आना मन, गेहूं दो रुपया मन और घी एक रुपये का डेढ़ या दो सेर बिकता था। पेशवाओं की डायरी, जि० २, पृ० ३११-१४।

२ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० ५, पृ० ३९३।

हिन्दुओं के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में भी हस्तक्षेप करने का पेशवाओं को अधिकार था। मुसलमानों के हाथ में पड़कर जिनका धर्म भ्रष्ट हो जाता था, उनकी शुद्धि कर ली जाती थी।[1] बाजीराव ने सती प्रथा बन्द कर दी थी। अन्य मतावलम्बियों को पूरी स्वतंत्रता थी। उनकी बराबर रक्षा की जाती थी। गांवों में मुसलमानों के लिए मुल्ला का सालियाना बँधा रहता था। पुर्तगालियों के गिरजाघरों को भी सहायता मिलती थी। बहुत से इलाक़ों में शराब बनाने की मनाही थी, केवल यूरोपियन लोगों को भट्टी चढ़ाने की आज्ञा मिलती थी; उनको भी साधारण जनता में उसके बेंचने का अधिकार न रहता था। बेगार और गुलामी की भी चाल थी, पर गुलामों के साथ निर्दयता का व्यवहार न होता था।

आवश्यकता पड़ने पर सरकार को साहूकारों से क़र्ज़ भी लेना पड़ता था। पेशवा लोग बहुत क़र्ज़ लिया करते थे। निजी ख़र्च और दरबारी ख़र्च बटा हुआ न था। मुग़ल बादशाहों की नक़ल करने में पेशवाओं का भी बहुत ख़र्च होता था। सिक्के अनेक प्रकार के चलते थे, जिनके बदलने में बट्टा लगता था और प्रायः बहुत झगड़ा होता था।

फड़नवीस की अध्यक्षता में पूना में पेशवा का 'हुज़ूर दफ़्तर' रहता था, जिसमें २०० कारकुन काम करते थे। इसमें सभी विषयों के कागज़ात रहते थे। आजकल यह दफ़्तर पूना के इनाम कमीशन के अधिकार में है। 'डेकन वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसायटी' की ओर से इन कागज़ात की कई एक जिल्दें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें सेना, जहाज़ी बेड़ा, ज़मीन की पैमायश, गांवों के झगड़े, कर्मचारियों और जागीरदारों के दुराचार तथा छलकपट, पुलिस और जेल की व्यवस्था, सरकारी डाक, वैद्यक्रिया, शस्त्रक्रिया, ऋण, टकसाल, व्यापार, सामाजिक जीवन, बाज़ारदर तथा मज़दूरी और उत्सव तथा अन्य बहुत सी बातों का बड़ा रोचक वर्णन दिया हुआ है।

नाना फड़नवीस के समय तक सब व्यवस्था अच्छे ढँग से चलती रही। पेशवा माधवराव बल्लाल के जीवनकाल में बड़े बड़े सरदारों को भी इसके

१ पेशवाओं की डायरी, जि० ३, पृ० २१५, २१९।

विरुद्ध जाने का साहस न होता था। सिन्धिया और होलकर ने कई इलाक़ों से ज़बरदस्ती 'घास दाना' वसूल कर लिया था, जिसके लिए उनको पेशवा की डाट सुननी पड़ी थी। परन्तु केन्द्रीय सरकार के निर्बल होने पर यह व्यवस्था भी बिगड़ गई। बाजीराव के समय में तो किसी की सुनवाई ही न होती थी। घासीराम कोतवाल का अत्याचार प्रसिद्ध था। दूसरे यह व्यवस्था केवल महाराष्ट्र देश के लिए ही थी। मराठों ने जो और बहुत सा देश जीत लिया था, वहाँ न तो किसी प्रकार का सुधार ही किया गया था और न प्रजा के हित की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया था। उन प्रान्तों से केवल रुपया वसूल किया जाता था। यही कारण था कि उन्होंने अन्त में मराठों का साथ नहीं दिया।

इस शासनव्यवस्था में बहुत से दोष भी थे। अधिकारी स्वेच्छाचारी होते थे, उनके निरीक्षण का अधिक प्रबन्ध न रहता था। आजकल की बहुत सी सुविधाएँ उन दिनों न थीं। यह सब होते हुए भी यह व्यवस्था 'निन्दनीय' नहीं कही जा सकती, जैसा कि मुख्य अँगरेज़ इतिहासकारों का मत है। इसमें जो दोष थे, उनसे तत्कालीन यूरोप के बहुत से राज्य भी मुक्त न थे।

मराठों का पतन—पेशवाओं के अन्त के साथ ही साथ मराठों का भी वास्तव में पतन हो गया। अन्य मराठा राज्य अँगरेज़ों के अधीन हो गये। गायकवाड़, होलकर और सिन्धिया के राज्य अब भी हैं। भोंसला का बचा-खुचा राज्य डलहौज़ी के समय में हड़प कर लिया गया। युद्ध में हारने के कुछ कारणों का वर्णन पहले किया जा चुका है, पर सबसे मुख्य बात इस समय आपस की फूट थी। शिवाजी के जीवनकाल में देशभक्ति का जो भाव उदय हुआ था, वह अब अस्त हो चुका था। पेशवाओं के समय में मराठों का साम्राज्य जागीरों का एक समूह बन गया था, जिसको एकता में बाँधनेवाला कोई दृढ़ बन्धन न था। नाना फड़नवीस के साथ नीति बिदा हो गई थी। इस समय कोई योग्य नेता न रह गया था। संसार में क्या हो रहा है, इसका कुछ भी ज्ञान तत्कालीन मराठा राजाओं को न था।

अँगरेज़ों का राज्य स्थापित हो जाने से भारतवर्ष का सम्बन्ध यूरोप की राजनीति से हो गया था। उसी की चाल के साथ साथ भारतवर्ष में अँगरेज़ों की नीति बदलती थी। अमरीका स्वतंत्र हो गया था। यूरोप में इन दिनों फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का ज़ोर था। परन्तु मराठा राजाओं को इनकी खबर तक न थी। भूगोल और इतिहास तो वे जानते ही न थे। इस सम्बन्ध में दूतों को पेरिस भेजकर टीपू ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था। शिवाजी के समय में मराठों के जीवन में जो सादगी थी, वह भी इस समय लुप्त हो गई थी और उसके स्थान पर कई एक दुर्गुण आ गये थे। अँगरेज़ों की गूढ़ नीति, उनका रहन-सहन, उनकी सभी बातें मराठों के लिए नई थीं, जिनको जानने का उन्होंने कभी प्रयत्न तक न किया था। एक ओर आपस की फूट, यह अज्ञानता, उदासीनता तथा शिथिलता थी और दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता, अद्भुत संगठन, सब बातों के जानने की उत्सुकता, कुटिल नीति, अदम्य उत्साह तथा बुद्धि की प्रखरता थी। ऐसी दशा में परिणाम वही हो सकता था, जो वास्तव में हुआ।

अवध के शाह—सन् १८१४ में नवाब सादतअली की मृत्यु हो गई। हेबर लिखता है कि वह एक योग्य शासक था, उसने सीमाओं को सुरक्षित बना दिया, राज्य की आमदनी बढ़ा दी और वह खज़ाने में बहुत सा धन छोड़ गया। वज़ीर हकीम मेहदी ने शासन में कई एक सुधार किये। उसके समय में प्रजा सन्तुष्ट थी। वह अँगरेज़ों को शासन में बहुत हस्तक्षेप न करने देता था। उसके बाद उसका लड़का ग़ाज़ीउद्दीन गद्दी पर बैठा। इन दिनों कर्नल बेली रेज़ीडेंट था। वह नवाब की हर एक बात में हस्तक्षेप करता था। उसके विषय में स्वयं लार्ड हेस्टिंग्ज़ लिखता है कि "वह छोटी छोटी बातों में भी नवाब को दबाता था, बिना सूचना दिये हुए उसके महल में घुस पड़ता था, अपने आदमियों को बड़ी बड़ी तनख्वाहें दिलवाता था, जो नवाब की सब बातों का उसको पता देते थे और सबसे भारी बात तो यह थी कि वह नवाब के साथ सदा शासक की भाषा का प्रयोग करता था, जिससे प्रजा और घरवालों की दृष्टि में नवाब का बड़ा अपमान होता

था"।[1] गोरखा युद्ध के समय पर नवाब ने कम्पनी को दो करोड़ रुपया क़र्ज़ दिया था। शासन में अँगरेज़ों के हस्तक्षेप से प्रजा में भी बहुत अशान्ति फैल रही थी। प्राचीन रीति-रिवाजों का नये प्रबन्ध में कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। इन सब बातों का विचार करके गवर्नर-जनरल ने कर्नेल बेली को रेज़ीडेंट के पद से हटा दिया और शासन में नवाब को कुछ स्वतंत्रता भी दे दी।

इस समय तक अवध के नवाब मुग़ल सम्राट् के वज़ीर कहलाते थे, परन्तु अब लार्ड हेस्टिंग्ज़ की सलाह से ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने 'अवध के शाह' की उपाधि धारण की। इससे अवध का कम्पनी के साथ जो सम्बन्ध था, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भोले नवाब को प्रसन्न करने के लिए यह केवल एक खेलवाड़ ही नहीं था, बल्कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ की इसमें भी नीति थी। वह नवाब के इस कार्य से मुसलमानों में फूट फैलाना चाहता था। इसको उसने अपने एक पत्र में स्वयं स्वीकार किया है।[2] इस समय तक उत्तरी भारत के मुसलमानों में दिल्ली सम्राट् के नाम का सम्मान था, परन्तु अब अवध के मुसलमानों का दल ही अलग हो गया। साथ ही साथ सबको यह भी दिखला दिया गया कि कम्पनी को भी बादशाह बनाने का अधिकार है। इस तरह मुग़ल सम्राट् का खुले तौर पर अपमान किया गया। अब दीवानी के दिन व्यतीत हो चुके थे, वह कम्पनी का वेतनभोगी था, फिर उसके नाम के मान रखने की आवश्यकता ही क्या थी ?

गोरखा युद्ध के समय पर जो रुपया लिया गया था, उसके बदले में खैरीगढ़ और तराई का कुछ भाग अवध को दिया गया। सन् १८२५ में उससे डेढ़ करोड़ रुपया फिर क़र्ज़ लिया गया। इस तरह अवध का ख़ज़ाना कम्पनी की सहायता के लिए ख़ाली किया जाता था और कुप्रबन्ध का दोष शासकों के मत्थे मढ़ा जाता था। ग़ाज़ीउद्दीन तालुक़दारों की मालगुज़ारी बढ़ाना

---

१ लार्ड हेस्टिंग्ज़, प्राइवेट जर्नल, पृ० ९७।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि०१, पृ० ५३६।

चाहता था, यह उसका अन्याय बतलाया जाता था। पादड़ी हेबर लिखता है कि ग़ाज़ीउद्दीन बराबर कहा करता था कि कम्पनी की मित्रता पर भरोसा करना ही मेरी सब कठिनाइयों का मुख्य कारण है। उस पर विश्वास करके मैंने अपनी सेना हटा दी, इसीलिए अब मुझे सैनिक सहायता के लिए कम्पनी को इतना रुपया देना पड़ता है। यदि यह रुपया बच जाता, तो मैं अपनी प्रजा का कुछ हित कर सकता।[१] ग़ाज़ीउद्दीन अवध का अन्तिम शासक था, जिसको प्रजा का कुछ ध्यान था। उसके बाद भोग-विलास ही वहाँ के शासकों का मुख्य काम रह गया।

शासन-प्रबन्ध—लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में शासन में भी कुछ परिवर्तन किये गये। इन दिनों अँगरेज़ी अदालतें अन्याय और अत्याचार के लिए बदनाम हो रही थीं। एल्फ़िंस्टन लिखता है कि अदालतों के भय से लोग गांव छोड़कर भाग जाते थे।[२] जिनका मुख्य काम न्याय था, उनसे इतना भय हो रहा था। अदालतों के सुधारने का कुछ प्रबन्ध किया गया और उनकी संख्या बढ़ा दी गई। इनमें कुछ हिन्दुस्तानी भी रखे गये। कार्नवालिस के समय से कलेक्टर के हाथ में केवल माल-विभाग ही रह गया था, अब उसको न्याय के अधिकार फिर से दिये गये। उड़ीसा में कर इतना बढ़ा हुआ था कि बड़े उपद्रव हो रहे थे। उसको शान्त करने के लिए एक कमिश्नर रखा गया, जिसको जनता के रीति-रिवाजों का ध्यान रखने की ताकीद की गई। आगरा प्रान्त में नया बन्दोबस्त करने के लिए फिर से पैमायश शुरू की गई। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के सौभाग्य से उसको बड़े योग्य अफ़सर मिल गये थे, जिनकी सहायता से वह शान्ति स्थापित कर सका।

सर टामस मनरो—यह मदरास का गवर्नर था। वेलेज़ली के समय में टीपू से जो राज्य छीना गया था, उसका बन्दोबस्त इसी ने किया

---

१ हेबर, नेरेटिव ऑफ़ ए जरनी, जि० २, पृ० ८६-८७।

२ कोलब्रुक, लाइफ़ ऑफ़ एलफ़िंस्टन, जि० २, पृ० १३१।

था। यह लार्ड कार्नवालिस के ज़मीन्दारी बन्दोबस्त का पक्षपाती न था। इसने मदरास में रैयतवारी बन्दोबस्त ही जारी रखा। इसका मत था कि प्राचीन समय से भारतवर्ष में यही बन्दोबस्त था। इसके अनुसार किसानों से सरकारी तहसीलदारों द्वारा लगान वसूल किया जाता है। जब तक किसान बराबर लगान अदा करता रहता है, वह बेदख़ल नहीं किया जा सकता। अपने खेतों को रहन-बय करने का भी उसको कुछ अधिकार रहता है। छोटे बड़े सभी किसानों को एक ही तरह के अधिकार प्राप्त रहते हैं। इस बन्दोबस्त से तभी लाभ हो सकता है, जब तहसीलदारों को किसानों के हित का बराबर ध्यान रहे, जिसकी सदा आशा नहीं की जा सकती। यह दोष मनरो के समय में ही दिखलाई देने लगा था और उसको कई एक तहसीलदार तथा कलेक्टरों की अच्छी तरह से ख़बर लेनी पड़ी थी। मनरो ने जो लगान बाँधा था, वह भी बहुत ज़्यादा था। सन् १८५५ में उसके प्रबन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन किये गये, तब से मदरास प्रान्त में यह ढँग अच्छी तरह चल रहा है। मनरो पंचायतों का बड़ा पक्षपाती था। उसके बहुत अनुरोध करने पर मदरास में जजों के साथ पंचायतों को बिठलाने का प्रबन्ध किया गया। परन्तु 'जूरी' के ढँग की पंचायतों का देश में रिवाज न था, इसलिए विशेष सफलता न हुई।

टामस मनरो

हिन्दुस्तानियों को बड़े बड़े ओहदे न देना उसकी राय में बड़ी भूल थी। वह लिखता है कि जब तक हिन्दुस्तानियों को प्रतिष्ठित पद देकर उनको उनकी ज़िम्मेदारी का ध्यान नहीं दिलाया जायगा, तब तक उनके चरित्र में सुधार करने की आशा व्यर्थ है। ऐसा न होने ही के कारण अँगरेज़ों के अधीन प्रान्तों में रहनेवाले हिन्दुस्तानी "सबसे अधिक गिरे हुए हैं।" केवल भारतवर्ष के ही लोग घूस नहीं खाते हैं, प्रत्युत सब देशों का यही हाल है। उस शिक्षा के लिए उत्साह ही क्या हो सकता है, जिसके प्राप्त करने पर केवल लेखक का पद मिल सकता है? उसका कहना था कि यदि इँग्लेंड में इसी ढँग से कोई विदेशी शासन करने लगे, तो थोड़े ही काल में वहाँ की भी वही दशा हो जायगी, जो भारत की है। केवल अँगरेज़ों द्वारा शासन करना नीति और न्याय दोनों के विरुद्ध है। दासता में रहने से राष्ट्रीयता के गुणों का ह्रास हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य केवल सार्वजनिक जीवन ही में नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी गिर जाता है। इससे तो यही अच्छा होता कि अँगरेज़ भारतवर्ष को एक-दम छोड़ देते। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो हिन्दुस्तानियों को शासन में पूरा हिस्सा देना चाहिए।[1]

माउंट स्टुआर्ट एलफ़िंस्टन—पेशवा से जो राज्य छीना गया, उसको पहले बंगाल सरकार के अधीन रखने का विचार था, पर अन्त में वह बम्बई प्रान्त में मिला दिया गया और एलफ़िंस्टन, जो पेशवा के यहाँ रेज़ीडेंट था, बम्बई का गवर्नर बनाया गया। वह अच्छी तरह जानता था कि जनता के लिए पूना का प्रभुत्व भूलना सहज नहीं है, इसीलिए वह बराबर उसके भावों का ध्यान रखता था। उसने वहाँ एक-दम से कोई नया प्रबन्ध नहीं किया। सरदारों के न्यायाधिकार छीने नहीं गये, कलेक्टरों को दीवानी मामलात में यथासम्भव पंचायतों द्वारा निर्णय कराने का आदेश किया गया। यह प्रबन्ध अँगरेज़ी अदालतों को पसन्द न था। सन् १८२३ में

१ अर्बथवट, सेलेक्शंस फ़्राम दि मिनिट्स ऑफ़ सर टामस मनरो, पृ० ५६७—७६।

बम्बई में 'सुप्रीमकोर्ट' स्थापित हो गया था, वह अपनी अधिकार-सीमा बढ़ाना चाहता था। इसलिए थोड़े समय में अँगरेज़ी अदालतें खुल गईं और महाराष्ट्र देश मे भी पंचायतों का लोप हो गया। मालगुज़ारी के लिए बाजीराव का चलाया हुआ ठेकेदारी का ढँग उठा दिया गया और मदरास की तरह यहाँ भी, कुछ फेर-फार के साथ, रैयतवारी बन्दोबस्त किया गया। बाजीराव के पहले भी ऐसा ही प्रबन्ध था। बन्दोबस्त को स्थायी करने के लिए सन् १८२५ में पैमायश प्रारम्भ की गई। पटेलों से पुलिस के अधिकार ले लिये गये और कलेक्टर की अध्यक्षता में सवार तथा पैदल पुलिस रखी गई। इतिहासकार किंकेड लिखता है कि बहुत दिनों तक इस नई पुलिस के अफ़सरों को वह योग्यता प्राप्त नहीं हुई, जो पेशवाओं के समय में प्राप्त थी। एलफ़िंस्टन को फ़ारसी का अच्छा ज्ञान था। उसने भारतवर्ष का एक अच्छा इतिहास लिखा है।

सर जान मालकम—एलफ़िंस्टन के बाद सर जान मालकम बम्बई का गवर्नर हुआ। यह भी बहुत दिनों से भारतवर्ष में काम करता था। लार्ड मिंटो के समय में यह फ़ारस भी गया था। देशी राजाओं के स्वभाव को यह ख़ूब पहचानता था और उनसे सहज ही में अपना मतलब निकाल लेता था। बाजीराव को इस पर बड़ा विश्वास था। इसने भी भारतवर्ष का एक अच्छा इतिहास लिखा है। मध्य भारत पर भी इसका एक अच्छा ग्रन्थ है, जिसमें बहुत सी तत्कालीन बातों का बड़ा रोचक वर्णन है।

कर्नल जेम्स टाड—राजपूताना के सम्बन्ध में टाड साहब का नाम प्रसिद्ध है। इसी की सहायता से राजपूत राजाओं के साथ सन्धियाँ हुई थीं। मराठों के विरुद्ध इसने राजपूतों को अच्छी तरह भड़काया था। राजपूतों के लिए इसके हृदय में सच्चा आदर था। इसने बड़े परिश्रम और खोज के साथ राजपूताने के मुख्य राज्यों का इतिहास लिखा है, जो "टाड राज-

स्थान'' के नाम से प्रसिद्ध है। बिना इस ग्रन्थ के हमको राजपूतों की बहुत सी बातों का पता ही न चलता।
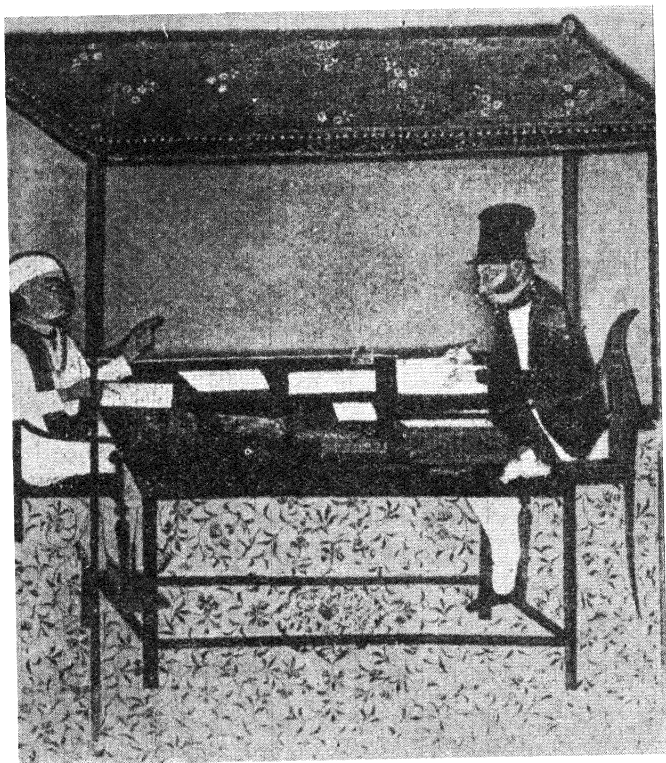
जैन पंडित और कर्नल टाड

लार्ड हेस्टिंग्ज़ का इस्तीफ़ा—हैदराबाद में पामर कम्पनी महाजनी का काम करती थी। निज़ाम पर उसका बहुत क़र्ज़ा हो गया था। धीरे धीरे कर्नाटक के नवाबवाला हाल निज़ाम का भी हो रहा था। इस कम्पनी

के एक हिस्सेदार से हेस्टिंग्ज़ का भी कुछ सम्बन्ध था। कहा जाता है कि इसी लिए वह इस मामले में चुप रहता था। संचालकों को यह बात पसन्द न आई। इस पर जनवरी सन् १८२३ में उसने इस्तीफ़ा दे दिया। नौ वर्ष के शासन-काल में उसने बहुत कुछ किया। भारतवर्ष की उत्तरी सीमा को उसने हिमालय तक पहुँचा दिया, पिंडारियों की बला को दबा दिया और मराठा-मंडल को तोड़-फोड़कर उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया। कम्पनी के राज्य में उसने बहुत सी भूमि बढ़ा दी। इन सब कामों के लिए संचालकों से उसको ८० हज़ार पौंड मिले। उसकी तुलना वारेन हेस्टिंग्ज़ या वेलेज़ली से नहीं की जा सकती। उसमें न उतनी चतुरता ही थी और न उतनी योग्यता ही। शासन में उसको जो कुछ सफलता हुई, वह योग्य अफ़सरों के कारण हुई। यह बात अवश्य है कि भारतवर्ष में उसने ब्रिटिश सरकार को "वास्तव में सर्वोच्च" बना दिया, जैसा कि उसका उद्देश्य था।

विलायती माल—इस समय तक भारतवर्ष केवल 'कृषिप्रधान' देश न बना था। इस समय की दशा का वर्णन करते हुए मनरो का कहना था कि सभी आवश्यक वस्तुएँ यूरोप की अपेक्षा भारतवर्ष में कहीं सस्ती और अच्छी बनती हैं। इनमें सूती तथा रेशमी कपड़े, चमड़ा, काग़ज़, लोहे तथा पीतल के बर्तन और खेती के औज़ार मुख्य हैं। मोटे ऊनी कपड़े, बहुत अच्छे तो नहीं, पर सस्ते अवश्य होते हैं। बढ़िया कम्बल, हमारे कम्बलों से कहीं अधिक गरम और टिकाऊ होते हैं। भारतवर्ष के लोग वैसे ही व्यापारी हैं, जैसे कि हम लोग। उनके जितने पवित्र स्थान और तीर्थ हैं, वास्तव में वे मेले हैं, जहाँ सब तरह का माल बिकता है। भारतवर्ष में धर्म और व्यापार एक साथ चलते हैं। व्यापार की ओर हिन्दुस्तानियों की प्रवृत्ति देखकर ऐसा जान पड़ता है कि अँगरेज़ों को वहाँ का व्यापार छोड़ना पड़ेगा। एक बात यह भी है कि हिन्दुस्तानियों का रहन-सहन इतना सादा और कम-खर्च है कि कोई यूरोपियन उनका मुक़ाबला नहीं कर सकता।[1]

---

१ अर्बथनट, सेलेक्शंस फ़्राम दि मिनिट्स ऑफ़ मनरो, पृ० ९४, ४८८।

सन् १८१२ में पार्लामेंट की कमेटी के सामने कहा गया था कि यदि भारतवर्ष का माल इँग्लेंड में बेचा जाय तो वहां के बने हुए माल से ५० से ६० सैकड़ा कमीशन और लाभ के साथ बिक सकता है। मिलबर्न के 'ओरियंटल कामर्स' नामक ग्रन्थ में भी इस समय की व्यापारिक स्थिति का अच्छा वर्णन मिलता है। डाक्टर बुकानन के 'जर्नल' में दिये हुए विवरण से पता लगता है कि केवल पटना, शाहाबाद, भागलपुर और गोरखपुर के ज़िलों में, जिनकी आबादी ८३६३१५४ थी, ८१५५२६ लोग कताई का काम करते थे। साल भर में ५३१८१२७ रुपये का सूत काता जाता था। इन ज़िलों में ४३६६३ करघे चलते थे, जिनसे ५४२७६०१ रुपये साल का कपड़ा बनता था।[1] दक्षिण भारत की भी यही दशा थी। मैसूर में ब्राह्मणों को छोड़कर सभी जाति की स्त्रियां कताई का काम करती थीं। केवल मदरास से ५३ लाख रुपये से अधिक का माल बाहर जाता था।[2] इस तरह कताई-बुनाई भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय था।

इस व्यवसाय को चौपट करने का बराबर प्रयत्न हो रहा था। विदेशीय व्यापार को अपने हाथ में न रखकर हिन्दुस्तानियों ने बड़ी भूल की थी। इँग्लेंड ने इससे पूरा लाभ उठाया। अब वहां भारत से जानेवाले माल पर ७० से ८० सैकड़ा तक चुंगी बढ़ा दी गई और भारत में विलायती माल पर एकदम से चुंगी घटा दी गई। विल्सन लिखता है कि यदि ऐसा न किया जाता तो भाफ के ज़ोर से भी पेसली और मैंचेस्टर के मिल न चल पाते। भारतवर्ष में भी विलायती कपड़े के प्रचार करने का भरपूर प्रयत्न किया गया। देश की अन्य कलाओं को भी नष्ट करने में कोई कसर न रखी गई। वेलेज़ली के समय तक बंगाल में जहाज़ ख़ूब बनते थे।[3] बम्बई के बने हुए जहाज़ लन्दन या लिवरपूल के जहाज़ों से किसी तरह घटिया न होते थे।[4] अब इस बात का

१ पुन्ताम्बेकर और वरदाचारी, हाथ की कताई-बुनाई, (हिन्दी) पृ० ८५।

२ बुकानन, जर्नी फ्राम मदरास थ्रू मैसूर, कनाडा एंड मलाबार, सन् १८०७।

३ वेलेज़ली, डेसपैचेज, सं० ओयन, पृ० ७०५।

४ हेबर, जर्नल, जि० २, पृ० ३८२।

प्रयत्न किया गया कि भारतीय जहाज़ों पर अँगरेज़ व्यापारी माल न लादा करें। इससे इस कला को भी बड़ा धक्का पहुँचा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि भारत की मुख्य कलाएँ नष्ट होने लगीं और विलायती माल की खपत बढ़ने लगी। बने हुए माल के बजाय कच्चा माल अधिक बाहर जाने लगा और भारतवर्ष 'औद्योगिक' से 'कृषिप्रधान' देश बनने लगा।

आर्थिक जीवन—इँग्लेंड की नीति का देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा विकट प्रभाव पड़ा। कपड़े की कला से बहुतों का निर्वाह होता था। औरत मर्द सभी इसमें काम करते थे। खेती के साथ साथ यह काम हो सकता था। कताई से स्त्रियों को आजकल की दर से दस बीस रुपया साल तक मिल जाता था। इसी तरह प्रति कर्घा २३ से ४३ रुपया तक लाभ होता था। पूरी मेहनत करनेवाले जुलाहे तो साल भर में आजकल की दर से पांच सौ रुपये से भी अधिक कमा लेते थे।[1] उन दिनों सब चीज़ों का भाव भी सस्ता था। उस समय की दर से गेहूँ और चावल रुपये का मन भर मिलता था।[2] बुकानन लिखता है कि बहुत अच्छे ढँग से रहनेवाले पाँच आदमियों के कुटुम्ब के खाना-ख़ुराक में ३३४ और कपड़े में २१० रुपया साल खर्च होता था। सबसे ग़रीब लोगों के इतने बड़े कुटुम्ब का खाने के लिए २१ और पहनने के लिए अढ़ाई रुपये में ही काम चल जाता था।[3] परन्तु एक ओर तो कपड़े का व्यापार नष्ट होने लगा और दूसरी ओर लगान ऐसा बढ़ा दिया गया कि खेती में भी अधिक लाभ न रह गया। फल यह हुआ कि बेचारी जनता हर तरह से पिसने लगी। बुकानन का कहना है कि गोरखपुर की दशा नवाबों के समय से भी गई बीती थी। जहाँ पहले खेती होती थी, वहाँ ज़मीन ऊसर पड़ी थी। मदरास का इलाक़ा, जो पचास वर्ष

१ हाथ की कताई-बुनाई, पृ० ८६, ८७।

२ मिलबर्न, ओरियंटल कामर्स, सन् १८१३, जि० २, पृ० १५७।

३ हाथ की कताई-बुनाई, पृ० ८९।

से कम्पनी के अधिकार में था, निर्धन हो रहा था। बहुत सी ज़मीन बिलकुल जंगल हो गई थी। सिँचाई के लिए नहरों और तालाबों की मरम्मत का कुछ भी प्रबन्ध न था। कम्पनी के अधिकार में जो देश था, उससे मैसूर की दशा कहीं अच्छी थी।

राजनैतिक उदासीनता—इस समय के भी हिन्दुस्तानियों के सम्बन्ध में डाक्टर मरसर की राय थी कि वे स्वभाव में नम्र, आचार-व्यवहार में शिष्ट और घर के जीवन में बड़े स्नेही होते हैं। सर जान मालकम का कहना था कि उत्तरी भारत के हिन्दू वीर, उदार और दयालु होते हैं। उनमें सत्य और साहस की कमी नहीं है। मनरो का तो मत था कि खेती, दस्तकारी, गाँवों में शिक्षा-प्रबन्ध, आतिथ्य-सत्कार, दानशीलता और स्त्रियों के प्रति आदर में अँगरेज़ उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।[1] स्लीमैन ने भी माना है कि इस समय तक हिन्दुस्तानियों ने "झूठ के मूल्य का अनुभव न किया था"।[2] इन गुणों के होते हुए भी भारतवासियों के पराधीनता में पड़ने का एक मुख्य कारण उनकी राजनैतिक उदासीनता थी। गाँवों के प्राचीन संगठन में लाभ के साथ एक यह बड़ा दोष था कि उससे राष्ट्रीय भावों की जागृति नहीं होती थी। भारत में इतने राजनैतिक उथल-पुथल हो रहे थे, पर जनता का उस ओर ध्यान भी न जाता था। अँगरेज़ी शासन का प्रभाव देश के सारे जीवन पर पड़ रहा था। ऐसी दशा में राजनैतिक उदासीनता से बड़ी हानि हो रही थी।

---

१ मिनिट्स ऑफ़ एवीडेंस, सन् १८१३, दत्त, पृ० २५८—५९।

२ स्लीमैन, रैम्बल्स ऐंड रिकलेक्शंस, जि० २, पृ० २०।

सन् १८२३ में भारत
सिख
लाहौर
राजपूताना
जोधपुर
ग्वालियर
सिन्ध
अवध
लखनऊ
गायकवाड़
सिन्धिया
बंगाल
होलकर
इन्दौर
भोंसला
नागपुर
निज़ाम का राज्य
बम्बई
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
मैसूर
मदरास
गोदावरी न०
कृष्णा न०
बिटिश राज्य
संरक्षित राज्य
७०
७५
८०
८५
९०
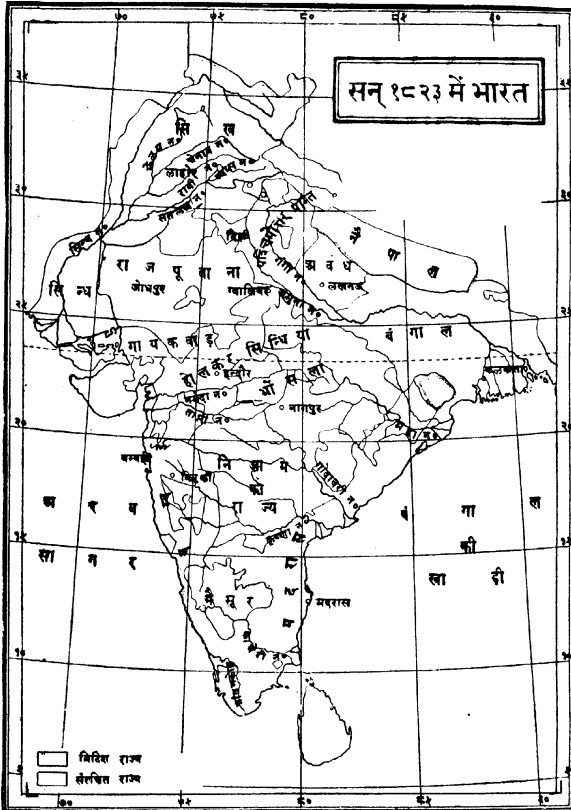
परिच्छेद १०

सुधार और शिक्षा

जान ऐडम और अखबार—लार्ड हेस्टिंग्ज़ के चले जाने पर, सात महीने तक, कौंसिल का बड़ा मेम्बर जान ऐडम गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा। इसने 'कलकत्ता जरनल' नामक अँगरेज़ी पत्र के सम्पादक को, सरकारी अफ़सरों की तीव्र आलोचना करने के कारण, पकड़वा कर ज़बरदस्ती इँग्लेंड भेजवा दिया। भारतवर्ष में सबसे पहला अँगरेज़ी पत्र सन् १७८० में निकला था। वारेन हेस्टिंग्ज़ की स्त्री पर आक्षेप करने के कारण इसके सम्पादक को बहुत दिनों तक जेल में रहना पड़ा था। लार्ड कार्नवालिस के समय में भी एक सम्पादक को देश-निष्कासन का दंड दिया गया था। लार्ड वेलेज़ली और मिंटो की भी समाचारपत्रों पर बड़ी तीव्र दृष्टि रहती थी। लार्ड हेस्टिंग्ज़ सरकारी कार्यों की विचारपूर्ण आलोचना के विरुद्ध न था, इसी लिए उसके समय में समाचारपत्रों को कुछ स्वतंत्रता मिल गई थी। सन् १८१८ से 'समाचार दर्पण' नाम का एक बँगला साप्ताहिक पत्र भी निकलने लगा था। इस समय तक भारतवासियों का छापाखाना की ओर ध्यान ही न गया था। पहले-पहल पादड़ियों ने कुछ पुस्तकें छपवाई थीं। 'समाचार दर्पण' भी मार्शमैन नाम के एक पादड़ी का ही निकाला हुआ था। जान ऐडम को लार्ड हेस्टिंग्ज़ की नीति पसन्द न थी। उसने यह नियम बना दिया कि बिना सरकारी लाइसेंस लिये हुए किसी को अखबार छापने का अधिकार नहीं है।

लार्ड एमहर्स्ट—अगस्त सन् १८२३ में इँग्लेंड से लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर-जनरल नियुक्त होकर आ गया। चीन में यह कुछ समय तक दूत रह

चुका था। इतने दिनों की लड़ाई से संचालकों की नीति में फिर परिवर्तन हो रहा था। उनका कोई निश्चित सिद्धान्त न था, उन्हें केवल रुपये की चिन्ता रहती थी। यदि युद्ध से बराबर लाभ होता रहे, तो उसमें कोई दोष न था, पर ज्योंही खर्च बढ़ने लगता था, उसको बन्द कर देने की पुकार मच जाती थी। लार्ड एमहर्स्ट से यह आशा थी कि उसके समय में कोई युद्ध न होगा, पर उसकी नीति ने कम्पनी को ऐसे युद्ध में भिड़ा दिया, जिसका खर्च गत पंडारी तथा मराठा युद्धों से कई गुना अधिक था, जो बराबर दो वर्ष तक चलता रहा और जिसमें विजय होने पर भी ब्रिटिश सरकार की बहुत कुछ हानि हुई।

एमहर्स्ट

बर्मा का राज्य—जिस समय अँगरेज़ बंगाल में लड़ रहे थे, उन्हीं दिनों, सन् १७६० के लगभग, अलोम्प्रा नामक एक सरदार ने बर्मा में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। वह पहले एक साधारण मनुष्य था, परन्तु उसने थोड़े ही दिनों में अपनी बुद्धि और बाहु-बल से सारे बर्मा को एक बना दिया। वह अधिकतर आवा नगर में रहता था। उसके वंशजों ने राज्य का और भी अधिक विस्तार किया। पहले पीगू पर अधिकार करके सन् १७६६ में स्याम राज्य से टेनासरिम छीन लिया गया। सन् १७८४ में अराकान भी जीत लिया गया। यह पहले एक स्वतंत्र राज्य था और इसकी सीमा पश्चिम में ढाका तक थी। सन् १८१३ में बर्मा के राजा ने मनीपुर पर अधिकार कर लिया और सन् १८२२ में उसने आसाम जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस तरह बर्मा का राज्य बंगाल की पूर्वोत्तर सीमा तक पहुँच गया।

पहला युद्ध—यह सीमा स्पष्ट न होने के कारण दोनों राज्यों में बहुत दिनों से झगड़ा चला आता था। अराकान के बहुत से निवासी भागकर अँगरेज़ों के राज्य में चटगांव के समीप बस गये थे। ये लोग बराबर अराकान की सीमा पर लूट-मार किया करते थे। इनके एक सरदार ने इन दिनों बड़ा ऊधम मचा रखा था। अराकान का बर्मी हाकिम इन लोगों को निकाल बाहर करने के लिए अँगरेज़ों से बराबर अनुरोध करता था, परन्तु ये लोग उसकी एक भी न सुनते थे और इधर-उधर की बातों ही में टाला करते थे। उसके शब्दों में इस स्थान पर "आग और बारूद" दोनों एकत्र हो रहे थे। समझौते से यह प्रश्न हल होते हुए न देखकर बर्मियों ने चटगांव के निकट शाहपुरी नाम के टापू पर अधिकार कर लिया। उनका कहना था कि यह टापू बर्मा राज्य का है। चटगांव और ढाका पर भी वे अपना हक़ दिखलाने लगे; क्योंकि किसी समय ये स्थान अराकान राज्य में शामिल थे।

दूसरी ओर आसाम में भी झगड़े चल रहे थे। वहां कई एक छोटे छोटे राज्य थे, जो आपस में लड़ा करते थे। बर्मा के आधिपत्य से वे सन्तुष्ट न थे। मनीपुर के राज्य का सन् १७६२ से अँगरेज़ों के साथ सम्बन्ध था। दो तीन और राजा भी अँगरेज़ों की सहायता से बर्मियों को निकालना चाहते थे। इसके लिए अँगरेज़ों की कुछ सेना उधर पहुँच चुकी थी और कचार के राजा से सन्धि की बातचीत हो रही थी। बर्मियों की सेना भी दो तरफ़ से आगे बढ़ रही थी। विक्रमपुर के निकट दोनों की मुठभेड़ हो गई; जिसमें बर्मी ऐसी वीरता से लड़े कि अँगरेज़ी सिपाहियों को पीछे हटना पड़ा।[1] इस पर फ़रवरी सन् १८२४ में युद्ध की घोषणा कर दी गई। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि बर्मियों ने अँगरेज़ों पर कोई आक्रमण नहीं किया था। वे कचार की तरफ़ बढ़ रहे थे, जिसके साथ अँगरेज़ों की इस समय तक सन्धि न हुई थी।

बर्मा के राजा ने महाबन्दूला की अध्यक्षता में एक सेना बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भी भेजी। रामू के निकट अँगरेज़ी सेना के साथ

---

१ लॉरी, अवर बर्मीज़ वार्स, सन् १८८५, पृ० २१।

इसका युद्ध हुआ, जिसमें कप्तान नोटन मारा गया और अँगरेज़ी सेना भाग निकली। इस पर कलकत्ते में हलचल मच गया और अँगरेज़ों को बड़ा भय होने लगा। परन्तु इतने ही में समुद्र के मार्ग से एक अँगरेज़ी सेना रंगून पहुँच गई। इस पर महाबन्दूला वापस बुला लिया गया। गवर्नर-जनरल को बाँध ले जाने के लिए वह सोने की ज़ंजीरें लाया था, लेकिन उसको ख़ाली हाथ ही लौटना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक दृष्टि से यह भूल की गई। उधर आसाम में भी कूटनीति से काम लिया गया और देशी राजाओं को अपने पक्ष में मिलाकर बर्मियों को वहाँ से हटाया गया।

बारिकपुर का विद्रोह—इस युद्ध के बीच ही में कलकत्ता के निकट बारिकपुर में एक बड़ा उपद्रव हो गया। यहाँ पर हिन्दुस्तानी सेना की एक बड़ी छावनी थी। उन दिनों बंगाल के हिन्दुस्तानी सैनिकों को कई एक शिकायतें थीं। बम्बई और मदरास के सिपाहियों से उनको भत्ता कम मिलता था। गोरों के लिए तम्बू लग जाते थे और उनका सामान लाद ले चलने का
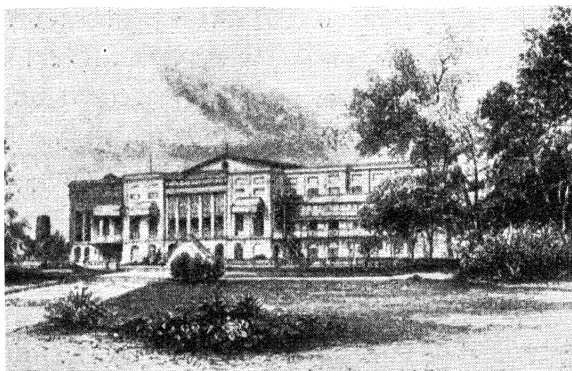
बारिकपुर की कोठी

सब प्रबन्ध कर दिया जाता था, पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों के कष्ट का कुछ भी ध्यान न रखा जाता था। रहने के लिए झोपड़े तक उन्हें स्वयं ही बनाने पड़ते

थे। बर्मा में युद्ध छिड़ने पर समुद्र के मार्ग से बंगाल की सेना को रंगून भेजना निश्चित किया गया था। इस सेना में बहुत से कुलीन थे, जो समुद्र-यात्रा निषिद्ध मानते थे। कुछ लोग अलग अलग अपने बर्तन ले जाना चाहते थे, जिनके ढोने के लिए अफ़सर कोई प्रबन्ध नहीं कर रहे थे। उनकी इन सब शिकायतों पर कुछ भी ध्यान न दिया गया और कहा गया कि वे आज्ञा न मानकर विद्रोह करना चाहते हैं। कलकत्ता से गोरी सेना बुलाकर उनको घेर लिया गया और पहली नवम्बर सन् १८२४ को क़वायद करने से इनकार करने पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी गई। इसमें बहुत से सिपाही मारे गये। कई एक नेताओं को फांसी दी गई और बहुतों को जेल में रखकर सड़क पीटने का काम दिया गया। समझाने-बुझाने से ही यह उपद्रव शान्त हो सकता था। सिपाहियों की शिकायतों में बहुत कुछ सत्यता थी। किसी तरह की हानि पहुँचाना उनका उद्देश्य न था। पास की ही कोठी में लार्ड एम-हर्स्ट ठहरा हुआ था। यदि वे लोग चाहते तो उस पर आक्रमण कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनकी जो बन्दूकें मिलीं, वे सब ख़ाली थीं। ऐसी दशा में पहले उन पर गोली चलाना और फिर कठोर दंड देना उचित नहीं कहा जा सकता। अन्य सैनिकों पर भी इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। बर्मा युद्ध की असफलता और इसका समाचार मिलने पर संचालकों ने एमहर्स्ट को वापस बुलाना निश्चित कर लिया, परन्तु यह पता लगने पर कि इसमें गवर्नर-जनरल का अधिक दोष नहीं था, ऐसा नहीं किया गया।

बर्मा में युद्ध—बंगाल से सेना को रंगून भेजने का विचार छोड़ दिया गया और सर आर्चीबाल्ड कैम्पबेल की अध्यक्षता में मदरास से सेना भेजी गई। इस सेना ने मई महीने में रंगून पर अधिकार कर लिया, परन्तु यहाँ इसको बड़ा कष्ट सहना पड़ा। बर्मियों ने सारा देश उजाड़ कर दिया था, रसद का कोई प्रबन्ध न था, बरसात शुरू हो गई थी, नदियाँ भरी हुई थीं, अँगरेज़ों को देश का अधिक ज्ञान न था और बीमारी भी फैल रही थी। ऐसी दशा में बहुत दिनों तक अँगरेज़ी सेना पड़ी रही। इतने में बंगाल से

महाबन्दूला भी आ पहुँचा और अच्छी तरह से युद्ध प्रारम्भ हो गया। रंगून से कुछ दूरी पर इसने अपने पड़ाव को बड़े यत्न से सुरक्षित बना रखा था। एक अँगरेज़ लिखता है कि इस सम्बन्ध में उसकी योग्यता किसी वैज्ञानिक इंजीनियर से कम न थी। यहीं पर अचानक गोली लग जाने से उसकी मृत्यु हो गई। महाबन्दूला बड़ा योग्य और वीर सेनापति था।[1] यदि वह जीवित रहता तो अँगरेज़ों के लिए इस युद्ध में विजय पाना सहज नहीं था। इधर अँगरेज़ी सेना ने अराकान और टेनासरिम पर अधिकार कर लिया। महाबन्दूला के मरने पर कैम्पबेल ने आगे बढ़कर प्रोम नगर भी जीत लिया। इस पर सन्धि की बातचीत होने लगी।
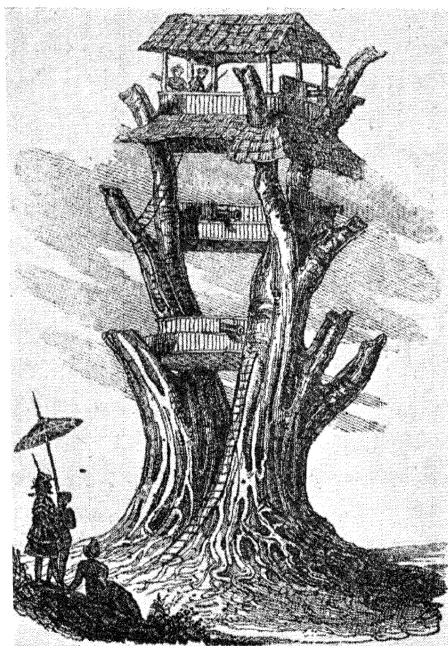
बर्मियों का जंगी मच्चान

यांडबू की सन्धि—फ़रवरी सन् १८२६ को यांडबू नामक स्थान पर सन्धि हो गई। अँगरेज़ों को आसाम, अराकान और टेनासरिम के सूबे मिल गये। आसाम में कचार, जयन्तिया और मनीपुर के राज्य बर्मा के आधिपत्य से स्वतंत्र हो गये। अँगरेज़ों को लड़ाई का खर्च भी मिला और

१ स्नॉडग्रास, नैरेटिव ऑफ़ दि बर्मीज़ वार, सन् १८२७, पृ० १७५–७६।

बर्मा के राजा ने अपने दरबार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट भी रखना स्वीकार किया। बर्मियों के हाथ से बहुत सा समुद्र-तट निकल गया और बंगाल की पूर्वीय

सन्धि-सम्मेलन

सीमा सुरक्षित हो गई। इस युद्ध में बर्मी बड़ी वीरता से लड़े, उनके दूत मराठा राजाओं तक पहुँचना चाहते थे और भारतवासियों के साथ मिलकर

अँगरेज़ों को निकालना चाहते थे। उनके एक जासूस ने लार्ड एमहर्स्ट तक को चकमा दिया था।[१] परन्तु उनकी सेना सुसंगठित न थी, बारूद किसी काम की न थी, तोपें पुरानी थीं और सीमा पर के राज्य भी उनका साथ न दे रहे थे। इसी लिए अन्त में उनकी हार हुई। इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार की ओर से बड़ी शिथिलता रही। यदि सावधानी से प्रबन्ध किया जाता तो सम्भव था कि इतनी क्षति न उठानी पड़ती। इसी युद्ध में हिन्द महासागर में स्टीमरों से पहले-पहल काम लिया गया।

भरतपुर का पतन—लेक की असफलता के समय से भरतपुर का क़िला अँगरेज़ों की आँखों में बराबर खटक रहा था। इससे उनकी सैनिक प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात लगा था और लोगों के मन में यह भाव आने लगा था कि इन दुर्गों से अँगरेज़ों की विशाल शक्ति का भी सामना किया जा सकता है। सन् १८२४ में चार्ल्स मेटकाफ़ लार्ड हेस्टिंग्ज़ को लिखता है कि "हमारे शत्रुओं को निराश होकर और अपने दुर्गों को, जिनके सुरक्षित होने में उनका पूरा विश्वास है, छोड़कर भागने के लिए अब हर समय गोरे चमड़े और लाल वर्दी का दृश्य क़ाफ़ी नहीं है, जैसा कि पहले था"।[२] इस भाव को दूर करने तथा पिछली लज्जा को मिटाने के लिए किसी न किसी तरह भरतपुर पर अधिकार करना था। सन् १८२५ में वहाँ जो झगड़ा चला, उसमें इसके लिए अच्छा अवसर मिल गया।

इसी साल अँगरेज़ों की सलाह से ६ वर्ष का एक बालक भरतपुर की गद्दी पर बिठलाया गया। उसका चचेरा भाई दुर्जनसाल संरक्षक बनना चाहता था पर अँगरेज़ों का कहना है कि वह स्वयं गद्दी चाहता था। बालक की रक्षा के लिए अँगरेज़ों ने भरतपुर पर चढ़ाई कर दी। सन्धि के अनुसार भरतपुर के घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप करने का अँगरेज़ों को कोई अधिकार न था। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के कई मेम्बरों का पहले यही मत

१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० ६५।

२ जान के, सेलेक्शंस फ़्राम दि पेपर्स ऑफ़ चार्ल्स मेटकाफ़, पृ० ८३।

था और आक्टरलोनी, जो सेना लेकर भरतपुर की ओर बढ़ रहा था, वापस बुला लिया गया था। 'गुप्त कमेटी' का भी कहना था कि हमारी शक्ति की वृद्धि से अन्य राज्यों के घरेलू मामलात में हस्तक्षेप करने का हमारा अधिकार भी बढ़ गया, ऐसा कभी नहीं माना जा सकता। परन्तु मेटकाफ़ की दलीलों में पड़कर गवर्नर-जनरल को अपना मत बदलना पड़ा। उसका कहना था कि सन्धियों द्वारा हस्तक्षेप करने का अधिकार है या नहीं, इसका कोई प्रश्न नहीं है। "साधारण शान्ति, नियम और अधिकारों के सर्वोच्च संरक्षक" होने के कारण बालक को गद्दी पर बिठलाये रखना, हमारा कर्तव्य है।[1] इस पर "समझा बुझाकर" या "बलात्" इस कर्तव्य को पूरा करने की आज्ञा दे दी गई।
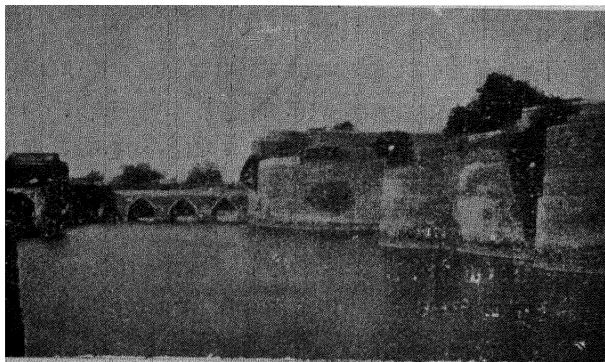
भरतपुर का क़िला

मेटकाफ़ से, जिसका भरतपुर की पिछली हार के सम्बन्ध में मत दिखलाया जा चुका है, यह आशा करना व्यर्थ था कि वह "समझा-बुझाकर" अपना काम निकालेगा। दिसम्बर सन् १८२५ में २५ हज़ार सेना के साथ भरतपुर घेर लिया गया। इस बार लार्ड कम्बरमियर सेनापति था। सबसे पहले उस झील पर, जहाँ से क़िले के चारों ओर की खाई में पानी आता था, अधिकार

१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० १३७।

राजा, नागपुर के भोंसला, यहाँ तक कि सिंहासनच्युत पेशवा भी न छोड़ा गया। लार्ड एमहर्स्ट, इतिहासकार स्मिथ के शब्दों में, गवर्नर-जनरल के उच्च पद के योग्य न था, इस पर उसका नियुक्त करना भूल थी। परन्तु तब भी बर्मा और भरतपुर के युद्ध में विजय के लिए पार्लामेंट की ओर से उसको बधाई दी गई और 'अर्ल' की उपाधि प्रदान की गई।

दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु—सन् १८२७ में दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु हो गई। तीस वर्ष तक उसके नाम से भारतवर्ष के इतिहास में हलचल मचा रहा। किसी समय सारे उत्तरी भारत में उसका आतंक था, दिल्ली का बादशाह उसके हाथ में था, राजपूत राजा उसके चौथ देते थे, पेशवा पर उसका पूरा अधिकार था और दोआब, बुँदेलखंड तथा मालवा के अधिक भाग में उसका राज्य था। रेज़ीडेंट मेजर स्टिवार्ट के शब्दों में उसकी समझ में किसी प्रकार की कमी न थी। उसका स्वभाव नम्र और सीधा था, परन्तु इससे उसके

दौलतराव सिन्धिया

साहस में सन्देह नहीं किया जा सकता। उदासीनता और आलस्य उसके मुख्य दोष थे।[१] वह कभी अपना मत निश्चित न कर सकता था, यही कारण था कि उसके हाथ से बड़े अच्छे अच्छे अवसर निकल जाते थे। उसके कोई सन्तान न थी। एक बालक, जिसको बायज़ाबाई ने गोद लिया, गद्दी पर बिठलाया गया।

लार्ड विलियम बेंटिंक—यह पहले मदरास का गवर्नर था और विल्लौर का विद्रोह होने पर वापस बुला लिया गया था। बेंटिंक समझता था कि यह उसके साथ बड़ा अन्याय किया गया, जिसका प्रतिकार उसको गवर्नर-जनरल बनाने से ही हो सकता था। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के बाद से ही वह इस पद पर आने का प्रयत्न कर रहा था। उसने इसके लिए स्वयं प्रार्थना-पत्र भी भेजा था। सुधारों की उसने एक योजना भी तैयार की थी, जिसको वह अपने शासन-काल में काम में लाना चाहता था और इस तरह दिखलाना चाहता था कि वह शासन करने के अयोग्य न था। बर्मा के युद्ध से सरकार का ख़ज़ाना ख़ाली हो रहा था, संचालक किसी ऐसे व्यक्ति को गवर्नर-जनरल बनाने के लिए चिन्तित थे, जो ख़र्चे में कमी कर सके। इसके अतिरिक्त इन दिनों इँग्लेंड का शासन 'लिबरल दल' के हाथ में था, जिसका बेंटिंक सदस्य था। इसलिए अब वह
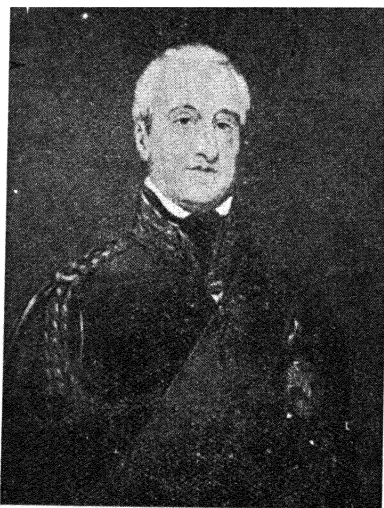
विलियम बेंटिंक

१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० १९१।

गवर्नर-जनरल बना दिया गया। जुलाई सन् १८२८ में वह कलकत्ता पहुँचा। तब तक कौंसिल का सदस्य बटरवर्थ बेली गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा।

शासनसुधार—सबसे पहले आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया गया। इन दिनों खर्च और आमदनी में एक करोड़ रुपया साल का अन्तर पड़ रहा था। सैनिकों को शान्ति के समय में भी आधा भत्ता मिलता था। अन्य विभागों के अफ़सरों को भी बड़े बड़े वेतन मिलते थे। संचालकों की आज्ञा से सैनिकों का भत्ता बन्द कर दिया गया, कुछ सेना भी घटा दी गई और अन्य विभागों में भी वेतन कम कर दिया गया। इस पर अँगरेज़ों में बड़ा असन्तोष फैला और बेंटिंक को बहुत कुछ बुरा-भला सुनना पड़ा। खर्च घटाने के साथ साथ आमदनी बढ़ाने का भी प्रयत्न किया गया। आगरा प्रान्त में ज़मीन्दारों के साथ तीस वर्ष के लिए बन्दोबस्त किया गया और इलाहाबाद में मालविभाग का बड़ा दफ़्तर 'बोर्ड आफ़ रेविन्यू' खोला गया। इस प्रबन्ध से प्रान्त की मालगुज़ारी बहुत बढ़ गई। मालवा की अफ़ीम कराची होकर चीन को जाती थी और वहां कम्पनी की बंगालवाली अफ़ीम से सस्ती बिकती थी, जिससे कम्पनी को बड़ा घाटा होता था। बेंटिंक ने यह नियम बना दिया कि मालवा की सब अफ़ीम बम्बई होकर कम्पनी द्वारा चीन जाया करे। इससे मालवा के राज्यों और अफ़ीम के काश्तकारों को बड़ा घाटा हुआ, पर कम्पनी का काम बन गया। बहुत से लोगों के पास 'लाखिराज' अर्थात् कर न देनेवाले इलाके थे। इनमें से कुछ लोगों के मरने पर, कोई लड़का न होने के कारण, उनके इलाके ज़ब्त कर लिये गये और 'लाखिराज' इलाकों के उत्तराधिकार का निर्णय कलेक्टर के हाथ में छोड़ दिया गया। जान मालकम लिखता है कि यदि ऐसा करना था तो इलाके देना ही व्यर्थ था। इन ज़ब्तियों से कम्पनी की आमदनी अवश्य बढ़ गई, पर साथ ही साथ कितने ही बड़े बड़े हिन्दुस्तानी घराने नष्ट हो गये।

न्याय के प्रबन्ध में भी कुछ परिवर्तन किया गया। बहुत से मुकदमे पिछले पड़े हुए थे, अँगरेज़ जजों को रखने में बड़ा खर्च पड़ता था। इसलिए हिन्दु-

स्तानियों को 'सब जज' और 'डिप्युटी कलेक्टर' बनाना निश्चित किया गया। कलेक्टर 'ज़िला मजिस्ट्रेट' भी बना दिये गये और उन्हें न्याय के अधिकार दिये गये। यह बड़ी भूल की गई, इससे निष्पक्ष न्याय में बाधा पड़ने लगी। कार्नवालिस की खोली हुई प्रान्तीय अदालतें तोड़ दी गईं। इलाहाबाद में एक 'सदर अदालत' खोली गई। कलेक्टरों पर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर नियुक्त किये गये। इस समय तक अदालतों का बहुत सा काम फ़ारसी में होता था, अब सर्व-साधारण की सुविधा के लिए उर्दू का प्रयोग करना निश्चित किया गया। इसमें हिन्दी का कुछ भी ध्यान न रखा गया, जो अधिकांश जनता की भाषा थी।

ठगों का दमन—इन दिनों भारतवर्ष में ठगी का बड़ा ज़ोर था। बहुत लोगों का यह पेशा हो गया था। इनकी एक गुप्त संस्था बन गई थी,

ठगों का एक दल

जिसमें जाति-पांति का कोई भेद न था और हिन्दू मुसलमान सभी शामिल रहते थे। इनके झुंड के झुंड देश भर में घूमा करते थे और यात्रियों को मारकर उनका माल छीन लेते थे। इनकी एक नई भाषा बन गई थी, जिसमें ये प्रायः इशारों से ही आपस में बातचीत कर लिया करते थे। ये ऐसे ढंग से रहते थे कि इन पर किसी को कुछ भी सन्देह न होता था। ये

यात्रियों को अपनी बातों में फुसला लेते थे और जंगल में या किसी एकान्त स्थान में पहुँचने पर गले में रुमाल का फन्दा डालकर उनको मार डालते थे और सब माल-असबाब छीन लेते थे। फांसी लगाने में ये बड़े निपुण होते थे, इनका वार कभी खाली नहीं जाता था, इसी लिए ये 'फांसीगर' भी कहलाते थे। इनके सब काम गुप्त होते थे। लाशें तक इस ढँग से छिपा दी जाती थीं कि किसी को कुछ भी पता न लगता था। ये सभी जगह बने रहते थे और आवश्यकतानुसार भेष बदला करते थे। इनके किसी किसी दल में ३०० से भी अधिक मनुष्य रहते थे। ये काली का पूजन करते थे और लड़कों को अपने दलों में भर्ती किया करते थे। ये प्रायः स्त्रियों को न मारते थे।

मुसलमानों के समय में भी ये बड़ा ऊधम मचाया करते थे। कहा जाता है कि अकबर ने केवल इटावा के ज़िले में पांच सौ ठगों को फांसी लटकवा दिया था। औरंगज़ेब ने भी बहुतों को प्राणदंड दिया था। इधर राजनैतिक अशान्ति के कारण इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। बहुत से बेकार सिपाही इनमें शामिल हो गये थे। कुछ ज़मीन्दार और व्यापारी भी इनकी गुप्त रीति से मदद करते थे और लूट का माल लेते थे। इनके दमन करने का काम कर्नल स्लीमैन को सौंपा गया। उसको फ़िरंगिया नाम के एक मुख़बिर से इनकी सब गुप्त बातों का पता लग गया। चारों ओर से इनकी खोज होने लगी, प्राण बचाने के लिए बहुत से मुख़बिर हो गये और ६ वर्ष में लगभग ३२६६ ठग पकड़ लिये गये। इनमें बहुतों को फांसी लगाई गई और बहुत से कालेपानी भेज दिये गये। मुख़बिर जब्बलपुर में रख दिये गये और उनके लड़कों को खेती-बारी सिखलाने का प्रबन्ध कर दिया गया।

सती-प्रथा का अन्त—सती का अर्थ वास्तव में पतिभक्ता स्त्री है। पति की सहगामिनी बनने के लिए बहुत सी स्त्रियां उसके मरने पर चिता में जलकर प्राण त्याग देती थीं। इसी लिए इस तरह जल मरने का नाम 'सती होना' पड़ गया। प्राचीन समय से भारत में स्त्रियाँ बराबर सती हुआ करती थीं। परन्तु प्रत्येक स्त्री के लिए सती होना आवश्यक है, ऐसा किसी धर्म-शास्त्र में उल्लेख नहीं है। सती होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर रहता था।

गर्भवती या छोटे बच्चों की माता के लिए तो सती होने का निषेध था। जो स्त्री हँसते हँसते जलती हुई आग में कूदकर अपने प्राण त्याग कर सकती है, उसके लिए प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आदर का होना स्वाभाविक है। इसी लिए जो स्त्रियां सती होती थीं वे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। इसी से धीरे धीरे जनता में यह भाव फैल गया कि सती होना प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। लोकापवाद के भय से बहुत सी स्त्रियों को इच्छा न होते हुए भी अपने प्राण त्याग करने पड़ते थे। बहुतों को घरवाले ज़बरदस्ती चिता में झोंक देते थे। बहुतों को नशा खिलाकर जोश दिलाया जाता था। इस तरह किसी समय जो एक उच्चादर्श था कालान्तर में अमानुषिक कार्य्य बन गया था।[1]

अकबर के समय में इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया गया था, पर अधिक सफलता न हुई थी। पेशवा बाजीराव ने इसको अपने राज्य में बन्द कर दिया था, तंजोर में भी इसके लिए आज्ञा न थी। गोआ में पुर्तगालियों ने भी ऐसा ही नियम बना दिया था। चिनसुरा और चन्द्रनगर में भी इसके लिए मनाही थी। परन्तु धर्म में हस्तक्षेप न करना अँगरेज़ों की प्रारम्भ से ही नीति थी, इसलिए कम्पनी के राज्य में यह प्रथा इस समय भी जारी थी। किसी तरह की ज़बरदस्ती न हो, इसलिए पहले मजिस्ट्रेट से आज्ञा लेनी पड़ती थी और दाह पुलिस की निगरानी में होता था। परन्तु इस पर भी बड़ा अत्याचार होता था, जिसे रोकने के लिए इसको एकदम बन्द कर

---

१ इस समय भी कहीं कहीं सती होने के अद्भुत उदाहरण दिखलाई देते थे। सन् १८२९ की एक घटना का कर्नल स्लीमैन ने वर्णन किया है। दक्षिण की किसी स्त्री को उसने सती होने से मना कर दिया था। वह पाँच दिन तक नर्मदा के किनारे, जहाँ पति का दाह हुआ था, बिना अन्न-पानी के दिन-रात खुले मैदान में बैठी रही। बहुत कुछ लालच देने पर भी उसने अपना विचार नहीं छोड़ा। कोई उपाय न देखकर अन्त में स्लीमैन ने उसको सती होने की आज्ञा दे दी। उसके धैर्य और साहस को देखकर वह हैरान रह गया। रैम्बल्स ऐंड रिकलेक्शंस, जि० १, पृ० २२–३७।

देने के अतिरिक्त, कोई उपाय न था। सन् १८१८ में अकेले कलकत्ता प्रान्त में ५४४ सतियाँ हुई थीं। स्वयं हिन्दुओं में इसके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। राजा राममोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर इसके रोकने के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे थे।

लार्ड बेंटिंक को यह अच्छा अवसर मिल गया। उसने इस विषय की पूरी जाँच करवाई, बड़े बड़े अफ़सरों से सलाह ली, निज़ामत अदालत का मत लिया और इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तानी सेना तथा पुलिस की राय जानने का भी प्रयत्न किया। जब उसको यह मालूम हो गया कि अधिकांश लोगों का मत इस प्रथा के विरुद्ध है, तब उसने इसके लिए क़ानून बनाना निश्चित कर लिया। परन्तु बहुतों को सन्देह था कि क़ानून बनाने से बड़ा उपद्रव मचेगा। कुछ लोगों की राय में सेना में विद्रोह हो जाने का भय था। स्वयं राजा राममोहन राय का भी ऐसा ही अनुमान था। परन्तु सन् १८२९ में गवर्नर-जनरल ने बंगाल में इस प्रथा के बन्द करने का क़ानून पास ही कर दिया। इस पर कोई उपद्रव नहीं हुआ, इसी से सिद्ध है कि जनता इसके बन्द करने ही के पक्ष में थी। कुछ बंगालियों ने इस क़ानून को तोड़ने के लिए पार्लामेंट को लिखा और मुक़दमे चलाये, परन्तु राममोहन राय की सहायता से यह आन्दोलन थोड़े ही दिनों में शान्त हो गया। सन् १८३० में बम्बई और मदरास प्रान्तों में भी यह क़ानून पास कर दिया गया। इस सम्बन्ध में लार्ड बेंटिंक का साहस सराहनीय है। जो स्त्री पति की सहगामिनी बनना निश्चित कर लेती है, उसको रोकनेवाला अब भी कोई नहीं है। क़ानून और पुलिस होते हुए भी वह किसी न किसी तरह आत्म-बलिदान कर ही देती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस क़ानून से उन सहस्रों स्त्रियों की रक्षा हो गई, जिनका उनकी इच्छा के विरुद्ध बलिदान कर दिया जाता था।

देशी राज्य—इनके सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की कोई निश्चित नीति न थी। जिस नीति से अपना काम बनता था, उसी का किसी न किसी तरह समर्थन किया जाने लगता था। कहने के लिए तो बेंटिंक 'हस्तक्षेप न

करने की नीति' का अनुयायी था, परन्तु अवसर मिलने पर वह भी न चूकता था। इन दिनों सिन्धिया के राज्य में कुछ गड़बड़ था। इस पर रेज़ीडेंट को लिखा गया कि सिन्धिया को समझा-बुझाकर गद्दी छोड़ देने के लिए राज़ी करना चाहिए और उसके राज्य को ले लेना चाहिए। इससे बम्बई प्रान्त के साथ आगरा का इलाक़ा मिल जायगा। परन्तु रेज़ीडेंट ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।[1] इन्दौर की गद्दी के लिए भी झगड़ा चल रहा था। चुपचाप रहकर उसके परिणाम की प्रतीक्षा की जा रही थी। दीवान पुर्णिया के हटने पर कहा गया कि मैसूर राज्य का शासन बहुत बिगड़ रहा है। यह बात ठीक है कि इन दिनों प्रजा में असन्तोष था और कहीं कहीं कुछ उपद्रव भी हुए थे। सेना अँगरेज़ों के हाथ में थी। यदि वे चाहते तो शान्ति स्थापित कर सकते थे और प्रजा की रक्षा के लिए विशेष नियम बना सकते थे। परन्तु ऐसा न करके सारा दोष राजा के मत्थे मढ़ा गया और उसके हाथ से राज्य का शासन ले लिया गया। मैसूर से जो कुछ रुपया मिलता था, उसमें किसी प्रकार कमी नहीं हुई थी। यदि वास्तव में राजा का दोष था और उसको दंड देना ही था, तो पिछली सन्धि के अनुसार राज्य के 'कुछ भाग पर' अधिकार कर लेना चाहिए था, परन्तु इस तरह शासन के कुल अधिकार ले लेना मेजर बेल की राय में किसी तरह उचित न था।[2]

कुर्ग अपने प्राकृतिक सौन्दर्य्य के लिए प्रसिद्ध है। टीपू के विरुद्ध यहां के राजा से अँगरेज़ों को बड़ी सहायता मिली थी। सन् १७९० में उसके साथ जो सन्धि की गई थी, उसमें कम्पनी की मित्रता का उसे पूरा विश्वास दिलाया गया था। अब वहाँ के नये राजा पर कितने ही अपराध लगाये गये। कहा गया कि उसने अपने कई कुटुम्बियों को मरवा डाला है और प्रजा उसके अत्याचार से पीड़ित है। उस पर आक्रमण करने के लिए एक सेना भेजी गई। राजा ने बिना लड़े-भिड़े अपने को उसके हवाले कर दिया। उसके कोई

१ चेम्बर ऑफ़ प्रिंसेज़, ब्रिटिश क्राउन ऐंड दि इंडियन स्टेट्स, सन् १९२९; पृ० ४४—४६।

२ इवांस बेल, मैसूर रिवर्ज़न, पृ० २१—२४।

लड़का न था, इसलिए "प्रजा की इच्छा" से कुर्ग अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया।[1] यहां बहुत से अँगरेज़ बस गये हैं, जो काफ़ी की खेती कराते हैं। यहां का शासन एक कमिश्नर के हाथ में है, जो मैसूर के रेज़ीडेंट की निगरानी में काम करता है। पदच्युत राजा बनारस भेज दिया गया। सन् १८५२ में इँग्लेंड जाकर उसने कम्पनी पर दावा किया, परन्तु वह हारि गया। उसकी लड़की ने ईसाई होकर एक अँगरेज़ से शादी कर ली।

कहने के लिए निज़ाम के साथ बराबरी का सम्बन्ध था। इस समय तक उसको पत्र लिखने में कम्पनी अपने लिए 'न्याज़मन्द' (कृपापात्र) शब्द का प्रयोग करती थी। पर तब भी उसके शासन में हर तरह से बाधाएँ डाली जाती थीं। सहायक सेना के अतिरिक्त उसको एक अपनी सेना भी रखनी पड़ती थी, जिसके सब अफ़सर अँगरेज़ होते थे। इनको केवल भत्ते में १४ लाख रुपया साल दिया जाता था। चार्ल्स मेटकाफ़ का कहना था कि हम उसके राज्य में ऐसा हस्तक्षेप कर रहे हैं, जो किसी सन्धि के अनुसार उचित नहीं कहा जा सकता। हमने एक ऐसे आदमी (राजा चन्दूलाल) को दीवान बना दिया है, जो हमारी सहायता के कारण राज्य का शासक बन बैठा है और अपने स्वामी की कुछ भी पर्वाह नहीं करता है। ऐसी दशा में शासन के दोषों के लिए हम निज़ाम को ज़िम्मेदार नहीं ठहरा सकते। वास्तव में उनके ज़िम्मेदार हम हैं, क्योंकि उनके दूर करने का उपाय हमारे हाथ में है।[2] बेंटिंक ने निज़ाम के साथ पत्र-व्यवहार में ऐसे शब्दों का प्रयोग उठा दिया, जिनसे निज़ाम का बड़प्पन ज़ाहिर होता था। परन्तु राज्य की दशा सुधारने की ओर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया; उलटे निज़ाम और उसके दीवान को राज्य बरबाद करने की स्वतंत्रता दे दी।

१ इस अवसर पर कुर्ग-निवासियों ने राज्य के एक भाग मे गोवध न होने देने का ब्रिटिश सरकार से वचन ले लिया। ह्वीलर, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृ० ५३४।

२ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० १७६–७९।

अवध के साथ भी इसी नीति से काम लिया गया। यहां के बादशाह नसीरुद्दीन हैदर को पाश्चात्य ढँग का रहन-सहन सिखलाया गया था। पांच यूरोपियन उसको हर तरह से बरबाद कर रहे थे।[१] उसने अपने योग्य दीवान हकीम मेहदी को निकाल दिया, पर तब भी इस मामले में बेंटिंक ने कोई हस्त-क्षेप नहीं किया। इस पर हकीम मेहदी ने ठीक कहा था कि यदि कोई आदमी किसी अन्धे को गड्ढे की तरफ़ जाते देखकर उसे बचाता नहीं है, तो वह उसको गड्ढे में गिराने का दोषी है।[२] परन्तु अवध के सम्बन्ध में अँगरेज़ों की नीति ही दूसरी थी। एक ओर तो शासन में पूरा हाथ होते हुए भी उसके सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा था और दूसरी ओर अवध की दुर्दशा खूब बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाई जा रही थी और संचालकों को उसके छीन लेने की सलाह दी जा रही थी। वास्तव में इस समय भी अवध की ऐसी दुर्दशा न थी। सन् १८३४ में जौनपुर के कलेक्टर ब्राउन का लिखना था कि फ़ैज़ाबाद ज़िले में खेती की दशा बहुत अच्छी है, लगान भी अधिक नहीं है। लोगों को कुछ शिकायतें ज़रूर हैं, पर तब भी वे अँगरेज़ी राज्य में नहीं आना चाहते हैं।[३] सन् १८३५ में शोर लिखता है कि अवध की प्रजा पर जैसा शासन हो रहा है वह हमारे शासन से बुरा नहीं है।[४] नसीरुद्दीन भी बिलकुल गयाबीता शासक न था। उसने ३ लाख रुपया दीनों की सहायता के लिए रेज़ीडेंट के पास जमा करवा दिया था और 'लखनऊ कालेज' के छात्रों को भी वह ३ हज़ार रुपया माहवार देता था। उसने एक अस्पताल भी खोला था और डकैतियों के रोकने का भी प्रयत्न किया था।[५] यदि अवध की वैसी ही दशा होती जैसी कि दिखलाई गई है, तो कम्पनी को क़र्ज़ देने के लिए उसके खज़ाने में करोड़ों रुपया न होता।

१ नाइटन, प्राइवेट लाइफ़ ऑफ़ एन ईस्टर्न किंग।

२ बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० ३, पृ० २१५।

३ कर्नल लो, रिपोर्ट, सन् १८४१।

४ शोर, नोट्स ऑन इंडियन अफ़ेयर्स।

५ डकॉयटी इन एक्सेलसिस, पृ० ७९-८०।

बर्मा-युद्ध के समय पर आसाम के कई एक राज्यों से सन्धियां की गई थीं। इनमें कचार, जयन्तिया और मनीपुर के राज्य मुख्य थे। कचार के राजा के मरने पर, कोई लड़का न होने के कारण, उसका राज्य "प्रजा की इच्छा" से ज़ब्त कर लिया गया। जयन्तिया के राजा पर भी बहुत से अपराध लगाये गये। कहा गया कि उसके राज्य में तीन चार अँगरेज़ मार डाले गये हैं। मार्च सन् १८३५ में उसका राज्य भी ले लिया गया। इन राज्यों की शासन-व्यवस्था ऐसी बुरी न थी। जयन्तिया में बड़े बड़े मामलों के निर्णय में राजमाता, मंत्री और बड़े बड़े सरदारों की राय लेना राजा के लिए आवश्यक था।

रूस का भय—फ़्रांसीसियों के भय के कारण मराठों का राज्य हड़प कर लिया गया। अब कहा जाने लगा कि हेरात और कन्दहार होकर रूस भारत पर आक्रमण करना चाहता है। उससे रक्षा करने के लिए पंजाब, सिन्ध और अफ़गानिस्तान में अँगरेज़ी शक्ति दृढ़ करना आवश्यक है। इसी नीति के अनुसार सिन्ध के अमीरों को एक व्यापारिक सन्धि करने के लिए मजबूर किया गया, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राजनैतिक था। तब भी इसमें लिखा गया कि दोनों पक्ष " एक दूसरे के राज्य पर लालच की दृष्टि कभी न डालेंगे।" इस समय तक अँगरेज़ों को सिन्ध नदी का अधिक ज्ञान न था, इसके लिए भी एक चाल चली गई। गाड़ी और घोड़ों के उपहार महाराजा रणजीतसिंह को इस नदी के मार्ग से भेजे गये। सीधे-साधे अमीरों को इस चाल का पता भी न लगा। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह के दबाव के कारण वे कुछ कह भी न सकते थे। अफ़गानिस्तान से भागे हुए शाहशुजा को भी दोस्तमुहम्मद से राज्य छीनने के लिए उत्साहित किया गया। इसी के कारण आगे चलकर अफ़गानिस्तान से युद्ध हुआ। रणजीतसिंह से भी घनिष्ठ मित्रता करने का प्रयत्न किया गया। उन दिनों उस मार्ग से रूसियों का आना एक प्रकार से असम्भव सा था, पर कहा यह जाता था कि " भारतवर्ष में हम लोग बारूद की नली पर बैठे हैं, न जाने किस दिन वह फूट पड़े।" इसलिए पहले ही से प्रबन्ध कर लेना उचित है।

सिखों का राज्य—इतने दिनों में महाराजा रणजीतसिंह ने अपने राज्य को बहुत बढ़ा लिया था। दस वर्ष तक घोर युद्ध करके उसने सन् १८१६ में मुलतान ले लिया। यहाँ का नवाब मुज़फ़्फ़रख़ाँ बड़ी वीरता से लड़ता हुआ मारा गया। सन् १८१९ में उसने काश्मीर भी जीत लिया, इससे उसका राज्य दुगुना हो गया। अहमदशाह दुर्रानी के समय से यहाँ अफ़-ग़ानियों का राज्य था। महाराज की बहुत दिनों से इस पर दृष्टि लगी हुई थी। सन् १८२९ के लगभग काँगड़ा का राजपूत राज्य भी ले लिया गया। पंजाब के जितने छोटे छोटे मुसलमान राज्य थे, उन सबको उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १८२० में उसके राज्य की सीमा सतलज से लेकर सिन्ध नदी तक पहुँच गई। सन् १८२३ में उसने पेशावर पर भी अधिकार कर लिया। हज़ारा पहले ही से उसको मिल गया था। इस पर पश्चिमोत्तर सीमा के मुसलमानों ने 'जिहाद' छेड़ दी। कई वर्षों तक बराबर युद्ध होता रहा। दो एक नामी सिख सरदार काम आये, परन्तु अन्त में हरीसिंह नलवा की विजय हुई। सन् १८३३ में शाहशुजा ने पेशावर पर रणजीत-सिंह का अधिकार मान लिया। यह काबुल से निकाल दिया गया था; और रणजीतसिंह की शरण में रहता था। इसी से रणजीतसिंह को प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरा मिला था। हरीसिंह नलवा पेशावर का सेनापति बनाया गया। सन् १८३५ में ख़ैबर घाटी की रक्षा के लिए उसने जम-रूद में एक दुर्ग बनवाया। काबुल से दोस्तमुहम्मद ने इस पर दो बार आक्रमण किया, परन्तु हरीसिंह ने बड़ी वीरता से इसकी रक्षा की। दूसरे आक्रमण में वह स्वयं मारा गया, पर लाहोर से सिख सेना ने आकर अफ़ग़ा-नियों को भगा दिया।

बेंटिंक और रणजीतसिंह—सिखों के इस राज्य-विस्तार से अँग-रेज़ों को बड़ा भय हो रहा था। अब वे किसी न किसी तरह सिन्ध नदी को अपनी पश्चिमोत्तर सीमा बनाने के लिए चिन्तित हो रहे थे। इसी लिए सिन्ध के अमीरों के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा रहा था। सन् १८०९ की सन्धि से रणजीतसिंह को सतलज के पश्चिम ओर पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई थी,

तब भी सिन्ध पर उसका अधिकार न जमने पावे, इसके लिए बराबर प्रयत्न किया जा रहा था। साथ ही साथ उसके सन्देह को दूर रखने के लिए मित्रता भी बढ़ाई जा रही थी। सन् १८३१ में सतलज नदी के तट पर रूपुर में लार्ड बेंटिंक ने उसके साथ भेंट की। इस अवसर पर दोनों ओर से एक दूसरे को अपनी अपनी सैनिक शक्ति दिखलाने का प्रयत्न किया गया। इँग्लेंड के राजा चौथे विलियम ने रणजीतसिंह को पत्र लिखा और अँगरेज़ी घोड़े उपहार में भेजे। यह मुलाक़ात राजनैतिक उद्देश्य से ख़ाली न थी। दूसरे साल एक व्यापारिक सन्धि की गई और शाहशुजा की सहायता करने के लिए भी उससे कहा गया। अँगरेज़ों की नीति को वह समझता था। वह जानता था कि सिन्ध और अफ़ग़ानिस्तान की ओर से भी उसके राज्य को घेरने का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु केवल सन्देह के कारण अँगरेज़ों की प्रबल शक्ति से वह वैर न करना चाहता था, इसी लिए वह चुप रहा।

रणजीतसिंह

कम्पनी का आज्ञापत्र—सन् १८३३ में कम्पनी का आज्ञापत्र फिर दोहराया गया। सन् १८२६ से ही एक कमेटी द्वारा जाँच हो रही थी।

इसमें राजा राममोहन राय की भी गवाही हुई थी। उसने शासन के बहुत से दोषों को दिखलाया था। सन् १८३३ में पार्लामेंट में जो क़ानून पास किया गया, उसके अनुसार भारतवर्ष पर शासन करने के लिए कम्पनी को फिर से आज्ञा दे दी गई। केवल चीन के व्यापार का ठेका कम्पनी के हाथ में रह गया था। इस क़ानून से वह भी तोड़ दिया गया। इस तरह अब कम्पनी का व्यापार से कोई सम्बन्ध न रहा। इस समय तक गवर्नर-जनरल केवल 'बंगाल का गवर्नर-जनरल' कहलाता था, अब वह 'भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल' कहलाने लगा। क़ानून बनाने के उसके अधिकार भी बढ़ा दिये गये और कौंसिल में एक 'क़ानूनी मेम्बर' नियुक्त कर दिया गया। अँगरेज़ों को भारतवर्ष में बसने और ज़मीन ख़रीदने की भी स्वतंत्रता दे दी गई, जिसका फल यह हुआ कि नील की खेती अँगरेज़ों के हाथ में आ गई। पार्लामेंट के इस नये क़ानून की एक धारा में यह भी कहा गया कि देश का कोई निवासी केवल अपने धर्म, जन्मस्थान, वर्ण या इनमें से किसी एक के कारण, कम्पनी के अधीन किसी स्थान, पद या नौकरी के अयोग्य न समझा जायगा। तब से यह बात इँग्लैंड के शासकों द्वारा बराबर दोहराई जा रही है, पर व्यवहार में आज भी इसके अनुसार काम नहीं हो रहा है।

लार्ड मैकाले—क़ानूनी मेम्बर के पद पर मैकाले नियुक्त किया गया। यह अँगरेज़ी भाषा का बड़ा पंडित था। अपने एक निबन्ध में इसने वारेन हेस्टिंग्ज़ की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की है। लार्ड क्लाइव पर भी इसका एक अच्छा निबन्ध है। इसमें हर एक बात को ख़ूब बढ़ा चढ़ाकर लिखने का बड़ा दोष था, इसका बराबर ध्यान रखना चाहिए। इसी की अध्यक्षता में 'भारतीय दंड-विधान' बनाने का प्रबन्ध किया गया।

शिक्षा का प्रश्न—प्राचीन समय से ही भारतवर्ष में शिक्षा का प्रबन्ध था। हिन्दुओं की शिक्षा पंडितों के और मुसलमानों की शिक्षा मौलवियों के हाथ में थी। उच्च शिक्षा के लिए मुख्य मुख्य स्थानों में विद्या-पीठ, टोल तथा मदरसे बने हुए थे। इनमें धर्म, दर्शन तथा व्याकरण की

ही शिक्षा अधिक होती थी। साथ ही साथ जन साधारण की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी कुछ प्रबन्ध था। बड़े बड़े गांवों और नगरों में इसके लिए पाठशाला और मकतब थे, जिनमें किसान तथा व्यापारियों के लड़कों को लिखना-पढ़ना सिखलाया जाता था। ऐडम लिखता है कि बंगाल में केवल ब्राह्मण ही नहीं बल्कि बहुत से कायस्थ तथा शूद्र भी पढ़ाते थे। "अछूत जातियों" के भी बहुत से लड़के पढ़ाये जाते थे। लड़कों को पढ़ने के पहले लिखना सिखलाया जाता था, जो आधुनिक 'मांटसोरी सिस्टम' का मुख्य सिद्धान्त है। डाक्टर ऐंड्रूज़ बेल को स्कूलों में 'मॉनीटर' रखने के ढँग का पता भारत की पाठशालाओं से ही चला था।[1] उन दिनों राज्यों में कोई 'शिक्षा-विभाग' न थे, यह बात ठीक है, परन्तु जैसा कुछ समाज का संगठन था, उसमें इसकी कोई आवश्यकता ही न थी। हर एक गाँव में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध रहता था। गाँववाले प्रायः इसको स्वयं ही कर लेते थे, राज्य का उससे कोई विशेष सम्बन्ध न रहता था। मन्दिर तथा मसजिदों में ही पढ़ाई हुआ करती थी। शिक्षकों का पालन गांववाले ही करते थे। कहीं कहीं ज़मीन्दार या धनी व्यापारी भी अपनी बैठकों में पाठशालाएँ खोल देते थे। तीर्थों के बड़े बड़े विद्यापीठों को राज्यों की ओर से सहायता मिलती थी और विद्वानों के लिए दक्षिणा का प्रबन्ध रहता था। इन विद्यालयों के अतिरिक्त घरों पर भी पढ़ाई होती थी। स्त्रियों की शिक्षा के लिए विद्यालय न थे, पर बहुत सी स्त्रियों को: घर पर थोड़ी बहुत शिक्षा अवश्य दी जाती थी।

अँगरेज़ी शासन से गांवों का प्राचीन संगठन और देशी राज्य दोनों नष्ट हो रहे थे। इसलिए देश की सभी बातों में बाधाएँ पड़ रही थीं; पर तब भी इस समय तक शिक्षा का प्रबन्ध था। गाँव के शिक्षकों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए सन् १८१४ के एक 'खरीते' में कम्पनी के संचालक लिखते हैं कि

१ रेवरेंड की, एंशेंट इंडियन एजूकेशन, पृ० १४५–४६।

भारतवर्ष में यह संस्था बड़ी प्राचीन है, सब लोग इसको आदर की दृष्टि से देखते हैं। यथासम्भव इसकी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। सन् १८२२ से सन् १८३८ तक इस विषय में जो जांच हुई, उससे पता चलता है कि मदरास प्रान्त में स्कूल जाने योग्य बालकों की संख्या का छठवां हिस्सा और बम्बई में आठवां हिस्सा शिक्षा प्राप्त कर रहा था। बंगाल के एक ज़िले में तो जनसंख्या के १३ सैकड़ा से भी अधिक लोगों को शिक्षा मिल रही थी। रेवरेंड की लिखता है कि ब्रिटिश शासन के पहले भी इस तरह देश भर में शिक्षा का प्रबन्ध था।[1] परन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह शिक्षा समयानुकूल न थी। इन दिनों भारतवर्ष की दशा में बड़ा भारी परिवर्तन हो रहा था। अब वह हिमालय और सागरों से बन्द न था, उसका सम्बन्ध पाश्चात्य देशों से हो गया था, जहाँ विज्ञान की दिन प्रतिदिन उन्नति हो रही थी। ऐसी दशा में केवल पुराण, क़ुरान या व्याकरण की शिक्षा से काम चलनेवाला न था, अब भूगोल, इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र और विज्ञान की आवश्यकता थी।

अँगरेज़ी भाषा का प्रचार—बहुत दिनों तक तो कम्पनी ने शिक्षा की ओर ध्यान ही नहीं दिया। सन् १८१३ में पहले-पहल इसके लिए एक लाख रुपया मंज़ूर किया गया। अँगरेज़ी भाषा का प्रचार पहले पादरियों ने प्रारम्भ किया। केरी, मार्शमैन और वार्ड के उद्योग से श्रीरामपुर में एक कालेज स्थापित हुआ। सन् १८१६ में कलकत्ता में डेविड हेअर और राजा राममोहन राय की सहायता से 'हिन्दू कालेज' खोला गया। सन् १८३० में डफ़ ने एक और कालेज खोला। इन सब कालेजों में अँगरेज़ी भाषा द्वारा शिक्षा होती थी। परन्तु इस समय तक इस सम्बन्ध में सरकार की कोई नीति निर्धारित न थी। लार्ड बेंटिंक के समय में यह प्रश्न छिड़ गया कि किस भाषा द्वारा और कैसी शिक्षा होनी चाहिए।

इस पर दो दल हो गये। एक का कहना था कि संस्कृत, अरबी तथा फ़ारसी के साथ साथ देशी भाषाओं में सब विषयों की शिक्षा होनी चाहिए।

---

१ रेवरेंड की, ऐंशेंट इंडियन एजूकेशन, पृ० १४६-५५।

इसके नेता प्रिंसेप भाई और डाक्टर होरेस विल्सन थे। दूसरा दल अँगरेज़ी भाषा के पक्ष में था, जिसके लिए मैकाले, मेटकाफ़ और राममोहन राय आन्दोलन कर रहे थे। मैकाले, जिसको किसी पूर्वीय भाषा के एक अक्षर तक का ज्ञान नहीं था, सारे पूर्वीय साहित्य की हँसी उड़ा रहा था। उसकी राय में भारतवर्ष और अरब का कुल साहित्य यूरोप के किसी अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी भर भी नहीं था। उसका कहना था कि हिन्दुओं की ज्योतिष पर अँगरेज़ लड़कियों को हँसी आयगी। इतिहास और भूगोल का तो कुछ कहना ही नहीं है। पुराणों में राजाओं की हज़ारों वर्ष की आयु लिखी हुई है और क्षीरसागरों का वर्णन है। ऐसी शिक्षा में धन खर्च करना व्यर्थ है। अँगरेज़ी शासकों की भाषा है, व्यापार उसी के द्वारा होता है, वह ज्ञान का भांडार है। इसलिए अँगरेज़ी भाषा द्वारा ही शिक्षा होना आवश्यक है। अन्त में उसी के मत की विजय हुई और मार्च सन् १८३५ में गवर्नर-जनरल ने अपनी कौंसिल में यह निश्चित किया कि भारतवासियों में "यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रचार करना ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य है। ऐसी दशा में शिक्षा के लिए जो धन है उसका सबसे अच्छा उपयोग केवल अँगरेज़ी शिक्षा में ही हो सकता है।"

अँगरेज़ी शिक्षा का प्रभाव—कहा जाता है कि लार्ड बेंटिंक ने भारतवर्ष के साथ यह बड़ा भारी उपकार किया, उसने देश को अज्ञानता के अन्धकार से बचा लिया। पर वास्तव में उन दिनों इसका उद्देश्य दूसरा ही था। उस समय छोटे छोटे ओहदों पर अँगरेज़ी पढ़े हिन्दुस्तानियों की बड़ी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारतवासियों पर पाश्चात्य सभ्यता का आतंक जमाना था। अँगरेज़ी शिक्षा से कम्पनी को लेखकों की कमी न रही और अँगरेज़ी पढ़े हुए लोग बहुत सी बातों को भूलकर अपनी सभ्यता को तुच्छ समझने लगे। मैकाले ने तभी लिखा था कि इससे एक भी मूर्तिपूजक बाक़ी न रह जायगा। इस तरह राजनैतिक विजय के साथ साथ मानसिक विजय का भी प्रारम्भ हो गया। पहले बहुत दिनों तक इस शिक्षा का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा।

परन्तु अन्ततः इससे लाभ अवश्य हुआ। पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और इतिहास के विवेकपूर्ण अध्ययन से देश की बहुत सी बातों पर नया प्रकाश पड़ने लगा। धीरे धीरे राष्ट्रीयता का संचार होने लगा और राजनैतिक उसीनता दूर होने लगी। यदि अँगरेज़ी भाषा का अध्ययन अनिवार्य करके सब विषयों की शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा ही दी जाती, तो बिना किसी प्रकार की हानि के ये लाभ हो सकते थे। अँगरेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाकर भारतवर्ष का बड़ा अहित किया गया। यह प्रबन्ध बिलकुल अस्वाभाविक है। सच्ची शिक्षा केवल मातृभाषा द्वारा ही हो सकती है। दूसरी भाषा में शिक्षा मिलने के कारण भारत के अधिकांश विद्यार्थियों का पर्याप्त मानसिक विकास नहीं हो पाता है और न उनके विचारों में मौलिकता ही आती है। बहुत सा अमूल्य समय अँगरेज़ी सीखने में नष्ट हो जाता है। इस प्रबन्ध से देशी भाषाओं की उन्नति भी रुक गई। अनुवादों द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-भांडार का बहुत कुछ अंश देशी भाषाओं में आ सकता था, जैसा कि अन्य देशों में हुआ है। स्वयं अँगरेज़ी भाषा की इसी तरह उन्नति की गई है। ऐसा करने से बहुत कुछ लाभ हो सकता था। परन्तु उस समय तो उद्देश्य ही दूसरा था, जैसा कि मैकाले के शब्दों में दिखलाया जा चुका है।

बेंटिंक का इस्तीफ़ा—लार्ड बेंटिंक के समय में कलकत्ता में एक डाक्टरी का कालेज भी खोला गया और गंगा में स्टीमर चलने लगे। सन् १८३५ में वह स्वयं इस्तीफ़ा देकर इँगलैंड वापस चला गया। उसके सम्बन्ध में अँगरेज़ इतिहासकारों में बहुत मतभेद है। भत्ता और वेतन में कमी करने के कारण बहुत से अँगरेज़ उससे चिढ़े हुए थे, उन्होंने उसकी निन्दा की है। इतिहासकार थॉर्नटन की राय में उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिसके लिए उसकी प्रशंसा की जाय। इसके प्रतिकूल मार्शमैन का मत है कि उसने शासन में नया जीवन डाल दिया। भारतवर्ष के इतिहास में उसका समय सुधारों के लिए सदा प्रसिद्ध रहेगा। मैकाले तो उसको शासकों में आदर्श समझता था। उसकी राय में 'प्रजाहित शासन का मुख्य उद्देश्य

है' इस सिद्धान्त को वह कभी न भूला। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसको प्रजाहित का भी कुछ ध्यान था। इन दिनों सारे देश में शान्ति थी, युद्ध का कोई भय न था, इसलिए वह कुछ सुधार कर सकता था। सती-प्रथा के रोकने में उसने अवश्य साहस दिखलाया, पर इससे अँगरेज़ों का कुछ बनता बिगड़ता न था। प्रायः वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता था, जिससे जान पड़े कि उसको सदा प्रजा की चिन्ता रहती थी। लार्ड वेलेज़ली भी ऐसा ही करता था। यह गुण प्रायः सभी अँगरेज़ राजनीतिज्ञों में पाया जाता है। अफ़ग़ान-युद्ध का बीज उसी के समय में बोया गया, जिसका उसके जाने के बाद ही भयंकर परिणाम हुआ।

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय—यदि उस समय कोई भारतवासी था, जो देश की नई परिस्थिति को समझ सका था, तो वह राजा राममोहन राय था। संस्कृत, अरबी तथा फ़ारसी का वह बड़ा पंडित था। हिब्रू, ग्रीक, लैटिन तथा अँगरेज़ी का भी उसको अच्छा ज्ञान था। सूफ़ी मत तथा वेदान्त का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। तिब्बत जाकर उसने बौद्धधर्म का भी अध्ययन किया था। अँगरेज़ों से उसका बड़ा मेल था और वह उनका रहन-सहन भी पसन्द

करता था। हिन्दू धर्म के पाखंडवाद और कुलीनता का वह घोर शत्रु था। अपनी भावज को सती होते देखकर, उसने इस प्रथा को बन्द करवाने का प्रण कर लिया था। स्त्रियों को वह शिक्षा देकर स्वतंत्र करना चाहता था। समाचारपत्रों और सभाओं द्वारा उसने बड़ा आन्दोलन मचा रखा था। कट्टर हिन्दू और ईसाई दोनों ने उसके मार्ग में बाधा डालने का बड़ा प्रयत्न किया, पर वह बराबर डटा रहा। सन् १८३० में दिल्ली सम्राट् का वकील बनकर वह इँग्लैंड गया, वहीं सन् १८३३ में उसका देहान्त हो गया।

ब्रह्मसमाज—उन दिनों भारतवर्ष में ईसाई मत के प्रचार के लिए बड़े ज़ोरों से प्रयत्न हो रहा था। अँगरेज़ी शिक्षा मिलने पर हिन्दूधर्म की कुरीतियों को देखकर कुछ लोगों की उस ओर प्रवृत्ति हो जाती थी। राम-मोहन राय को इसका अनुभव हो रहा था। वह हिन्दूधर्म में सुधार करना चाहता था। साथ ही साथ वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर ज़ोर देकर मत-मतान्तरों के झगड़ों को हटाना चाहता और हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयों को एक करना चाहता था। इसी उद्देश्य से सन् १८२९ में उसने 'ब्रह्मसमाज' स्थापित किया। इसमें तीनों धर्मों के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का समावेश किया गया और सब भेद-भाव दूर कर दिये गये। नवयुवकों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और थोड़े ही दिनों में इसके सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गई। राममोहन राय के बाद इसमें भी कई एक दल हो गये और केशवचन्द्र सेन के समय से इसके एक दल पर पाश्चात्य रहन-सहन का बड़ा प्रभाव पड़ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस समाज ने वही काम किया, जो पन्द्रहवीं शताब्दी में गुरु नानक के सिख सम्प्रदाय ने किया था।

सर चार्ल्स मेटकाफ़—लार्ड बेंटिंक के चले जाने पर मेटकाफ़ कुछ दिनों तक गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा। ऐडम के समय में प्रेस का मुँह बन्द करने के लिए जो नियम बनाये गये थे, उन सबको इसने रद्द कर दिया और समाचारपत्रों को बहुत कुछ स्वतंत्रता दे दी। बेंटिंक

भी समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का पक्षपाती था, पर ऐडम के नियमों को रद्द करने का उसको साहस न हुआ था। मेटकाफ़ ने इस सम्बन्ध में किसी की भी पर्वाह न की। उसका यह कार्य संचालकों को पसन्द न आया। उसी को गवर्नर-जनरल बनाये रखने की बातचीत थी, वह छोड़ दी गई और वह मदरास का गवर्नर तक न बनाया गया। नये गवर्नर-जनरल आकलेंड के आ जाने पर वह इस्तीफ़ा देकर वापस चला गया। कुछ दिनों तक वह पश्चिमोत्तर प्रान्त का लेफ़्टिनेंट-गवर्नर भी रहा था। वह एक योग्य शासक था और ३८ वर्ष तक उसने भारतवर्ष में काम किया था।

चार्ल्स मेटकाफ़

परिच्छेद ११

पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा

लार्ड आकलेंड—मार्च सन् १८३६ में लार्ड आकलेंड गवर्नर-जनरल होकर भारतवर्ष पहुँचा। उसने लार्ड बेंटिंक की नीति का ही अनुकरण करना निश्चित किया। उसके समय में बम्बई और मदरास में डाक्टरी कालेज खोले गये। जिन विद्यालयों में अँगरेज़ी भाषा की पढ़ाई नहीं होती थी, उनको भी कुछ सहायता देना निश्चित किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा देशी भाषाओं में देने के लिए प्रबन्ध किया गया। इस तरह बेंटिंक की शिक्षा-नीति की भूलों का कुछ सुधार किया गया। इस समय तक यूरोपियन लोग दीवानी के मुक़दमों की अपील 'सुप्रीम कोर्ट' में करते थे। यह इँग्लेंड सरकार की अदालत थी।

आकलेंड

अब क़ानूनी मेम्बर मैकाले ने यह प्रस्ताव किया कि सब अपीलें कम्पनी की 'सदर दीवानी अदालत' में हुआ करें। कलकत्ता के गोरे व्यापारियों को यह बात बड़ी खटकी। जो अदालत काले आदमियों का निर्णय करती थी, वह भला गोरे आदमियों के निर्णय के योग्य कैसे हो सकती थी? इस 'काले क़ानून' के विरुद्ध बड़ा घोर आन्दोलन किया गया और मैकाले को बहुत कुछ बुरा-

भला कहा गया, परन्तु वह अपनी बात पर डटा रहा। अन्त में यह क़ानून पास हो गया।

पश्चिमोत्तर प्रान्त का दुर्भिक्ष—सन् १८३७ में उत्तरी भारत में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। कहा जाता है कि इसमें आठ लाख आदमी मर गये। सरकार की ओर से सहायता करने का प्रयत्न किया गया, जिसमें ३८ लाख रुपया खर्च हुआ। जल का कष्ट दूर करने के लिए गंगाजी से एक नहर निकालने का भी विचार किया गया और उसकी नाप शुरू कर दी गई।

देशी राज्य—सन् १८३७ में नसीरुद्दीन हैदर के मरने पर अवध में पादशाह बेगम ने कुछ उपद्रव किया। वह अपने पोते मुन्नाजान को गद्दी पर बिठलाना चाहती थी, परन्तु रेज़ीडेंट ने दोनों को क़ैद करके चुनार भेज दिया और नसीरुद्दीन के चचा मुहम्मदअली को मसनद पर बिठला दिया। इसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिससे फ़ौज बढ़ा दी गई और यह निश्चित किया गया कि यदि किसी ज़िले का प्रबन्ध ठीक न होगा तो उसमें शासन के लिए अँगरेज़ अफ़सर रख दिया जायगा, जो कुल हिसाब समझाया करेगा। अवध के साथ यह बड़ी ज्यादती थी। लार्ड वेलेज़ली के समय में उसकी रक्षा का पूरा भार ग्रहण किया गया था और आधा राज्य लेकर यह स्पष्ट कह दिया गया था कि फिर अधिक रुपया न मांगा जायगा, तब भी उस पर १६ लाख रुपये साल का नया बोझ लाद दिया गया। संचालकों ने भी इसको अनुचित समझकर मंजूर नहीं किया। इस पर मुहम्मदअली को केवल इतना ही लिख दिया कि उससे अब रुपया न लिया जायगा। कप्तान बर्ड का कहना है कि मुहम्मदअली ने शासन-प्रबन्ध ठीक करने का प्रयत्न किया और खेती तथा व्यापार की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया।[1]

हैदराबाद से सहायक सेना हटाने का विचार किया गया, क्योंकि इसके खर्च के लिए राज्य का काफ़ी भाग मिल चुका था और निज़ाम से कहा गया कि वह अपनी सेना से ही शासन का प्रबन्ध करे। इस सेना के अंगरेज़

१ डकॉयटी इन एक्सेलसिस, पृ० ९३।

अफ़सरों को उसे ३८ लाख रुपया साल वेतन देना पड़ता था। इस तरह हस्तक्षेप न करने की नीति का दिखलावा करके उससे रुपया लिया जाने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उस पर क़र्ज़ बढ़ने लगा।[1] सन् १८४२ में कर्नूल के नवाब पर बहुत से दोष लगाये गये और उसका राज्य छीनकर कर्नूल का ज़िला बना दिया गया। सन् १८१६ में सतारा के राजा के साथ बड़ी उदारता दिखलाई गई थी और उसको पेशवा के राज्य का कुछ भाग दिया गया था। अब कहा जाने लगा कि राजा प्रतापसिंह अँगरेज़ों के विरुद्ध पुर्तगालियों से बातचीत कर रहा है, नागपुर के भागे हुए राजा अप्पा साहब को बुलाना चाहता है और सेना को भड़का रहा है। उसके शासन में भी बहुत से दोष दिखलाये गये। सन् १८३६ में वह गद्दी से उतार कर बनारस भेज दिया गया और उसका भाई राजा बना दिया गया। प्रतापसिंह एक योग्य शासक था। वह अँगरेज़ों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था। यही उसका अपराध था। उसके साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया गया।[2] हरीराव होलकर को भी धमकी दी गई कि यदि वह गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार शासन का प्रबन्ध न करेगा, तो उसका भी राज्य छीन लिया जायगा।

रूस की समस्या—लार्ड मिंटो के समय में फ़ारस के साथ परस्पर रक्षा की सन्धि की गई थी, पर जब रूस ने फ़ारस को दबाना शुरू किया, तब अँगरेज़ों ने सहायता देने से इनकार कर दिया। झगड़ों से बचने के लिए फ़ारस के शाह को कुछ रुपया देकर सन्धि की वह शर्त ही हटा दी गई।[3] अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पर उपद्रव मचाये रखने के लिए फ़ारस से मित्रता की गई थी, वह मतलब अब सिद्ध हो चुका था, इसलिए फ़ारस को प्रसन्न रखने की विशेष आवश्यकता न थी। इस नीति का परिणाम यह

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १७८।

२ बसु, स्टोरी ऑफ़ सतारा।

३ ट्रटर, लार्ड आकलेंड (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज़) पृ० ३८-३९।

हुआ कि फ़ारस ने रूस के साथ मेल कर लिया और उसकी सहायता से अफ़ग़ानिस्तान की पश्चिमी सीमा पर हेरात का घेरा डाल दिया। इस पर इँग्लैंड के राजनीतिज्ञ घबरा उठे। उन्होंने समझा कि यह तो भारत पर आक्रमण करने की तैयारी हो रही है। पर वास्तव में यह भय निराधार था, क्योंकि अफ़ग़ानिस्तान अँगरेज़ी राज्य से बिलकुल अलग था। दोनों के बीच में पंजाब, भावलपुर, सिन्ध और राजपूताना के राज्य थे, जिनको लांघकर अँगरेज़ों के राज्य पर किसी का आक्रमण करना सम्भव न था। इसका कुछ भी ध्यान न किया गया और हेरात को "भारत की पश्चिमोत्तर सीमा का द्वार" मानकर अफ़ग़ानिस्तान की राजनीति में हस्तक्षेप करना निश्चित कर लिया गया। लार्ड आकलैंड ने बिना अधिक सोच-विचार के इसी नीति पर काम करना प्रारम्भ कर दिया।

अफ़ग़ानिस्तान में हस्तक्षेप—सन् १८०९ में अहमदशाह दुर्रानी का पोता शाहशुजा काबुल से निकाल दिया गया। कई वर्षों तक वहां आपस में बहुत झगड़ा चलता रहा। अन्त में सन् १८२६ से दोस्तमुहम्मदख़ां, जो एक बारकज़ई सरदार था, राज्य करने लगा। शाहशुजा पहले महाराजा रणजीतसिंह की निगरानी में रहा, फिर अँगरेज़ों की शरण में आकर लुधियाना में रहने लगा। यहां उसको पेंशन भी दी जाने लगी। इस बला को पालने की कोई आवश्यकता न थी, पर अफ़ग़ानिस्तान में हस्तक्षेप करने के लिए यह अच्छा उपाय मिल गया और उसके लिए भारत के ख़ज़ाने का रुपया ख़र्च किया जाने लगा। लार्ड आकलैंड के आने पर बर्न्स नाम का एक अँगरेज़ व्यापारिक सन्धि करने के लिए काबुल भेजा गया, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राजनैतिक था। उन दिनों अफ़ग़ानिस्तान के साथ कोई व्यापार न था। बर्न्स स्वयं लिखता है कि वह केवल रंग-ढंग देखने के लिए वहां गया था। परन्तु दोस्तमुहम्मद को फांसना सहज न था; वह भी बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ था और बड़ी योग्यता के साथ उद्दंड काबुलियों पर शासन कर रहा था। उसने कहा कि जब तक रणजीतसिंह से उसको पेशावर नहीं दिला दिया जायगा, तब तक कोई सन्धि नहीं हो सकती। इसके उत्तर में

उससे कहा गया कि अन्य स्वतंत्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करना ब्रिटिश सरकार का नियम नहीं है। अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने से रणजीतसिंह को रोकने का अवश्य प्रयत्न किया जायगा। दोस्तमुहम्मद के दरबार में इस उत्तर का बड़ा मज़ाक़ उड़ाया गया; क्योंकि सिखों के आक्रमण की कोई सम्भावना न थी।[1]

बर्न्स

इन्हीं दिनों रूस का भी एक दूत काबुल पहुँच गया और दोस्तमुहम्मद के भाई, जो क़न्दहार में थे, फ़ारस से मेल करने की बातचीत करने लगे। दोस्तमुहम्मद अँगरेज़ों से बैर न करना चाहता था। लार्ड आकलेंड के आने पर उसने लिखा था कि "आप मुझे और मेरे राज्य को अपना ही समझें।" बर्न्स भी उसकी योग्यता देखकर गवर्नर-जनरल को बराबर लिख रहा था कि उसके साथ मित्रता रखने ही में लाभ है। परन्तु लार्ड आकलेंड पर उसके सेक्रेटरी मैकनाटन और कालविन का रंग जमा हुआ था। इन दोनों की सलाह से बर्न्स की बात न मानकर शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया गया। दोस्तमुहम्मद ऐसे चतुर शासक से पार पाना सहज न था, पर शाहशुजा कम्पनी का वेतनभोगी ही था, इसलिए उसके समय में ख़ूब मनमानी हो सकती थी।

युद्ध की घोषणा—अँगरेज़ों से निराश होकर दोस्तमुहम्मद ने रूसी दूत की ओर ध्यान दिया। उसकी शत्रुता का यह अच्छा प्रमाण मिल

---

१ ट्रॉटर, आकलेंड, पृ० ५१।

गया और युद्ध का प्रबन्ध होने लगा। मैकनाटन रणजीतसिंह के पास लाहोर भेजा गया। महाराजा का स्वास्थ्य इन दिनों बिलकुल बिगड़ चुका था और उसकी अवस्था भी बहुत हो चुकी थी। पहले उसको इस बेमतलब के युद्ध में पड़ने में संकोच हुआ। वह जानता था कि काबुल में अँगरेज़ों का पैर जमाना उसके राज्य के लिए हितकर न होगा। पर जब उसने देखा कि अँगरेज़ बिना उसकी सहायता के भी शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाने के लिए तुले हुए हैं, तब उसने साथ देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद शाहशुजा समझा-बुझाकर राज़ी किया गया। उसको भी इस नीति की सफलता में बड़ा सन्देह था। वह जानता था कि अभिमानी अफ़ग़ान विदेशियों का हस्तक्षेप कभी सहन न करेंगे। इस बात को उसने अच्छी तरह से स्पष्ट भी कर दिया था। इतने ही में फ़ारस के शाह ने हेरात का घेरा उठा लिया और काबुल से रूसी दूत भी बिना किसी सफलता के बिदा हो गया। इस तरह युद्ध के जो दो मुख्य कारण थे जाते रहे, पर तब भी शिमला से अक्तूबर सन् १८३८ में युद्ध की घोषणा कर दी गई। इसमें कौंसिल से भी परामर्श नहीं किया गया।

इस घोषणा तथा पार्लमेंट के सामने जो काग़ज़ात रखे गये उनमें बहुत सी बातें बना-चुनाकर लिख दी गईं। कहा गया कि दोस्तमुहम्मद हमारे पुराने मित्र रणजीतसिंह पर सहसा आक्रमण करनेवाला है और वह पेशावर छीनना चाहता है। शाहशुजा अफ़ग़ानिस्तान में बड़ा लोकप्रिय है और सब लोग उसी को गद्दी पर बिठलाना चाहते हैं। गवर्नर-जनरल की नीति बहुतों के समझ में न आ रही थी। लार्ड वेलेज़ली को ऐसे देश पर, जिसमें सिवा "चट्टान, बालू और बरफ़" के कुछ भी नहीं है, अधिकार करने के विचार पर हँसी आ रही थी। वेलिंगटन का मत था कि एक बार सिन्ध नदी पार करके फिर अफ़ग़ानिस्तान से पिंड छुटाना मुश्किल हो जायगा। लार्ड बेंटिंक को आश्चर्य हो रहा था कि शान्तिप्रिय लार्ड आकलेंड ने युद्ध कैसे छेड़ दिया। भारत के प्रधान सेनापति फ़ेन का कहना था कि भारतवर्ष में जो चाहे कर लो पर पश्चिम की ओर बढ़ना ठीक नहीं है।

मेटकाफ़ पहले ही से सिन्ध नदी पार करने की नीति के विरुद्ध था। उसका मत था कि यह जान-बूझकर भारतवर्ष की ओर रूसियों का ध्यान आकर्षित करना है। कम्पनी के संचालक भी इसके विरुद्ध थे। पर लार्ड आकलेंड को इन सबकी पर्वाह न थी। इँग्लेंड-सरकार उसका साथ दे रही थी, भारत की सेना युद्ध के लिए आतुर हो रही थी।

पहले शाहशुजा और सिखों को केवल आर्थिक सहायता देने का विचार था, अब उनके साथ अँगरेज़ी सेना भी भेजना निश्चित किया गया। फ़ीरोज़पुर में लार्ड आकलेंड और रणजीतसिंह की बड़े धूमधाम के साथ भेंट हुई और बंगाल तथा बम्बई की सेनाओं को काबुल की ओर बढ़ने की आज्ञा दे दी गई। पंजाब होकर अँगरेज़ी सेना जाने के लिए रणजीतसिंह की अनुमति न मिल सकती थी, इसलिए यह सेना सिन्ध होकर भेजी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि सिन्ध की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया गया।

सिन्ध के साथ पहले जो व्यापारिक सन्धि की गई थी, उसमें स्पष्ट कह दिया गया था कि सिन्ध नदी के द्वारा कोई सेना न जायगी और सिन्ध में कोई अँगरेज़ न बसने पावेगा। पर अब सिन्ध नदी के मार्ग से सेना भेजी गई और शिकारपुर तथा बक्खर पर भी ज़बरदस्ती अधिकार कर लिया गया। अमीरों पर बहुत से अपराध लगाये गये, उन्हें राज्य छीन लेने का भय दिखलाया गया और सन् १८३९ में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार ३ लाख रुपया सालाना सेना का खर्च देने के लिए अमीरों को मजबूर किया गया। भावलपुर के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया।

पहली विजय—मार्ग में सेना को बड़ा कष्ट हुआ। रसद का कोई प्रबन्ध न था, पानी की भी बड़ी कमी थी। परन्तु बोलन होती हुई जैसे-तैसे यह सेना कन्दहार पहुँची। वहां से ग़ज़नी पर अधिकार कर लिया गया। यह समाचार मिलने पर दोस्तमुहम्मद काबुल से भाग निकला और अगस्त सन् १८३९ में शाहशुजा गद्दी पर बिठला दिया गया। उसका नगर-प्रवेश एक "मातमी जलूस" जान पड़ता था, किसी ने भी उसका स्वागत नहीं किया। इस विजय के लिए इँग्लेंड-सरकार ने गवर्नर-जनरल और उसके अफ़सरों को

बड़ी प्रशंसा की। इस मामले में दोस्तमुहम्मद के साथ पूरा अन्याय किया गया। स्वयं मैकनाटन ने भी इसको माना है। वह लिखता है कि हमने दोस्तमुहम्मद को, जिसने हमारा कुछ बिगाड़ा नहीं था, अपनी नीति का शिकार बनाकर निकाल दिया।[1]

शाहशुजा

युद्ध की घोषणा में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाकर अँगरेज़ी सेना वापस चली आयगी, पर तब भी दस हज़ार सेना अफ़ग़ानिस्तान में छोड़ दी गई। मैकनाटन शाहशुजा के दरबार में अँगरेज़ों का दूत बनाया गया, बर्न्स भी साथ ही था। इन दोनों ने अमीर के हरएक काम में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। अँगरेज़ अफ़सरों की सलाह से शासन होने लगा और गोरे सिपाही पुलिस का काम करने लगे। भारत का ख़ज़ाना अफ़ग़ानियों को सन्तुष्ट रखने के लिए लुटाया जाने लगा। सिखों को भी नाराज़ कर दिया गया। उनसे पेशावर छीन लेने का प्रयत्न किया जाने लगा और उन पर बहुत से अपराध लगाये जाने लगे। दोस्तमुहम्मद भी अँगरेज़ों की शरण में आ गया और वह शाहशुजा की जगह पर भारत में रहने लगा। अब अँगरेज़ों ने समझ लिया कि उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं रही और वे मनमानी करने लगे।

भीषण बदला—अफ़ग़ानिस्तान भारतवर्ष न था। वहाँ के निवासी "काफ़िर फिरंगियों" का हस्तक्षेप सहन न कर सके। दोस्तमुहम्मद के बेटे

---

१ ला, इंडिया अंडर लार्ड एलिनबरा, भूमिका, पृ० २२।

अकबरख़ाँ की अध्यक्षता में वे सब के सब बिगड़ पड़े। इधर अँगरेज़ अफ़सर आपस ही में लड़ रहे थे, बहुत से दुराचरण में पड़े थे, कोई भी किसी की न सुनता था। सैनिक व्यवस्था बिगड़ रही थी। सुरक्षित क़िला छोड़कर खुले मैदान में छावनी पड़ी थी। शाहशुजा बराबर सचेत कर रहा था, पर उसकी कौन सुनता था? रसद की बड़ी कमी थी, बेढब ठंड पड़ रही थी, ख़ज़ाना भी ख़ाली था। इतने ही में दूसरी नवम्बर सन् १८४१ को बर्न्स मार डाला गया, तब भी मैकनाटन की आँखें न खुलीं और रक्षा का कोई भी प्रबन्ध न किया गया।

विद्रोहियों का ज़ोर बढ़ता गया। कोई उपाय न देखकर मैकनाटन ने अफ़ग़ानिस्तान ख़ाली कर देना स्वीकार कर लिया और दोस्तमुहम्मद को भी वापस भेज देने के लिए राज़ी हो गया। इस पर अकबरख़ाँ ने अँगरेज़ों की रक्षा करने का वचन दे दिया। परन्तु मैकनाटन अपनी बात पर क़ायम न रहा। वह छिपे छिपे अपने मुंशी मोहनलाल द्वारा अकबरख़ाँ के साथियों को फोड़ने लगा। पहले अकबरख़ाँ को इसका विश्वास न हुआ, परन्तु उसने एक चाल से सब बातों का पता लगा लिया और मैकनाटन को मुलाक़ात करने के लिए बुलाया। वह मैकनाटन को केवल क़ैद करना चाहता था, परन्तु मैकनाटन की बातों से उसको क्रोध आ गया। इतने ही में किसी ने कहा कि अँगरेज़ी सेना आ रही है। इस पर उसने मैकनाटन को गोली से मार

अकबरख़ाँ

दिया।[१] इसके बाद ता० १ जनवरी सन् १८४२ को जैसे-तैसे समझौता करके, तोप, बन्दूक, गोली, बारूद सब सामान छोड़-छाड़कर अँगरेज़ी सेना काबुल से निकल भागी। बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और नौकर-चाकर सब मिलाकर इस सेना में १६५०० मनुष्य थे। इनमें से ता० १३ जनवरी को केवल डाक्टर ब्राइडन बचकर जलालाबाद पहुँचा। बहुत से शीत और मार्ग के कष्ट से मर गये। बहुतों को, अकबरखां के मना करने पर भी, सीमा पर के उद्दंड अफ़ग़ानियों ने पहाड़ों के तंग रास्तों में मार डाला। कई एक अफ़सर कैद कर लिये गये, बाल-बच्चे तथा स्त्रियां अकबरखां की निगरानी में छोड़ दी गईं। इस तरह काबुल की अँगरेज़ी सेना का अन्त हो गया।

आकलेंड का दोष—इस युद्ध के लिए लार्ड आकलेंड को बहुत कुछ दोष दिया गया है, पर वह केवल इँग्लेंड-सरकार की आज्ञा का पालन कर रहा था। वास्तव में इसका बीज लार्ड बेंटिंक, जिसको अब आकलेंड की नीति पर आश्चर्य्य हो रहा था, बो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड आकलेंड में स्वतंत्र विचार की शक्ति न थी, वह अपने मंत्रियों के हाथ में था। पर इसमें उसका या उसके सलाहकारों ही का क्या दोष था? वे लार्ड वेलेज़ली और हेस्टिंग्ज़ के बताये हुए मार्ग पर चल रहे थे। यदि भारतवर्ष के स्वतंत्र राज्यों में हस्तक्षेप करना अनुचित न था, तो सिन्ध नदी पार उसी नीति के अनुसरण करने में क्या दोष था? लोकमत की कुछ भी पर्वाह न करके अयोग्य शासक का पक्ष लेना, उसके राज्य में अपनी सेना रखकर शासन में हस्तक्षेप करना और अन्त में उसके मत्थे सब दोषों को मढ़कर राज्य छीन लेना अँगरेज़ों की मुख्य नीति रही है। लार्ड आकलेंड और उसके सलाहकार इसी नीति पर चल रहे थे। यदि उनकी कोई भूल थी, तो इतनी ही कि उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान को भी भारतवर्ष समझ लिया था। सफलता होने से लार्ड आकलेंड की भी गणना साम्राज्य के निर्माण करनेवालों में हुई होती, इसमें सन्देह नहीं है।

१ जान के, दि वार इन अफ़ग़ानिस्तान, जि० २, पृ० १६४। ट्राटर, आकलेंड, पृ० १५६।

लार्ड एलिनबरा—फ़रवरी सन् १८४२ में आकलेंड वापस चला गया और एलिनबरा गवर्नर-जनरल होकर आया। यह तीन बार 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' का सभापति रह चुका था। इँग्लेंड की रानी विक्टोरिया की इस पर बड़ी कृपा थी। अफ़ग़ान-युद्ध की नीति का यह घोर विरोधी था। इसी लिए संचालकों ने इसको भारतवर्ष भेजा था। इस युद्ध में पानी की तरह धन ख़र्च हो रहा था और कोई अन्त न दिखलाई देता था। एलिनबरा पहले काबुल पर "एक सप्ताह" भर के लिए भी अधिकार करके अँगरेज़ी सेना की लज्जा मिटाना चाहता था। पर जब उसको ग़ज़नी छिन जाने का समाचार मिला, तब उसने अफ़ग़ानिस्तान एकदम ख़ाली कर देने की आज्ञा दे दी। अकबरख़ां के हाथ में बहुत से अँगरेज़ क़ैदी थे, उनका भी उसने कोई ख़याल नहीं किया। यह बात अँगरेज़ अफ़सरों को बहुत खटकी। तब उसने जनरल पोलक और नाट को, जो अफ़ग़ानिस्तान में थे, लिख दिया कि जैसा उचित जान पड़े वैसा करो। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि इस तरह एलिनबरा ने अपनी ज़िम्मेदारी टाल दी। एलिनबरा का अपने समर्थन में कहना है कि उसने स्थानीय अफ़सरों को केवल स्वतंत्रता दे दी।[1]

एलिनबरा।

युद्ध की समाप्ति—जनरल पोलक ने जलालाबाद की रक्षा की थी और जनरल नाट कन्दहार में डटा पड़ा था। अब ये दोनों काबुल की ओर

१ ला, इंडिया अंडर लार्ड एलिनबरा।

बढ़े। सिखों को जलालाबाद देने का लालच दिया गया और उनको खूब धार्मिक जोश दिलाया गया। पहले ग़ज़नी पर अधिकार कर लिया गया और वहाँ का क़िला तथा नगर नष्ट कर दिया गया। सितम्बर सन् १८४२ में काबुल पर भी अधिकार हो गया। वहाँ के निरपराध दूकानदारों को लूटकर और दो मस्जिदें तथा चार बाज़ारें, जो "एशिया में अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थीं," नष्ट करके हार का बदला लिया गया।[1] जिन्होंने अँगरेज़ों की दुर्दशा की थी, उनका कुछ भी करते न बन पड़ा। उलटे उनको बहुत सा रुपया देकर क़ैदियों को छुड़ाया गया। अकबरख़ाँ को, जिसने अँगरेज़ क़ैदियों को बड़ी अच्छी तरह रखा था, पकड़े जाने पर मैकनाटन की हत्या का दंड देने की आज्ञा थी। अब उसी से समझौता किया गया और अफ़ग़ानिस्तान ख़ाली करके दोस्त मुहम्मद को वापस कर देने का वचन दिया गया। शाहशुजा को अपने प्राण गवाँकर अँगरेज़ों की सहायता से राज्य करने का फल पहले ही मिल चुका था। अफ़ग़ानिस्तान में रहने का अब अँगरेज़ों को साहस न था।

दोस्तमुहम्मद

सोमनाथ का फाटक—कहा जाता है कि महमूद सोमनाथ के मन्दिर में लगा हुआ चन्दन का फाटक ग़ज़नी ले गया था और यह वहाँ उसके मक़बरे में लगा था। लार्ड एलिनबरा ने उस फाटक को भारतवर्ष लाने की आज्ञा दी, पर

१ जान के, दि वार इन अफ़ग़ानिस्तान, जि० २, पृ० ६३८-३९।

जो फाटक लाया गया वह दूसरा ही था। इतने दिनों की भूली हुई बात का स्मरण दिलाकर भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर भेदभाव को जागृत करने का यह प्रयत्न किया गया। लार्ड एलिनबरा इसको बड़ी धूमधाम से सोमनाथ ले जाना चाहता था, परन्तु इँग्लेंड में इसका बड़ा विरोध किया गया। इस पर यह विचार छोड़ दिया गया। यह फाटक आजकल आगरा के क़िले में पड़ा हुआ सड़ रहा है। अफ़ग़ानिस्तान से लौटी हुई सेना का फ़ीरोज़पुर में बड़े समारोह के साथ स्वागत करने का प्रयत्न किया गया। लार्ड एलिनबरा इसमें दोस्तमुहम्मद को भी शामिल करना चाहता था। उस अभिमानी शासक पर इसका प्रभाव क्या होता, जब यह पता चला, तब यह विचार भी छोड़ दिया गया। स्वागत के लिए महीनों से हाथियों को सलामी करना सिखलाया गया था, पर ठीक समय पर उन्होंने इससे इनकार कर दिया, जिससे सारा मज़ा किरकिरा हो गया। नाममात्र की विजय का इस अपमान-सूचक ढँग से मनाया जाना बहुतों ने पसन्द नहीं किया।

सिन्ध का शिकार—इस युद्ध में बहुत सा धन ख़र्च हुआ था, जिसकी पूर्ति करनी थी। अँगरेज़ों की बदनामी भी बहुत हुई थी, उसको किसी न किसी तरह मिटाना था। इसी लिए अब सिन्ध का शिकार करना निश्चित किया गया। इसमें एक यह भी लाभ देखा गया कि सिन्ध नदी पर, जो अकबर के शब्दों में "दिल्ली की खाई" थी, अधिकार हो जाने से पंजाब को भी दबाने का अवसर मिल जायगा। सिन्ध के साथ पहले ही से अन्याय किया गया था। यहां बिलोचियों का राज्य था, जिनमें हैदराबाद, मीरपुर और ख़ैरपुर के मुख्य घराने थे, जो अमीर कहलाते थे। सन् १८०६ में इनसे केवल फ़्रांसीसियों को अलग रखने के लिए कहा गया था। सन् १८३१ में इनकी इच्छा के विरुद्ध रणजीतसिंह को उपहार ले जाने का बहाना करके बर्न्स सिन्ध नदी के मार्ग से लाहोर भेजा गया। तभी एक बिलोची ने कह दिया था कि "बस अब हो चुका, अँगरेज़ों ने हमारे देश के मार्ग को देख लिया।" परन्तु अँगरेज़ों के विश्वास दिलाने पर कि सिन्ध नदी से सिवा व्यापार के और कोई सैनिक लाभ न उठाया जायगा, अमीरों ने व्यापार करने की आज्ञा दे दी थी।

सन् १८३८ में शाहशुजा और रणजीतसिंह के साथ जो समझौता किया गया, उसमें सिन्ध का कुछ भी ध्यान न रखा गया और उन दोनों को सिन्ध से २० लाख रुपया दिलवा देने का वचन दे दिया गया। सन् १८३९ में पिछली सन्धि के विरुद्ध सिन्ध नदी से अफ़ग़ानिस्तान सेना भेज दी गई, बक्खर पर अधिकार कर लिया गया और ३ लाख रुपया साल सेना का खर्च भी अमीरों के मत्थे मढ़ दिया गया। उनसे कहा गया कि आवश्यकता के लिए कोई नियम नहीं है। समय पड़ने पर मित्रों की सहायता करनी चाहिए। इस पर मीर नूरमुहम्मद ने ठीक ही कहा कि अँगरेज़ों के "मित्र" शब्द का अर्थ उसकी समझ में कभी न आयगा।[1] अफ़ग़ानिस्तान में अँगरेज़ों पर विपत्ति पड़ने के समय में ये अमीर बराबर उनकी सहायता करते रहे थे। पर इसका भी कुछ विचार न किया गया और सर चार्ल्स नेपियर गवर्नर-जनरल का प्रतिनिधि बनाकर सिन्ध भेजा गया, जो हर एक बात में हस्तक्षेप करने लगा।

मियानी का युद्ध—अमीरों पर तरह तरह के दोष लगाये गये और एक नई सन्धि करने के लिए उन्हें मजबूर किया गया। इसके अनुसार सैनिक खर्च के लिए कुछ स्थान ले लिये गये और सिन्ध में अँगरेज़ों का सिक्का चला दिया गया। जिन स्थानों के लेने की बातचीत थी, सन्धि पर हस्ताक्षर होने के पहले ही उन पर अधिकार कर लिया गया और अमीरों को डराने के लिए इमामगढ़ का प्रसिद्ध क़िला नष्ट कर डाला गया। अमीरों ने सन्धि पर तो हस्ताक्षर कर दिये परन्तु यह स्पष्ट कह दिया कि उद्दंड बिलोची इस अपमान को सहन न कर सकेंगे। उनकी वे ज़िम्मेदारी नहीं ले सकते। इस घटना के तीसरे ही दिन कुछ बिलोचियों ने बिगड़कर रेज़ीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। फिर क्या था, तीन हज़ार सेना लेकर नेपियर पहुँच गया। अमीरों की बाईस हज़ार सेना थी, बिलोची बड़ी वीरता से लड़े, पर तब भी उनकी हार हुई। रिचर्ड बर्टन लिखता है कि यदि कभी इसकी जांच की जाय कि गुप्त रीति

---

१ लुतफ़ुल्ला, आटोबायग्रैफ़ी, सन् १८५७, पृ० २९५।

से कितना रुपया उनके अफ़सरों को दिया गया तो अँगरेज़ों की विजय के कारणों का पता लग सकता है।[१] लूट में कोई कसर न रखी गई। इसमें से ७० हज़ार पौंड नेपियर को मिले। बिलोचियों के विद्रोह में अमीरों का कितना दोष था, इसकी पूरी जाँच भी नहीं की गई और वे गिरफ़्तार करके बम्बई भेज दिये गये। सिन्ध अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया और चार्ल्स नेपियर वहाँ का शासक बना दिया गया।

इस तरह सिन्ध ले लेने का अँगरेज़ों को कोई अधिकार न था, इसको स्वयं नेपियर ने भी स्वीकार किया है। वह लिखता है कि "हमें सिन्ध लेने का कोई अधिकार नहीं है, तब भी हम ऐसा करेंगे" क्योंकि यह "बड़ा लाभदायक" होगा। इसमें "धूर्तता" की गई, इसको भी मानने की "धृष्टता" उसने की है।[२] संचालकों का भी ऐसा ही मत था। परन्तु यह सब होते हुए भी सिन्ध को लौटालने के लिए कोई भी तैयार न था। इस ज़बरदस्ती के समर्थन में कहा जाता है कि अन्ततः इससे वहाँ की प्रजा का लाभ ही हुआ। यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि इस मामले में अँगरेज़ों का उद्देश्य काबुल की लज्जा मिटाना न था। कई कारणों से सिन्ध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेना अनिवार्य हो गया था[३]।

ग्वालियर का झगड़ा—सिन्धिया इस समय भी "थोड़ा बहुत स्वतंत्र था।" उसके साथ कोई सहायक सन्धि न थी और न उसके राज्य की गणना अधीन राज्यों में थी। मेजर क्लोज़ के शब्दों में "वह स्वाधीन था," उसके साथ "कई एक सन्धियां थीं, पर उनसे उसकी स्वतंत्रता नष्ट न होती थी।" यह स्वतंत्रता गवर्नर-जनरल की आँखों में खटक रही थी। सिन्धिया के पास इस समय भी ४० हज़ार अच्छी सेना थी। गवर्नर-जनरल की राय में, सतलज नदी से थोड़ी दूर पर, जहाँ सिखों की ७० हज़ार सेना "विजय

१ लाइफ़ ऑफ़ रिचर्ड बर्टन, पृ० १८१। बसु, जि० ५, पृ० १०५।

२ लाइफ़ ऑफ़ जनरल नेपियर, जि० २, पृ० २१८।

३ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० ५, पृ० ५३८-३९।

के मद में मस्त" और "लड़ाई तथा लूट के लिए उत्सुक" पड़ी थी, इस सेना का रहना उचित न था। इस तरह उसकी दृष्टि पंजाब और ग्वालियर दोनों ही पर थी। ग्वालियर की शक्ति नष्ट करने का एक अच्छा अवसर मिल गया।

सन् १८४३ में जंकोजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई और एक नौ वर्ष का बालक गोद लेकर गद्दी पर बिठलाया गया। एलिनबरा ने दबाव डालकर मामा साहब को उसका संरक्षक बनवा दिया, पर ग्वालियरवालों ने थोड़े ही दिनों में उसे निकाल बाहर किया और दादा खासगीवाला को संरक्षक चुना। दरबारियों की इस धृष्टता को अभिमानी एलिनबरा सहन न कर सका। नये संरक्षक पर कितने ही अपराध लगाये गये। रेज़ीडेंट को गवर्नर-जनरल का यह अकारण हस्तक्षेप बहुत पसन्द न था, इसलिए वह अपने पद से हटा दिया गया और कर्नल स्लीमैन रेज़ीडेंट बनाया गया। अधिक दबाव डालने पर दरबार ने दादा साहब को भी गवर्नर-जनरल के हवाले कर दिया, पर तब भी वह सेना लेकर, चम्बल पार उतर आया। सिन्धिया की सेना ने इसको अपने राज्य पर आक्रमण समझा। महाराजपुर और पनियर नामक दो स्थानों पर एक ही दिन युद्ध हुआ। ऐसे युद्धों में जो परिणाम होता था वही हुआ। इन दिनों सिन्ध के सम्बन्ध में एलिनबरा की नीति की तीव्र आलोचना हो रही थी। यदि ऐसा न होता, तो शायद सिन्धिया का राज्य भी ले लिया जाता। अन्त में गवर्नर-जनरल ने "दया करके" राज्य वापस कर दिया। नई सन्धि से जो कुछ स्वतंत्रता थी, वह सब जाती रही और सेना भी तोड़ दी गई।

पंजाब पर दृष्टि—एलिनबरा की पंजाब पर पूरी दृष्टि थी। रणजीतसिंह के मरने से वहाँ की दशा बिगड़ रही थी। सिखों को जलालाबाद देकर वह उनकी सेना को पश्चिम की ओर हटाना चाहता था। काबुल की तरफ़ बढ़ने के लिए भी वह उनको भड़का रहा था। अपने पत्रों में वह लिखता है कि पंजाब मेरे पैरों तले है, पर अभी समय नहीं आया है। वहाँ आपस की फूट से वही हो रहा है जो हम चाहते हैं। यदि सन् १८४५

इन शब्दों और उसके कार्यों में कितना अन्तर था ? परन्तु इनसे उन दिनों भी सरकार के प्रति जो भाव था, वह अवश्य प्रकट हो रहा है।

सन् १८३३ के एक भाषण में एलिनबरा का कहना था कि राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति हिन्दुस्तानियों के हाथ में न देने ही से भारत में हमारा साम्राज्य स्थापित रह सकता है। इसका ध्यान रखते हुए प्रजाहित के लिए जो कुछ बन पड़े करना चाहिए। वास्तव में इसी नीति के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया गया। सन् १८४३ में दासता की प्रथा उठा दी गई। सरकार की ओर से लाटरी डालकर रुपया इकट्ठा करने की रीति भी बन्द कर दी गई। शासन के भिन्न भिन्न विभाग सेक्रेटरियों में बांट दिये गये और एक 'अर्थसदस्य' भी नियुक्त किया गया। पुलिस की दशा भी सुधारी गई और थानेदारों का वेतन कुछ बढ़ा दिया गया।

कम्पनी के संचालक उसकी नीति से सन्तुष्ट न थे। नौकरी के मामलों में वह उनकी न सुनता था। लार्ड वेलेज़ली की तरह वह भी उनका निरादर करता था। उसे बड़ा अभिमान था और वह बिना सोचे-विचारे बड़ी शान के घोषणा-पत्र निकाला करता था, जिनका प्रभाव अच्छा न पड़ता था। लार्ड वेलेज़ली और वेलिंगटन उसके बड़े सलाहकार थे। उनकी राय में गवर्नर-जनरल के पद के लिए उससे बढ़कर इँग्लेंड में कोई योग्य न था। रानी विक्टोरिया का भी यही मत था। तब भी सन् १८४४ में संचालकों ने उसको वापस बुला लिया। उनके इस कार्य्य से रानी विक्टोरिया बहुत रुष्ट हो गई।

लार्ड हार्डिंज—एलिनबरा के स्थान पर सर हेनरी हार्डिंज गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। नेपोलियन के विरुद्ध स्पेन की लड़ाइयों में उसने बड़ी वीरता और चतुरता दिखलाई थी। बीस वर्ष से वह पार्लामेंट का मेम्बर था और युद्ध-सचिव के पद पर बहुत दिनों तक काम कर चुका था। लार्ड एलिनबरा की राय में "दो वर्ष के युद्ध से सर्वत्र शान्ति विराज रही थी।" पर तब भी पंजाब की दशा देखते हुए इँग्लेंड के राजनीतिज्ञों को युद्ध की आशंका हो रही थी। इसी लिए गवर्नर-जनरल के पद पर हार्डिंज सा रण-

चतुर सैनिक नियुक्त किया गया। इँग्लैंड से चलते समय संचालकों की ओर से कहा गया कि "ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन न्यायपूर्ण, नम्र तथा

हार्डिंज

शान्तिप्रद होना चाहिए, परन्तु समय पड़ने पर उसकी शक्ति का प्रभुत्व शस्त्रों के बल से अवश्य स्थापित रखना चाहिए।" युद्धप्रिय सैनिक के लिए भावी नीति का इतना इशारा काफ़ी था।

रणजीतसिंह की मृत्यु—सन् १८३९ में 'पंजाबकेशरी' महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा नहीं था, पर तब भी वह बड़ा योग्य शासक था। उसकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। हर एक बात जानने की उसको उत्सुकता रहती थी। वह बड़ा वीर और साहसी था, किसी बात में उसकी हिम्मत कभी न हारती थी। घोड़े की सवारी और तलवार चलाने में वह बड़ा निपुण था। अच्छे अच्छे घोड़ों के रखने का उसको बड़ा शौक था। रणनीति में भी वह चतुर था, उसका सामना करना सहज काम न था। उसका अधिकांश जीवन युद्ध में ही व्यतीत हुआ था, पर तब भी उसमें कठोरता न थी। अपने शत्रुओं में भी वह वीरता का आदर करता था। उसके उदार व्यवहार से शत्रु भी मित्र बन जाते थे। अपना मतलब सिद्ध करने में वह किसी उपाय से न चूकता था। उसका दरबार बड़ी शान का था, पर वह स्वयं सादे ढँग से रहता था। तलवार को ही वह अपना सबसे अच्छा आभूषण समझता था। उसके चेहरे पर शीतला के दाग़ थे, एक आँख भी नहीं थी, परन्तु उसकी "आकृति सुडौल, माथा विशाल और कन्धे चौड़े" थे। जब वह घोड़े पर निकलता था, उसमें विचित्र-वीर-रस का आवेश दिखलाई देता था।

सिख-शासन—खालसा की मुख्य सभा 'गुरुमाता' का अन्त सन् १८०५ में ही हो गया था। राज्य का कुल शासन महाराजा की इच्छा पर निर्भर था। राज्य की आमदनी लगभग ढाई करोड़ रुपया थी। हर एक ज़िले में एक 'कारदार' रहता था, जो कर वसूल करता था। प्रजा से, पैदावार के पाँचवें हिस्से से कुछ अधिक, लगान में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त और भी कई तरह के कर लिये जाते थे। जागीरदारों का 'ख़िराज' बँधा हुआ था। कारदारों को न्याय के भी अधिकार रहते थे। दीवानी और फ़ौजदारी की अलग अलग अदालतें न थीं। बहुत से अपराधों में प्रायः जुरमाने का दंड दिया जाता था। महाराजा की राय में अपराधियों को जेल में रखना फ़ज़ूलख़र्ची थी। बड़े बड़े अपराधों में अंग-भंग का दंड दिया जाता था। सरकारी अफ़सरों पर महाराजा की बड़ी तीव्र दृष्टि रहती थी।

हिसाब की वह स्वयं जाँच करता था। बेईमानी या अन्याय करनेवालों को वह बड़ा कठोर दंड देता था। महाराजा से अपना दुख कहने के लिए प्रजा को बराबर अवसर दिया जाता था। ग़रीब से भी ग़रीब आदमी की उसके दरबार में सुनवाई होती थी।

यही कारण है कि आधुनिक दृष्टि से कठोर होते हुए भी उसका शासन लोकप्रिय था। प्रजा का उस पर विश्वास था। बड़े बड़े सरदार उसके भय से काँपते थे, बाहर से आक्रमण करने का किसी शत्रु को साहस न होता था। अमृतसर का विशाल नगर उस समय की समृद्धि का प्रमाण है। कर्नेल फ्रैंकलिन के शब्दों में सिखों के शासन-काल में खेती की दशा अच्छी थी। योग्य अफ़सरों को चुनने का महाराजा में बड़ा भारी गुण था। वह उनका बराबर ध्यान रखता था और वे भी उस पर सदा प्राण तक न्योछावर करने के लिए तैयार रहते थे। सिखों के साथ कुछ रियायत अवश्य की जाती थी, पर शासन में अन्य किसी तरह का धार्मिक पक्षपात न किया जाता था। उसका सबसे बड़ा सलाहकार योग्य फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन था। एक ब्राह्मण अयोध्या-प्रसाद दीवान था, राजा दीनानाथ अर्थसचिव था। जम्मू के डोगरा सरदार ध्यानसिंह, सुचेतसिंह और गुलाबसिंह भी बड़े बड़े पदों पर काम करते थे। इस उदार नीति के कारण अन्य सम्प्रदायवाले भी उसका बड़ा आदर करते थे।

उसके शासन में बहुत से दोष भी थे। महाराजा रणजीतसिंह में वे सब कमज़ोरियाँ थीं, जो उस समय के प्रायः सभी बड़े बड़े आदमियों में पाई जाती थीं। पर तब भी यह मानना पड़ेगा कि वह अपने समय का बड़ा प्रतिभाशाली शासक था। अँगरेज़ों से मित्रता रखना उसकी मुख्य नीति थी। इसी लिए मराठों का भी उसने साथ नहीं दिया। इस मित्रता का जो कुछ अन्तिम परिणाम हुआ, उसे देखते हुए, उसकी दूरदर्शिता में सन्देह होता है। पर साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जैसी कुछ स्थिति थी, उसमें अँगरेज़ों की प्रबल शक्ति को नष्ट करना उसे असम्भव प्रतीत हो रहा था। देश का भविष्य उससे छिपा न था। भारत के नक़शे में 'लाल' और 'पीले' रंग का अर्थ बतलाये जाने पर उसने कह दिया था कि "एक दिन सब लाल हो जायगा।"

पंजाब की दुर्दशा—रणजीतसिंह के मरते ही सारी शासन-व्यवस्था बिगड़ गई। दरबार के बड़े बड़े सरदारों को, जो उसके सामने भय से काँपते थे, अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर मिल गया और सेना बेक़ाबू हो गई। केवल राजा की योग्यता और शक्ति पर निर्भर रहनेवाले राज्यों में यही बड़ा भारी दोष है। उसके हटते ही पतन प्रारम्भ हो जाता है। बराबर वैसे ही राजा होते जायँ, यह सम्भव नहीं है। एक इतिहासकार ने ठीक लिखा है कि यदि भारतवर्ष में अकबर सरीखे ही बादशाह बराबर शासन करते, तो आज भी अँगरेज़ वैसे ही व्यापारी बने होते, जैसे कि वे तब थे।

साल भर के भीतर ही रणजीतसिंह के बेटे खड्गसिंह और पोते नावनिहालसिंह का भी अन्त हो गया। नावनिहालसिंह बड़ा वीर युवक था। सेना पर भी उसका बड़ा प्रभाव था, अफ़ग़ान-युद्ध में वही सेनापति था। अँगरेज़ों की नीति को वह ख़ूब समझता था। इन दिनों दरबार में दो बड़े बड़े दल थे, एक ओर मुख्य सिन्धन-वालिया सरदार थे और दूसरी ओर जम्मू के ध्यानसिंह, गुलाबसिंह तथा सुचेतसिंह तीनों भाई थे। कुछ दिनों तक खड्गसिंह की रानी चाँदकुँवरि राज्य करती रही। अन्त में जम्मूवालों की विजय हुई और शेरसिंह, जो रणजीतसिंह का दूसरा लड़का माना जाता था, गद्दी पर बिठलाया गया। इस समय राज्य की ऐसी शोचनीय दशा हो गई थी कि अँगरेज़ों से भी सहायता माँगी गई, पर उन्होंने परस्पर की कलह जारी रहने ही में अपना हित देखा और रणजीतसिंह की मित्रता का कुछ भी ध्यान न करके, हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। सन् १८४३ में शेरसिंह मार डाला गया और प्रधान सचिव ध्यानसिंह का भी अन्त हो गया। यह बड़ा महत्त्वाकांक्षी, साहसी, योग्य, समझदार और नीतिनिपुण सचिव था। सुचेतसिंह की भी मृत्यु हो गई। तीनों भाइयों में केवल गुलाबसिंह बाक़ी रह गया। इसी साल ८ वर्ष का बालक दिलीपसिंह गद्दी पर बिठलाया गया और उसकी माता रानी झिन्दन राज्य का काम देखने लगी।

कहने के लिए तो दिलीपसिंह और उसके सरदार राज्य करते थे, पर वास्तव में सारी शक्ति सेना के हाथ में थी। रणजीतसिंह के बाद से इसकी

संख्या बहुत बढ़ गई थी। इसको क़ाबू में रखने के लिए नावनिहालसिंह और शेरसिंह के समय में सैनिकों का वेतन भी बहुत बढ़ा दिया गया था। अब कोई ऐसा योग्य सरदार न था, जिसकी आज्ञा का सारी सेना पालन करती। हर एक कम्पनी की अलग अलग पंचायतें बनी हुई थीं। पंचों का निर्वाचन सैनिक ही करते थे, इन्हीं पंचायतों द्वारा कुल सेना का शासन होता था। कभी कभी यह सब पंचायतें एक साथ मिलकर परामर्श करती थीं और उनका निश्चय खालसा का निश्चय माना जाता था। इस संगठन से सेना की एकता, जो सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है, नष्ट हो गई थी और कई एक दल बन गये थे, जिन्हें सरदार लोग अपने अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया करते थे। ऐसी दशा में खालसा की न तो कोई निश्चित नीति थी और न जटिल प्रश्नों पर पूरी तरह विचार ही होता था। परन्तु जो सरदार अपनी मनमानी करना चाहते थे, उनके मार्ग में इस सेना से बड़ी बाधा पड़ती थी। इन दिनों तेजसिंह प्रधान सेनापति था और कुटिल लालसिंह वज़ीर था, जिसका महारानी पर बड़ा प्रभाव था। गुलाबसिंह दूर ही से यह सब दशा देख रहा था। परन्तु सेना के कारण इन तीनों की दाल न गलने पाती थी, इसी लिए किसी न किसी तरह सेना की शक्ति को नष्ट करके ये तीनों अपनी मनमानी करना चाहते थे।

सिखों का पहला युद्ध—सिखों की यह दशा देखकर अँगरेज़ अपनी सीमा पर बराबर सेना बढ़ा रहे थे। हार्डिंज के समय में इसकी संख्या लगभग ४५ हज़ार तक पहुँच गई। फ़ीरोज़पुर में एक नई छावनी भी बना दी गई। अँगरेज़ों का कहना था कि यह सब तैयारी केवल अपनी रक्षा की दृष्टि से की जा रही थी। दूसरी ओर सिखों को भय था कि उनके राज्य पर आक्रमण के लिए यह सब प्रबन्ध हो रहा था। इस भय के कई एक कारण भी थे। अँगरेज़ी राज्य के विस्तार का इतिहास उनसे छिपा न था। "आत्म-रक्षा" के अर्थ को भी वे अच्छी तरह समझते थे। अँगरेज़ों के व्यवहार से भी उनके इस भय की पुष्टि हो रही थी। अफ़ग़ान-युद्ध में सहायता देने का बदला, शाहशुजा को पेशावर छीनने के लिए उत्साहित करने में दिया गया

था। सतलज नदी के इस पार के कुछ राज्यों को अँगरेज़ों ने अपने अधीन मान लिया था। कुछ सिख सैनिक लाहौर जाने के लिए फ़ीरोज़पुर के निकट सतलज नदी पार करके अँगरेज़ी राज्य में आ गये थे। यह बिना आज्ञा के "सीमोल्लंघन" समझकर उन पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी गई थी। इसी तरह कुछ सिपाही लुटेरों को पकड़ने के लिए सिन्ध चले गये थे। इस पर सर चार्ल्स नेपियर ने उधर की सीमा पर सेना एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया था। सिखों को यह मुलतान की तरफ़ से चढ़ाई करने की चाल दिखलाई पड़ रही थी।[1] इस परस्पर अविश्वास की स्थिति में तेजसिंह, लालसिंह और गुलाबसिंह को अपना उद्देश्य सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिल गया। वीरता और देशभक्ति सिखों के स्वाभाविक गुण हैं। इन दोनों को पूरी तरह उत्तेजित करके जब सैनिकों से पूँछा गया कि क्या वे खालसा पर फ़िरंगियों का अधिकार सहन कर सकेंगे, तब सबने एक स्वर से उत्तर दिया कि जीते जी वे गोविन्दसिंह का राज्य नष्ट न होने देंगे और अँगरेज़ों पर स्वयं आक्रमण करके उनको परास्त करेंगे। महाराजा रणजीतसिंह की समाधि पर यह निश्चय करके दिसम्बर सन् १८४५ में सिख सेना सतलज नदी पार करके फ़ीरोज़पुर के निकट आ डटी।

इस पर गवर्नर-जनरल हार्डिंज ने भी युद्ध की घोषणा कर दी और सतलज नदी के इस पार के राज्यों को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने की आज्ञा दे दी। सिख-इतिहास के लेखक कनिंघम का कहना है कि सन्धि की शर्तों को तोड़कर युद्ध का प्रारम्भ पहले सिखों ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि कई वर्षों से अँगरेज़ जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उससे भी शान्ति स्थापित रहने की अधिक सम्भावना नहीं थी। इसलिए उस युद्ध के सम्बन्ध में, जिसको वे तुच्छ समझते थे, जिसकी वे प्रतीक्षा कर रहे थे और जिससे वे जानते थे कि उन्हीं की वृद्धि होगी, वे सर्वथा निर्दोष नहीं कहे जा सकते।[2]

---

१ कनिंघम, हिस्ट्री ऑफ दि सिख, सं० गैरेट, पृ० २७५–८५।

२ वहीं पृ० २८६–८७।

मुदकी और फ़ीरोज़शहर—अँगरेज़ों को इस समय तक सिखों की वीरता का पता न था। वे समझे बैठे थे कि बात की बात में वे उनको परास्त कर देंगे। यद्यपि युद्ध में अँगरेज़ों ही की विजय हुई, पर उनका यह भ्रम शीघ्र ही दूर हो गया। ता० १८ दिसम्बर को मुदकी नामक स्थान पर पहली लड़ाई हुई। लालसिंह जो सेना का अध्यक्ष बनकर आया था, अँगरेज़ों से पहले ही से मिला था। वह युद्ध के समय पर मैदान से हट गया। प्रधान सेनापति तेजसिंह की भी वही दशा थी। परिणाम यह हुआ कि सिखों को मैदान छोड़ना पड़ा। ता० २१ दिसम्बर को फ़ीरोज़शहर में दूसरी लड़ाई हुई। इसमें अँगरेज़ों के छक्के छूट गये। गोला बारूद समाप्त हो गई, वे फ़ीरोज़पुर की तरफ़ हटने ही वाले थे कि इतने में तेजसिंह स्वयं पीछे हट गया। इस लड़ाई में बहुत से अँगरेज़ अफ़-सर मारे गये, परन्तु सिख सेना फिर सतलज के उस पार चली गई। जनवरी सन् १८४६ में लुधियाना के निकट एक दल ने अँगरेज़ों पर फिर आक्रमण किया। अंगरेज़ सिपाहियों ने इसको रोका अवश्य, पर वे इतने थके हुए थे और उनका साहस इतना टूटा हुआ था कि वे पीछे हटने लगे। इतने पर भी सिखों ने उनका पीछा नहीं किया, क्योंकि "वे बिना ऐसे नेता के थे, जो अँगरेज़ों को पराजित देखना चाहता हो।" इस अवसर पर बहुत सा लूट का माल सिखों के हाथ आया और अंगरेज़ों के बहुत से सिपाही भी गिरफ़्तार हुए। इससे सिखों की हिम्मत बढ़ गई।

अलीवाल और सोबरावँ—इस समय तक गुलाबसिंह जम्मू से ही यह रंग देख रहा था। अब वह भी लाहौर आकर सेना को और बढ़ावा देने लगा, पर स्वयं रणक्षेत्र में जाने का अवसर बड़ी चतुरता से टालता रहा। जनवरी सन् १८४६ के अन्त में सिख सेना फिर सतलज पार करके आ गई, पर अलीवाल के युद्ध में इसको फिर हारना पड़ा। इस पर गुलाबसिंह ने सन्धि की बातचीत प्रारम्भ कर दी और अँगरेज़ों से भिड़ने के लिए सेना को भी बुरा-भला कहा। परन्तु अब गवर्नर-जनरल ने लाहोर पर विजय-पताका फहराना निश्चित कर लिया था, इसलिए वह सिख सेना के तोड़ देने की

शर्त चाहता था। यह बात गुलाबसिंह की शक्ति के बाहर थी। इसलिए उसकी राय से यह तय पाया कि "अँगरेज़ सिख सेना पर आक्रमण करें। हार होने पर दरबार उसका साथ छोड़ दे, सतलज पर कोई रोक-टोक न की जाय और विजेताओं के लिए राजधानी का मार्ग खुला छोड़ दिया जाय।" इतिहासकार कनिंघम के शब्दों में "इस चतुर नीति और निर्लज्ज विश्वासघात की दशा में सोबराँव का युद्ध हुआ"।[1]

लड़ने के लिए सैनिकों के हृदय में साहस था, भुजाओं में बल था, केवल एक नेता की कमी थी, जो सबको जोश दिलाकर हर एक बात का ठीक ठीक प्रबन्ध कर सकता। पहले ही वार में तेजसिंह भाग निकला, केवल वृद्ध श्यामसिंह सेना को ललकारता हुआ रणक्षेत्र में डटा रहा, जहाँ लड़ते लड़ते वह मारा गया। मजबूर होकर सिख सेना पीछे हटने लगी। उधर सतलज नदी का बाँध टूटा हुआ था, इस पर बहुत से सिपाही नदी में कूद पड़े। ऐसी दशा में भी उन पर गोलाबारी की गई। थोड़े ही समय में नदी रक्त से लाल हो गई पर एक सैनिक ने भी शरण की भिक्षा नहीं मांगी। इस तरह सिखों का पहला युद्ध समाप्त हुआ। इसमें जितने अँगरेज़ अफ़सर मारे गये, उतने किसी युद्ध में काम न आये थे।

लाहोर की सन्धि—अँगरेज़ी सेना ने सतलज नदी पार करके कसूर के क़िले पर अधिकार कर लिया। गुलाबसिंह भी युवक दिलीप को साथ लेकर आ गया। लाहोर पहुँचकर ता० ९ मार्च को सन्धि हो गई। सतलज और व्यास नदियों के बीच की भूमि सिखों से ले ली गई, डेढ़ करोड़ रुपया दंड भी माँगा गया और सेना की संख्या घटा दी गई। युद्ध में जिन तोपों

---

१ कनिंघम, हिस्ट्री, पृ० ३०९। इस स्पष्ट बात को लिखने के कारण कनिंघम 'पोलिटिकल विभाग' से हटा दिया गया और पंजाब से भूपाल बदल दिया गया। वह आठ वर्ष तक पंजाब में रहा था, इन लड़ाइयों में भी मौजूद था। उसका कहना था कि मैंने पूरी जाँच करके ऐसा लिखा है।

से काम लिया गया था, वे भी छीन ली गईं। गुलाबसिंह जम्मू का स्वतंत्र महाराजा मान लिया गया। लालसिंह वज़ीर बनाया गया और साल भर के लिए कुछ अँगरेज़ी सेना लाहोर में छोड़ दी गई। दंड का रुपया वसूल न होने पर हज़ारा और काश्मीर के इलाक़े ले लिये गये और ३५ लाख रुपये में काश्मीर गुलाबसिंह के हाथ बेंच दिया गया। सन्धि में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि "ब्रिटिश सरकार लाहोर राज्य के शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी।"

गुलाबसिंह

आर्थिक तथा सैनिक कठिनाइयों के कारण पंजाब का अँगरेज़ी राज्य में मिलाया जाना उचित न समझा गया। उस समय इसका राजनैतिक प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ता, इसका भी ध्यान रखा गया। इसी लिए राज्य का बहुत सा भाग लेकर, सेना घटाकर और गुलाबसिंह को स्वतंत्र बनाकर खालसा पंगु बना दिया गया। काश्मीर की भी रक्षा का कोई उपाय न था, रुपये की बड़ी आवश्यकता थी, इसी लिए वह भी गुलाबसिंह को दिया गया। इस मनोरम देश को इस तरह दे देने के लिए बाद में अँगरेज़ों को बड़ा पछतावा हुआ। काश्मीर पर अधिकार करने में गुलाबसिंह को कुछ कठिनाई हुई, काँगड़ा कोट भी बिना तोपों का भय दिखलाये हुए अँगरेज़ों को न मिला। इसके लिए लालसिंह दोषी ठहराया गया। उसकी जागीर छीन ली गई और वह क़ैद करके अँगरेज़ी राज्य में भेज दिया गया। विश्वासघात का यही फल होता है। ता० १६ दिसम्बर सन् १८४६ में लाहोर दरबार के कहने पर दूसरी

सन्धि की गई। महारानी के सब अधिकार छीन लिये गये और उसको डेढ़ लाख रुपया साल की पेंशन दी गई। लाहोर दरबार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रख दिया गया, जिसको "सब विभागों के संचालन करने के पूरे अधिकार" दे दिये गये। उसकी निगरानी में काम करने के लिए आठ सरदारों की एक कौंसिल बना दी गई। मुख्य मुख्य गढ़ों में अँगरेज़ी सेना रख दी गई और उसके ख़र्च के लिए दरबार से २२ लाख रुपया साल लेना निश्चित हुआ। दिलीपसिंह के बालिग़ होने तक आठ वर्ष के लिए यह प्रबन्ध किया गया। अँगरेज़ों ने इस बात का विश्वास दिलाया कि वे राज्य में "शान्ति स्थापित रखने" का प्रयत्न करेंगे और "जनता के भावों तथा राष्ट्रीय संस्थाओं" का बराबर ध्यान रखेंगे।

हार्डिंज का शासन—युद्ध में लगे रहने पर भी हार्डिंज ने शासन का अच्छा प्रबन्ध किया। उसी के समय में रेल की पैमायश शुरू की गई और गंगा-नहर का काम ज़ोरों से चलाया गया। देशी राज्यों को सती-प्रथा बन्द करने के लिए कहा गया और जंगलियों में 'नरबलि' रोकने का भी पूरा प्रबन्ध किया गया। नमक पर महसूल कम कर दिया गया। रविवार को तातील मनाने का भी नियम बनाया गया। ख़र्च कम करने के लिए सेना की संख्या भी कुछ घटा दी गई। सिखों पर विजय पाने के लिए उसको लार्ड की उपाधि दी गई। जनवरी सन् १८४८ में वह इँगलेंड वापस चला गया। चलते समय उसका विश्वास था कि "सात वर्ष तक भारतवर्ष में फिर बन्दूक़ चलाने की आवश्यकता न पड़ेगी।"

परिच्छेद १२

साम्राज्य की पूर्ति

लार्ड डलहौज़ी—जनवरी सन् १८४८ में लार्ड डलहौज़ी गवर्नर-जनरल होकर कलकत्ता पहुँचा। इस समय इसकी अवस्था केवल ३५ वर्ष की थी। इतनी कम अवस्था में कोई भी गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त न किया गया था। पार्लामेंट में यह दो वर्ष तक 'बोर्ड ऑफ़ ट्रेड' का सभापति रह चुका था। भारतवर्ष की राजनीति से इसका पहले से कोई सम्बन्ध न था। सबका ख़याल था कि यह बड़े अच्छे समय पर भारतवर्ष जा रहा है। लार्ड हार्डिंज ने "सिखों के दाँत तोड़ दिये हैं," चारों ओर शान्ति विराज रही है। पर इसके पहुँचते ही फिर भीषण युद्ध छिड़ गया।

डलहौज़ी

पंजाब में अशान्ति—लार्ड हार्डिंज ने सर हेनरी लारेंस को लाहोर दरबार में रेज़ीडेंट बनाया था। वह सिखों के साथ सहानुभूति रखता था और बड़ी चतुरता से अपना काम निकालता था। उसके समय में प्रजा की दशा सुधारने का भी प्रयत्न किया गया था। सिखों के अभिमानी स्वभाव को वह अच्छी तरह समझता था

और सदा नीति से काम लेता था। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह छुट्टी लेकर लार्ड हार्डिंज के साथ ही इँग्लैंड चला गया और उसकी जगह पर करी रेज़ीडेंट बनाया गया। इसने सब जगह अँगरेज़ अफ़सर भर दिये, जो हर एक काम में अपनी मनमानी करने लगे। कर्नल स्लीमैन को भय था कि इसका परिणाम वही होगा, जो काबुल में हुआ था। परन्तु उसकी इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। इस तरह के हस्तक्षेप से सिखों में बड़ा असन्तोष फैलने लगा। अँगरेज़ अफ़सरों ने मुसलमानों को पुरानी बातों का स्मरण दिलाकर सिखों के विरुद्ध भड़काने का भी प्रयत्न किया।[1] पेशावर की तरफ़ बहुत से मुसलमान बिगड़ पड़े और नाज़िम छत्रसिंह को शासन करना असम्भव हो गया। ये सब बातें सिखों को असह्य हो रही थीं और धीरे धीरे अशान्ति की आग सुलग रही थी।

मुलतान का विद्रोह—रणजीतसिंह के समय में सावनमल मुलतान का दीवान था। उसने नहरें खोदवाकर वहां के बहुत से रेगिस्तान को हरा भरा बना दिया था। उसके बाद मूलराज दीवान बनाया गया। इस अवसर पर उससे एक करोड़ रुपया नज़राना और कुल पिछला हिसाब मांगा गया। इन सब बातों से तंग आकर मूलराज ने अपने पद से इस्तीफ़ा दे देने का विचार प्रकट किया। इस पर दो अँगरेज़ अफ़सरों के साथ एक सिख सरदार नया दीवान बनाकर भेजा गया। मूलराज ने मुलतान उसके हवाले कर दिया, पर कुछ सिपाही बिगड़ गये और उन्होंने अँगरेज़ अफ़सरों को मार डाला। मुलतान की सेना घटा देने का नये दीवान को हुक्म हुआ था। सिपाहियों के बिगड़ने का, बहुत सम्भव है, यही कारण रहा हो। अपनी बचत का कोई उपाय न देखकर और सिपाहियों के दबाव में पड़कर मूलराज ने भी विद्रोह कर दिया।[2] यदि अँगरेज़ी सेना पहुँच जाती, तो यह विद्रोह शीघ्र ही शान्त हो जाता; क्योंकि मूलराज के पास अधिक सेना न थी, पर ऐसा

---

१ पंजाब पेपर्स, सन् १८४९, पृ० ३०२।

२ एडवर्ड, ए इयर ऑन दि पंजाब फ्रांटियर, जि० २, पृ० ५१।

नहीं किया गया। कहा गया कि गरमी और बरसात में युद्ध छेड़ना ठीक न होगा और इसके शान्त करने का भार लाहौर दरबार पर ही छोड़ दिया गया। सर हेनरी लारेंस की राय में ऐसा जान पड़ता था कि सरदी में लार्ड डलहौज़ी अपनी अध्यक्षता में भारी शिकार करने का विचार कर रहा था।

सिखों का दूसरा युद्ध—मूलराज की सहायता करने का अपराध महारानी पर लगाया गया और वह पंजाब से हटाकर बनारस भेज दी गई। सब सिख उसको 'माता' करके मानते थे। अभियोग चलाकर उसका अपराध सिद्ध नहीं किया गया। केवल रेज़ीडेंट के कहने ही पर वह पंजाब से निकाल दी गई। छत्रसिंह की लड़की से महाराजा दिलीपसिंह के विवाह की बातचीत थी, उसमें भी बहुत सी अड़चनें डाली गईं। इन सब बातों से सिखों में बड़ी उत्तेजना फैल गई। कर्नल स्लीमैन लिखता है कि जिस तरह पंजाब का शासन किया जा रहा था, उससे यही प्रतीत हो रहा था कि दिलीपसिंह को, बालिग़ होने पर, राज्य लौटालने का विचार नहीं था। मूलराज से मुलतान लेने के लिए दो अँगरेज़ अफ़सरों के भेजने से सिखों का यह सन्देह और भी पक्का हो गया। दूसरी ओर हज़ारा में छत्रसिंह को रहना मुश्किल कर दिया गया। कप्तान ऐबट उसके हर एक काम में बाधा डालता था। आज्ञा न मानने के कारण उसके तोपख़ाने का एक अमरीकन अफ़सर मार डाला गया। रेज़ीडेंट की राय में इसमें छत्रसिंह का कोई दोष न था।[1] परन्तु तब भी उसकी जागीर ज़ब्त करने का हुक्म हो गया। इस पर उसका लड़का शेरसिंह, जिसकी अध्यक्षता में सिख सेना मूलराज के विरुद्ध भेजी गई थी, बिगड़ गया। मुलतान की दुर्घटना का समाचार मिलते ही लार्ड डलहौज़ी ने आवेश में आकर कह दिया था कि "यदि हमारे शत्रु युद्ध चाहते हैं, तो उन्हें अच्छी तरह युद्ध करना पड़ेगा।"

चिलियानवाला और गुजरात—पेशावर के लालच से अफ़ग़ानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद ने भी सिखों का साथ देना स्वीकार कर

१ पंजाब पेपर्स, सन् १८४९, पृ० ३१६।

लिया। उसकी सहायता से छत्रसिंह अटक छीनकर लाहोर की तरफ़ बढ़ने लगा। मुलतान से शेरसिंह भी उसी ओर आ रहा था। ऐसी दशा में अँगरेज़ों ने मुलतान का घेरा छोड़कर शेरसिंह का पीछा किया। ता० १३ जनवरी सन् १८४९ को चिलियानवाला में दोनों सेनाओं का सामना हुआ। इसमें बहुत से अँगरेज़ अफ़सर मारे गये और उनकी चार तोपें छीन ली गईं। सिखों का भी बहुत नुक़सान हुआ, पर अन्त में दोनों दलों ने अपनी विजय मानी। स्वयं लार्ड डलहौज़ी की राय में अँगरेज़ों की विजय केवल दिखलाने भर को थी, वास्तव में उनकी दशा बड़ी नाज़ुक हो रही थी।[१] इस युद्ध का समाचार इँग्लैंड पहुँचने पर लार्ड गफ़ को सेनापति के पद से हटाने की आज्ञा दे दी गई। परन्तु नये सेनापति सिन्धविजयी सर चार्ल्स नेपियर के आने के पहले ही ता० २१ फ़रवरी को गुजरात की लड़ाई में उसने सिखों का अन्त कर दिया।

मुलतान इसके पहले ही अँगरेज़ों के हाथ में आ गया था, इस अवसर पर उनकी कुल सेना एकत्रित थी। छत्रसिंह के आ जाने से सिख सेना की भी संख्या बढ़ गई थी। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। कुछ काल तक बेढब गोलाबारी हुई। डलहौज़ी के शब्दों में सिख "सिंहों की तरह लड़े" पर अन्त में अँगरेज़ी तोपों के सामने उनको हार माननी पड़ी। ता० १२ मार्च को रावलपिंडी में सिख सरदारों ने हथियार डाल दिये। इस अवसर पर एक वृद्ध सरदार ने आँखों में आँसू भरकर ठीक कहा कि "आज रणजीतसिंह मर गया।"

पंजाबपतन—अगस्त सन् १८४८ में ही डलहौज़ी ने यह राय क़ायम कर ली थी कि बिना सिखों की शक्ति नष्ट किये हुए और पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिलाये हुए, शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। उसका विश्वास था कि सिखों के साथ कभी मित्रता नहीं रह सकती। इँग्लैंड सरकार का मत था कि पंजाब की "अधीनता पूरी होनी चाहिए, पर यदि

१ डलहौज़ी, प्राइवेट लेटर्स, सं० बेयर्ड, पृ० ४४।

सम्भव हो तो उसका नाम न होना चाहिए।" लार्ड डलहौज़ी को "देशी शासन के तत्त्व को छोड़कर केवल छाया की रक्षा करना" पसन्द न था। पंजाब उसके हाथ में आ गया था, अब वह उसको छोड़ न सकता था। हेनरी लारेंस इस ज़बरदस्ती के विरुद्ध था, पर उसकी कौन सुननेवाला था? ता० २९ मार्च को घोषणा निकल गई कि "पंजाब राज्य का अन्त हो गया, अब और आगे के लिए, महाराजा दिलीपसिंह की कुल भूमि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग हो गई।"

दिलीपसिंह इस समय भी महाराजा था। इस तरह की घोषणा का गवर्नर-जनरल को कोई अधिकार न था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक सन्धिपत्र पर ११ वर्ष के बालक दिलीपसिंह और कौंसिल के सदस्यों के हस्ताक्षर करा लिये गये। इसके अनुसार महाराजा ने अपने तथा अपने वारिसों के पंजाब राज्य पर सब अधिकार छोड़ दिये। राज्य की जितनी सम्पत्ति थी, वह सब लड़ाई के ख़र्च में ज़ब्त कर ली गई। सुप्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी, जो लार्ड डलहौज़ी की राय में "विजय का चिन्ह" था, छीनकर इँगलेंड के राजमुकुट को सुशोभित करने के लिए, रानी विक्टोरिया को भेज दिया गया।

पहले युद्ध के समय पर ही यदि पंजाब अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया होता, तो विशेष आपत्ति नहीं की जा सकती थी; क्योंकि कारण चाहे जो कुछ रहे हों पहले आक्रमण सिखों ही ने किया था और युद्ध में उनकी पूरी हार भी हुई थी। परन्तु तब ऐसा नहीं किया गया। उलटे ता० १६ दिसम्बर सन् १८४६ की सन्धि में "महाराजा दिलीपसिंह की नाबालिगी में रक्षा करने और शासन चलाने" का वचन दिया गया। ता० २० अगस्त सन् १८४७ की घोषणा में गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंज ने विश्वास दिलाया कि वह बालक दिलीप की "रक्षा और शिक्षा के लिए पिता की तरह चिन्तित" है। पंजाब राज्य की "दृढ़ता और शान्ति" तथा "महाराजा और उसके मंत्रियों के मान" का उसे बराबर ध्यान है। इस तरह दिलीपसिंह की संरक्षकता का भार ग्रहण किया गया था। मूलराज और छत्रसिंह के विद्रोह अँगरेज़ों के ही उत्तेजित करने पर हुए थे। यदि ऐसा न भी हो, तब भी लाहोर दरबार का उनसे

सम्बन्ध न था और उसने उनके दबाने का भी प्रयत्न किया था। संरक्षक की हैसियत से इन विद्रोहों को शान्त करना ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य था। अँगरेज़ी सेना के पंजाब पहुँचने पर ता० ८ नवम्बर सन् १८४८ के घोषणा-पत्र में यह कहा भी गया था कि "विद्रोहियों को दंड देने" और लाहोर दरबार के "विरुद्ध शस्त्र उठानेवालों को दबाने" के लिए हम पंजाब में आये हैं। परन्तु तब भी अन्त में दिलीपसिंह निकाल दिया गया, उसके राज्य पर अधिकार कर लिया गया और कोहनूर हीरा छीन लिया गया। लडलो लिखता है कि इस तरह सब कुछ अपहरण करके दिलीपसिंह की "रक्षा" की गई।[1]

लार्ड डलहौज़ी ने इस सम्बन्ध में अपनी नीति का बड़े ज़ोरों से समर्थन किया है। वह संचालकों को लिखता है कि लाहोर दरबार ने पिछली सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया था। सैनिक खर्च के लिए २२ लाख रुपया साल तय हुआ था, जिसमें से "एक रुपया तक" नहीं दिया गया था। विद्रोहों के दबाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। ये विद्रोह लाहोर दरबार के विरुद्ध न थे, पर वास्तव में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध थे। "ब्रिटिश शक्ति का नाश" सिखों ने निश्चित कर लिया था। उनकी स्वतंत्रता से सारे देश को भय था। ऐसी दशा में मैंने जो कुछ किया, "राज्य के प्रति अपना कर्तव्य समझकर शुद्ध चित्त से किया।" उसके न्यायसंगत तथा आवश्यक होने में मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है।[2] इवांस बेल की राय में यह समर्थन "नैतिक दृष्टि से तुच्छ" और उस उदार राष्ट्र के लिए, जो "भारत तथा पूर्व के सामने आदर्श रखने का दावा करता है, सर्वथा अयोग्य है।" उसने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सैनिक खर्च के हिसाब में १३५६६३७ रुपया जमा किया गया था। विद्रोहों में अधिकांश सिख सरदार शामिल न थे और लाहोर दरबार ने यथाशक्ति उनके दबाने का प्रयत्न किया था। अन्तिम सन्धिपत्र पर कौंसिल के मेम्बरों को डरा धमकाकर हस्ताक्षर कराये

---

१ लडलो, ब्रिटिश इंडिया, जि० २, पृ० १६६।

२ अर्नाल्ड, डलहौज़ीज़ ऐडमिनिस्ट्रेशन, जि० १, पृ० २०५–९।

गये थे। लार्ड डलहौज़ी का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि और आर्थिक लाभ था।[१]

बालक दिलीपसिंह अपने कुटुम्बियों और देशवासियों से अलग करके एक अँगरेज़ की निगरानी में फ़तहगढ़ में रख दिया गया, जिसका फल यह हुआ कि वह थोड़े ही समय में ईसाई हो गया[२] और इँग्लैंड चला गया। वहाँ से वह फिर कभी स्वदेश न लौटने पाया। इँग्लैंड में उसके वंशज अब भी मौजूद हैं। अँगरेज़ों के अत्याचार से पीड़ित होकर उसकी माता चुनारगढ़ से भागकर नैपाल चली गई। उसका बहुत सा जेवर ज़ब्त कर लिया गया और पेंशन बन्द कर दी गई। दीवान मूलराज को फाँसी का हुक्म हुआ। लार्ड डलहौज़ी उसको 'कालेपानी' भेजना चाहता था, जिसका उसे "मृत्यु से भी बढ़कर भय" था। परन्तु गवर्नर-जनरल की यह इच्छा पूर्ण होने के पहले ही मूलराज का अन्त हो गया। अँगरेज़ क़ैदियों को सिख सरदारों के हाथ से छुड़ाना था, इसलिए पहले उनके साथ दया का बर्ताव करने का वचन दिया गया, पर जब अँगरेज़ क़ैदी छूट आये, तब

क़ैदी मूलराज

---

१ इवांस बेल, अनेक्सेशन ऑफ़ दि पंजाब।

२ इस अवसर पर लार्ड डलहौजी ने दिलीपसिंह को एक बाइबिल भेंट की, जिस पर लिखा हुआ था कि इस पवित्र ग्रन्थ में उसको जो कुछ मिलेगा, वह दुनियाँ के राज्यों से कहीं बढ़कर है। दिलीपसिंह ऐंड दि गवर्नमेंट, सन् १८८४, पृ० ८५।

सरदारों पर बहुत से अपराध लगाये गये और वे सबके सब इलाहाबाद भेज दिये गये। इस तरह रणजीतसिंह के, जिसने अँगरेज़ों का बराबर साथ दिया था, राज्य और वंश का भारतवर्ष में अन्त हो गया।

नया प्रबन्ध—हेनरी लारेंस की उदार नीति से डलहौज़ी चिढ़ा हुआ था। वीर शत्रुओं के प्रति उसकी सहानुभूति डलहौज़ी को पसन्द न थी। इसी लिए पंजाब का शासन हेनरी लारेंस को न दिया गया। उसके लिए चार सदस्यों का एक बोर्ड बनाया गया, जिसके निरीक्षण का काम गवर्नर-जनरल ने स्वयं अपने हाथ में रखा। सबसे पहले "हथियार छीन-कर जनता की युद्धप्रवृत्ति दबा दी गई।" खालसा दल तोड़ दिया गया और बहुत से सिपाही, दूसरों की स्वतंत्रता अपहरण करने के लिए, अँगरेज़ी सेना में भरती कर लिये गये। विद्रोही सरदारों की जागीरें छीनकर उन्हें हर तरह से दबा दिया गया। इन उपायों द्वारा 'पंजाब बोर्ड' को तीन ही वर्ष में यह कहने का अवसर मिला कि "हाल में मिलाये हुए राज्य में जैसी पूर्ण शान्ति है, भारतवर्ष के अन्य किसी भाग में नहीं है।"

कुल पंजाब बहुत से ज़िलों में बाँट दिया गया, जिनमें अंगरेज़ कमिश्नर रख दिये गये। इनमें बहुत से सैनिक अफ़सर थे। इनको न्याय के सब अधि-कार दे दिये गये। यहाँ बंगाल के क़ानून-क़ायदे जारी नहीं किये गये। मजिस्ट्रेटों को देश के रीति-रिवाजों का ध्यान रखकर न्याय करने की स्वतं-त्रता दे दी गई। बहुत से कर उठा दिये गये और खेती की उन्नति के लिए नहरों का प्रबन्ध किया गया। व्यापार की ओर भी ध्यान दिया गया और कई एक सड़कें बनवाई गईं। सन् १८५५ में शिक्षाविभाग स्थापित किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा के लिए थोड़े से स्कूल खोले गये।

सन् १८५३ में बोर्ड तोड़ दिया गया और हेनरी लारेंस का भाई जान लारेंस, जो प्रायः लार्ड डलहौज़ी से सहमत रहता था, पंजाब का चीफ़ कमि-श्नर बना दिया गया। शान्ति स्थापित रखने के लिए ५० हज़ार सेना रख दी गई। पश्चिमोत्तर सीमा पर, जो अब सिन्ध नदी पार कर गई थी, रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया गया। लार्ड डलहौज़ी का यह "प्यारा प्रान्त" था।

इसमें उसने चुन-चुनकर योग्य अफ़सरों को शासन करने के लिए रखा था। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब में शान्ति स्थापित हो गई, खेती तथा व्यापार की उन्नति हुई, न्याय की दशा सुधर गई और शिक्षा का प्रचार हुआ। पर साथ ही साथ उसका सच्चा जीवन नष्ट हो गया।

बर्मा का दूसरा युद्ध—पिछली सन्धि से आवा दरबार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखना निश्चित हुआ था और बर्मी सरकार ने अँगरेज़ व्यापारियों को सब तरह की सुविधाएँ देने का भी वचन दिया था। परन्तु वहाँ रेज़ीडेंट की मनमानी न चल पाती थी, इसलिए सन् १८४० के बाद से कोई रेज़ीडेंट नियुक्त नहीं किया गया था। अब रंगून से अँगरेज़ व्यापारियों पर अत्याचार की शिकायतें आने लगीं। अँगरेज़ों की ही प्रजा के आदमियों द्वारा अभियोग लाने पर रंगून के बर्मी गवर्नर ने दो व्यापारी जहाज़ों के कप्तानों को कुछ दिन तक निगरानी में रखकर उन पर ६ सौ रुपया जुरमाना कर दिया। बर्मी सरकार का यह बड़ा भारी अन्याय माना गया और हज़ार हरजाना वसूल करने के लिए तीन जंगी जहाज़ों के साथ जहाज़ी सेना का एक अफ़सर भेज दिया गया। बर्मा स्वतंत्र राज्य था, ब्रिटिश प्रजा के अभियोग लाने पर ही कप्तानों को दंड दिया गया था, समझौते से मामला तय हो सकता था, फिर जंगी अफ़सरों को, जो लार्ड डलहौज़ी के शब्दों में बातचीत ही में "भभक" उठते थे, भेजने की क्या आवश्यकता थी ?

अँगरेज़ों के कहने पर बर्मी सरकार ने रंगून के उस गवर्नर को, जिसने दंड दिया था, हटा दिया और एक नया गवर्नर भेजा। उससे भी अँगरेज़ों की न पटी। एक दिन वह सो रहा था, इसलिए उसके पहरेदारों ने अँगरेज़ अफ़सरों को मुलाक़ात करने से कुछ काल के लिए धूप में रोक लिया। यह अपमान अँगरेज़ अफ़सर सहन न कर सके। उन्होंने बर्मी सरकार का एक जहाज़ पकड़ लिया और नदियों के मार्ग को रोकने की आज्ञा दे दी। यह भूल की गई, इसको डलहौज़ी ने भी माना है। पर तब भी उसने बर्मा के राजा को एक बड़ा कड़ा पत्र लिख दिया, जिसमें बहुत सा हरजाना माँगा गया, माफ़ी माँगने के लिए कहा गया और युद्ध की धमकी दी गई। 'बोर्ड

ऑफ़ कंट्रोल' के सभापति की राय में भी पत्र की भाषा बड़ी तीव्र थी। पर डलहौज़ी का मत था कि हिन्दुस्तानी राजा और ख़ासकर बर्मा के शासक सीधी सीधी बात से ठीक नहीं रहते।[१] इस पत्र के उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही युद्ध करना निश्चित कर लिया गया।

बर्मा में युद्ध की कोई तैयारी न थी, यहाँ पहले ही से सब प्रबन्ध था। बात की बात में अँगरेज़ी सेनाएँ बर्मा पहुँच गईं। मर्तबान पर अधिकार कर लिया गया, रंगून का मन्दिर भी छीन लिया गया और अँगरेज़ी सेना प्रोम तक पहुँच गई। बर्मी दरबार सन्धि करने के लिए राज़ी न था। इस पर कुल दक्षिणी बर्मा अर्थात् पीगू प्रान्त अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया। इँग्लेंड-सरकार कुल बर्मा के फ़िक्र में थी, पर डलहौज़ी की राय में इसके लिए समय नहीं आया था। इस प्रान्त के निकल जाने से बर्मियों के हाथ से समुद्र-तट जाता रहा, कुमारी अन्तरीप से लेकर मलाया प्रायद्वीप तक बंगाल की खाड़ी के कुल तट पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। सन् १८५२ के अन्त में लार्ड डलहौज़ी लिखता है कि "केवल ईश्वर जानता है कि युद्ध की आवश्यकता को दूर करने की मेरी कितनी प्रबल इच्छा थी।" परन्तु घटनाओं से इसका समर्थन नहीं होता। इँग्लेंड के लोकप्रिय नेता काबडन ने इस युद्ध की पोल अच्छी तरह खोली है।[२] उसका पूछना था कि दो अँगरेज़ों के अपमान के लिए युद्ध में भारत का ख़ज़ाना क्यों लुटाया गया? इससे भारत की निर्धन प्रजा का क्या लाभ हुआ? एक हज़ार रुपये से दस लाख तक हरजाना माँगना कहाँ तक उचित था? लार्ड डलहौज़ी का कहना था कि जब पीगू से आमदनी होने लगेगी, तब ब्रिटिश राष्ट्र इन सब बातों को भूल जायगा।[३]

---

१ लीवार्नर, डलहौज़ी, जि० १, पृ० ४२१।

२ काबडन, हाऊ वार्स आर गाट अप इन इंडिया?

३ मार्शमैन, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० ३, पृ० ३७५।

पीगू का शासन—पंजाब की तरह पीगू छीनने को भी बाक़ायदा बनाने के लिए बर्मा दरबार से सन्धि करने का प्रयत्न किया गया, पर सफलता न हुई। बर्मी राजदूत कलकत्ता आये। उनका कहना था कि यदि शान्ति स्थापित करना है, तो जीता हुआ देश लौटा देना चाहिए। इसके उत्तर में कहा गया कि "जब तक सूर्य्य में प्रकाश है ऐसा नहीं किया जायगा, युद्ध का दोष बर्मियों के मत्थे है।" अँगरेज़ी दूत आवा भी भेजे गये, पर कुछ तत्त्व न निकला। एक लाभ अवश्य हुआ, दरबार की बहुत सी बातों का पता लग गया और कई एक अफ़सर भी अपने पक्ष में मिला लिये गये। रंगून पीगू की राजधानी बनाया गया और वहां भी पंजाब की तरह शासन का प्रबन्ध किया गया। लार्ड डलहौज़ी स्वयं वहां चार बार गया। पीगू पर अधिकार हो जाने से पूर्वीय देशों के लकड़ी और चावल का बहुत सा व्यापार अँगरेज़ों के हाथ में आ गया। डकैतियों के रोकने, तार लगाने तथा सड़कें बनवाने का प्रबन्ध किया गया और शिक्षा के लिए कुछ स्कूल भी खोले गये।

देशी राज्यों का अपहरण—लार्ड आकलेंड के समय में ही इँग्लेंड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने यह निश्चित कर लिया था कि अवसर मिलने पर देशी राज्यों को छीन लेने से चूकना न चाहिए।[1] 'बोर्ड आफ़ कंट्रोल' के अध्यक्ष हाबहाउस ने डलहौज़ी को भी इस नीति का इशारा कर दिया था।[2] इसी उद्देश्य से अब यह दिखलाने का प्रयत्न किया जा रहा था कि देशी राज्यों से भारत का कितना अहित हो रहा था। स्वयं डलहौज़ी का मत था कि छोटे छोटे राज्यों से झगड़ों ही की अधिक सम्भावना है। उनका अन्त कर देने से सरकारी ख़ज़ाने को भी लाभ होगा और उन राज्यों में भी एक ही ढँग की शासन-व्यवस्था हो जायगी, जिससे वहां के लोगों का बड़ा हित होगा।[3] 'सुप्रीम कौंसिल' के एक मेम्बर की राय थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के बीच बीच में देशी

१ जान ब्रिग्स, मेम्वायर, पृ० २७९। बसु, जि० ५, पृ० २१८।

२ लीवार्नर, डलहौज़ी, जि० २, पृ० १५०।

३ इंडिया अंडर डलहौज़ी एंड कैनिंग, पृ० २७।

राज्यों के होने से साधारण सुधार के कार्यों में बड़ी अड़चन पड़ती है। ब्रिटिश भारत में जितना देश है, उस पर शासनाधिकार हो जाने ही में जनता का सबसे अधिक हित है।[1] सेनापति नेपियर का कहना था कि एक भी देशी राजा को न छोड़ना चाहिए।[2] इस तरह देशी राज्यों के प्रति इँग्लेंड-सरकार, गवर्नर-जनरल और उसके सलाहकारों की नीति निश्चित थी। इसको काम में लाने के लिए एक विचित्र सिद्धान्त का सहारा लिया गया। पुत्र न होने पर हिन्दुओं में गोद लेने की प्रथा है। राजाओं को इसके लिए, जिस शक्ति के वे अधीन होते थे, उसकी आज्ञा लेनी पड़ती थी। यह एक साधारण नियम था। इसमें कोई विशेष अड़चन न डाली जाती थी और नज़राना लेकर यह आज्ञा प्रायः सभी राजाओं को दे दी जाती थी। अब इसका यह अर्थ लगाया गया कि गोद लेने की आज्ञा देना या न देना ब्रिटिश सरकार की इच्छा पर निर्भर है। यदि किसी राजा को यह आज्ञा नहीं मिली है, तो उसके मरने पर उसका राज्य सरकार की सम्पत्ति है। उसमें और किसी का हक़ नहीं है। एक साधारण नियम का यह मनमाना अर्थ था। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर जार्ज क्लार्क की राय में मुसलमानों या मराठों के शासनकाल में कोई राज्य इस तरह ज़ब्त नहीं किया गया था।

सन् १८३४ में ही संचालकों ने यह निश्चित कर लिया था कि जहाँ तक सम्भव हो गोद लेने की आज्ञा न देनी चाहिए। सन् १८४१ में ब्रिटिश सरकार ने भी यह मत स्थिर कर लिया था कि ऐसे राज्य हाथ में आ जाने से छोड़ने न चाहिएँ। इसी के अनुसार कोलाबा और मांडवी की रियासतें पहले ही ज़ब्त हो चुकी थीं। अब डलहौज़ी ने अधीन राज्यों के सम्बन्ध में इसको अपना मुख्य सिद्धान्त मान लिया और कई एक हिन्दू राज्यों को ज़ब्त कर लिया। उसकी राय में हिन्दू राज्यों की तीन श्रेणियाँ थीं। एक तो स्वाधीन राज्य, दूसरे ऐसे राज्य जो ब्रिटिश सरकार को मुग़ल सम्राट् या पेशवा के

१ सतारा पेपर्स, सन् १८४९, पृ० ८५।

२ हंटर, डलहौज़ी (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० २७।

स्थान पर समझकर उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे और तीसरे वे राज्य जिनको ब्रिटिश सरकार ने सनद देकर स्थापित किया था। डलहौज़ी का कहना था कि पहली श्रेणी के राज्यों में गोद लेने के सम्बन्ध में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। दूसरी श्रेणी के राज्यों में गोद लेने की आज्ञा देने या न देने का सरकार को अधिकार है। परन्तु तीसरी श्रेणी के राज्यों में गोद लेने की आज्ञा देना कभी भी उचित नहीं है। इस विभाग को लेकर यह कहा जाता है कि डलहौज़ी केवल नियमित रूप में इस सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहता था। सर्वथा अधीन राज्यों को छोड़कर बड़े बड़े राज्यों पर उसकी दृष्टि न थी। पर वास्तव में यह विभाग मनमाना था। भारतवर्ष में कोई भी राज्य स्वतंत्र न था, सभी पर यह सिद्धान्त लागू हो सकता था। लार्ड हार्डिंज के समय में इन्दौर को भी, जिसकी गणना स्वतंत्र राज्यों में थी, यह धमकी दी गई थी। करौली का राजपूत राज्य किस श्रेणी में था, इस पर स्वयं डलहौज़ी और इँग्लेंड-सरकार में ही मतभेद था। हिन्दू राज्यों के हड़प करने का यह अच्छा उपाय मिल गया था। स्वाधीन, अधीन और सर्वथा अधीन का भेद केवल दिखलाने भर को था। सर जान स्ट्रेची की राय थी कि सभी देशी राज्यों के नष्ट हो जाने में केवल समय का प्रश्न था।

यह बात ठीक है कि इस सिद्धान्त को लार्ड डलहौज़ी ने न निकाला था। उसके आने के पहले ही यह निश्चित हो चुका था। परन्तु जिस तरह उसके समय में इसका प्रयोग किया गया, उसकी ज़िम्मेदारी से वह नहीं बच सकता। वह केवल अपने स्वामियों की आज्ञा ही का पालन न कर रहा था बल्कि उसको उचित और आवश्यक समझता था। भारत के इतिहास में यह सिद्धान्त 'डाक्ट्रिन आफ़ लैप्स' अर्थात् 'दायावसान के सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। जो राज्य इस सिद्धान्त के भीतर नहीं आते थे, उनके ज़ब्त करने के लिए शासन ठीक न होने का बहाना बना बनाया था। इनका शासन सुधारने के लिए लार्ड डलहौज़ी तैयार न था। हैदराबाद तथा लखनऊ के रेज़ीडेंट वहाँ की दशा सुधारने के लिए कहते कहते हैरान हो गये, पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इन राज्यों की दुर्दशा जारी रखने में ही ब्रिटिश सरकार का

हित था। इसलिए इनके सम्बन्ध में वह 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का पक्का अनुयायी बन गया था। उसका स्पष्ट कहना था कि "स्वतंत्र देशी राज्यों के पुनरुद्धार" का हमने बीड़ा नहीं उठाया है।[1] 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' के अध्यक्ष लार्ड ब्राउटन को पूरा विश्वास था कि "पाँच मिनट" का भी समय मिलने पर डलहौज़ी अवध और हैदराबाद के शासनों का, जो ब्रिटिश साम्राज्य को कलंकित कर रहे हैं, अन्त कर देगा।[2]

सतारा—लार्ड डलहौज़ी के भारतवर्ष पहुँचने के कुछ ही दिन बाद, दिसम्बर सन् १८४७ में 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' की ओर से हाबहाउस उसको सतारा के विषय में लिखता है कि "मैंने सुना है कि राजा का स्वास्थ्य बहुत ख़राब हो रहा है। बहुत सम्भव है कि उसके राज्य के भाग्य का निर्णय हमें शीघ्र ही करना पड़े। मेरी पक्की राय है कि बिना पुत्र के इस राजा के मरने पर गोद लेने की आज्ञा न दी जाय और यह छोटा राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाय। यदि मेरी अध्यक्षता में यह प्रश्न आया, तो मैं ऐसा ही करने के लिए कोई बात उठा न रखूँगा।"[3] सन् १८४८ में राजा के मरने पर उसका राज्य ले लिया गया। मरते समय उसने जिस लड़के को गोद लिया था, उसका राज्य पर कोई अधिकार न माना गया। लार्ड डलहौज़ी लिखता है कि सन् १८१९ में इस राज्य को स्थापित करने की भले ही आवश्यकता रही हो, पर अब मराठों का भय न होने से, इसके रखने की कोई ज़रूरत नहीं थी। यह 'ज़िला बहुत उपजाऊ है और आमदनी भी बढ़नेवाली' है। इसको ले लेने से हमारे सैनिक प्रबन्ध तथा शासन में सुगमता हो जायगी और आमदनी भी बढ़ जायगी।

सन् १८१९ में सतारा के राजा के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमें स्पष्ट कहा गया था कि उसके "वारिसों तथा उत्तराधिकारियों" का राज्य पर "बराबर

---

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ़ डेकन, जि० २, पृ० २०३।

२ लीवार्नर, डलहौज़ी, जि० २, पृ० ३१५।

३ वही, पृ० १५८।

कब्ज़ा" बना रहेगा। बम्बई के गवर्नर सर जार्ज क्लार्क का मत था कि ऐसी दशा में राज्य को ज़ब्त करना किसी तरह उचित न था। रेज़ीडेंट फ़्रेरे का कहना था कि किसी अदालत के सामने राजा के वारिस अपना हक़ साबित कर सकते थे। सतारा का शासन भी ऐसा बुरा न था। प्रतापसिंह के समय में तो राज्य की बड़ी अच्छी दशा थी। परन्तु दो लाख पौंड साल की आमदनी के सामने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। अर्नाल्ड लिखता है कि सरकार के मत्थे पर कलंक का यह ऐसा टीका लगा, जो कभी मिट नहीं सकता।

नागपुर—दिसम्बर सन् १८५३ में नागपुर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके भी कोई सन्तान न थी, इसलिए उसका भी राज्य ले लिया गया। नागपुर के राज्य का वही पद था, जो सिन्धिया और होलकर के राज्यों का था। परन्तु इसके उत्तर में कहा गया कि अप्पा साहब के भागने पर राज्य अँगरेज़ों के हाथ में आ गया था और उन्होंने अपनी तरफ़ से राजा को गद्दी पर बिठलाया था। सन् १८२६ की सन्धि से राज्य "ब्रिटिश सरकार की दया पर" निर्भर था और "महाराजा की मसनद जिसे चाहे देने" का उसे अधिकार था। ऐसी दशा में नागपुर की भी गणना अधीन राज्यों में थी। विधवा रानी ने एक बालक गोद लिया था, उसका कोई हक़ न माना गया। कहा गया कि पिछले राजा ने बड़ा अत्याचार किया था। वह "न्याय को बेचने-वाला, शराबी और व्यसनी" था, फिर ब्रिटिश सरकार को यह कैसे विश्वास हो सकता था कि नया राजा उसी की नक़ल नहीं करेगा? नागपुर की प्रजा के हित की दृष्टि से सरकार इस अवसर को छोड़ नहीं सकती।

वास्तव में मुख्य कारण, जैसा कि लीवार्नर ने लिखा है, नागपुर का भौगोलिक और राजनैतिक महत्व था। डलहौज़ी का ध्यान था कि इस राज्य को मिला लेने से ८० हज़ार वर्ग मील भूमि पर अधिकार हो जायगा, ४० लाख रुपये साल की आमदनी बढ़ जायगी और इधर उधर का राज्य एक में मिल जायगा। कलकत्ता से बम्बई जाने के लिए मार्ग भी साफ़ हो जायगा। इस तरह "नागपुर पर अधिकार हो जाने से हमारी सैनिक शक्ति एक में मिल

जायगी, हमारे व्यापार का क्षेत्र बढ़ जायगा और हमारा शासन भी अच्छी तरह दृढ़ हो जायगा।"[1] इँग्लेंड-सरकार का भी यही मत था और डलहौज़ी को बराबर इसके सम्बन्ध में लिखा जा रहा था। राज्य का अन्त हो जाने पर दर-बार की सब सम्पत्ति नीलाम कर दी गई। सर जान के का कहना है कि सामान लेने में रानियों के साथ बहुत ज़्यादती की गई। नीलाम की कुछ आमदनी से भोंसला परिवार की रक्षा के लिए एक 'भोंसलाफ़ंड' खोल दिया गया। इसमें सरकार की कोई उदारता नहीं थी। उस सम्पत्ति पर तो भोंसला के कुटु-म्बियों का सब तरह से अधिकार ही था।

भोंसला-शासन—तत्कालीन अन्य राज्यों के शासन की तरह भोंसलाओं के शासन में भी बहुत से दोष थे। पर तब भी राज्य की दशा ऐसी शोचनीय न थी, जैसी कि बतलाई जाती है। यह बात रिचर्ड जेंकिंस के, जो बहुत दिनों तक नागपुर दरबार में रेज़ीडेंट रहा था, दिये हुए विवरण से स्पष्ट है। वह लिखता है कि जानोजी भोंसला के समय में न्याय ठीक ढँग से होता था। फ़ौजदारी अपराध बहुत कम होते थे और प्राणदंड शायद ही कभी दिया जाता था। राज्य की आमदनी खूब थी और प्रजा सुख से रहती थी। सेना और बड़े अफ़-सरों का वेतन ठीक समय से बिना कुछ घटाये हुए दिया जाता था। राजा सबको अपने बराबर समझता था और दरबार में कभी कभी वह स्वयं उठकर मिलता था। राघोजी के समय से 'मजुमदार' या दीवान राज्य का सबसे मुख्य अफ़सर होता था। उसके फड़नवीस के हाथ में कुल हिसाब-किताब और दफ़्तर रहता था। नगर के बड़े बड़े साहूकारों को भी दरबार में स्थान दिया जाता था और समय समय पर उनसे सलाह ली जाती थी। उनमें से एक 'नगर-नायक' होता था, जो व्यापार का निरीक्षण करता था और राज्य के लिए आवश्यकता होने पर ऋण का प्रबन्ध करता था।

यहां भी दक्षिण की तरह हर एक गांव में एक पटेल रहता था, जिसके नीचे गांव के अन्य कर्मचारी काम करते थे। लगान के अतिरिक्त भी बहुत

१ लीवार्नर, डलहौज़ी, जि० २, पृ० १७८-७९।

से कर लिये जाते थे। पटेलों पर निगरानी रखने के लिए सूबेदार लोग दौरा करते थे। पटेलों को न्याय और पुलिस के भी कुछ अधिकार रहते थे। दीवानी मामले पंचायतों द्वारा तय किये जाते थे। पंचों को चुनने में जाति-पाँति का भेद न माना जाता था। प्रायः योग्य और प्रतिष्ठित लोग ही चुने जाते थे। बड़ी बड़ी पंचायतों में कुल कार्यवाही लिखी जाती थी। गवाहों का बड़ा ध्यान रखा जाता था और किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होने पाता था। फ़ौजदारी की अन्तिम अपील राजदरबार में होती थी। स्त्रियों और ब्राह्मणों को प्राण-दंड नहीं दिया जाता था। सन् १७९२ तक राज्य की अच्छी दशा थी। वेलेज़ली के मराठा-युद्ध के बाद से कुछ अत्याचार अवश्य प्रारम्भ हो गया था।

हर एक ज़िले में वहां के लिए काफ़ी कपड़ा बनता था। नागपुर में बुनाई का अच्छा काम होता था। बंगाल के ढँग के डोरिया और चारखाने बनाये जाते थे। सन् १८०३ में राघोजी ने बहुत से जुलाहों को ज़ैनाबाद और बरहानपुर से लाकर बसाया था। सबसे अधिक खादी बनती थी, जो तम्बू, क़नात और साधारण आदमियों के पहनने के काम में आती थी। बारह आने से लेकर तीन रुपये तक का एक थान बिकता था। सन् १८०३ तक यह खादी बरार होकर बम्बई और अरब तक जाती थी। धोतियां, साड़ी, लुंगी और रुमाल भी बहुत बनते थे। सन् १८१७ से कपड़े का बनना मन्दा पड़ गया। सेनाओं के तोड़ देने से कपड़े की खपत कम हो गई। साल में १४ लाख रुपये का कपड़ा केवल पूना जाता था। पेशवा का दरबार नष्ट हो जाने से यह बन्द हो गया, पर तब भी बाजीराव के खर्च के लिए कपड़ा बराबर बिठूर जाता रहा। हुंडी-पर्चे का काम मारवाड़ियों के हाथ में था, जो जेंकिंस के शब्दों में "बड़े बुद्धिमान्, व्यापारचतुर और ईमानदार होते हैं।" शिक्षा का प्रचार ब्राह्मणों में अधिक था। गुलामी की कम चाल थी। हर एक चीज़ का भाव सस्ता था। घी रुपये का तीन चार सेर, आटा २७ सेर और चावल २५ सेर बिकता था।[1] यदि सन् १८२७ तक, जब का यह विवरण है, ऐसी दशा थी, तो फिर

१ जेंकिंस, रिपोर्ट ऑन दि टेरीटोरीज़ ऑफ़ दि राजा ऑफ़ नागपुर, सन् १८२७।

पचीस ही वर्ष में कौन सा और क्यों ऐसा परिवर्तन हो गया, जिसके कारण डल-हौज़ी को प्रजा पर दया करके नागपुर कम्पनी के राज्य में मिला लेना पड़ा ?

नागपुर की गई-बीती अवस्था में भी अन्तिम रेज़ीडेंट मैंसेल को मानना पड़ा है कि शासन के सिद्धान्त चाहे जो कुछ हों, राज्य की दशा अच्छी थी।[1] सर रिचर्ड टेम्पल भी, जो बाद को चीफ़ कमिश्नर हुआ, लिखता है कि भोंसला घराने के मराठा राजाओं द्वारा नागपुर के शासन के बारे में मेरा अच्छा ख़याल है। उसमें कई एक अच्छी बातें थीं।[2]

झाँसी—यह मराठों के अधीन थी और यहां का शासक पेशवा का सूबेदार कहलाता था। सन् १८१७ में पेशवा का राज्य नष्ट होने पर सूबेदार रामचन्द्रराव ने ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार कर ली। सन् १८३२ में उसको राजा की उपाधि दी गई। सन् १८३५ में उसकी मृत्यु होने पर उसका चचा गद्दी पर बिठला दिया गया। जिस लड़के को उसने गोद लिया था, उसका हक़ न माना गया। कारण यह था कि गद्दी के लिए चार हक़दार लड़-भिड़ रहे थे। गोद लेने के सम्बन्ध में भी बहुतों को सन्देह था। इसी लिए जो सबसे योग्य समझा गया और जिसका पक्ष सबसे प्रबल था, वही गद्दी का अधिकारी मान लिया गया। सन् १८४३ में जो राजा मर गया, उसके भी कोई सन्तान नहीं थी। मरने के एक दिन पहले उसने एक बालक को गोद लिया था। लार्ड डलहौज़ी ने उसको नहीं माना और रानी को पेंशन देकर झांसी का राज्य ज़ब्त कर लिया गया। डलहौज़ी का कहना था कि झांसी तीसरे दर्जे का राज्य था। दत्तक पुत्र का अधिकार न मानने का सन् १८३५ का प्रमाण मौजूद था और वहां के राजा किसी योग्य न थे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि झांसी अँगरेज़ों की दी हुई जागीर न थी। उस पर रामचन्द्रराव तथा उसके "वारिसों" का अधिकार उन्होंने "सदा के लिए" मान लिया था। सन् १८३५ में गोद लेने का अधिकार था या नहीं,

१ बरार पेपर्स, सन् १८५४, पृ० २६।

२ ब्रिटिश एंड नेटिव सिस्टम्स, सन् १८६८, पृ० ६९।

इस पर कोई विचार नहीं किया गया था। जिसका पक्ष सबसे प्रबल था, वही राजा मान लिया गया था। वहां के शासन से प्रजा सन्तुष्ट थी। राज्य का काम चलाने के लिए रानी "सर्वथा योग्य" थी।[1] परन्तु झांसी का राज्य "ब्रिटिश ज़िलों के बीच में" था, इसलिए डलहौज़ी की राय में उस पर अधिकार कर लेना ही "नीतियुक्त" था।

निज़ाम और बरार—सहायक सेना के अतिरिक्त निज़ाम को ४० लाख रुपया साल के खर्च से एक दूसरी सेना रखनी पड़ती थी, इसका उल्लेख किया जा चुका है। किसी सन्धि के अनुसार शान्ति के समय में इस सेना का रखना आवश्यक न था। पर तब भी यह सेना तोड़ी न जाती थी। इसका परिणाम यह हो रहा था कि निज़ाम पर सरकारी क़र्ज़ बढ़ रहा था। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के शब्दों में "यह सेना, जो वेतन देता था, उसकी अपेक्षा अपनी थी।" रेज़ीडेंट फ्रेज़र की राय में, इस सेना का रखना "अपने लिए वैसा ही लज्जाजनक था, जैसा कि निज़ाम के लिए हानिकारक।" रेज़ीडेंट लो इसको "निष्ठुरता" समझता था, जिसके कारण निज़ाम का ख़ज़ाना ख़ाली हो रहा था। उसका कहना था कि जिस सेना का खर्च हम बराबर २८ वर्ष से ले रहे हैं, किसी सन्धि के अनुसार, उसका निज़ाम से "एक रुपया" भी लेने का "हमें अधिकार नहीं है।" सन् १८४८ में डलहौज़ी ने भी स्वीकार किया कि इस मामले में ब्रिटिश सरकार निर्दोष नहीं है।[2]

इतने पर भी यह सेना घटाई नहीं गई। उलटे कुल क़र्ज़, जो बढ़ते बढ़ते ६४ लाख तक पहुँच गया था, फ़ौरन अदा करने के लिए निज़ाम को बड़ी तीव्र भाषा में लिखा गया और कहा गया कि भारत-सरकार की "शक्ति तुम्हें जब चाहे पददलित कर सकती है"। बेचारे निज़ाम ने अपने जवाहरात गिरवी रखकर जैसे तैसे पहली क़िस्त अदा की। बाक़ी जवाहरात को वह एक बैंक में, जो इसी के लिए क़ायम किया गया था, बन्धक रखकर ४० लाख रुपया देना चाहता था, पर गवर्नर-जनरल की आज्ञा से वह बैंक तोड़ दिया गया।

१ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ५६-५७।

२ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० १९५-९७।

आबकारी के हिसाब में निज़ाम का ४० लाख रुपया अँगरेज़ों के पास निकलता था। वह भी मुजरा नहीं दिया गया और निज़ाम से कुल रुपये की अदाई के लिए राज्य का कुछ भाग दे देने के लिए कहा गया। गवर्नर-जनरल की इस ज़्यादती के कारण रेज़ीडेंट फ्रेज़र का रहना मुश्किल हो गया। निज़ाम और उसके वज़ीर के आनाकानी करने पर सैनिक बल के प्रयोग की धमकी दी गई और सन् १८५३ में एक सन्धिपत्र पर, जिसके अनुसार बरार अँगरेज़ों के पास बन्धक रख दिया गया, निज़ाम के हस्ताक्षर करा लिये गये।[1]

डलहौज़ी की राय में निज़ाम के साथ बड़ी "उदारता और नम्रता" का व्यवहार किया गया। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की "ईमानदारी" और "क्षमता" में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इस प्रबन्ध से 'बोर्ड आफ़ कंट्रोल' के अध्यक्ष चार्ल्स वुड को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उसकी राय में यदि कोई भूल हुई तो इतनी ही कि निज़ाम को कुल हिसाब समझाने और बचत वापस कर देने का वचन दे दिया गया।[2] बरार रुई की खेती के लिए प्रसिद्ध है। यह निज़ाम को फिर कभी वापस न किया गया। बरार और नागपुर ले लेने के सम्बन्ध में एक अंगरेज़ ने ठीक कहा था कि "इन दिनों न्याय के कान में रुई ठुसी थी।"

अवध राज्य का अन्त—मुहम्मदअली के मरने पर उसके लड़के अमजदअली ने पांच वर्ष तक राज्य किया। उसमें शासन की विशेष योग्यता न थी, पर तब भी ७७ हज़ार रुपया साल के खर्चे से रेज़ीडेंट की निगरानी में सीमा पर की पुलिस ठीक की गई। सिख-युद्ध के समय पर उसने भी ब्रिटिश सरकार की बड़ी सहायता की। उसके बाद सन् १८४७ में वाजिद-अली शाह गद्दी पर बैठा। दो वर्ष में शासन ठीक करने के लिए उसको चेतावनी दी गई। इस पर सन् १८४८ में रेज़ीडेंट तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेंट-गवर्नर की राय से अवध के कुछ सरहद्दी ज़िलों में ब्रिटिश शासन-

१ ब्रिग्स, हिस्ट्री आफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० २०६—२१।

२ लीवार्नर, जि० २, पृ० १३२।

व्यवस्था चलाने के लिए एक योजना तैयार की गई। परन्तु कलकत्ता से उसके लिए मंजूरी नहीं मिली। वहां तो कुछ और ही तैयारियाँ हो रही थीं। डलहौज़ी ने पहले ही से यह राय क़ायम कर ली थी कि अवध के शासन में सुधार होने की सम्भावना नहीं है। वहाँ "बहुत कुछ परिवर्तन करने पड़ेंगे।"[१] अवध के सम्बन्ध में ता० ३० जुलाई सन् १८५१ के एक पत्र में वह लिखता है कि यह फल किसी दिन हमारे मुँह में अवश्य गिरेगा। यह बहुत दिनों से पक रहा है। परन्तु इस समय राज्यों के ज़ब्त करने के विरुद्ध कुछ आन्दोलन हो रहा है। इसके अतिरिक्त कम्पनी के आज्ञापत्र पर विचार करनेवाली कमेटी भी बैठनेवाली है। इसी लिए, मेरी राय में, पेड़ को हिलाकर इस फल का गिराना संचालकों को पसन्द न आयगा।[२] ता० २१ अक्तूबर सन् १८५३ के पत्र में 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' का अध्यक्ष चार्ल्स वुड लिखता है कि यदि पीगू छीनने की आवश्यकता न पड़ी होती, तो मुझे अवध के ले लेने में कुछ भी संकोच न होता। हाल में या कुछ दिनों बाद वह तो हमें लेना ही पड़ेगा। "प्रश्न केवल समय, अवसर और बहाने का है।"

वाजिदअली शाह

---

१ डकॉयटी इन एक्सेलंसिस, पृ० १०२–११।

२ डलहौज़ी, प्राइवेट लेटर्स, पृ० ६९।

इन दिनों "हड़प करने की प्रवृत्ति" का दिखलाना बहुत वांछित नहीं जान पड़ता है। इसलिए "अपनी जागीर" पर अधिकार करने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।[1] इन वाक्यों से अवध के प्रति गवर्नर-जनरल तथा इँग्लेंड-सरकार के जो भाव थे, स्पष्ट हैं। उसके ज़ब्त करने में कमी केवल दो बातों की थी। एक तो बहाना और दूसरे इँग्लेंड की जनता का समर्थन।

सन् १८५३ में कम्पनी के शासन की जांच समाप्त हो गई और उसको नया आज्ञापत्र मिल गया। इसलिए इँग्लेंड के लोकमत का अधिक भय न रहा, अब केवल बहाने की बात रह गई। शासन ठीक न होने का बहाना बना बनाया था। इसके लिए अवध के शासकों को प्रत्येक गवर्नर-जनरल बराबर चेतावनी देता आ रहा था। हाल ही में रेज़ीडेंट स्लीमैन का दौरा समाप्त हुआ था। प्रजा कैसी पीड़ित थी, उस पर कैसे कैसे अत्याचार हो रहे थे, इसका उसने जो वर्णन किया था, उससे बढ़कर अवध के शासन की तीव्र आलोचना क्या हो सकती थी? यदि वास्तव में ये सब बातें ठीक थीं, तो भी यह प्रश्न होता है कि उन सबको दूर करने का क्या एक मात्र उपाय अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेना ही था? स्वयं स्लीमैन इसको मानने के लिए तैयार न था। उसकी राय में शासन का भार एक बोर्ड के हाथ में दे देने से काम चल सकता था। इसमें शाह को भी आपत्ति नहीं थी। सर हेनरी लारेंस का भी ऐसा ही मत था। उसका कहना था कि शासन के दोषों को दूर करने की "औषध हमारे हाथ में है।" यदि "कोई अपना धन नष्ट करता है, या प्रजा को पीड़ा पहुँचाता है, तो भी उसको लूट लेने का हमें अधिकार नहीं है। उसका धन बिना अपनी जेब में रखे हुए हम प्रजा की रक्षा और सहायता कर सकते हैं। यदि हमें अवध की चिन्ता है, तो जहां तक सम्भव हो शासन वहां के निवासियों ही के हाथ में छोड़ देना चाहिए और वहां का एक रुपया भी कम्पनी के खज़ाने में न लेना चाहिए।[2]

---

१ लीवार्नर, डलहौज़ी, जि० २, पृ० ३१६।

२ हेनरी लारेंस, एसेज़, पृ० १२९—३२।

सन् १८३७ की सन्धि से डलहौज़ी ऐसा प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु इसके अनुसार बादशाह को सारा हिसाब समझाना पड़ता और शासन ठीक हो जाने पर अवध वापस कर देना पड़ता। शायद इसी लिए उसका कहना था कि यह सन्धि रद्द हो गई। इसको संचालकों ने मंजूर नहीं किया था, यह बात ठीक है। परन्तु अवध के बादशाह को इसकी सूचना कभी नहीं दी गई थी। बाद में लार्ड हार्डिंज ने इसी सन्धि पर ज़ोर दिया था। ऐसी दशा में यह सन्धि रद्द नहीं मानी जा सकती थी।[1] परन्तु डलहौज़ी का उद्देश्य ही दूसरा था। इसी लिए वह सन् १८०१ की सन्धि पर ज़ोर दे रहा था, जिसमें नवाब को यह वचन दिया गया था कि अवध का "शासन उसके अफ़सरों द्वारा होगा।" डलहौज़ी का कहना था कि ऐसी दशा में हस्तक्षेप कैसे किया जा सकता था? पर वास्तव में अवध में कई एक अँगरेज़ अफ़सर इस समय भी काम कर रहे थे। हेनरी लारेंस लिखता है कि छोटी छोटी बातों में बराबर हस्तक्षेप किया जाता था, पर जब कोई महत्त्व का प्रश्न आ जाता था, तब अवश्य हाथ खींच लिया जाता था। अवध की दशा बिगड़ने देने ही में ब्रिटिश सरकार का काम बनता था, इसी लिए उसके सुधारने की कोई चेष्टा नहीं की जा रही थी। केवल धमकियां दी जा रही थीं।

गवर्नर-जनरल की ज़्यादती के कारण स्लीमैन को लखनऊ छोड़ना पड़ा। उसका कहना था कि डलहौज़ी और उसके सलाहकार इन दिनों अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने के पक्ष में हैं, जिसका परिणाम यह होगा कि वहां मध्य तथा उच्च श्रेणी के लोग नष्ट हो जायँगे। उनकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। ऐसा न करने का परिणाम हमारे ही लिए भयंकर होगा। "हड़प करने की नीति" से देशवासियों में भय के भाव दिखलाई दे रहे हैं। आन्दोलनकारियों के लिए यह अच्छा अवसर मिल रहा है। मैं सन्धियों का पूर्ण रूप से पालन चाहता हूँ। चाहे वे काले मुखवालों से की गई हों या गोरे मुखवालों से। अवध को

१ डकॉयटी इन एक्सेलसिस, पृ० १९२–९९।

ज़ब्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। ऐसा करना "'बेईमानी और लज्जा" की बात होगी। यदि हम प्रजा को बराबर कसते जायँगे, तो उस पर जैसा कुछ शासन हो रहा है, उससे अच्छा न होगा।[1] "यदि हम अवध या उसके किसी भी भाग को छीन लेंगे, तो भारतवर्ष में हमारे नाम पर, जिसका मूल्य दर्जनों अवध से अधिक है, धब्बा लगेगा।"[2]

परन्तु डलहौज़ी की राय निश्चित थी। उसने एक चाल सोच रखी थी। पेंशन स्वीकार करके कुल शासन अँगरेज़ों के हाथ में दे देने के लिए वह वाजिदअली से प्रस्ताव करना चाहता था। उसने सोचा था कि यदि यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया, तब तो कोई बात ही नहीं है। पर यदि ऐसा न किया गया तो वह अवध के साथ सब सम्बन्ध तोड़ देगा और वहां से सेना तथा अफ़सरों को हटा लेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अवध भर में उपद्रव मच जायगा और अँगरेज़ों से छेड़-छाड़ होने लगेगी। तब फिर अवध पर आक्रमण करके भी उसको छीन लेने में किसी को आपत्ति न होगी।[3] उसका कहना था कि सन् १८०१ की सन्धि के अनुसार अवध के शासन में कोई सुधार नहीं किया गया था। इसलिए उसके साथ सम्बन्ध तोड़ देने में कोई दोष न था। उस सन्धि पर अधिक ज़ोर देने का यही मुख्य कारण था। नाम मात्र के शासकों को मानने से कोई लाभ नहीं है, यह लार्ड डलहौज़ी का सिद्धान्त था। पर अब वह स्वयं इससे हट रहा था। अंगरेज़ इतिहासकारों का कहना है कि इसी से अवध के शाही घराने के प्रति उसकी सहानुभूति प्रकट हो रही है। परन्तु वास्तव में वह केवल एक "बहाना" ढूँढ़ रहा था। यदि सचमुच उसकी सहानुभूति होती, तो स्लीमैन तथा हेनरी लारेंस की राय मानकर केवल शासन-व्यवस्था ठीक कर दी गई होती और अवध की आमदनी कम्पनी की जेब में न रखी जाती।

१ स्लीमैन, अवध, जि० १, भूमिका, पृ० २१—२२।

२ वही, जि० २, पृ० ३७९।

३ लीवार्नर, डलहौज़ी, पृ० ३२३।

इस चाल के चलने का काम नये रेज़ीडेंट आउट्रम को सौंपा गया। चुपके चुपके सब सैनिक प्रबन्ध कर लिया गया, हनुमान गढ़ी के उपद्रव को शान्त करने के बहाने सेना एकत्र कर ली गई और अधिकार मिल जाने पर कौन कौन अफ़सर कहां रहेगा, यह सब भी तय कर लिया गया। इतने ही में इँगलेंड से भी जैसा उचित जान पड़े वैसा करने के लिए मंजूरी आ गई। अब किसी प्रकार की बाधा न रही। फ़रवरी सन् १८५६ में, सैनिक बल प्रयोग करने की धमकी देने पर भी वाजिदअली शाह ने अपमान-जनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। इस पर एक घोषणा द्वारा अवध अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया और वाजिदअली शाह को पेंशन दे दी गई। थोड़े दिनों बाद वह कलकत्ता भेज दिया गया। इस तरह अवध अँगरेज़ों के हाथ में आ गया। लार्ड डलहौज़ी अपनी डायरी में लिखता है कि अवध के ऐसे शासन को, जिससे करोड़ों आदमियों को पीड़ा पहुँच रही थी, कुछ काल अधिक बनाये रखने में सहायता देने से ईश्वर और मनुष्य की दृष्टि में ब्रिटिश सरकार दोषी ठहराई जाती। इस भाव को हृदय में लेकर और परम शक्तिशाली ईश्वर की अनुकम्पा पर विश्वास रखकर मैंने इस कर्तव्य को, बड़े सोच-विचार तथा सहानुभूति, परन्तु शान्ति और बिना किसी सन्देह के साथ किया।[१]

नवाबी शासन—शुजाउद्दौला के समय में देश की जैसी कुछ दशा थी, दिखलाई जा चुकी है। आसफुद्दौला के समय से अँगरेज़ों का हस्तक्षेप बढ़ने लगा, वैसे ही दशा भी बिगड़ने लगी। सन् १७८४ में इसको वारेन हेस्टिंग्ज़ ने भी माना है। सादतअली के समय में दशा फिर कुछ सुधरी। सन् १८१८ में लार्ड हेस्टिंग्ज़ ग़ाज़ीउद्दीन को विश्वास दिलाता है कि खेती की अच्छी दशा, जनसंख्या की वृद्धि और प्रजा का "सुख तथा आराम" देखकर बड़ा सन्तोष हो रहा है। सन् १८२४ में हेबर लिखता है कि अवध की आबादी और खेती की अच्छी दशा देखकर

१ हंटर, डलहौज़ी (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० १७६।

आश्चर्य्य हो रहा था।[1] सन् १८३६ में आकलैंड मुहम्मदअली शाह को लिखता है कि "जब से आप गद्दी पर बैठे हैं, पिछली दशा को देखते हुए राज्य में बहुत कुछ सुधार हुआ है।" सर हेनरी लारेंस का कहना है कि अवध के शासकों से जैसी कुछ आशा थी, उससे वे कहीं अच्छे थे। वे कभी कभी क्रूर अवश्य पर झूठे कभी नहीं हुए।

'हुज़ूर तहसील' को छोड़कर अवध का राज्य बहुत से इलाक़ों और चकलों में बँटा हुआ था। यहां के तालुक़ेदार और ज़मीन्दार बहुत कुछ स्वतंत्र थे। वे प्रायः आपस में लड़ा करते थे और सब तरह से अपनी रियासतें बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे। उनसे सरकारी मालगुज़ारी वसूल करना मुश्किल हो जाता था। परन्तु प्रजा के साथ इनमें से बहुतों का व्यवहार अच्छा था। इसको स्लीमैन ने भी माना है। शाहगंज के विषय में वह लिखता है कि यहां "काश्तकार धनी तथा सन्तुष्ट हैं।" उनको कभी धोखा नहीं दिया जाता है। चोर, डाकू, उद्दंड पड़ोसी और सबसे अधिक 'शाही फ़ौज' से उनकी रक्षा की जाती है। गांवों में अच्छे अच्छे किसानों को बसाने का प्रयत्न किया जाता है। हर एक गांव में झोपड़ों के सामने फुलवाड़ी है। देश एक "हरा-भरा बगीचा" सा जान पड़ता है। सरहद्दी झगड़े पटवारी और क़ानूनगो की सहायता से पंचायतों द्वारा निपटा लिये जाते हैं। छोटे बड़े सभी किसानों को जो वचन दिया जाता है, उसका ज़मीन्दार पालन करते हैं और किसान भी अपना लगान बराबर देते हैं। दुर्भिक्ष या किसी आपत्ति के समय में उनके साथ ख़ास रियायत की जाती है।[2] इस तरह नवाबी शासन ठीक न होने पर भी अवध के कई भागों में प्रजा का पालन होता था।

सन् १८३१ में यात्रा करनेवाली एक महिला लिखती है कि अवध की प्रजा ब्रिटिश शासन के सुख में भाग लेने के लिए किसी तरह राज़ी नहीं है। कम्पनी के राज्य में रहनेवालों से अवध-निवासी कहीं अधिक धनी, मोटे और

१ हेबर, जर्नल, जि० २, पृ० ४९।

२ स्लीमैन, अवध, जि० १, पृ० १५०-६८।

बादशाह था। लार्ड डलहौज़ी बहादुरशाह के मरने के बाद से तैमूर के घराने से सम्राट् की उपाधि को हटा देना चाहता था। परन्तु उसकी इस बात को संचालकों ने स्वीकार नहीं किया। बहादुरशाह अपनी छोटी बेगम ज़ीनतमहल के लड़के को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु डलहौज़ी ने एक बड़े लड़के को उत्तराधिकारी मान लिया और उससे यह वादा करा लिया कि बहादुरशाह के मरने पर दिल्ली का महल ख़ाली कर दिया जायगा। रसल लिखता है कि शाही घराने के लोग नज़रबन्द रखे जा रहे थे। न उनकी पूरी आर्थिक सहायता की जाती थी और न उन्हें सरकारी नौकरियाँ ही दी जाती थीं। उनके लिए "उचित महत्त्वाकांक्षा" का दर्वाज़ा बन्द था। ऐसी दशा में जब उनका समय "आलस्य, नीचता तथा भोग-विलास" में व्यतीत होता था, तब उनकी निन्दा की जाती थी और यह दिखलाया जाता था कि वे कितने पतित हैं।[1]

ज़ीनतमहल

अन्य नवाब और राजा—कर्नाटक के नवाब का राज्य पहले ही छीन लिया गया था। सन् १८५५ में मुहम्मदग़ौस के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को नवाब की उपाधि नहीं दी गई और पेंशन भी घटा दी गई। कहा गया कि सन् १८०१ की सन्धि तत्कालीन नवाब के साथ व्यक्तिगत सन्धि थी। उसमें उसके उत्तराधिकारियों का कोई उल्लेख न था। यदि ऐसा ही था तो उसके बाद दो और नवाब क्यों माने गये? इसके उत्तर में कहा

---

१ रसल, माई डायरी इन इंडिया, १८५८-५९ जि० २, पृ० ५१।

गया कि तब बात दूसरी थी, अब उस नीति से काम लेने की आवश्यकता न थी।[1] इन दिनों नवाब के वंशज 'अर्काट के शाहज़ादे' कहलाते हैं। सन् १८५५ में तंजोर के राजा शिवाजी की मृत्यु हो गई। उसके केवल दो लड़कियां थीं। उसका कोई वारिस न माना गया, पेंशन बन्द कर दी गई और कुटुम्ब के गुज़ारा का प्रबन्ध कर दिया गया। रानियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया, उनकी निजी सम्पत्ति भी छीन ली गई, परन्तु यह डलहौज़ी के चले जाने के बाद की बात है। तंजोर के राजाओं ने हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया था। यह तंजोर में अब भी मौजूद है। सन् १८५१ में पेशवा बाजीराव के मरने पर, उसको ८ लाख रुपये साल की जो पेंशन दी जाती थी, बन्द कर दी गई और नाना साहब को, जिसे उसने गोद लिया था, केवल बिठूर की जागीर दी गई। कहा गया कि पेंशन व्यक्तिगत थी, इसके अतिरिक्त बाजीराव बहुत सा धन छोड़ गया है। नाना साहब ने एक प्रार्थनापत्र इँग्लैंड भेजा, जिसमें उसने दिखलाया कि यह पेंशन राज्य छीनने के बदले में दी गई थी। धन एकत्र हो जाने से पेंशन का हक़ नहीं मारा जाता। पर वहां से भी कोरा जवाब मिला।

काबुल और क़िलात—पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा करने के लिए अफ़ग़ानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद से मित्रता की सन्धि कर ली गई, जिसमें दोनों ने एक दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। बिलोचिस्तान की तरफ़ से किसी के आक्रमण का भय न रहे, इसलिए क़िलात के 'ख़ान' से भी सन्धि की गई। इस सन्धि से अँगरेज़ों को बिलोचिस्तान में सेना रखने और व्यापार करने के अधिकार मिल गये। उस तरफ़ लूट-पाट से रक्षा करने के लिए क़िलात के 'ख़ान' और उसके उत्तराधिकारियों को ५० हज़ार रुपये साल की सहायता देने का भी वचन दिया गया।

शासनप्रबन्ध—डलहौज़ी के समय में भारतवर्ष का बहुत सा भाग अँगरेज़ी राज्य में मिल गया, इसलिए अब शासनप्रबन्ध में कुछ परिवर्तन

१ लीवार्नर, डलहौज़ी, जि० २, पृ० १४१।

करना आवश्यक हो गया। इस समय तक बंगाल का शासन गवर्नर-जनरल के हाथ ही में था, परन्तु उसका काम अधिक बढ़ जाने के कारण सन् १८५३ में बंगाल प्रान्त के लिए एक अलग लेफ्टिनेंट-गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। पंजाब, बर्मा, अवध और नागपुर बिलकुल स्वतंत्र प्रान्त नहीं बनाये गये। इनमें चीफ़ कमिश्नर रख दिये गये, जो गवर्नर-जनरल के अधीन थे। ये प्रान्त हाल ही में लिये गये थे। इनको शान्त रखने के लिए ऐसे शासन की आवश्यकता थी, जिसमें प्रचलित रीति-रिवाजों में बहुत परिवर्तन भी न हो और सरकार का काम भी शीघ्रता और सुगमता से निपटता जाय। इसी लिए यहाँ बंगाल के सब क़ानून-क़ायदे नहीं चलाये गये। ज़िला मजिस्ट्रेट के हाथ में, जो 'डिप्युटी कमिश्नर' कहलाने लगे, न्याय, पुलिस और माल के सब अधिकार दे दिये गये।

बंगाल की अपेक्षा नये प्रान्तों में सेना का रखना अधिक आवश्यक समझा गया। उत्तरी भारत में मेरठ में सेना की मुख्य छावनी बनाई गई। पंजाब में एक अलग सेना रखी गई और गोरखों की भी कई एक पल्टनें बनाई गईं। इस समय उत्तरी भारत में अधिक निगरानी रखने की आवश्यकता थी, इसलिए शिमला में भारत-सरकार के रहने का प्रबन्ध किया गया।

रेल—सन् १८४१ से ही भारतवर्ष में रेल चलाने का विचार हो रहा था। अब साम्राज्य का विस्तार हो जाने से, एक स्थान से दूसरे स्थान को सेना शीघ्र ले जाने के लिए, रेलों की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। सरकार इसके लिए धन लगाने को तैयार न थी। डलहौज़ी ने घाटा पूरा करने का वचन देकर भारतवर्ष में रेल चलाने के लिए अँगरेज़ी कम्पनियों को राज़ी किया। सन् १८५३ में बम्बई के निकट, 'ग्रेट इंडियन पेनिंशुलर' (जी० आई० पी०) रेलवे कम्पनी ने पहले-पहल रेल चलाई। इसी की शाखाएँ खानदेश और नागपुर की तरफ़ बढ़ाई गईं। 'ईस्ट इंडियन रेलवे' (ई० आई० आर०) कम्पनी ने पहले कलकत्ता से रानीगंज तक रेल चलाई। फिर कलकत्ता से इलाहाबाद होते हुए दिल्ली तक इसी कम्पनी की रेल चल गई। इस तरह लार्ड डलहौज़ी के समय में ही 'मदरास रेलवे' (एम०

आर०) और 'बम्बई बड़ोदा सेंट्रल इंडिया' (बी० बी० सी० आई०) रेलवे कम्पनियां भी स्थापित हो गईं।

सेना की सुविधा के अतिरिक्त रेलों के चलाने में डलहौज़ी को इँग्लेंड के व्यापार का भी ध्यान था। वह लिखता है कि इँग्लेंड को रुई की बड़ी आवश्यकता है। भारतवर्ष में यह अच्छे क़िस्म की और खूब पैदा होती है। यदि समुद्र के बन्दरगाहों तक इसके पहुँचाने का प्रबन्ध किया जा सके, तो इँग्लेंड की यह आवश्यकता दूर हो सकती है। साथ ही साथ यह भी ख़याल था कि रेलों से भारतवर्ष के दूर दूर के स्थानों में यूरोप की बनी हुई चीज़ों की खपत बढ़ जायगी।[1] इस तरह सैनिक सुविधा और इँग्लेंड की व्यापारिक उन्नति की दृष्टि से भारतवर्ष में पहले-पहल रेलें चलाई गईं।

तार—इसी उद्देश्य से तारों का भी प्रबन्ध किया गया। सन् १८५२ में कलकत्ता के निकट पहला तार लगाया गया। भारतवर्ष में तार लगाना सहज काम न था। बड़े विकट जंगल, नदी, नाले और पहाड़ों के होने से तार के खम्भों के गाड़ने में बड़ी मुश्किलें पड़ती थीं। बन्दर तार तोड़ डालते थे और जंगली जानवर खम्भों को गिरा देते थे। डलहौज़ी के समय में बड़े परिश्रम के साथ यह काम पूरा किया गया। सिपाहीविद्रोह के समय पर तार अँगरेज़ों के बड़े काम आया। क्षण भर में समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँच जाता था, सिपाही मुँह ताकते रह जाते थे। लार्ड डल-हौज़ी ने भारतवर्ष में अँगरेज़ी साम्राज्य को "लोहे की पटरियों और तारों से जकड़" दिया। हंटर लिखता है कि सन् १८५७ के विद्रोह में रेल और तार हज़ारों आदमियों के बराबर थे। रेल और तारों ही द्वारा भारतवर्ष अब भी सैनिक रीति से हाथ में है।

डाक—डलहौज़ी के पहले डाक का कोई ठीक प्रबन्ध न था। स्थान की दूरी और पत्र के वज़न के हिसाब से महसूल लिया जाता था। पत्र देने पर डाकिया महसूल वसूल करता था, जिसमें बड़े झगड़े होते थे। गाँवों में तो पत्र

१ हंटर, डलहौज़ी, (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० १८४।

कभी पहुँचते ही न थे। लार्ड डलहौज़ी ने जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया और सन् १८५३ में आधे तोले के वज़न का आधा आना महसूल सारे भारतवर्ष के लिए निश्चित कर दिया। महसूल वसूल करने के झगड़ों से बचने के लिए टिकटें चला दी गईं। लार्ड डलहौज़ी के समय में ही साढ़े सात सौ के लगभग डाकखाने खोले गये। रेल, तार और डाक से आगे चलकर जनता को भी बहुत लाभ हुआ। समय तथा दूरी की कठिनाइयां जाती रहीं और भारत धीरे धीरे एकता की ओर बढ़ने लगा।

नहर और सड़कें—गंगा की नहर, जो बहुत दिनों से खुद रही थी, लार्ड डलहौज़ी के समय में पूरी हो गई। उससे उत्तरी भारत में सिंचाई के लिए सुविधा हो गई। पंजाब में भी बारी दोआब नहर से बहुत लाभ हुआ। दक्षिण में गोदावरी के पानी से भी खेती को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। कई एक सड़कें बनवाई गईं और ऐसे कार्यों की देख-भाल के लिए 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट' क़ायम किया गया।

शिक्षा और व्यापार—सर चार्ल्स वुड की सलाह से अब देशी भाषाओं पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। गांवों की पाठशालाओं और मकतबों को सरकारी सहायता देने और उनके निरीक्षण करने का प्रबन्ध किया गया। बड़े बड़े गांवों में प्रारम्भिक स्कूल और ज़िलों में हाई स्कूल खोले गये। तीनों प्रान्तों में इंजीनियरिंग की पढ़ाई का भी कुछ प्रबन्ध किया गया। लार्ड डलहौज़ी के समय में भारत में अंगरेज़ों का व्यापार भी बहुत बढ़ गया। सन् १८४८ में देश से जितनी रुई बाहर जाती थी, सन् १८५६ में उससे दुगुनी से भी अधिक जाने लगी। ग़ल्ला तिगुना जाने लगा और सूती कपड़ा तथा अन्य विलायती चीज़ों का आना दुगने से भी अधिक हो गया।[1] इस व्यापार की वृद्धि से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने लगी।

कम्पनी का अन्तिम आज्ञापत्र—सन् १८५३ में कम्पनी के आज्ञा-पत्र के सम्बन्ध में पार्लामेंट ने फिर क़ानून पास किया। भारत का शासन

१ हंटर, डलहौज़ी, पृ० १९६।

नाम मात्र के लिए इस समय भी कम्पनी के हाथ में था। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया, केवल इस बार कोई अवधि निश्चित नहीं की गई। गवर्नर-जनरल की 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' (व्यवस्थापक सभा) के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई। इसमें बम्बई, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रान्त से भी एक एक मेम्बर लिया गया। इस तरह पहले-पहल इसको केवल बंगाल प्रान्त की अपेक्षा भारत साम्राज्य की कौंसिल बनाने का प्रयत्न किया गया। लार्ड डलहौज़ी इसमें एक हिन्दुस्तानी मेम्बर भी रखना चाहता था, परन्तु इँग्लेंड-सरकार ने इसको स्वीकार न किया। इस कौंसिल में पार्लामेंट की नक़ल की जाती थी। यह बात इँग्लेंड-सरकार को पसन्द न थी। सर चार्ल्स वुड इसको 'भारतवर्ष की पार्लामेंट' न मानता था।

डलहौज़ी का चरित्र—मार्च सन् १८५६ में डलहौज़ी वापस चला गया। वह बड़ा परिश्रमी गवर्नर-जनरल था। सवेरे नौ बजे से लेकर पांच बजे शाम तक बराबर दिमाग़ी काम किया करता था। इँग्लेंड से आने पर ही उसका स्वास्थ्य ख़राब था, भारतवर्ष में अधिक परिश्रम करने से वह और भी बिगड़ गया। उसके एक मित्र ने हँसी में लिखा था कि रूस के ज़ार और डलहौज़ी ये ही दो स्वेच्छाचारी शासक बाक़ी रह गये हैं।[1] इसमें बहुत कुछ सत्यता थी। वह जो राय क़ायम कर लेता था, उसमें किसी की न सुनता था। हेनरी लारेंस और स्लीमैन ऐसे अनुभवी अफ़सरों की राय का भी उस पर कुछ प्रभाव न पड़ता था। सेनापति चार्ल्स नेपियर से तो बराबर झगड़ा हुआ करता था। उसने स्वयं माना है कि वह दूसरों के साथ मिलकर काम न कर सकता था। वह प्रायः कड़ी और कभी कभी अनुचित भाषा का प्रयोग कर बैठता था। दूसरों के सम्मान और प्रतिष्ठा का उसको बहुत कम ध्यान रहता था, जिसकी वजह से, जिनका उससे मतभेद होता था, वे और भी असन्तुष्ट रहते थे। अर्नाल्ड की राय में उसने आधुनिक भारत की नींव डाल दी। हंटर का मत है कि उसने साम्राज्य और देश को एक बना दिया। यह चाहे जो कुछ हो, देशी

१ डलहौज़ी, प्राइवेट लेटर्स, पृ० ५९।

सन् १८५६ में भारत
काश्मीर
लाहौर
दिल्ली
पश्चिमोत्तर प्रान्त
राजपूताना
सिंध
ग्वालियर
लखनऊ
नेपाल
बंगाल
इन्दौर
नर्मदा न०
मध्य प्रान्त
ताप्ती न०
नागपुर
कलकत्ता
बम्बई
निज़ाम राज्य
कोल्हापुर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
मैसूर राज्य
मद्रास
ब्रिटिश भारत
देशी राज्य

नरेशों के प्रति उसकी नीति और व्यवहार की प्रशंसा नहीं की जा सकती। आगे चलकर वह नीति भारत-सरकार को छोड़नी ही पड़ी। उसके लोकोपयोगी कार्य्यों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उनमें से बहुतों की योजना उसके आने के पहले ही तैयार हो चुकी थी, उसने उनको पूरा अवश्य कर दिया। जिस काम को वह हाथ में लेता था, उसको करके छोड़ता था, यह उसमें बड़ा भारी गुण था। लार्ड डलहौज़ी ने जो कुछ किया, वह अपने देश के लिए किया। उसकी सेवा में वह अपने जीवन को भी तुच्छ समझता था। जिस साम्राज्य की लार्ड क्लाइव ने नींव डाली थी, जिसको वारेन हेस्टिंग्ज़ ने दृढ़ बनाया था, वेलेज़ली तथा लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में जिसकी वृद्धि हुई थी, लार्ड डलहौज़ी ने उसको पूरा कर दिया।

परिच्छेद १३

कम्पनी का अन्त

लार्ड कैनिंग—फ़रवरी सन् १८५६ में डलहौज़ी की जगह पर लार्ड कैनिंग भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल होकर आया। उसका पिता इँग्लेंड का प्रधान सचिव रह चुका था। वह स्वयं भी बहुत दिनों तक पार्लामेंट और मंत्रि-मंडल में काम कर चुका था। इँग्लेंड से चलते समय उसका कहना था कि भारतवर्ष का आकाश स्वच्छ और शान्त दिखलाई दे रहा है, पर कौन जानता है कि बादल का एक छोटा सा टुकड़ा, बढ़ते बढ़ते सारे आकाश को घेरकर हमें किसी दिन नष्ट कर दे? उसका यह भय सच निकला। उसके आने के साल ही भर बाद भारत के राजनैतिक गगन-मंडल में घोर अशान्ति के काले काले बादल छा गये और कुछ काल के लिए भारतवर्ष में अँगरेज़ों का रहना संदिग्ध हो गया।

कैनिंग

राजनैतिक अशान्ति—लार्ड डलहौज़ी की नीति से देशी राज्यों में बड़ा असन्तोष फैल रहा था। जिस ढंग से एक एक करके राज्य छीने जा रहे थे, उसे देखते हुए सबको चिन्ता हो रही थी। अवध की दशा देखकर,

जिसने सदा अँगरेज़ों का साथ दिया था, यह धारणा हो रही थी कि किसी राज्य का बचना सम्भव नहीं है। सबको यह भय हो रहा था कि किसी न किसी बहाने से धीरे धीरे सभी राज्य ले लिये जायँगे। मराठों में पेशवा का अन्त हो ही चुका था, सतारा और नागपुर लेकर शिवाजी और भोंसला के घराने भी नष्ट कर दिये गये थे। रणजीतसिंह का राज्य तो जड़ से ही उखाड़ दिया गया था। मुसलमानों में मुहम्मदअली के वंशजों को कर्नाटक के नवाब कहलाने तक की अनुमति नहीं दी गई थी, निज़ाम से बरार छीन लिया गया था और अवध के राज्य का तो एक-दम से ही अन्त कर दिया गया था। दिल्ली में वृद्ध मुग़ल सम्राट् बहादुरशाह को अपने पूर्वजों के महलों में भी रहना मुश्किल हो गया था।

जिस ढंग से यह नीति काम में लाई जा रही थी, उससे अशान्ति और भी बढ़ रही थी। इन राजाओं तथा नवाबों के आभूषण, जवाहरात, हाथी और घोड़े बाज़ारों में नीलाम किये जा रहे थे। रानियों और बेगमों की बुरी दशा थी। सतारा, कर्नाटक तथा अवध और नाना साहब के दूत इंग्लैंड तक दौड़ रहे थे, पर कहीं किसी की भी सुनवाई नहीं हो रही थी। इस तरह निराश होकर इनमें से कुछ लोग बदला लेने का अवसर ताक रहे थे।

सामाजिक परिवर्तन—कई एक देशी राज्यों के नष्ट हो जाने से समाज में भी बड़ा परिवर्तन हो रहा था। बहुत से बड़े बड़े आदमी बेकार घूम रहे थे। अंगरेज़ों के यहां उनके लिए नौकरियों का दर्वाज़ा बन्द था। अमला और सिपाहियों की तो कुछ गिनती ही न थी, इनके लिए कहीं भी ठिकाना न था। नये बन्दोबस्त में प्राचीन बड़े बड़े घरानों का कुछ भी ध्यान नहीं किया जा रहा था। बंगाल में बेंटिंक के समय से ही 'लाख़िराज' जायदादें ज़ब्त हो रही थीं। बम्बई में सनदों की जांच करने के लिए 'इनाम कमीशन' बैठा हुआ था, जो छोटी बड़ी मिलाकर २० हज़ार जायदादों और जागीरों को ज़ब्त कर चुका था। अवध में तालुक़ेदारों के साथ भी यही व्यवहार किया जा रहा था। जिन इलाक़ों पर उनका पुश्तों से अधिकार चला आ रहा था, वे किसी सनद या और कोई ऐसे ही सबूत न होने के कारण, छीने जा रहे थे।

दीवानी अदालतों की डिक्रियों से जायदादें नीलाम हो रही थीं और ज़मीन्दार तबाह हो रहे थे।

अँगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों का सामाजिक सम्बन्ध टूट रहा था, दोनों एक दूसरे से अलग हो रहे थे। अँगरेज़ हिन्दुस्तानियों को असभ्य और हिन्दुस्तानी अँगरेज़ों को अपने धर्म का विरोधी समझ रहे थे। दोनों की बहुत सी बातें एक दूसरे की समझ में न आ रही थीं और न उनके समझने का कोई प्रयत्न ही किया जा रहा था। शिक्षा से यह भेदभाव दूर नहीं हो रहा था। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग हर एक बात में अँगरेज़ों की नक़ल कर रहे थे और अपने देश की सभी बातों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। बहुत से बेपढ़े हिन्दुस्तानी रेल और तार को 'जादू' समझे बैठे थे और उनसे भय करते थे। पाश्चात्य सभ्यता की बहुत सी बातों के आ जाने से भारतवर्ष के सामाजिक जीवन में, जो सहस्रों वर्ष से एक ही ढंग से चला आ रहा था, बड़ा उथल-पुथल मच रहा था।

धार्मिक उत्तेजना—भारतवर्ष में हर एक बात का सम्बन्ध धर्म से है। अँगरेज़ जिनको सामाजिक परिवर्तन समझ रहे थे, हिन्दुस्तानी उनको अपने धर्म पर आघात मान रहे थे। सती-प्रथा का बन्द करना धर्म में हस्तक्षेप समझा जा रहा था। विधवा-विवाह को जायज़ मानने के लिए हाल ही में एक क़ानून पास हुआ था। बहु-स्त्री-विवाह को रोकने के लिए भी क़ानून बनाने पर विचार हो रहा था। इस समय तक धर्म-परिवर्तन करने से पैतृक सम्पत्ति में हक़ मारा जाता था, अब यह नियम भी उठा दिया गया था। ये सब बातें जन-साधारण को खटक रही थीं। इनके अतिरिक्त सबसे भारी बात तो यह थी कि इन दिनों ईसाई मत के प्रचार पर बड़ा ज़ोर दिया जा रहा था। लार्ड पामर्स्टन तक भारतवर्ष के करोड़ों मनुष्यों को "उच्च और श्रेष्ठ" मत में लाने का स्वप्न देख रहा था। सरकारी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य्य करने के लिए आन्दोलन हो रहा था। पादरी लोग हिन्दू और मुसलमान धर्मों की हँसी उड़ा रहे थे। बारिकपुर के सैनिक अफ़सर खुले तौर पर सिपाहियों को ईसाई मत का उपदेश दे रहे थे। सरकार की ओर से इनको रोकने की कोई चेष्टा नहीं की जा

रही थी, जिससे यह सन्देह हो रहा था कि सरकार भी सबको ईसाई बनाना चाहती है। उसकी हर एक बात इसी दृष्टि से देखी जा रही थी। समाज-सुधार और शासन-व्यवस्था के लिए जो नियम बनाये जा रहे थे, वे सब धर्म-भ्रष्ट करने का प्रयत्न समझे जा रहे थे। रेल का प्रचार और जेल के नियम, जिनके द्वारा अलग अलग लोटा-थाली हटाकर सबका खान-पान एक कर दिया गया था, इसके प्रमाण माने जाते थे।

सैनिक स्थिति—ये भाव सेना में भी फैल रहे थे और विल्लोर तथा बारिकपुर के उपद्रवों में इनका परिचय मिल चुका था। बंगाल की सेना में सबसे अधिक असन्तोष था; क्योंकि इसमें अधिकतर ब्राह्मण और राजपूत थे। इन लोगों को अफ़ग़ानिस्तान में जाना बहुत खटका था। वहाँ से लौटने पर बहुत से लोग जाति से बाहर कर दिये गये थे। सन् १८४४ में अधिक भत्ता न मिलने के कारण बंगाल की चार पल्टनों ने सिन्ध में रहना अस्वीकार कर दिया था। सन् १८४६ में पैदल सेना की एक पल्टन ने गोविन्दगढ़ में भी उपद्रव किया था। सन् १८५२ में सिपाहियों ने समुद्र के मार्ग से बर्मा जाने से इनकार कर दिया था और डलहौज़ी को उनकी बात मानकर स्थल के मार्ग से ही सेना भेजने का प्रबन्ध करना पड़ा था। इन सैनिकों की बहुत सी उचित शिकायतों की ओर भी ध्यान नहीं दिया जा रहा था, उलटे कुछ ऐसी बातें की जा रही थीं, जिनसे उनका असन्तोष और भी बढ़ रहा था।

सन् १८५६ में एक क़ानून पास कर दिया गया कि जो नये सिपाही भरती किये जायँगे, उनको जहां भेजा जायगा, जाना पड़ेगा। समुद्र-यात्रा या जाति-पांति के बन्धनों का कोई विचार न किया जायगा। इसके अतिरिक्त सबसे भारी यह भूल की गई कि नई राइफ़ल की बन्दूक़ के लिए जो कारतूस बनाये गये, उनमें चिकनाने का काम चर्बी से लिया गया। इन कारतूसों को दांत से काटना पड़ता था। उपद्रवी लोगों ने यह कहकर कि इनमें गऊ और सुअर की चर्बी का, हिन्दू और मुसलमानों को धर्म-भ्रष्ट करने के लिए, प्रयोग किया जाता है; सिपाहियों को भड़का दिया।

उपद्रव करने के लिए यह अच्छा अवसर था, क्योंकि गोरों की कुछ पल्टनें भारतवर्ष से बाहर गई हुई थीं। इन दिनों हेरात पर फिर से आक्रमण करने के कारण फ़ारस से युद्ध छिड़ा हुआ था, क्रिमिया में भी लड़ाई हो रही थी। इसलिए गोरों की कई एक पल्टनें इन दोनों स्थानों को भेज दी गई थीं। डलहौज़ी के बहुत कुछ लिखने पर भी इँग्लेंड से कोई सेना भारतवर्ष न भेजी गई थी। इस समय भारतवर्ष में कुल ४५३२२ गोरे सैनिक थे और हिन्दुस्तानी सिपाहियों की संख्या २३३००० थी। लार्ड डलहौज़ी ने पंजाब की रक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया था, पर बाक़ी देश की रक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न था। कलकत्ता से लेकर इलाहाबाद तक दीनापुर को छोड़कर और किसी स्थान पर गोरी सेना न थी। कई एक स्थानों के तोपख़ाने भी हिन्दुस्तानियों के हाथ में थे और दिल्ली की रक्षा का भार अधिकतर सिपाहियों ही पर था। बहुत से अँगरेज़ सैनिक अफ़सरों को शासन का काम दे दिया गया था। इस तरह इन दिनों गोरी सेना का बल बहुत कम दिखलाई पड़ रहा था।

सिपाही-विद्रोह—सन् १८५७ के पहले तीन चार महीनों में सिपाहियों में असन्तोष ख़ूब बढ़ रहा था। हर रोज़ नई ख़बरें उड़ रही थीं। कभी कहा जाता था कि आटा में हड्डियां पीसकर मिलाई जा रही हैं, कभी यह बतलाया जा रहा था कि पलासी की लड़ाई को जीते हुए, अँगरेज़ों को पूरे सौ वर्ष हो चुके, अब उनका अन्त निकट है। कारतूस के सम्बन्ध में पहले अँगरेज़ अफ़सर चुपचाप रहे, बाद में अशान्ति अधिक बढ़ते देखकर भूल सुधारने और सिपाहियों को समझाने का प्रयत्न किया गया। पर अब यह बात सर्वत्र फैल चुकी थी और इसका दबाना कठिन था। सिपाहियों का ध्यान था कि अफ़सर लोग उनको धोखा दे रहे हैं। सबसे पहले मार्च में बारिकपुर में उपद्रव प्रारम्भ हुआ। मंगल पांडे नामक सिपाही ने जोश में आकर एक अँगरेज़ को मार डाला, बहुत से सिपाही बिगड़ गये और उन्होंने कई जगह आग लगा दी। सिपाहियों की यह पल्टन तोड़ दी गई और मंगल पांडे को फांसी का दंड दिया गया। ता० ३ मई को मेरठ में घोड़सवार सेना की तीसरी पल्टन ने नये कारतूसों को इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया। इस पर

८५ नेता गिरफ़्तार कर लिये गये और उनको दस दस वर्ष की कड़ी क़ैद की सज़ा दी गई। ता० ९ को परेड पर उनकी वर्दियाँ छीनकर उन्हें सब तरह से अपमानित किया गया। अपने अपमानित साथियों के ललकारने पर सब सिपाही बिगड़ पड़े। जो अँगरेज़ जहाँ मिल गया, वहीं मार डाला गया, छावनी में आग लगा दी गई, जेल का फाटक तोड़कर क़ैदी निकाल लिये गये और सबके सब दिल्ली की ओर बढ़ चले।

विद्रोह की आग भभक उठी। दिल्ली से लेकर कलकत्ता तक मुख्य मुख्य स्थानों पर सिपाही बिगड़ पड़े। अँगरेज़ों से जो असन्तुष्ट हो रहे थे, उनको बदला लेने का अच्छा अवसर मिल गया और उनमें से कुछ लोग सिपाहियों के साथ हो गये। इस तरह एक सैनिक विद्रोह को राजनैतिक स्वरूप मिल गया।

दिल्ली—मेरठ से विद्रोही सिपाही दूसरे ही दिन दिल्ली पहुँच गये। यहाँ गोरों की कोई सेना न थी और शहर सिपाहियों के हाथ में था। ये सब विद्रोहियों से मिल गये, अँगरेज़ अफ़सर मार डाले गये और वृद्ध बहादुरशाह को फिर से तख़्त पर बिठलाकर मुग़ल साम्राज्य की घोषणा कर दी गई। बहादुरशाह के महल को विद्रोहियों ने चारों ओर से घेर लिया था, उनका साथ देने के सिवा उसके लिए अपनी रक्षा का कोई दूसरा उपाय न था। अँगरेज़ों के व्यवहार से उसके कुटुम्बी पहले ही से असन्तुष्ट थे। फ़ारस की ओर से उनको भड़काने का बराबर प्रयत्न हो रहा था। बहादुरशाह के विरोध करने पर भी सिपाहियों ने क्रोध में आकर कई एक अँगरेज़ों को उनके बच्चे और स्त्रियों सहित मार डाला। दिल्ली में एक बड़ा भारी बारूदख़ाना (मैगज़ीन) था, जिसको सिपाही लेना चाहते थे। पर कुछ साहसी अँगरेज़ अफ़सरों ने अपने जीवन की कुछ भी पर्वाह न करके उसमें आग लगा दी, जिसमें सहस्रों सिपाही जल-भुनकर मर गये। दिल्ली छिन जाने से अँगरेज़ों के आतंक पर बड़ा धक्का लगा और सारे पश्चिमोत्तर प्रान्त में उपद्रव मच गया।

यह समाचार पंजाब पहुँचने पर सर जान लारेंस ने लाहोर के सिपाहियों से हथियार छीन लिये और बड़ी सख़्ती के साथ वहाँ के उपद्रवियों को दंड दिया।

अमृतसर के डिप्युटी कमिश्नर कूपर ने, एक अँगरेज़ अफ़सर को मार डालने के अपराध में, पैदल सेना की २६ वीं पल्टन के २८२ सिपाहियों को गिरफ़्तार कर लिया। इनमें से २३७ सिपाही बिना किसी अभियोग के गोली से मार दिये गये। वध करते करते एक गोली चलानेवाला बेहोश हो गया। बाक़ी ४५, जो एक कोठरी में बन्द थे, भय, श्रम और दम घुटने के कारण आपही आप मर गये। इस तरह सौ वर्ष बाद कलकत्ते की काल कोठरी का बदला चुक गया। इन सबकी लाशें उजनाला के एक अन्धे कुएँ में झोंक दी गईं।[1] इस पल्टन के बचे-खुचे सिपाही लाहोर में तोपदम कर दिये गये। मार्टिन लिखता है कि दो अँगरेज़ों के वध के अपराध में पांच सौ आदमियों के प्राण लेना ऐसा बदला है, जिसका कभी समर्थन नहीं किया जा सकता।[2] जान लारेंस ने इस तरह पंजाब को शान्त करके गोरों की सेना को निकल्सन की अध्यक्षता में दिल्ली भेजा।

इसके पहले पंजाब और मेरठ की कुछ सेना जून में बदलीसराय के युद्ध में विद्रोहियों को हरा चुकी थी और दिल्ली को घेरे हुए पड़ी थी। निकल्सन की सेना आ जाने पर अच्छी तरह से युद्ध छिड़ गया। सितम्बर में पंजाब से तोपें भी आ गईं और शहर का काश्मीरी दर्वाज़ा उड़ा दिया गया। चार पांच दिन तक घोर युद्ध करके अँगरेज़ों ने दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। इस युद्ध में लगभग १५०० गोरे सैनिक बेकाम हो गये और वीर निकल्सन मारा गया। विजय के बाद 'बिजन' बोल दिया गया, शहर लूट लिया गया, निरपराध नागरिक दया की भिक्षा मांगने पर भी गोलियों से मार दिये गये, भय से कांपते हुए बुड्ढे काट डाले गये।[3] 'टाइम्स' पत्र के संवाददाता के शब्दों में शाहजहां की दिल्ली में नादिरशाह के बाद से ऐसा भीषण दृश्य देखने में न आया था। इतिहासकार मार्टिन ने मर्मस्पर्शी शब्दों में इसका वर्णन किया है।[4]

१ कूपर, क्राइसिस इन दि पंजाब, पृ० १६४—७४।

२ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४२८।

३ होम्स, इंडियन म्युटिनी, पृ० ३८१।

४ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४४५—६०।

वृद्ध बहादुरशाह ने प्राणरक्षा का वचन मिलने पर अपने को अँगरेज़ों के हवाले कर दिया। विद्रोही कहीं छुड़ा न लेवें, इस भय से उसके लड़के, बिना इस
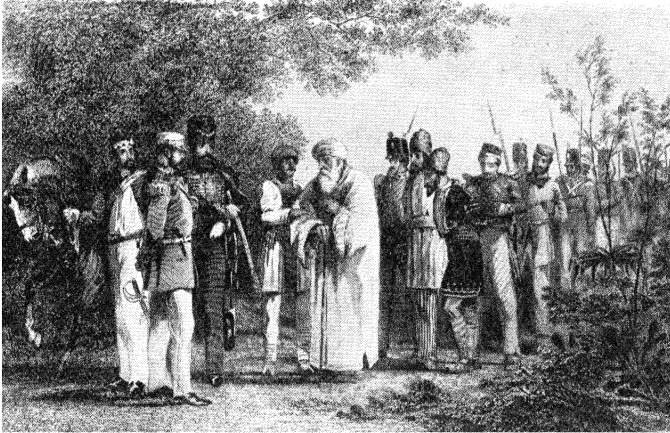
बहादुरशाह की गिरफ़्तारी

बात की जाँच किये हुए कि उनका कोई अपराध था या नहीं, गोली से मार दिये गये। इतिहासकार मैलेसन का कहना है कि कोई ऐसा भय न था, इस तरह उनकी हत्या करना अनुचित था।[1] इतिहासकार होम्स का भी ऐसा ही मत है।[2] मुग़ल सम्राट् बहादुरशाह पर जनवरी सन् १८५८ में अभियोग चलाया गया। अपराधी सिद्ध होने पर वह रंगून भेज दिया गया, जहाँ सन् १८६२ में ८७ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इस तरह मुग़ल सम्राटों का अन्त हो गया।

दिल्ली हाथ में आ जाने से अँगरेज़ों की फिर धाक जम गई और सब जगह उनकी विजय होने लगी। सन् १८५८ से दिल्ली पंजाब में मिला दी गई।

---

१ के और मैलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० ४, पृ० ५६-५७।

२ होम्स, इंडियन म्युटिनी, पृ० ३८७-८८।

कानपुर—यहाँ से थोड़ी ही दूर पर बिठूर में नाना साहब रहता था, जिसको बाजीराव ने गोद लिया था। जान के लिखता है कि वह सीधा-साधा प्रसिद्ध था और सदा अँगरेज़ कमिश्नर की बात मानने के लिए तैयार रहता था। बाजीराव की पेंशन के सम्बन्ध में वह बराबर लिखा-पढ़ी कर रहा था, पर कहीं उसकी सुनवाई नहीं हो रही थी। इसी से वह चिढ़ा हुआ था। कहा जाता है कि वह अँगरेज़ों के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहा था। इसी उद्देश्य से विद्रोह के पहले वह लखनऊ तथा दिल्ली गया था और रजवाड़ों से पत्र-व्यवहार कर रहा था। लखनऊ के मार्टिन गब्बिंस का तो यहाँ तक कहना है कि उसके दूत ने, जो इँग्लेंड गया था, रूसियों से भी बातचीत की थी।[१]

नाना साहब

जून में कानपुर के सिपाहियों ने भी विद्रोह कर दिया और वे भी सबके सब दिल्ली की ओर बढ़ने लगे। परन्तु नाना साहब के कहने पर वे सब कानपुर फिर लौट पड़े।[२] तीन सप्ताह तक अँगरेज़ों ने बड़े साहस और धैर्य्य के साथ शत्रुओं का सामना किया। अन्त में नाना साहब से रक्षा का वचन मिलने पर, उन सबने हथियार डाल दिये और गंगा के मार्ग से वे इलाहाबाद जाने

---

१ के और मैलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० १, पृ० ४५४।

२ तात्या टोपे का कहना है कि सिपाहियों ने ज़बरदस्ती नाना साहब को अपने साथ ले लिया और कानपुर की तरफ़ लौट पड़े। के और मैलेसन, जि० २, पृ० २२४।

के लिए तैयार हो गये। नाना साहब की ओर से नावों का प्रबन्ध कर दिया गया। परन्तु जब वे अपने बाल-बच्चे और स्त्रियों सहित नावों पर बैठ गये, तब घाट पर से सिपाहियों ने गोली चलाना प्रारम्भ कर दिया। नावों में आग लगा दी गई और अँगरेज़ों का वध किया जाने लगा। शरण में आये हुए शत्रुओं के साथ ऐसा व्यवहार सर्वथा निन्दनीय है। नाना साहब को यह समाचार मिलने पर उसने बालकों तथा स्त्रियों की रक्षा करने के लिए तुरन्त ही आज्ञा भेज दी।[1] बचे हुए अँगरेज़ कानपुर में रख दिये गये और नाना साहब बिठूर चला गया, जहां बड़ी धूमधाम के साथ वह पेशवा बनाया गया।

उसने अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया, उलटे कानपुर आकर अपना अमूल्य समय नाचरंग में नष्ट कर दिया। कानपुर के हत्या-कांड का समाचार मिलने पर इलाहाबाद से हैवलॉक और नील की अध्यक्षता में गोरी सेनाएँ कानपुर की ओर चल पड़ीं। मार्ग में फ़तेहपुर, जो विद्रोहियों के हाथ में आ गया था, विध्वंस कर दिया गया। गांवों में आग लगा दी गई, जिनमें कितने ही बच्चे तथा स्त्रियां जलकर मर गईं और सब सम्पत्ति लूट ली गई।[2] नाना साहब के सिपाही अँगरेज़ी सेना को रोक न सके। उसके बढ़ने का समाचार पहुँचते ही कानपुर में घबराहट फैल गई। इस उत्तेजना के समय में दो सौ से अधिक अँगरेज़ स्त्रियों और बाल-बच्चों का, जो बीबीघर में रख दिये गये थे, वध कर डाला गया और उनकी लाशें एक अन्धे कुएँ में फेंक दी गईं। कहा जाता है कि यह अमानुषिक कार्य नाना के दुष्ट सलाहकार अज़ीमुल्ला और एक मुसलमान स्त्री के कहने से किया गया था। एक भी सैनिक इस तरह की हत्या करने के लिए राज़ी न हुआ था। यह चाहे जो कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष के नाम पर यह धब्बा लग गया।

नाना साहब अँगरेज़ों का सामना न कर सका, वह छिपकर भाग निकला। जुलाई में कानपुर पर अँगरेज़ों का फिर से अधिकार हो गया। बिठूर में नाना

१ के और मैलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० २, पृ० २५८।

२ वही, पृ० २७७–७८।

साहब का महल नष्ट कर दिया गया और सब सम्पत्ति लूट ली गई। उन्मत्त गोरे सिपाहियों ने भरपूर बदला लिया। सेनापति नील ने अपने कार्यों से यह दिखला दिया कि निर्दयता और कठोरता में अँगरेज़ भी किसी से कम नहीं हैं। उसके हाथ में जो कोई हिन्दुस्तानी सिपाही पड़ गया, उसी से उसने बेंत लगा लगाकर बीबीघर का ख़ून साफ़ करवाया और अन्त में उसको फांसी लटकवा दिया। वह स्वयं लिखता है कि मैं हिन्दुस्तानियों को ऐसी कड़ी सज़ा देना चाहता था, जिससे उनके भावों को अधिक से अधिक आघात पहुँचे और जिसको वे सदा स्मरण रखें।[1]

लखनऊ—अवध का राज्य लेने के लिए चाहे जो कारण रहे हों, पर जिस ढंग से वहां के शासन का प्रबन्ध किया गया, जान के लिखता है कि उससे, वहां की प्रजा में, जो सदा अँगरेज़ों का हित चाहती थी, असन्तोष के बीज बो दिये गये। 'छत्र मंज़िल' में, जो बादशाहों का ख़ास महल था, गोरों का डेरा जम गया और साल भर तक उनके कुटुम्बियों को पेंशनें नहीं दी गईं। शाही घराने के इस अपमान से प्रजा उनके अत्याचारों को भूलकर उनसे सहानुभूति दिखलाने लगी। जो लोग दरबार के आश्रित थे, उनकी रोज़ी जाती रही। जिन लोगों का महलों में पालन पोषण हुआ था, उनको रात में सड़कों पर भीख मांगने की नौबत आ गई। शाही सिपाहियों को कोई पूँछनेवाला न रहा, वे अपने अपने घर जाकर अँगरेज़ों के अन्याचारों का वर्णन करके असन्तोष फैलाने लगे। बहुत से तालुक़दारों के इलाक़े छीन लिये गये और उनकी स्थिति पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। जिन कारीगरों का दरबार से गुज़र होता था, उनका रोज़गार नष्ट हो गया। व्यापार की सभी चीज़ों पर टैक्स लगा दिया गया और किसानों पर लगान बढ़ा दिया गया। बहुत सी इमारतें तोड़ दी गईं और रईसों को अपमानित किया गया। इस तरह सभी श्रेणी के लोगों को असन्तुष्ट कर दिया गया।

१ के और मैलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० २, पृ० २९८-३००।

इस दशा को सुधारने के लिए सर हेनरी लारेंस ने, जिसको लार्ड कैनिंग ने अवध का चीफ़ कमिश्नर बनाकर भेजा था, बहुत कुछ प्रयत्न किया। परन्तु अब अशान्ति पूर्ण रूप से फैल चुकी थी और उसका
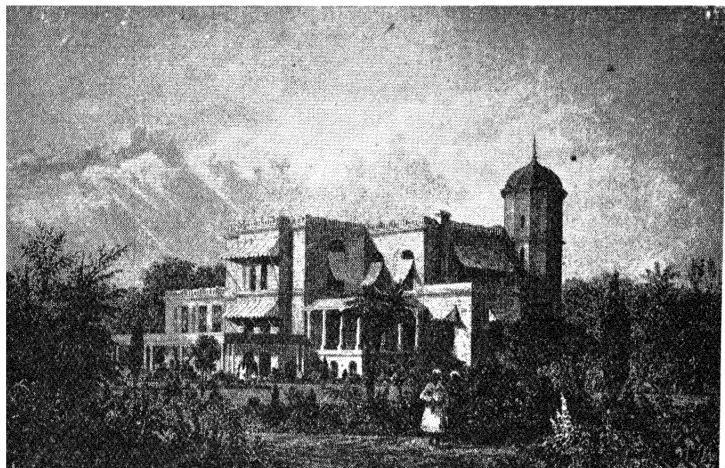
लखनऊ की रेज़ीडेंसी

दबाना सहज न था। यहाँ भी कारतूस का झगड़ा चल रहा था। मेरठ में विद्रोह होने के साथ ही साथ लखनऊ में भी उपद्रव मच गया। हेनरी लारेंस सिपाहियों को शान्त करने में सफल न हुआ। कई एक अँगरेज़ अफ़सर मार डाले गये और वाजिदअली का एक दस वर्ष का लड़का नवाब वज़ीर बना दिया गया। रेज़ीडेंसी को विद्रोहियों ने घेर लिया। मुट्ठी भर अँगरेज़ों ने बड़े साहस के साथ सिपाहियों का बहुत दिनों तक सामना किया। इसी बीच में एक गोला गिरने से सर हेनरी लारेंस की मृत्यु हो गई। वह बड़ा उदार-हृदय, दयालु और योग्य अफ़सर था। डलहौज़ी की नीति उसको पसन्द न थी, देशी राज्यों की रक्षा के लिए उसने बराबर प्रयत्न किया था।

लखनऊ के विद्रोह का समाचार फैलते ही अवध के सभी ज़िलों में ऊधम मच गया। पहले तो तालुक़दार लोग चुप रहे, पर जब लार्ड कैनिंग ने उनके इलाक़ों को ज़ब्त करने की घोषणा कर दी, तब उनमें से बहुतों ने सिपाहियों का साथ दिया। विद्रोहियों का सबसे अधिक ज़ोर लखनऊ में था। कई बार अँगरेज़ों ने इसको लेने के लिए प्रयत्न किया, पर कामयाबी न हुई। नील तथा और कई एक सैनिक अफ़सर मारे गये। बड़ी मुश्किल से मार्च सन् १८५८ में सेनापति लार्ड क्लाइड ने लखनऊ पर फिर से अधिकार कर लिया। क़ैसर बाग़ लूट लिया गया और कई दिनों तक बराबर मारकाट जारी रही।[1] जो 'काला आदमी' हाथ में पड़ गया, वही गोली से मार दिया गया, या किसी पेड़ में फाँसी लटका दिया गया।[2] अवध के विद्रोह को शान्त करने में अँगरेज़ों को, नेपाल के राणा जंगबहादुर की अध्यक्षता में, गोरखों से बड़ी सहायता मिली।

बरेली—रुहेलखंड में विद्रोह का प्रारम्भ बरेली से हुआ। मई सन् १८५७ के अन्त में यहां के सिपाही बिगड़ पड़े और मुसलमान जनता उनके साथ हो गई। हाफ़िज़ रहमतखां का पोता नवाब नाज़िम बना दिया गया, जो साल भर तक बरेली पर अधिकार जमाये रहा। मुसलमानों ने इसको धर्म-युद्ध मान लिया और कटने मरने के लिए 'ग़ाज़ियों' का एक दल बन गया, जो बड़ी वीरता से लड़ा। रुहेलखंड में अहमदुल्ला नामक फ़ैज़ाबाद के एक मौलवी ने बहुत ज़ोर बांधा। लखनऊ में भी उसी ने ऊधम मचाया था। वह कट्टर मुसलमान था और उसके घमंड का कोई ठिकाना न था। पर साथ ही साथ सिटन के शब्दों में "वह बड़ा योग्य, साहसी और दृढ़ विचार का मनुष्य था, विद्रोहियों में वह सबसे अच्छा सैनिक था।" उसने शाहजहांपुर में दो बार सेनापति कैम्पबेल को छकाया। पुआवां के राजा ने उसे मरवा डाला। मैलेसन लिखता है कि

१ रसल, डायरी, जि० १, पृ० ३३१।

२ मजेंडी, अप अमंग दि पेंडीज़, पृ० १९५—९६।

"वह सच्चा देशभक्त था। निरपराधियों के वध से उसने अपनी तलवार को कलंकित न किया था और न कभी उसने किसी ऐसे वध का समर्थन ही किया था। उन विदेशियों के साथ, जिन्होंने उसके देश पर अधिकार कर लिया था, वह वीरता, सम्मान और दृढ़ता के साथ मैदान में लड़ा था। उसकी स्मृति सभी जातियों के वीर तथा सच्चे हृदयवालों के लिए आदरणीय है।"[1] बरेली पर मई सन् १८५८ में ही अँगरेज़ों का अधिकार हो गया था। मौलवी के मरते मरते रुहेलखंड के अन्य स्थान भी अँगरेज़ों के हाथ में आ गये।

बिहार—विद्रोह का समाचार मिलने पर पटना में धर-पकड़ शुरू कर दी गई। मेजर होम्स ने अपनी आज्ञा से सिगौली के आस-पास जंगी क़ानून जारी कर दिया। केवल सन्देह के कारण कुछ आदमियों को फाँसी दे दी गई और बहुत से जेल में ठूँस दिये गये। इन बातों से बिहार में भी बड़ा असन्तोष फैल गया और दीनापुर के सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। जगदीशपुर का ८० वर्ष का बूढ़ा ज़मीन्दार कुँवरसिंह उनका नेता बन गया। मालगुज़ारी के सम्बन्ध में उसके साथ बड़ी ज़्यादती की गई थी। विद्रोहियों का साथ देने के लिए पहले वह तैयार न था। परन्तु पटना के कमिश्नर को उस पर भी सन्देह हुआ, तब उस वीर राजपूत ने फाँसी पर लटकने की अपेक्षा युद्ध में प्राण देना ही उचित समझा।[2] विद्रोहियों के साथ उसने आरा को घेर लिया। परन्तु इलाहाबाद से एक अँगरेज़ी सेना के आ जाने पर उसको हटना पड़ा। जगदीशपुर की इमारतें नष्ट कर डाली गईं। कुँवरसिंह का बनवाया हुआ मन्दिर भी न छोड़ा गया।[3] बिहार से निकलकर उसने आज़मगढ़ के निकट अँगरेज़ों के एक दल की अच्छी ख़बर

---

१ के और मैलेसन, जि० ४, पृ० ३८१।

२ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४०५।

३ वही, पृ० ४०६।

ली। परन्तु जब अँगरेज़ों की अधिक सेना आ गई, तब वह बिहार लौट आया। यहां उसने अँगरेज़ों के एक दल को हरा दिया और जगदीशपुर पर फिर से अधिकार कर लिया। इसके बाद ही युद्ध में आहत होने के कारण उसकी मृत्यु हो गई। अँगरेज़ इतिहासकारों ने भी उसकी वीरता की प्रशंसा की है।

झाँसी—मध्य भारत और बुँदेलखंड को शान्त करने में अँगरेज़ों को बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ीं। जून सन् १८५७ में झांसी के सिपाहियों ने बिगड़कर कई एक अँगरेज़ों को मार डाला और राजा गंगाधरराव की विधवा लक्ष्मीबाई को झांसी की गद्दी पर बिठला दिया। अँगरेज़ों की हत्या से उसका कोई सम्बन्ध था, यह सिद्ध नहीं होता।[1] उसके साथ बहुत कुछ अनुचित व्यवहार होने पर भी, वह विद्रोहियों में शामिल न होना चाहती थी। सिपाहियों के दबाव के कारण उसे उनकी बात माननी पड़ी। नौ दस महीने तक वह झांसी का शासन बड़ी चतुरता से करती रही। मार्च सन् १८५८ में सर ह्यू रोज़ ने झांसी पर आक्रमण कर दिया। रानी बड़ी वीरता से लड़ी, पर अन्त में उसको क़िला छोड़ना पड़ा। उसके हटते ही झांसी में भयानक 'बिजन' बोल दिया गया। कहा जाता है कि इस अवसर पर पांच हज़ार आदमियों का वध किया गया।[2] बिना किसी अपराध के, केवल लूट के लालच से, अमृतराव की जागीर किरवी, जिसकी गद्दी पर एक नौ वर्ष का बालक था, छीन ली गई।[3]

रानी लक्ष्मीबाई ने झांसी से निकलकर तात्या टोपे के साथ, जो उसकी सहायता के लिए आ रहा था, ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। महाराज जयाजी राव सिन्धिया की सेना बिगड़ गई और वह भागकर आगरा चला

१ होम्स, इंडियन म्युटिनी, पृ० ४९३। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, भाग १४, पृ० १७

२ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४८५।

३ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० १४१।

गया। ग्वालियर का शासन रावसाहब को दिया गया, जो भोग-विलास में पड़ गया। कालपी जीतकर जून में ह्यूरोज़ ग्वालियर पहुँच गया। रानी ने मरदाना भेष धारण करके फिर उसका सामना किया। दिन भर घोर युद्ध के बाद विजय की आशा न देखकर उसने मैदान छोड़ दिया। एक नाले के पास उसका घोड़ा रुक गया। कई एक गोरे आ पहुँचे, उसने अकेले ही उनका मुक़ाबला किया। अन्त में वह घायल होकर गिर पड़ी और उसकी मृत्यु हो गई। सेनापति सर ह्यूरोज़ की राय में विद्रोहियों के नेताओं में वह सबसे अधिक "योग्य और वीर" थी। मैलेसन लिखता है कि अँगरेज़ों की नज़र में रानी का चाहे जो कुछ दोष हो, पर भारतवासी सदा उसे श्रद्धा तथा गौरव की दृष्टि से देखेंगे और सरकार पर यह दोष लगायेंगे कि उसने रानी के साथ अन्याय किया।[1]

लक्ष्मीबाई

तात्या टोपे—यह नाना साहब का सेनापति था। ग्वालियर से भागकर यह कई महीनों तक राजपूताना, बुँदेलखंड और मालवा में घूमता रहा। अँगरेज़ों के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी यह उनके हाथ न आया। अन्त में सिन्धिया के एक स्वार्थी जागीरदार ने विश्वासघात करके इसको अँगरेज़ों के हवाले कर दिया। जंगी अदालत में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध करने का इस पर अपराध लगाया गया और फाँसी का दंड दिया

१ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० १५५।

गया। कहा जाता है कि कानपुर में इसी की आज्ञा से गंगातट पर अँगरेज़ों का वध किया गया था। परन्तु अभियोग में यह अपराध नहीं लगाया गया और न उस समय इसकी कोई जाँच ही की गई। तात्या का अपने समर्थन में कहना था कि मैंने सदा अपने स्वामी नाना साहब की आज्ञा का पालन किया। किसी यूरोपियन आदमी, औरत या बच्चे की हत्या से मेरा सम्बन्ध नहीं है और न मैंने किसी को फांसी देने की आज्ञा ही दी। मैलेसन लिखता है कि वह अपने को पेशवा का सेवक समझता था। "जिस जाति ने उसके स्वामी को लूट लिया था, उसकी सहायता करने के लिए वह किसी तरह मजबूर न था।" ऐसी दशा में उसके अपराध को देखते हुए बड़ा कठोर दंड दिया गया।[1]

तात्या टोपे

विद्रोह का अन्त—दो वर्ष के भीतर भीतर अँगरेज़ों ने इस बड़े भारी विद्रोह को शान्त कर दिया। इसमें हिंसा और क्रोध के कारण सिपाहियों को भले-बुरे का ज्ञान न रहा। ब्रिटिश सरकार कड़ाई से राज्य कर रही थी, एक एक करके देशी राज्य नष्ट हो रहे थे, न्याय और शासन के नाम पर साम्राज्य बढ़ाया जा रहा था। जब सिपाहियों ने देखा कि उनकी जाति और धर्म का भी संहार किया जा रहा है, तब वे इसको सहन न कर सके। जोश में आकर कुछ लोगों ने निरपराधियों के ख़ून से भी अपने हाथ रँग डाले। निर्दयता, कठोरता और हत्या का कलंक केवल हिन्दुस्तानियों ही के मत्थे नहीं है, इसमें अँगरेज़ों ने भी कोई कसर नहीं रखी। कानपुर के हत्याकांड के पहले ही कई स्थानों में जंगी क़ानून जारी कर दिया गया था, जिसकी बेक़सूर जनता शिकार बन रही थी। के लिखता है

१ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० २६५—६६।

कि बनारस में लड़के तक फांसी पर लटका दिये गये थे। इलाहाबाद में निरपराध जनता का बिना किसी संकोच के वध किया गया था। वहां से चलते समय नील ने गांव के गांव जलाकर साफ़ कर दिये थे।[1] कैम्पबेल का कहना है कि नील ने जिस निर्दयता से लोगों का वध करवाया था, वैसा हिन्दुस्तानियों ने भी नहीं किया था।[2] निकल्सन अधिक से अधिक वेदना देनेवाले प्राणदंड का समर्थन कर रहा था। हर एक जगह विजय के बाद 'बिजन' बोल दिया जाता था, जिसमें कितने ही बेक़सूर आदमी और औरतों की हत्या होती थी। दिल्ली और पंजाब की घटनाओं का उल्लेख किया जा चुका है। सिपाहियों की कठोरता का वर्णन करनेवाले कूपर ने ही लिखा है कि "यदि कानपुर का कुआं है, तो उसके साथ उजनाला का भी कुआं है।" स्वयं लार्ड कैनिंग ने माना है कि विद्रोहियों के साथ साथ कितने ही निरपराध बच्चों, स्त्रियों तथा बुड्ढों तक का वध किया गया था। वह लिखता है कि बिना पूरी जांच किये हुए फांसी लटका देने से और गांवों को लूटने तथा जला देने से, जो लोग सरकार का साथ देना चाहते थे, वे भी उत्तेजित हो गये थे।[3] बहुत सी अदालतों की कार्रवाइयों को लार्ड कैनिंग ने इस भय से प्रकाशित न किया था कि उनसे "संसार में हमारे देशवासियों का घोर अपमान होगा।"[4]

यदि कुछ उन्मत्त सिपाहियों ने अँगरेज़ स्त्रियों और बच्चों का वध कर डाला था, तो अधिकांश जनता ने उनकी रक्षा भी की थी। जिस समय दिल्ली, कानपुर और झांसी में अँगरेज़ों की हत्याएँ हो रही थीं, उसी समय बहुत से स्थानों पर दया, सहानुभूति और करुणा के उदाहरण भी घट रहे थे। बहुत

---

१ के और मैलेसन, जि० २, पृ० २०२—२०८। होम्स, पृ० २२०—२२१।

२ कैम्पबेल, मेम्वायर्स, जि० १, पृ० २८०।

३ के और मैलेसन, जि० २, पृ० २०३।

४ कनिंघम, कैनिंग (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० १२६।

से हिन्दुस्तानियों ने अपनी जान हथेली पर लेकर अँगरेज़ों को अपने घर में छिपाया था। कितने ही भारतवासियों ने पद पद पर केवल मनुष्यत्व और दया के नाते अँगरेज़ों की सहायता की थी। कमिश्नर ग्रिथेड लिखता है कि "दिल्ली से जितने भागे हुए अँगरेज़ आये, उन सबने स्वीकार किया कि अनेक लोगों ने स्थान स्थान पर उनकी सहायता की, उन्हें आश्रय दिया और उनके साथ भला बर्ताव किया। एक संन्यासी को जमुना में बहता हुआ एक अँगरेज़ बच्चा मिला, उसे वह मेरठ ले आया। जब हम उसको इनाम देने लगे उसने न लिया और कहा कि अगर मुझे कुछ देना ही है, तो रास्ते पर एक कुआं खोदवा दे।" कुछ दरिद्र मज़दूरों ने घायल डाक्टर वुड की रक्षा की थी।[1] कितनी ही हिन्दुस्तानी आयाओं ने अँगरेज़ बच्चों की जानें बचाईं और उनका इस कठिन अवसर पर अपनी सन्तानों से बढ़कर लालन-पालन किया।

यदि इस भयंकर समय में दरिद्र ग्रामवासी, मज़दूर, धनी, राजा, रईस सभी दर्जे के भारतवासियों ने अँगरेज़ों की सहायता न की होती, तो उनका बचना मुश्किल था। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इस अवसर पर अँगरेज़ों ने भी अपने अद्भुत साहस, धैर्य्य, वीरता और स्वदेशभक्ति का परिचय दिया। सच बात तो यह है कि दोनों ओर से दैवी और आसुरी दोनों ही गुणों का प्रदर्शन किया गया।

यह विद्रोह भारतवर्ष के इतिहास में 'ग़दर' के नाम से प्रसिद्ध है। पंजाब के चीफ़ कमिश्नर सर जान लारेंस की राय में, इसका एकमात्र कारण कारतूस का झगड़ा था, पर मैलेसन इसको अँगरेज़ों की "बदनियती" बतलाता है। वह लिखता है कि अँगरेज़ों ने वचन देकर उनका पालन नहीं किया, अफ़ग़ान-युद्ध के बाद से सिपाहियों की शिकायतें नहीं सुनी गईं, सन्धियों के विरुद्ध देशी राज्य छीन लिये गये और नये शासन-प्रबन्ध में प्रजा के रीति-रिवाजों का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया।[2] लार्ड डलहौज़ी के समय में ही

१ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, पृ० १६९।
२ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० २७९-९०।

अशान्ति की बारूद एकत्र हो चुकी थी, उसमें कारतूस की चिनगारी पड़ गई। यदि ऐसा न होता, तो जिस तरह इसके पहले सैनिक विद्रोह शान्त हो गये थे, यह भी शान्त हो जाता।

असफलता के कारण—झाँसी की रानी को छोड़कर सिपाहियों का कोई योग्य नेता न था। उनमें हिम्मत, उत्साह और शक्ति की कमी न थी, पर सोचनेवाला मस्तिष्क न था। पहले से विद्रोह का कोई उद्देश्य या कार्य-क्रम निश्चित न था। एक ओर बहादुरशाह सम्राट् और दूसरी ओर नाना साहब पेशवा बनाया जा रहा था। अँगरेज़ों को निकालकर किस प्रकार शासन होगा, इस ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया था। हिन्दू और मुसल-मानों के उद्देश्य भिन्न भिन्न थे। धन की बड़ी कमी थी और संगठन की ओर तो किसी का ध्यान ही न था। विद्रोह के कुछ दिन पहले गाँवों में चपातियां और रिसालों में कमल घुमाये जा रहे थे। नाना साहब लखनऊ और दिल्ली के चक्कर लगा रहा था। इन बातों से सन्देह होता है कि विद्रोह के लिए षड्यंत्र रचा गया था। यदि ऐसा हो भी तब भी मानना पड़ेगा कि इसके लिए पूरी तैयारी नहीं की गई थी। यदि एक ही दिन सारे देश में विद्रोह हो जाता, तो अँगरेज़ों के लिए उसका दबाना असम्भव था।

विद्रोह देशव्यापी न था। इसका सबसे अधिक ज़ोर पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, रुहेलखंड, अवध, नर्मदा तथा चम्बल के बीच के प्रदेश और विहार तथा बंगाल के पश्चिमी भाग में था। सिन्ध को नेपियर ने सिर उठाने योग्य ही न रखा था। राजपूताना का हौसला बहुत दिनों से पस्त था, दूसरे सर जान लारेंस की नीति ने भी उसको भुलावे में डाल रखा था। नर्मदा के दक्षिण में कोल्हापुर को छोड़कर अन्य कहीं विशेष उपद्रव नहीं हुआ। मध्य और पूर्वीय बंगाल शान्त रहा। पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर सीमा के स्वतंत्र राज्य अफ़ग़ानिस्तान और नेपाल अँगरेज़ों के मित्र बने रहे।

प्रायः सभी देशी राज्यों ने अँगरेज़ों का साथ दिया। इनकी सैनिक शक्ति पहले से ही नष्ट कर दी गई थी। ऐसी दशा में असन्तुष्ट होते हुए भी, अपने भविष्य का ध्यान करके, सिवा चुप रहने के इनके लिए कोई और उपाय न

था। सिन्धिया को उसके दीवान दिनकरराव ने समझा-बुझाकर राजभक्त बनाये रखा। यदि वह बिगड़ जाता तो अन्य मराठा राज्य भी उसके साथ हो जाते। जनरल इनिस के शब्दों में "उसकी राजभक्ति ने अँगरेज़ों के लिए हिन्दुस्तान बचा लिया।" इसी तरह निज़ाम को सर सालारजंग ने राजभक्त बनाये रखा और मुसलमान उपद्रवियों को कठिन दंड देकर हैदराबाद में उपद्रव को भड़कने न दिया। विद्रोह के इतिहासकार होम्स का कहना है कि इसके लिए अँगरेज़ों को सालारजंग का सदा कृतज्ञ रहना चाहिए। सिख और गोरखा सैनिकों ने अँगरेज़ों की पूरी सहायता की, इनको लूट का ख़ूब लालच दिया गया था। दिल्ली लूटने की सिखों को बहुत दिनों से अभिलाषा थी, यही बात अवध के सम्बन्ध में गोरखों के लिए थी। सर जान लारेंस लिखता है कि यदि पंजाब ने साथ न दिया होता, तो हम कहीं के भी न होते।

लार्ड कैनिंग ने इस कठिन अवसर पर बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। यह बात ठीक है कि यदि उसने अशान्ति के चिह्नों को देखकर पहले से पूरा प्रबन्ध किया होता, तो विद्रोह इतना ज़ोर न पकड़ता। परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतवर्ष आये हुए उसको थोड़े ही दिन हुए थे। उसे देश की स्थिति का पूरा ज्ञान न था, दूसरे अशान्ति के बीज उसके आने के पहले ही बोये जा चुके थे। बड़ी उत्तेजना के समय में भी उसने अपने को शान्त रखा। यदि वह निकल्सन ऐसे अफ़सरों के कहने में आ जाता, जो स्त्रियों और बच्चों को जला देने तथा विद्रोहियों की खाल खींच लेने के लिए क़ानून बना देने पर ज़ोर दे रहे थे, तो निस्सन्देह अशान्ति और बढ़ जाती। अँगरेज़ों के बहुत कुछ आन्दोलन करने पर भी उसने बंगाल में जंगी क़ानून जारी नहीं किया और निर्मूल घटनाओं को प्रकाशित करके उत्तेजना बढ़ानेवाले समाचारपत्रों का मुँह बन्द कर दिया। उसकी न्याय और दया की नीति को बहुत से अँगरेज़ों ने पसन्द नहीं किया, पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

कम्पनी का अन्त—विद्रोह का समाचार मिलने पर सन् १८५७ से ही इँगलेंड में इस बात पर विचार हो रहा था कि भारत का शासन इँगलेंड-

सरकार के हाथ में पूर्ण रूप से सौंप दिया जाय। कम्पनी इसका विरोध कर रही थी। उसका कहना था कि जिस समय इँग्लेंड-सरकार अटलांटिक सागर के दूसरी ओर एक बड़ा साम्राज्य खो रही थी, उस समय उसने भारतीय साम्राज्य की स्थापना की थी। उसका शासन वास्तव में इँग्लेंड-सरकार के हाथ में ही रहा। इसलिए यदि उसमें दोष हैं, तो उसके लिए वह भी ज़िम्मेदार है। परन्तु इसके साथ ही साथ कम्पनी ने अपनी ज़िम्मेदारी को दूसरे के मत्थे नहीं टाला। जिस ढंग से भारतवर्ष का शासन हुआ, उसकी पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए, उसने कहा कि यह उसके लिए "लज्जा की नहीं बल्कि गौरव" की बात है। परन्तु पार्लामेंट ने अब कम्पनी का अन्त करना निश्चित कर लिया था। अगस्त सन् १८५८ में एक क़ानून पास किया गया, जिसके अनुसार भारतवर्ष इँग्लेंड के राजछत्र के अधीन कर दिया गया और उसका शासन पूर्ण रूप से इँग्लेंड-सरकार के हाथ में आ गया। 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' तोड़ दिया गया। उसके सभापति के स्थान पर एक 'भारत-सचिव' नियुक्त किया गया, जो 'सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ार इंडिया' कहलाता है। यह सचिव इँग्लेंड के मंत्रि-मंडल का सदस्य होता है और भारतवर्ष के शासन के लिए पार्लामेंट के प्रति ज़िम्मेदार है। उसकी सहायता के लिए एक समिति बना दी गई, जो 'इंडिया कौंसिल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अधिकतर भारतवर्ष से वापस गये हुए सरकारी अफ़सर होते हैं।

इस तरह भारतवर्ष में 'दोहरे शासन का युग' समाप्त हुआ। जिस शासन के लिए कम्पनी को अभिमान था, उसके सम्बन्ध में लडलो लिखता है कि इससे अधिकांश भारतवर्ष में जान और माल की रक्षा नहीं हुई। न्याय-व्यवस्था ऐसी बनाई गई कि जिसमें बहुत सा धन और समय नष्ट होने लगा। मालगुज़ारी के प्रबन्ध से रुपया ऐंठने तथा अत्याचार करने की सम्भावना ख़ूब बढ़ गई। प्रजा का आचरण गिर गया और शारीरिक अवस्था बिगड़ गई। हिन्दू जनता में शराब पीने का एक सर्वथा नया व्यसन चल पड़ा। ब्रिटिश शासन से कई एक नये दुर्गुण उत्पन्न हो गये और कुछ, जो पहले से थे, बढ़ गये। जो कुछ अच्छाई हुई, वह व्यक्तिगत प्रयत्न के कारण, जिसमें पहले बहुत

सी अड़चनें डाली गईं। यह अच्छाई भी बहुत कम मात्रा में और केवल दिखलाने भर को हुई।[1] इस सौ वर्ष के शासन से देश की कलाएँ नष्ट हो गईं, विलायती माल का पूरा प्रचार हो गया, देश का कच्चा माल बाहर जाने लगा और अँगरेज़ अफ़सरों की बड़ी बड़ी तनख़्वाहों तथा करोड़ों रुपये के क़र्ज़ का बोझ दीन भारत पर लद गया।

---

१ लडलो, ब्रिटिश इंडिया, जि० २, पृ० ३३६–३७।

परिच्छेद १४

ब्रिटिश छत्र की छाया

रानी विक्टोरिया का घोषणापत्र—नई शासन-व्यवस्था का प्रारम्भ इँग्लेंड की रानी विक्टोरिया के एक घोषणापत्र से किया गया। इसका मसविदा तैयार कराने में स्वयं विक्टोरिया ने योग दिया और इसमें "उदारता, दया और धार्मिक सहिष्णुता" के भावों को दिखलाने के लिए आदेश किया। पहली नवम्बर सन् १८५८ को इलाहाबाद में बड़ी धूमधाम से एक दरबार किया गया, जिसमें लार्ड कैनिंग ने, जो भारतवर्ष का पहला वाइसराय (राजप्रतिनिधि) बनाया गया, इस घोषणापत्र को पढ़कर सुनाया। इसमें कम्पनी के सब कर्मचारियों को उनके स्थान पर बहाल करते हुए और देशी नरेशों को सन्धियों की रक्षा तथा

रानी विक्टोरिया

प्रतिज्ञाओं के पालन करने का विश्वास दिलाते हुए, रानी विक्टोरिया की ओर

से कहा गया कि इस समय भारत में जितना मेरा राज्य है, मैं उसे बढ़ाना नहीं चाहती हूँ। "मैं देशी नरेशों के अधिकारों और मानमर्यादा को अपने ही अधिकारों और मानमर्यादा के समान समझूँगी।

"राजधर्म पालन करने के लिए जिस तरह मैं अपनी अन्यान्य प्रजाओं से प्रतिज्ञाबद्ध हूँ, वैसे ही भारत की प्रजा के निकट भी प्रतिज्ञाबद्ध रहूँगी। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की दया से मैं उन प्रतिज्ञाओं का भरसक यथारीति पालन करूँगी।

"ईसाई धर्म पर मेरा दृढ़ विश्वास है। इसके आश्रय से मुझे जो शान्ति मिली है, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए, मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि अपने धर्म को प्रजा से मनवाने के लिए न मेरी इच्छा है और न मुझे अधिकार है। मैं अपनी यह राजकीय इच्छा प्रकट करती हूँ कि कोई व्यक्ति, अपने धार्मिक विश्वास या रीतियों के कारण, न किसी तरह अनुगृहीत किया जाय और न किसी तरह सताया या छेड़ा जाय। सबकी निष्पक्ष भाव और समान रूप से क़ानून द्वारा रक्षा की जाय। जो मेरे अधीन शासनकार्य में नियुक्त हैं, उन्हें मैं आज्ञा देती हूँ कि वे मेरी किसी प्रजा के धर्म या उपासना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। यदि वे ऐसा करेंगे, तो मेरी अत्यन्त अप्रसन्नता के पात्र होंगे।

"मेरी यह भी इच्छा है कि यथासम्भव मेरी प्रजा को, वह चाहे किसी जाति या किसी धर्म की माननेवाली हो, अपनी विद्या, योग्यता और सच्चरित्रता के कारण, सरकार के अधीन जिस किसी काम के करने योग्य हो, वह काम उसको बिना किसी पक्षपात के दिया जाय।

"भारतवासियों को अपने पूर्वजों से जो ज़मीनें मिली हैं, उनके लिए उनमें कितनी माया और ममता होगी, इसको मैं अच्छी तरह समझती हूँ और उसका आदर करती हूँ। इन सब ज़मीनों पर जिसका जैसा और जितना अधिकार है, उसकी मैं रक्षा करना चाहती हूँ; पर उन्हें नियमानुसार लगाया हुआ कर देना होगा। मेरी इच्छा है कि क़ानून बनाते समय तथा क़ानूनों को व्यवहार में लाते समय भारत के प्राचीन स्वत्व और रीति-रिवाजों का पूरा ध्यान रखा जाय।"

विद्रोहियों के साथ दया का व्यवहार करने का वचन देते हुए घोषणा-पत्र के अन्त में कहा गया कि "ईश्वर की कृपा से जब शान्ति फिर से स्थापित हो जायगी, तब भारत की कलाओं को बढ़ाने, लोकोपयोगी कार्यों और सुधारों की ओर अधिक ध्यान देने तथा भारत की प्रजा के उपकार के लिए शासन करने की मेरी परम इच्छा है। उसकी समृद्धि में मैं अपनी शक्ति, उसके सन्तोष में मैं अपनी रक्षा और उसकी कृतज्ञता में मैं अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझूँगी।"

यह घोषणापत्र भारत का 'अधिकारपत्र' माना गया है। इस सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। एक तो यह कैसे समय पर प्रकाशित किया गया था और दूसरे इसके उच्च भावों से व्यवहार में कहां तक काम लिया गया। घोषणापत्रों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध फ़्रीमैन की राय है कि इनमें झूठ की भरमार होती है। विक्टोरिया के उच्च आदर्श और प्रजाप्रेम पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता, पर साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इँग्लैंड की शासन-व्यवस्था में नीति का काम में लाना मंत्रियों के हाथ में है, न कि राजा के। सर जेम्स स्टिफ़न का मत है कि यह घोषणापत्र केवल दरबार में पढ़कर सुनाये जाने के लिए था। यह कोई सन्धि न थी, जिसके अनुसार काम करने के लिए अँगरेज़ों पर किसी प्रकार की ज़िम्मेदारी हो। जिस उद्देश्य से यह घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, वह अवश्य सफल हुआ। भारत की भोली-भाली जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

देशी राज्य—सन् १८५९ में राजाओं के सम्बन्ध में भी पुत्र गोद लेने का अधिकार मान लिया गया। इस तरह राज्यों के बड़े भारी असन्तोष और भय का कारण दूर कर दिया गया। लार्ड डलहौज़ी के समय में जिस नीति का अनुसरण किया गया था, उसका त्याग देना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उसमें कितनी भारी भूल की गई थी। विद्रोह के समय में सरकार की सहायता करने के बदले में निज़ाम पर जो क़र्ज़ था, वह माफ़ कर दिया गया। अवध की सीमा का कुछ जंगली भाग नेपाल को दे दिया गया। सिन्धिया, गायकवाड़, भूपाल की बेगम और कई एक राजपूत राजाओं को

थोड़ी थोड़ी भूमि दी गई और बहुतों का खिराज घटा दिया गया। राजाओं, तालुक़दारों और ज़मीन्दारों से विपत्ति के समय में कितनी सहायता मिल सकती है, लार्ड कैनिंग इसको अच्छी तरह जानता था। इसी लिए जहाँ तक हो सका उसने इन सबको सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। विद्रोह शान्त हो जाने पर उसने अवध के तालुक़दारों के साथ भी अच्छा व्यवहार किया, जिन्होंने उसके नाम से लखनऊ में 'कैनिंग कालेज' स्थापित किया।

सैनिक संगठन—साम्राज्य की रक्षा के लिए सेना का फिर से अच्छी तरह संगठन किया गया। कम्पनी और इँग्लेंड-सरकार की सेनाओं में जो भेद था, उठा दिया गया और दोनों सेनाएँ एक कर दी गईं। विद्रोह में जैसी कुछ स्थिति हो गई थी, भविष्य में उससे बचने के लिए यह नियम बना दिया गया कि तोपखाने में हिन्दुस्तानी भरती न किये जायँ और जितनी सिपाहियों की संख्या हो, कम से कम उसमे आधे गोरे अवश्य रखे जायँ। डलहौज़ी के समय में गोरी सेना की संख्या ४५ हज़ार थी, अब यह बढ़ाकर ७० हज़ार कर दी गई। इसी के अनुसार हिन्दुस्तानी सेना की संख्या १३५००० रखी गई। आवश्यकतानुसार इस संख्या में घटा-बढ़ी होती रहती है। सेना की संख्या बढ़ जाने से खर्च भी बहुत बढ़ गया।

आर्थिक सुधार—दो तीन वर्ष विद्रोह रहने के कारण सरकार को बहुत घाटा हुआ था, क़र्ज़े की रक़म दुगुनी हो गई थी और सालाना खर्च पूरा न पड़ता था। इस दशा को सुधारने के लिए इँग्लेंड से जेम्स विल्सन बुलाया गया। उसके समय में व्यापार, आमदनी और तमाखू पर टैक्स लगा दिये गये। चाय, सन तथा जूट पर, जो भारतवर्ष से बाहर जाते थे, महसूल उठा दिया गया और बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी कम कर दी गई। इस तरह आर्थिक कष्ट के समय पर भी इँग्लेंड के व्यापार का ध्यान रखा गया। सन् १८६० में विल्सन की मृत्यु हो जाने पर सैम्युएल लैंग अर्थ-सदस्य बनाया गया। इसके समय में सेना और शासन के खर्च को कुछ घटाने का प्रयत्न किया गया और नमक पर टैक्स बढ़ा दिया गया। इन उपायों

से हर साल जो कमी पड़ती थी, पूरी हो गई और कुछ बचत भी होने लगी। इस बचत से भारत की दरिद्र जनता का कोई उपकार नहीं किया गया, पर मैंचेस्टर के माल पर चुंगी और घटा दी गई। इसी समय से प्रान्तीय सरकारों को कुछ आर्थिक स्वतंत्रता देने का प्रयत्न किया गया और काग़ज़ का सिक्का भी चलाया गया।

शासनप्रबन्ध—सन् १८६१ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास किया गया। इसके अनुसार वाइसराय की 'एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल' (कार्य्यकारिणी समिति) के सदस्यों की संख्या पाँच कर दी गई। शासन के भिन्न भिन्न विभाग इन सदस्यों को सौंप दिये गये, जिससे हर एक बात पर विचार करने के लिए कौंसिल की मीटिंग करने की आवश्यकता न पड़े। वाइसराय की अनुपस्थिति में काम चलाने के लिए कौंसिल के सबसे बड़े मेम्बर को सभापति मानने का नियम बना दिया गया। क़ानून बनाने के लिए वाइसराय को 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' (व्यवस्थापक सभा) के ग़ैरसरकारी मेम्बर नामज़द करने का भी अधिकार दे दिया गया, जिससे कुछ भारतवासियों को मेम्बर बनने का अवसर मिला। सरकारी मेम्बरों की संख्या अधिक होने से उसके अधिकारों में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। बम्बई और मदरास की कौंसिलों से क़ानून बनाने के अधिकार सन् १८३३ में ले लिये गये थे, अब उनको ये अधिकार फिर से दिये गये। बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी आवश्यकता होने से कौंसिलें स्थापित करने की व्यवस्था की गई।

'सुप्रीम कोर्ट' तथा 'सदर अदालतों' का भेद उठा दिया गया और उनकी जगह पर कलकत्ता, बम्बई और मदरास में 'हाईकोर्ट' स्थापित कर दिये गये। मेकाले के समय से क़ानूनों का जो संग्रह तैयार हो रहा था, अब स्वीकार कर लिया गया और सारे भारतवर्ष में ज़ाब्ता दीवानी, ताज़ीरात हिन्द और ज़ाब्ता फ़ौजदारी जारी कर दिये गये। बंगाल में काश्तकारों को बार बार बेदख़ल करके बड़ा तंग किया जाता था। इसलिए सन् १८५९ में बंगाल, बिहार, आगरा और मध्यप्रान्त के लिए यह क़ानून बना दिया गया कि बारह वर्ष तक किसी खेत को जोतने से काश्तकार का उसमें मौरूसी हक़ मान लिया

उसने बड़े धैर्य से काम लिया। उसकी उदार नीति से कुछ अँगरेज़ बहुत रुष्ट हो गये थे, पर अन्त में सबको उसकी योग्यता माननी पड़ी। उसके स्थान पर लार्ड एलगिन वाइसराय बनाया गया। यह पहले कनाडा में गवर्नर-जनरल और चीन में राजदूत रह चुका था। साल ही भर बाद नवम्बर सन् १८६३ में, पंजाब के धर्मशाला नामक स्थान पर, इसकी मृत्यु हो गई। इसके शासन-काल में केवल एक उल्लेखनीय घटना हुई। पश्चिमोत्तर सीमा पर वहबी मुसलमानों ने बड़ा उपद्रव किया। इसको शान्त करने में अँगरेज़ी सेना को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

सर जान लारेंस—पश्चिमोत्तर सीमा पर अशान्ति होने के कारण गवर्नर-जनरल का पद सर जान लारेंस को दिया गया। पहले यह पंजाब का चीफ़ कमिश्नर रह चुका था। ग़दर के समय में भी इसने बड़ा काम किया था। पश्चिमोत्तर सीमा-सम्बन्धी विषयों का इसको अच्छा ज्ञान था। भारतवर्ष से वापस जाने के बाद से इँग्लैंड में यह नई स्थापित हुई 'इंडिया कौंसिल' में काम करता था। पहले यह लार्ड डलहौज़ी की नीति का

सर जान लारेंस

पक्षपाती था, पर विद्रोह के समय से इसने अपना मत बदल दिया था। अब लार्ड कैनिंग की तरह इसकी राय में भी देशी राज्यों को बनाये रखना आवश्यक था।

भूटान की लड़ाई—सन् १८२६ में आसाम पर अधिकार हो जाने से अँगरेज़ी राज्य की सीमा भूटान से मिल गई थी। इस सीमा पर भूटानी प्रायः लूट-मार किया करते थे। सन् १८६३ में इन झगड़ों को तय करने के लिए एक अँगरेज़ अफ़सर भेजा गया। भूटानियों ने उसका बड़ा अपमान किया और उससे एक सन्धि पर हस्ताक्षर करवा लिये, जिसमें आसाम में आने के लिए पहाड़ी मार्गों पर जो 'द्वार' कहलाते हैं, भूटानियों का अधिकार मान लिया गया। भारत-सरकार ने इस सन्धि को मानने से इनकार कर दिया और अँगरेज़ क़ैदियों को वापस करने के लिए भूटान को लिख भेजा। कोई उत्तर न मिलने पर युद्ध छिड़ गया। सन् १८६४ में भूटानियों ने देवनगिरि से अँगरेज़ी सेना को भगा दिया और दो तोपें छीन लीं। परन्तु अँगरेज़ों की अधिक सेना आ जाने के कारण अन्त में भूटानियों को हार मानकर सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। उनसे 'बारह द्वार' ले लिये गये और उनके बदले में उन्हें कुछ रुपया सालाना देने का वचन दिया गया।

अफ़ग़ानिस्तान—सन् १८६३ में अमीर दोस्तमुहम्मद की मृत्यु हो गई। विद्रोह के समय में यदि वह चाहता तो अँगरेज़ों से पेशावर छीन सकता था, परन्तु ऐसा न करके उसने उनके साथ बराबर मित्रता का व्यवहार किया। उसके १६ लड़के थे, इनमें से चार पांच गद्दी के लिए आपस में लड़ने लगे। जान लारेंस का यह मत था कि जो गद्दी पर बैठे उसके साथ मित्रता रखकर आपस के झगड़े में किसी तरह का हस्तक्षेप न करना चाहिए। इस नीति के अनुसार शेरअली या उसका भाई अफ़ज़ल, जो गद्दी पर बैठ जाता था, वही अमीर मान लिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि सब झगड़ों से बचने के लिए अँगरेज़ों के हक़ में यह बड़ी अच्छी नीति थी, परन्तु अफ़ग़ानिस्तानवालों का

इससे असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। पहले शेरअली को मित्रता का विश्वास दिलाया गया, पर उसको हटाकर जब अफ़ज़ल गद्दी पर बैठ गया, तब उसे बधाई का पत्र भेजा गया। इस पर रुष्ट अफ़ग़ान सरदारों का कहना था कि किसी जाति का अँगरेज़ों से पार पाना मुश्किल है। इस पत्र से अँगरेज़ों की यह इच्छा मालूम पड़ती है कि हम सब आपस ही में कट मरें। यदि शेरअली जीतता तो उसको भी उन्होंने ऐसा ही पत्र लिखा होता। इसी तरह शेरअली का कहना था कि अँगरेज़ अपने मतलब के सिवा और किसी बात को नहीं देखते। वे समय ताका करते हैं, जिसको वे सबसे ज़बरदस्त पाते हैं, उसी के मित्र बन जाते हैं।[1]

मध्य एशिया से धीरे धीरे रूस दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। इससे अफ़-ग़ानिस्तान की समस्या और भी जटिल हो गई थी। कुछ लोगों की राय थी कि रूस को रोकने के लिए अफ़ग़ानिस्तान के साथ नई सन्धि होनी चाहिए, पर जान लारेंस इसकी आवश्यकता न समझता था। उसका कहना था कि रूसी तथा अँगरेज़ी साम्राज्यों की प्रभाव-सीमा रूस से ही मिलकर निश्चित कर लेनी चाहिए। मध्य एशिया में रूस का प्रभाव बढ़ जाने से कोई भय नहीं है। इससे वहाँ के जंगली मनुष्यों में कुछ सभ्यता आ जायगी। इसी लिए वहां के सरदारों को, प्रार्थना करने पर भी, भारत-सरकार की ओर से कोई सहायता नहीं दी गई। जान लारेंस की राय में अफ़ग़ानिस्तान की ओर से भारतवर्ष की रक्षा का सबसे अच्छा उपाय यही था कि उसके झगड़ों में न पड़ा जाय, सीमा पर काफ़ी सेना रखी जाय और भारतवर्ष के राजाओं को सन्तुष्ट रखा जाय। लार्ड लिटन के समय तक सरकार की यही नीति रही।

उड़ीसा का अकाल—सन् १८६५ में उड़ीसा में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें लाखों आदमी मर गये। बंगाल-सरकार की ओर से जनता की रक्षा के लिए पहले से कोई उचित प्रबन्ध नहीं किया गया। यदि

१ हंटर, मेयो (रूलर्स आँफ़ इंडिया सिरीज़) पृ० १२१–२२।

बाहर से अन्न लाने का ठीक प्रबन्ध होता, तो बहुतों के प्राण बच जाते। सर जान लारेंस ने भी बंगाल-सरकार की बात मानकर चुपचाप बैठे रहने में भूल की, इसको उसने स्वयं माना है। अकाल से जो कुछ बचा था, वह सन् १८६६ में नदियों की बाढ़ में डूब गया। इससे उड़ीसा का कष्ट और भी बढ़ गया। भविष्य में अकाल के कष्ट को दूर करने के लिए उड़ीसा में कई सड़कें और नहरों के बनवाने का प्रयत्न किया गया, पर नदियों की बाढ़ को रोकने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया, जिसके कारण उड़ीसा इन दिनों भी पीड़ित रहता है। सन् १८६८ में बुँदेलखंड और राजपूताना में भी अकाल पड़ा, परन्तु पहले से अन्न का प्रबन्ध हो जाने से इसमें विशेष कष्ट नहीं हुआ। अकाल के प्रश्न पर जाँच करने के लिए एक कमीशन भी नियुक्त किया गया, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर एक 'फ़ैमिन इंश्योरेंस फ़ंड' (अकालरक्षा कोष) स्थापित किया गया। समय पड़ने पर प्रजा की रक्षा के लिए इसमें बराबर कुछ रुपया जमा किया जाने लगा।

लारेंस का शासन—सन् १८६९ में पंजाब और अवध के किसानों की दशा सुधारने के लिए भी क़ानून बनाये गये, जिनके अनुसार बहुत से किसानों को अपने खेतों में मौरूसी हक़ मिल गया। मध्यप्रान्त में भी तीस साल के लिए नया बन्दोबस्त किया गया। लाभदायक कार्यों के लिए क़र्ज़ लेने की भी व्यवस्था की गई और नहरों तथा सड़कों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। खर्च बहुत बढ़ जाने से लारेंस के समय में सरकार की आर्थिक दशा अच्छी न थी। सन् १८६९ में वह वापस चला गया। इँग्लेंड पहुँचने पर उसको लार्ड की उपाधि दी गई। वह एक योग्य और अनुभवी शासक था, पर गवर्नर-जनरल के ऐसे उच्च पद के लिए उपयुक्त न था। एक ज़िलाअफ़सर की तरह शासन की छोटी छोटी बातों पर उसका ध्यान अधिक जाया करता था, पर सिद्धान्तों और नीतियों के निर्धारित करने की उसमें योग्यता न थी। वाइसराय के उच्च पद के सम्मान का भी उसे कभी कभी ध्यान न रहता था। उसके शासन ने यह बात सिद्ध कर दी कि 'सिविल सर्विस' के मेम्बरों को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त करना भूल है।

लार्ड मेयो की नीति—सर जान लारेंस के स्थान पर लार्ड मेयो वाइसराय बनाया गया। यह आयर्लैंड का बहुत दिनों तक 'चीफ़ सेक्रेटरी' रह चुका था। भारतवर्ष आकर देशी राज्यों के सुधार की ओर इसने विशेष ध्यान दिया। सन् १८५८ से लार्ड डलहौज़ी की नीति का परित्याग कर दिया गया था। भारतवर्ष के राजा और नवाब अब महारानी विक्टोरिया के अधीन थे और उनके राज्य भारतीय साम्राज्य के अंग बन गये थे। ऐसी दशा में उनके छीनने से अब कोई लाभ न था। परन्तु भारत-सरकार को शासन-प्रबन्ध ख़राब होने पर हस्तक्षेप करने का बराबर अधिकार था। लार्ड मेयो ने इसी को अपना सिद्धान्त माना। इन दिनों अलवर राज्य में बड़ा गड़बड़ मचा हुआ था। लार्ड मेयो ने शासन के लिए वहीं के सरदारों की एक कौंसिल बना दी और राजा के अधिकारों को छीन लिया। इसी तरह काठियावाड़ की कई एक रियासतों के लिए भी प्रबन्ध किया गया। जिस राजा का शासन-प्रबन्ध ठीक होता था, उसके साथ वह बड़ा अच्छा व्यवहार करता था। भूपाल की बेगम ने अपने राज्य में कई एक सुधार किये थे। उसने सड़कें बनवाई थीं, स्कूल खोले थे और पुलिस को ठीक किया था। लार्ड मेयो उसका बड़ा आदर करता था।

लार्ड मेयो

उसका विश्वास था कि राजकुमारों को अँगरेज़ी ढँग की शिक्षा देने से ही उनको "शासन की ज़िम्मेदारी" का ज्ञान हो सकता है। इसी लिए उनकी शिक्षा अँगरेज़ अध्यापकों के हाथ में देने का प्रयत्न किया गया। राजपूताना के

राजकुमारों के लिए अजमेर में 'मेयो कालेज' खोला गया। लाहौर और राजकोट में भी ऐसे ही कालेज स्थापित किये गये। इनमें राजकुमारों को अँगरेज़ शिक्षकों के साथ मिल-जुलकर रहने और पाश्चात्य आचार-विचार सिखलाने का प्रबन्ध किया गया। राष्ट्रीयता की दृष्टि से इन संस्थाओं का प्रभाव राज्यों के भावी शासकों पर अच्छा नहीं पड़ रहा है। बचपन से ही उन्हें पाश्चात्य ढंग के रहन-सहन की शिक्षा मिलने लगती है। "शासन की ज़िम्मेदारी" का समझना तो दूर रहा, बड़े होने पर बहुतों को यूरोप में हवा खाने का चस्का लग जाता है।

शेरअली से भेंट—सन् १८६६ में अफ़ग़ानिस्तान के अमीर शेरअली के साथ अम्बाला में लार्ड मेयो की भेंट हुई। शेरअली एक ऐसी सन्धि चाहता था, जिससे अँगरेज़ उसको साल में कुछ रुपया दिया करें और आवश्यकता पड़ने पर सेना से उसकी सहायता करें। लार्ड मेयो ने यह तो स्वीकार नहीं किया, पर उसने इस ढंग से काम लिया कि अमीर अँगरेज़ों की नीति से अच्छी तरह सन्तुष्ट होकर अफ़ग़ानिस्तान वापस गया। जान लारेंस की नीति से अमीर को जो सन्देह उत्पन्न हो गया था, वह इस भेंट से दूर हो गया। लार्ड मेयो भी उसी नीति का अनुयायी था, पर वह लारेंस की अपेक्षा अधिक नीतिनिपुण था। इसी लिए अमीर को उसने, अपने को बिना किसी प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध किये हुए, अँगरेज़ों की मित्रता का विश्वास दिला दिया। इस भेंट का अमीर पर बहुत प्रभाव पड़ा। अफ़ग़ानिस्तान जाकर, उसने शासन में अँगरेज़ी ढंग के कई एक सुधार किये। उसने कठोर दंडों को उठा दिया, पुलिस को ठीक किया, न्यायालय तथा डाकखाने खोले और शासन में सहायता करने के लिए तेरह मेम्बरों की एक कौंसिल भी बनाई।

भारत की सीमाओं को सुरक्षित रखने के लिए लार्ड मेयो का मत था कि उसको सुदृढ़ तथा मित्रता का भाव रखनेवाले, स्वतंत्र राज्यों से घेर देना चाहिए। अपने हित का ध्यान रखकर वे सदा हमारा साथ देंगे, फिर हमें किसी का भय नहीं रहेगा। अम्बाला-सम्मेलन के सम्बन्ध में उसका कहना था

कि इससे मध्य एशिया के राज्यों में अँगरेज़ों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। हम यदि लोगों को यह समझा सकें कि वास्तव में हमारी नीति हस्तक्षेप न करने तथा शान्ति स्थापित रखने की है और इस समय एशिया में केवल हमारा ही एक ऐसा राज्य है, जो किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहता, तो हम शक्ति की उस पराकाष्ठा पर पहुँच जायँगे, जो हमें पहले कभी नहीं प्राप्त हुई थी।[1] पश्चिम, उत्तर और पूर्व की सीमाओं के राज्यों के साथ उसने इसी नीति से काम लिया। रूस के साथ भी लार्ड मेयो ने समझौता कर लिया। आक्सस नदी के दक्षिण तक अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सीमा मान ली गई और बदख्शां पर भी अमीर का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। लार्ड मेयो की राय थी कि अँगरेज़ों की शक्ति इतनी दृढ़ है कि उसे रूस से कोई भय नहा है। मध्य-एशिया में रूस के साथ छेड़खानी करने की अपेक्षा उससे मित्रता रखना ही अच्छा है।

आर्थिक प्रबन्ध—सर जान लारेंस के समय से सरकार का सालाना खर्च पूरा न पड़ता था, इसलिए क़र्ज़ भी बहुत बढ़ गया था। इसको दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने खर्च घटाने और आमदनी बढ़ाने का प्रबन्ध किया। इन दिनों 'पब्लिक वर्क्स' विभाग में ख़ूब रुपया उड़ रहा था। इंजीनियर लोग कोई काम अपनी निगाह से न देखते थे। लार्ड मेयो ने इस विभाग के खर्च को घटा दिया। इस समय तक बंगाल की अपेक्षा बम्बई और मदरास में नमक-कर कुछ कम था, इन दोनों प्रान्तों में यह कर बढ़ा दिया गया। 'इनकम टैक्स' (आय-कर) की दर भी बढ़ा दी गई। 'अर्थविभाग' में हिसाब-किताब ठीक रखने का प्रबन्ध किया गया। इस समय तक प्रान्तीय सरकारों को बिना भारत-सरकार की आज्ञा के रुपया खर्च करने का अधिकार न था। हर साल उन्हें अपना 'बजट' बनाकर भेजना पड़ता था और वहां से मंजूरी आ जाने पर उसी के अनुसार खर्च करना पड़ता था। आमदनी देख-कर खर्च करना अर्थशास्त्र का साधारण सिद्धान्त है, परन्तु इस प्रबन्ध में उसका

१ हंटर, मेयो (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़), पृ० १२७-२८।

भी पालन न होता था। कुल आमदनी भारत-सरकार की थी, प्रान्तीय सरकारों को उसका कुछ भी ध्यान न रहता था, उन्हें केवल अपने ख़र्च से मतलब था। इसके लिए जो रक़म मंज़ूर होती थी, उसमें यदि कुछ बच रहता था तो उसको भारत-सरकार ले लेती थी। ऐसी दशा में किफ़ायत से ख़र्च करने की ओर प्रान्तीय सरकारों का ध्यान भी न जाता था। हर एक सरकार अपना बजट ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर भेजती थी, जो सबसे अधिक लिखा-पढ़ी करती थी, उसी को सबसे बड़ी रक़म भी मिलती थी। इससे शासन में भी बड़ी बाधा पड़ती थी, कभी कभी तो ज़रूरी रक़मों को भी भारत-सरकार स्वीकार न करती थी।

इस दशा को सुधारने के लिए लार्ड मेयो ने प्रान्तों के लिए सालाना रक़म निश्चित कर दी और यह नियम बना दिया कि जिस प्रान्त की जो बचत हो, वह उसी के काम में आये और हर पांचवें साल, किस प्रान्त को कितना मिलना चाहिए, इसकी जांच की जाय। इस रक़म को ख़र्च करने का पूरा अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया और जेल, रजिस्ट्री, पुलिस, शिक्षा तथा सड़क और सरकारी इमारतों का काम उन्हीं को सौंप दिया गया। इन सुधारों से प्रान्तीय सरकारों में ज़िम्मेदारी का भाव आ गया और वे समझ-बूझकर काम करने लगीं। इस तरह कुछ काम बँट जाने से भारत-सरकार को भी सारे देश से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर विचार करने का समय मिल गया।

खेती और व्यापार की उन्नति करने के लिए लार्ड मेयो के समय में एक नया विभाग खोला गया। कई एक नई नहरें खोदवाई गईं और रेल की नई लाइनें खोली गईं। घाटे का भय न होने के कारण रेलवे कम्पनियां मनमाना ख़र्च करती थीं और नई लाइनें खोलने में सरकार की सैनिक तथा राजनैतिक सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान न देती थीं। इन दोषों को दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने सरकारी रेलें खोलने की व्यवस्था की। उसके सुधारों का परिणाम यह हुआ कि भारत-सरकार को हर साल बजाय घाटा के कुछ बचत होने लगी।

लार्ड मेयो की मृत्यु—लार्ड मेयो को जेलों की दशा सुधारने की बड़ी चिन्ता थी। उसका कहना था कि उनमें कैदियों की रक्षा करना है न कि उन्हें मार डालना है। शासन-प्रबन्ध ठीक करने के लिए सन् १८७२ में वह अंडमन द्वीप, जहाँ काले पानी के अपराधी रखे जाते हैं, देखने गया। वहीं नाव पर सवार होते समय एक पठान कैदी ने उसको मार डाला। मेयो बड़ा उत्साही शासक था, अपने शिष्टाचार से वह सबको प्रसन्न रखता था। उसके शासनकाल में भारतवर्ष में पूर्ण शान्ति रही। इँग्लेंड से नये वाइसराय लार्ड नार्थब्रुक के आने तक गवर्नर-जनरल के पद पर मदरास का गवर्नर नेपियर काम करता रहा।

लार्ड नार्थब्रुक—मई सन् १८७२ में लार्ड नार्थब्रुक भारतवर्ष पहुँचा। वह इँग्लेंड के बड़े धनी घराने का था और युद्धविभाग में कुछ दिन काम कर चुका था। वह बहुत सोच-विचारकर चलता था और बड़े स्वतंत्र विचार का शासक था। उसमें दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति का अभाव था, यही कारण था कि बहुत से कामों में उसको सफलता न होती थी। अपनी नीति के सम्बन्ध में वह स्वयं लिखता है कि अनुचित "टैक्सों को उठा देना और अनावश्यक क़ानून बनाने को रोक देना मेरा उद्देश्य रहा है।" हर एक बात में निरर्थक हस्तक्षेप करना वह पसन्द न करता था। "जैसा कुछ है उसे चलने दो" यही उसकी नीति थी।[1] यद्यपि "टैक्सों को उठा देना" उसने अपनी नीति का उद्देश्य बतलाया है, पर भारत की दीन जनता के सम्बन्ध में उसने इससे काम नहीं लिया। 'इनकम टैक्स' उठा देने से धनी व्यापारी, ज़मीन्दार और भारत में बसनेवाले अँगरेज़ों का ही भला हुआ। भारत की आर्थिक दशा का ज्ञान रखनेवाले सर रिचर्ड टेम्पिल और सर जान स्ट्रैची का मत था कि यदि टैक्स उठाना ही है, तो नमक-कर माफ़ कर देना चाहिए, जिससे कितने ही दरिद्रों का उपकार होगा। भारतसचिव की भी यही राय थी। परन्तु लार्ड नार्थब्रुक अपनी ही बात पर डटा रहा।

स्वतंत्र व्यापार—इन दिनों इँग्लेंड में 'स्वतंत्र व्यापार' के सिद्धान्त की बड़ी धूम थी। कहा जाता था कि व्यापार की वस्तुओं पर चुंगी न

१ मैलेट, नार्थब्रुक, पृ० ६९, १२२।

लगाने से वे सस्ती पड़ेंगी, जिससे सारे संसार का लाभ होगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी उठाई जा रही थी। सन् १८६९ में स्वेज़ की नहर का मार्ग खुल जाने से भारतवर्ष के साथ इँग्लेंड का व्यापार बहुत बढ़ गया था। सन् १८६० तक भारतवर्ष में बाहर से आनेवाले माल पर १० सैकड़ा और बाहर जानेवाले माल पर ३ सैकड़ा चुंगी लगती थी। सन् १८६४ में बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी घटाकर साढ़े सात सैकड़ा कर दी गई थी। सन् १८७५ में लार्ड नार्थब्रुक ने इसको घटाकर पांच ही सैकड़ा कर दिया। तेल, चावल, नील तथा लाख को छोड़कर बाहर जानेवाले सब माल पर चुंगी उठा दी गई। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष से कच्चा माल तथा अन्न ख़ूब बाहर जाने लगा और बना हुआ माल यूरोप से भारतवर्ष भी ख़ूब आने लगा। मैंचेस्टर के बने हुए कपड़े पर इँग्लेंड-सरकार पांच सैकड़ा चुंगी भी माफ़ कर देना चाहती थी, पर नार्थब्रुक इसके लिए राज़ी न हुआ। उसकी राय थी कि भारत-सरकार को आमदनी की इस घटी का पूरा करना मुश्किल हो जायगा। इँग्लेंड ऐसे देश के लिए, जिसकी औद्योगिक कलाएँ पूरी उन्नति कर चुकी हैं और जिसका जीवन व्यापार ही पर निर्भर है, 'स्वतंत्र व्यापार' का सिद्धान्त ठीक है; परन्तु भारतवर्ष ऐसे देश के लिए जहां की सब कलाएँ चौपट कर दी गई हैं और जिसका खेती ही केवल आधार बना दी गई है, यह सिद्धान्त हितकर नहीं माना जा सकता। इससे उसका अन्न तथा कच्चा माल बाहर चला जाता है और विलायती माल सस्ता पड़ने से किसी उद्योग के लिए भी उत्साह नहीं मिलता है।

मल्हारराव गायकवाड़—सन् १८७५ में मल्हारराव गायकवाड़ बड़ौदा की गद्दी से उतार दिया गया। कहा जाता है कि वह अँगरेज़ रेज़ीडेंट को ज़हर देना चाहता था। इसकी जांच करने के लिए, ग्वालियर और जयपुर के महाराजा, निज़ाम के वज़ीर, इन्दौर के दीवान और तीन अँगरेज़ अफ़सरों का एक कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन के सब हिन्दुस्तानी मेम्बरों ने महाराजा को निर्दोष पाया। इस पर यह अभियोग छोड़कर भारतसचिव की सलाह से कहा गया कि उसके राज्य का प्रबन्ध कई

बार चेतावनी देने पर भी ठीक ठीक नहीं हो रहा है, और वह गद्दी से उतार दिया गया। डलहौज़ी की नीति के अनुसार उसके राज्य का अपहरण नहीं किया गया, बल्कि राजघराने का एक बालक गद्दी पर बिठला दिया गया और सर माधवराव दीवान बनाया गया, जिसके समय में राज्य की बहुत कुछ उन्नति हुई।

युवराज का आगमन—सन् १८७५ में इँग्लेंड के युवराज एडवर्ड ने भारत-भ्रमण किया। देश भर में बड़ी धूमधाम से उसका स्वागत किया गया। भारतवर्ष में राज्य का स्वरूप राजा है। उसके लिए भारतवासियों के हृदय में सदा आदर रहता है। कम्पनी का शासन साधारण जनता की समझ में न आता था। बहुतों का तो अनुमान था कि कम्पनी किसी रानी का नाम था, जो इँग्लेंड में रहती थी। वे उसको 'कम्पनी जहां' कहा करते थे। मुग़ल बादशाहों के बाद से सारे देश पर शासन करनेवाले घराने के राजकुमार को देखने का उन्हें फिर अवसर प्राप्त हुआ। देशी नरेशों ने अपनी राजभक्ति का परिचय दिया। उनके साथ अँगरेज़ अफ़सरों का उद्दंड व्यवहार देखकर एडवर्ड को बड़ा आश्चर्य्य हुआ और उसने इस सम्बन्ध में अपनी माता को लिखा।[1] इस सहानुभूति से इँग्लेंड के राजघराने के साथ देशी नरेशों का सम्बन्ध दृढ़ हो गया। एडवर्ड के बाद से प्रत्येक युवराज के भारतवर्ष आने की चाल पड़ गई।

नार्थब्रुक का इस्तीफ़ा—सन् १८७३ में रूसियों ने मध्य एशिया में खीवा पर अधिकार कर लिया। इससे घबड़ाकर अफ़ग़ानिस्तान के अमीर शेरअली ने अँगरेज़ों के साथ अपना सम्बन्ध दृढ़ बनाने के लिए एक दूत शिमला भेजा, परन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। इस समय तक अफ़ग़ानिस्तान के प्रति इँग्लेंड तथा भारत-सरकार की वही नीति थी, जिसका प्रारम्भ लार्ड कैनिंग और सर जान लारेंस के समय में हुआ था। लार्ड मेयो ने बड़ी चतुरता से बिना कोई सन्धि किये हुए भी अमीर को अपना मित्र बनाये रखा था, पर लार्ड नार्थब्रुक में यह बात नहीं थी। रूसियों के विरुद्ध अँगरेज़ों से सहायता का कोई वचन न मिलने पर अमीर कुछ रुष्ट हो गया। उसने अपने

१ चेम्बर आफ प्रिंसेज़, ब्रिटिश क्राउन एंड दि इंडियन स्टेट्स, पृ० ७१।

बड़े लड़के याकूबख़ाँ को क़ैद कर दिया था। इस सम्बन्ध में लार्ड नार्थब्रुक ने एक कड़ा पत्र लिखकर उसको और भी चिढ़ा दिया। इतने ही में इँग्लेंड की सरकार दूसरे दल की हो गई और उसने राय दी कि शेरअली से अपने दरबार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखने के लिए कहा जाय। लार्ड नार्थब्रुक इस बात पर राज़ी न हुआ। उसने भारतसचिव सालिसबरी को लिख भेजा कि अमीर पर सन्देह करना ठीक नहीं है। परन्तु भारतसचिव अपनी ही बात पर डटा रहा। इस तरह दोनों में मतभेद होने के कारण लार्ड नार्थब्रुक सन् १८७६ में इस्तीफ़ा देकर इँग्लेंड लौट गया। चलते समय वह भारतसचिव को सचेत कर गया कि अमीर की इच्छा के विरुद्ध अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखने का परिणाम यह होगा कि शीघ्र ही अफ़ग़ानिस्तान से युद्ध करना पड़ेगा। उसकी यह बात सच निकली।

लार्ड लिटन

लार्ड लिटन—अप्रैल सन् १८७६ में लार्ड लिटन वाइसराय होकर कलकत्ता पहुँचा। अँगरेज़ी भाषा का वह एक अच्छा विद्वान् और सुयोग्य लेखक था। बोलने का भी उसे ख़ूब अभ्यास था। परन्तु शासन का कोई विशेष अनुभव न था। इसी लिए वाइसराय के उच्च पद पर उसकी नियुक्ति से बहुतों को आश्चर्य हो रहा था। अपनी नीतिज्ञता का परिचय वह कई दरबारों में अवश्य दे चुका था। इँग्लेंड के प्रधान सचिव लार्ड

बेकंसफ़ील्ड की राय में इस समय मध्य एशिया की जटिल समस्या को सुलझाने के लिए एक नीतिज्ञ की ही आवश्यकता थी। इसी लिए लार्ड लिटन वाइसराय बनाकर भेजा गया।

दिल्ली दरबार—अब विक्टोरिया एक छोटे से द्वीप इँग्लेंड की ही रानी न थी, रूस को छोड़कर सारे यूरोप के बराबर, सागर से लेकर हिमालय तक, भारत पर उसका आधिपत्य था। बड़े बड़े राजा, महाराजा और नवाब उसके अधीन थे। ऐसी दशा में उसको नई उपाधि देने के प्रश्न पर कुछ दिनों से विचार हो रहा था। सन् १८७६ में पार्लामेंट की राय से उसको 'कैसरहिन्द' की उपाधि दी गई। जनवरी सन् १८७७ में दिल्ली में एक बड़ा भारी दरबार किया गया, जिसमें राजा महाराजाओं ने उसको भारत की सम्राज्ञी स्वीकार किया।

दक्षिण में अकाल—जिस समय दिल्ली में यह आनन्द मनाया जा रहा था, दक्षिण में भयंकर अकाल पड़ रहा था। कहा जाता है कि इसमें लाखों मनुष्य बिना अन्न के भूखों मर गये। मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी अन्न की कमी थी। लार्ड लिटन ने इस कष्ट को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किया। अकाल-पीड़ितों में जो लोग काम करने योग्य थे, उनको उसने किसी काम में लगाया और बाकी लोगों में अन्न तथा रुपया बँटवाया। मदरास में इस धन के खर्च में बड़ा गोलमाल हो रहा था, लार्ड लिटन ने स्वयं वहां जाकर सब प्रबन्ध ठीक किया। सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में अकाल सम्बन्धी विषयों की ख़ूब जांच की गई और भविष्य में पीड़ित लोगों की रक्षा के लिए कुछ रुपया अलग रखना तथा एक नया कर लगाना निश्चित किया गया। जिन ज़िलों में अकाल से बड़ी हानि हुई थी, वहां नहरें और रेल खोलने का प्रबन्ध किया गया।

आर्थिक प्रबन्ध—सन् १८७६ में लार्ड लिटन ने पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर जान स्ट्रैची को अर्थसदस्य बनाया। इसने नमक-कर का प्रबन्ध ठीक किया। इस समय तक भिन्न भिन्न प्रान्तों में इसकी दर भिन्न थी और देशी राज्यों से चुराकर नमक आता था। इसको रोकने के

लिए अटक से लेकर महानदी तक ईंट-पत्थर और कटीले वृक्षों की एक दीवाल सी बना दी गई थी, जो 'चुंगी की लाइन' कहलाती थी। बारह हज़ार कर्मचारी इसकी देख-रेख रखते थे और बिना चुंगी का नमक घुसने न देते थे। इस ढंग से खर्च अधिक पड़ता था, काम भी पूरा न होता था और कर्मचारी घूस खाते थे। जान स्ट्रेची ने यह भद्दा प्रबन्ध उठा दिया और जिन राज्यों में नमक बनता था, उन्हें कुछ रुपया देकर, उनसे नमक का कुल अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

स्वतंत्र व्यापार के नाम पर लंकाशायर के कपड़ा बनानेवालों की फिर से सहायता की गई। सन् १८७७ में पार्लामेंट ने यह प्रस्ताव पास किया कि भारतवर्ष में विलायती कपड़े पर चुंगी लगना "उचित व्यापार-नीति" के विरुद्ध है, इसलिए उसको उठा देना चाहिए। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के तीन मेम्बरों ने केवल सरकारी आमदनी की दृष्टि से इसका विरोध किया, पर लार्ड लिटन ने, कौंसिल के अधिकांश मत को न मानकर, सन् १८७९ में सूती मोटे कपड़े पर से चुंगी उठा दी। प्रान्तों के खर्च के लिए इस समय तक भारत सरकार के खज़ाने से रुपया दिया जाता था, सर जान स्ट्रेची की सलाह से अब यह नियम बना दिया गया कि उन्हें आमदनी का कुछ भाग दे दिया जाय। इस तरह प्रान्तीय सरकारों को ज़िम्मेदार और स्वतंत्र बनाने के लिए जिस सिद्धान्त का प्रारम्भ लार्ड मेयो के समय में हुआ था, उसकी वृद्धि की गई।

अलीगढ़ कालेज—इस समय तक मुसलमानों में अंगरेज़ी शिक्षा का प्रचार अधिक नहीं हो रहा था, पर अंगरेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं की संख्या बराबर बढ़ रही थी और उन्हें सरकारी नौकरियां भी मिल रही थीं। लार्ड मेयो के समय में मुसलमानों की शिक्षा के लिए कुछ विशेष प्रबन्ध किया गया था, अब सर सैयद अहमद के सराहनीय उद्योग से 'अलीगढ़ कालेज' खोला गया। इसके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही चन्दा दिया। सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों की सामाजिक दशा सुधारने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया। यद्यपि वह तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के पक्ष में

न था, पर भारतवर्ष के हित के लिए वह हिन्दू और मुसलमानों की एकता को नितान्त आवश्यक समझता था। उसका कहना था कि "हिन्दू और मुसलमान भारतवर्ष की दो आँखें हैं।"

सैयद अहमद ख़ाँ

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट—सरकार की नीति से जनता में धीरे धीरे असन्तोष फैल रहा था। रूस के साथ जैसा कुछ व्यवहार किया जा रहा था, उसकी हिन्दुस्तानी समाचार पत्रों में बड़ी तीव्र आलोचना की जा रही थी। इस पर सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने यह क़ानून बना दिया कि देशी भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों के सम्पादकों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वे कोई ऐसी बात न लिखेंगे, जिससे सरकार के प्रति या भिन्न भिन्न जाति तथा धर्मवालों में परस्पर द्वेष फैले। इस क़ानून से देशी भाषाओं के समाचारपत्रों की स्वाधीनता छिन गई। कौंसिल के कुछ मेम्बरों ने इसका विरोध भी किया, परन्तु लार्ड लिटन ने किसी की नहीं सुनी।
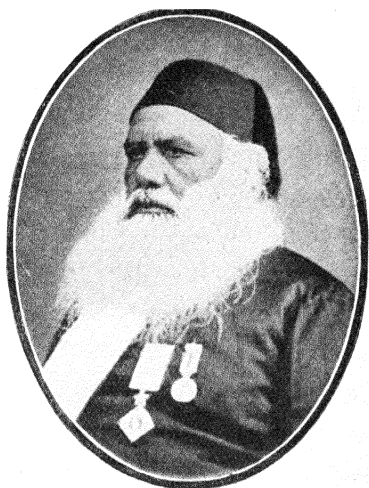
दूसरा अफ़ग़ान-युद्ध—"मध्य एशिया के प्रश्न को सुलझाने के लिए" लार्ड लिटन भारतवर्ष भेजा गया था। परन्तु उसने जिस नीति से काम लिया, उसका वही परिणाम हुआ, जो चलते समय लार्ड नार्थब्रुक कह गया था। अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखने पर ज़ोर देने के पहले, विक्टोरिया के 'भारतवर्ष की साम्राज्ञी' होने का शुभ संवाद लेकर शेरअली के पास एक दूत भेजना निश्चित किया गया। शेरअली ने इसे "अनावश्यक" कहकर टाल दिया। अफ़ग़ान लोग अँगरेज़ों से कितना चिढ़े हुए थे, इसको वह जानता था। इसी लिए

उसको भय था कि अँगरेज़ दूत की रक्षा करना बड़ा मुश्किल होगा। यह बात ठीक भी थी, उन दिनों काबुल में ख़बरें उड़ रही थीं कि रूस और इँग्लेंड दोनों अफ़ग़ानिस्तान को आपस में बाँट खाना चाहते हैं। लार्ड लिटन की दृष्टि में अँगरेज़ों का यह अपमान किया गया। सन् १८७६ में क़िलात के खान से उसने क्वेटा ले लिया। पहले अफ़ग़ान-युद्ध में यहीं से सेना गई थी। इससे अमीर को युद्ध का सन्देह होने लगा। जनवरी सन् १८७७ में उसका दूत सैयद नूरमुहम्मद सन्धि की शर्तें तय करने के लिए पेशावर आया। उसका कहना था कि "अँगरेज़ राष्ट्र बली है और उसकी शक्ति भी बहुत है। अफ़ग़ान लोग उसका सामना नहीं कर सकते, परन्तु वे स्वेच्छाचारी तथा स्वतंत्र हैं और उनकी दृष्टि में जीवन की अपेक्षा सम्मान का मूल्य अधिक है।" ऐसी दशा में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखना ठीक नहीं है; क्योंकि उसकी रक्षा करना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ हर एक बात पर निगाह रखते हैं। इस सम्बन्ध में उसने स्पष्ट कह दिया कि "हमें आपका विश्वास नहीं है। हमें भय है कि हमारे सम्बन्ध की सब बातें लिखी जायँगी और किसी दिन उन्हीं से हमारे विरुद्ध काम लिया जायगा।"

नूरमुहम्मद की ये बातें लार्ड लिटन की समझ में न आईं। उसको यह सलाह दी जा रही थी कि काबुल और क़िलात ऐसे राज्यों के सम्बन्ध में यह बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है, हम खूब सभ्य भी हैं और वे हमारे मुक़ाबले में कमज़ोर तथा आधे जंगली हैं।[1] नूरमुहम्मद की मृत्यु हो जाने पर दूसरे अफ़ग़ान दूत के आने की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही लार्ड लिटन ने सन्धि का प्रयत्न छोड़ दिया और लार्ड आकलेंड की तरह पेशावर की बातचीत का मनमाना वर्णन इँग्लेंड लिख भेजा। उसने पश्चिमोत्तर सीमा की जातियों को भी भड़काने का प्रयत्न किया और गुप्त रीति से महाराजा काश्मीर को समझा-बुझाकर गिलगिट में कुछ अँगरेज़ी सेना भेज दी। सीमा पर के अफ़सरों ने लार्ड लिटन को सचेत भी किया कि इस ढंग से शेरअली के साथ कोई समझौता न होगा। पर उसने

१ रॉबर्ट्स, हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृ० ४३७।

किसी की भी न सुनी। वह "अफ़ग़ान शक्ति को कमज़ोर और धीरे धीरे छिन्न-भिन्न" करने पर तुला हुआ था, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।

इधर तुर्किस्तान के सम्बन्ध में रूस और इँगलेंड की आपस में कुछ अनबन हो गई थी। इसलिए इँगलेंड को रूसियों का फिर बड़ा भय हो रहा था। इतने ही में ताशक़न्द से एक रूसी अफ़सर काबुल की तरफ़ बढ़ा। अमीर ने समझा-बुझाकर उसको लौटालने का बड़ा प्रयत्न किया; परन्तु रूस ने उसको गद्दी से उतार देने की धमकी दी, इस पर

काबुल का क़िला

लाचार होकर उसको रूस के साथ सन्धि करनी पड़ा। अमीर ने अपनी इच्छा के विरुद्ध यह सन्धि की थी, अँगरेज़ों को हानि पहुँचाना उसका उद्देश्य न था। यदि कोई भ्रम था तो रूस के साथ बातचीत करके दूर किया जा सकता था। परन्तु ऐसा न करके लार्ड लिटन ने अपना दूत काबुल भेजना निश्चित कर लिया। अँगरेज़ों को सन्देह करते देखकर रूसियों ने अपने दूत को वापस बुला लिया। इस पर भी लार्ड लिटन ने अपने दूत चेम्बर्लेन को काबुल की तरफ़ रवाना ही कर दिया।

दर्रा ख़ैबर के अफ़्रीदियों को घूस दे दिलाकर चेम्बर्लेन अलीमस्जिद तक पहुँच गया। वहां उसको अफ़ग़ान सिपाहियों ने बिना अमीर की आज्ञा पाये हुए आगे बढ़ने से रोक दिया, इस पर वह पेशावर लौट आया। लार्ड लिटन की राय में अँगरेज़ी दूत को यह "ज़बरदस्ती निकाल देना" था। इसके लिए अमीर से माफ़ी मांगने को कहा गया, तब उसने दूत को काबुल आने की अनुमति दे दी। लार्ड लिटन को इतने पर भी सन्तोष न हुआ और अफ़ग़ानिस्तान के साथ युद्ध की घोषणा कर दी गई।

इस युद्ध के सम्बन्ध में 'लिबरल' दल के नेता ग्लैडस्टन का कहना था कि सन् १८३८ में हमने भूल से अफ़ग़ानिस्तान के साथ लड़ाई की थी। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है और क्षमा के योग्य भी है। परन्तु दूसरी बार बिना किसी समर्थन के फिर हम वैसी ही भूल कर रहे हैं। सब तरह की चेतावनी मिलते हुए भी हम उस भूल को दोहरा रहे हैं। सन् १८४१ में हमारी सेना पर जो विपत्ति पड़ी थी, वह भी फिर कहीं दोहरा न जाय?

गंडमक की सन्धि—अँगरेज़ी सेना ने तीन ओर से अफ़ग़ानिस्तान में प्रवेश किया। जनरल राबर्ट्स कुर्रम की घाटी से काबुल की तरफ़ बढ़ा। अफ़ग़ान लोगों ने अँगरेज़ों का सामना नहीं किया। कहीं से सहायता न मिलने पर शेरअली रूस भाग गया, वहीं १८७९ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके लड़के याकूबखां ने अँगरेज़ों के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार अफ़ग़ानिस्तान की विदेशी नीति में उसने अँगरेज़ों की सलाह लेना और काबुल में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। कुर्रम की घाटी अँगरेज़ों के अधिकार में आ गई और उन्होंने बाहरी आक्रमण से अमीर की रक्षा करने और ६ लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया। लार्ड लिटन की नीति की विजय हुई। इँग्लेंड के प्रधान सचिव बेकंसफ़ील्ड की राय में "भारतीय साम्राज्य की वैज्ञानिक तथा समुचित सीमा" स्थापित हो गई।

परन्तु यह सन्धि अधिक दिनों तक क़ायम न रही। अँगरेज़ रेज़ीडेंट कैवेग्नरी, काबुल पहुँचने के कुछ ही दिन बाद, मार डाला गया। लार्ड लिटन लिखता है कि "नीति का जाला, जो बड़ी चतुरता और धैर्य्य के साथ

बुना गया था, सहसा टूट गया। पिछले युद्ध में मैं ने जिस बात के बचाने के लिए प्रयत्न किया था, अन्त में वही हुआ।" फिर से युद्ध छेड़ा गया, याकूब अँगरेज़ों की शरण में आ गया और काबुल पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। रेज़ीडेंट की हत्या में कोई दोष न होते हुए भी याकूबखां क़ैद करके भारतवर्ष भेज दिया गया और उसकी जगह पर शेरअली का एक भतीजा अब्दुर्रहमान काबुल का अमीर बनाया गया। कन्दहार और हेरात पर दूसरे सरदारों का अधिकार मान लिया गया। इस तरह लार्ड लिटन का अफ़ग़ानिस्तान को छिन्न-भिन्न करने का उद्देश्य सफल हुआ।

लार्ड लिटन का इस्तीफ़ा—इतने ही में इँग्लेंड की सरकार लिबरल दल के हाथ में, जिसने लार्ड लिटन की नीति की तीव्र आलोचना की थी, आ गई। ग्लेडस्टन प्रधान सचिव हुआ और लार्ड हार्टिंगटन भारतसचिव बनाया गया। उसकी राय में जो कुछ भारत की नीति न होनी चाहिए थी, लार्ड लिटन ने वही किया। ऐसी दशा में लार्ड लिटन को इस्तीफ़ा देना पड़ा। लार्ड बेकंसफ़ील्ड ने उसको अपनी नीतिज्ञता का परिचय देने के लिए भेजा था, परन्तु अफ़ग़ान-युद्ध से लार्ड लिटन का यश मिट्टी में मिल गया। अन्त में लार्ड बेकंसफ़ील्ड को भी वाइसराय की नीति पर विश्वास न रहा था। उसका कहना था कि "भारतवर्ष की कुंजी मर्व, हेरात या कन्दहार में नहीं है, वह लन्दन में है।" प्रजा को सन्तुष्ट रखने से ही भारत की रक्षा हो सकती है। भारतवर्ष में समाचारपत्रों की स्वतंत्रता अपहरण करने, दुर्भिक्ष के समय में दिल्ली दरबार करने तथा विलायती कपड़े पर चुंगी उठा देने के लिए लार्ड लिटन का नाम प्रसिद्ध रहेगा।

परिच्छेद १५

राष्ट्रीयता का जन्म

लार्ड रिपन——वाइसराय के पद पर नियुक्त होने के समय लार्ड रिपन की अवस्था ५३ वर्ष की थी। 'रोमन कैथलिक' होने के कारण उसको वाइस-राय बनाने का इँग्लैंड में बड़ा विरोध किया गया, परन्तु 'लिबरल सरकार' की दृष्टि में लार्ड लिटन की नीति से जो क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति करने के लिए वह सर्वथा उपयुक्त था। भारतवर्ष पहुँचने पर उसके सामने सबसे मुख्य प्रश्न अफ़ग़ानिस्तान का था। उसकी राय में रूस के आक्र-मण का बहाना करके लार्ड लिटन अफ़ग़ानिस्तान को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेना चाहता था। वह लिखता है कि लार्ड लिटन की दृष्टि काश्मीर पर भी थी और उस 'चांद' को भी छीन लेने का प्रयत्न हो रहा था।[1]

रिपन

इँग्लैंड-सरकार ने लार्ड लिटन की इस नीति को बिलकुल बदल देना निश्चित कर लिया था। भारतसचिव लार्ड हारटिंगटन भारतवर्ष की रक्षा के लिए अफ़ग़ानिस्तान के राज्य को सुदृढ़ बनाये रखना आवश्यक समझता था।

---

१ उल्फ़, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० १९–२०।

अमीर अब्दुर्रहमान—लार्ड लिटन की नीति से अफ़ग़ानिस्तान छिन्न-भिन्न और निर्बल हो गया था। अब्दुर्रहमान केवल काबुल का शासक था, हेरात पर शेरअली का एक लड़का अयूबखां राज्य कर रहा था, कुन्दहार एक दूसरे ही सरदार के पास था। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान में तीन स्वतंत्र शासक थे। अँगरेज़ी सेना के हटने के पहले ही इन तीनों में युद्ध छिड़ गया। अयूबखां ने मेवान्द में अँगरेज़ी सेना को हरा दिया। इस युद्ध में लगभग एक हज़ार अँगरेज़ मारे गये। इस हार का बदला जनरल राबर्ट्स ने कुन्दहार में लिया। अयूबखां हारकर हेरात लौट गया। अब अँगरेज़ी सेना का अफ़ग़ानिस्तान में रखना उचित न समझा गया और सन् १८८१ में काबुल और कुन्दहार खाली कर दिये गये। इस पर अयूबखां ने हेरात से निकलकर कुन्दहार छीन लिया; परन्तु इस बार बिना अँगरेज़ों की सहायता के ही अब्दुर्रहमान ने उसको हराकर फ़ारस भगा दिया और कुन्दहार तथा हेरात पर अधिकार कर लिया। कुन्दहार के शासक के साथ अँगरेज़ों की सन्धि थी, परन्तु उसको समझा-बुझाकर अँगरेज़ों ने भारतवर्ष भेज दिया। इस तरह अब्दुर्रहमान पूरे अफ़ग़ानिस्तान का अमीर बन गया।

वह बड़ा चतुर शासक था। विदेशियों के हस्तक्षेप से अफ़ग़ान लोग कितना चिढ़ते हैं, इसको वह खूब जानता था। साथ ही साथ उसका यह भी विश्वास था कि बिना अँगरेज़ों की मित्रता के उसको अपनी रक्षा करना बड़ा मुश्किल है। इसी लिए उसने ऐसे ढंग से काम लिया कि जिसमें दोनों सन्तुष्ट बने रहें। अफ़ग़ानिस्तान के झगड़ों में पड़ने का अँगरेज़ों को भी मज़ा मिल चुका था, अब अधिक हस्तक्षेप के लिए वे उत्सुक न थे। रेज़ीडेंट रखने का विचार तो एकदम ही छोड़ दिया गया। अब्दुर्रहमान से केवल यह प्रतिज्ञा करवा ली गई कि अँगरेज़ों के सिवा वह किसी अन्य शक्ति से कोई राजनैतिक सम्बन्ध न रखेगा।

मैसूर—लार्ड बेंटिंक के समय में मैसूर का राजा गद्दी पर से उतार दिया गया था। उसके गोद लिये हुए लड़के को, सन् १८८१ में, फिर से शासनाधिकार दिये गये। देशी नरेशों पर इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उस

समय से मैसूर का शासन बड़े अच्छे ढंग से हो रहा है। दीवान को सलाह देने के लिए प्रजा के प्रतिनिधियों की एक सभा भी बन गई है और राज्य की बराबर उन्नति हो रही है।

देशी समाचारपत्रों की स्वाधीनता—इँग्लैंड की 'लिबरल सरकार' की दृष्टि में लार्ड लिटन के 'वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट' से देशी भाषाओं में छपनेवाले समाचारपत्रों के साथ बड़ा अन्याय किया गया था। इस सम्बन्ध में पार्लामेंट में भी चर्चा चल रही थी और प्रधान सचिव ग्लैडस्टन इसको रद्द करने के लिए चिन्तित था। परन्तु वाइसराय की कौंसिल में इस समय भी बहुत से लार्ड लिटन की नीति के समर्थक थे, इसलिए लार्ड रिपन को इस "घृणित क़ानून" के रद्द करने में बड़ी चतुरता से काम लेना पड़ा।

स्थानीय स्वशासन—अँगरेज़ी शिक्षा, रेल, तार, डाक और समाचारपत्रों से धीरे धीरे भारतवर्ष के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा था। जिस ढंग से इस समय भारतवर्ष का शासन किया जा रहा था, लार्ड रिपन की राय में अब वैसा करना अधिक दिनों तक सम्भव न था। उसका मत था कि यथासम्भव भारतवासियों को शासनप्रबन्ध में कुछ भाग देना चाहिए। इसी उद्देश्य से उसने स्थानीय स्वशासन स्थापित करने का प्रबन्ध किया। इसके अनुसार ज़िलों और तहसीलों में बोर्ड स्थापित किये गये और उनको देहातों की सफ़ाई, शिक्षा का प्रबन्ध और सड़कें बनाने का काम सौंपा गया। ख़र्च के लिए वहीं की आमदनी का कुछ भाग उन्हें दे दिया गया। नामज़द करने की अपेक्षा मेम्बरों को चुनने पर अधिक ज़ोर दिया गया। ज़िला या 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड' के सम्बन्ध में लार्ड रिपन की राय थी कि जहां तक सम्भव हो इसमें "बड़े साहब" का हस्तक्षेप बहुत कम होना चाहिए। ऐसा न करने से शासन की शिक्षा देने का उद्देश्य नष्ट हो जायगा और केवल ज़िलाअफ़सर की आज्ञा का पालन होने लगेगा। तहसील, तालुक़ा या 'लोकल बोर्ड' को स्थापित करके वह गांवों की प्राचीन स्वशासन-व्यवस्था को फिर से जागृत करना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसका कहना था कि मेरा उद्देश्य अँगरेज़ी संस्थाओं के प्रचार करने का नहीं है। हमने देशी स्वशासन-

व्यवस्था को बहुत कुछ नष्ट कर डाला है, पर तब भी देश के बहुत से भागों में यह थोड़ी बहुत इस समय भी मौजूद है। इसी के आधार पर मैं स्थानीय स्वशासन की इमारत को खड़ा करना चाहता हूँ।[1] परन्तु उसका यह उद्देश्य सफल न हो सका। गाँवों के प्राचीन संगठन को अँगरेज़ी शासन ने बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। उसके पुनरुद्धार के लिए अधिकांश अफ़सरों में कोई उत्साह न था।

शहरों में म्युनिसिपल्टियों के अधिकार बढ़ा दिये गये और जनता द्वारा मेम्बरों के चुने जाने का प्रबन्ध किया गया। कलकत्ता, बम्बई और मदरास में पहले से ही ऐसा होता था, परन्तु अब यह अधिकार धीरे धीरे अन्य शहरों को भी मिल गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जहां तक सम्भव हो म्युनिसिपल बोर्डों का अध्यक्ष ग़ैरसरकारी होना चाहिए, परन्तु बहुत दिनों तक ऐसा न हो सका। ज़िलों और शहरों में बोर्डों के स्थापित हो जाने से आमदनी और खर्च के प्रबन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। पहले यह कुल प्रबन्ध भारत-सरकार के हाथ में था। लार्ड मेयो के समय में, प्रान्तीय सरकारों को, इसमें कुछ भाग दिया गया था, अब कुछ भाग ज़िलों को भी मिल गया। इस तरह धीरे धीरे ज़िम्मेदारी सबमें बँट गई।

भारतवर्ष में लार्ड रिपन 'स्थानीय स्वशासन का जन्मदाता' माना जाता है। वह स्वयं लिखता है कि इससे भारतवासियों का विश्वास मुझ पर बढ़ गया है और देश भर में मेरे लिए, जिस तरह स्नेह दिखलाया जा रहा है, उससे मुझे आश्चर्य्य हो रहा है। उसकी इस उदार नीति की सफलता में अँगरेज़ अफ़सरों को बड़ा सन्देह था। उनका कहना था कि इससे शासन में बड़ी बाधा पड़ेगी, भारतवासियों को इसका अनुभव नहीं है, अँगरेज़ी पढ़कर वे केवल बातें करना जानते हैं। ये अफ़सर अँगरेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों को, कितनी "घृणा की दृष्टि" से देखते थे, इसको लार्ड रिपन खूब जानता था। इन लोगों से उसका कहना था कि ज़िम्मेदारी देने ही से

१ उल्फ, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० १००।

हिन्दुस्तानियों को "बातें करने और काम करने" के भेद का पता लग सकेगा।[1] कुछ दिनों तक इन बोर्डों का काम ठीक ठीक न चला, पर वह इससे निराश नहीं हुआ। उसकी राय में इनके स्थापित करने का सब से बड़ा भारी लाभ यह था कि जनता की "राजनीति और शासन में शिक्षा" हो रही थी।

आर्थिक सुधार—लार्ड रिपन भी स्वतंत्र व्यापार-नीति का पक्षपाती था। सन् १८८२ में उसने नमक, शराब और अस्त्र-शस्त्र छोड़कर बाक़ी सब विलायती माल पर चुंगी उठा दी। इससे विलायत के व्यापारियों का ही अधिकतर लाभ हुआ। पर साथ ही साथ उसको भारत की दरिद्र जनता का भी ध्यान रहा और उसने नमक-कर घटा दिया। देश भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने की बहुत दिनों से बात चल रही थी। इसके विरोधियों का कहना था कि ऐसा करने से सरकार का नुक़सान होगा। खेती से जो कुछ आमदनी बढ़ेगी, उसमें सरकार को कोई हिस्सा न मिलेगा। बीस तीस वर्ष का बन्दोबस्त कर देने से खेती में उन्नति करने का काफ़ी समय भी मिल जाता है और सरकार की भी कोई हानि नहीं होती है। इसके प्रतिकूल इस्तमरारी बन्दोबस्त के समर्थकों का कहना था कि ऐसा करने से सरकार को बार बार बन्दोबस्त का ख़र्च न उठाना पड़ेगा, अपने लाभ की दृष्टि से खेती की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा और प्रजा की दशा अच्छी होने से अन्य करों द्वारा सरकार की हानि भी पूरी हो जायगी। कुछ लोगों का तो कहना था कि इस्तमरारी बन्दोबस्त हो जाने से अकालों की अधिक सम्भावना न रहेगी, क्योंकि जनता का ध्यान खेती की ओर अधिक जायगा। यह बात भले ही ठीक न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि ज़मीन का लगान बहुत ज़्यादा लिया जाता था। सन् १८७९ में विलियम हंटर का कहना था कि दक्षिण में किसानों को इतना भी नहीं बचता कि वे साल भर तक अपने कुटुम्ब का पालन कर सकें। सन् १८८१ में लार्ड नार्थब्रुक ने भी माना था कि "ज़मीन का लगान बहुत ज़्यादा लिया जाता है।"

१ उल्फ़, लार्ड रिपन, पृ० १०१—१०२।

सन् १८६२ में इँग्लेंड-सरकार ने इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने के प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया था, परन्तु इस सम्बन्ध में भारत-सरकार से बराबर लिखा-पढ़ी होती रही। लार्ड मेयो ने इसका बड़ा विरोध किया। अन्त में सन् १८८३ में यह विचार त्याग दिया गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जिन ज़िलों की पूरी पैमायश करके मालगुज़ारी बाँधी गई है, उन्हें यह वचन दे देना चाहिए कि सिवा दाम बढ़ जाने के मौके को छोड़कर और कभी कोई इज़ाफ़ा न किया जायगा। इस तरह एक प्रकार से स्थायी बन्दोबस्त भी हो जायगा और सरकार की कोई हानि भी नहीं होगी। परन्तु भारतसचिव ने उसकी इस राय को नहीं माना। लार्ड रिपन ने किसानों की दशा सुधारने का भी प्रयत्न किया। बंगाल और अवध में ज़मीन्दार किसानों को बार बार बेदख़ल करके तंग किया करते थे। उनके हक़ को स्थायी बनाने के लिए उसने दो क़ानून पेश किये, परन्तु उसके समय में ये पास न हो सके। कल-कारखानों में काम करनेवालों की रक्षा के लिए भी उसने प्रबन्ध किया और यह क़ानून बना दिया कि लड़कों से नौ घंटा रोज़ से अधिक काम न लिया जाय।

शिक्षा-प्रबन्ध—सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार करने के अभिप्राय से सन् १८८१ में एक 'शिक्षा कमीशन' नियुक्त किया गया। सन् १८८३ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। अब उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्रारम्भिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देना निश्चित किया गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो शिक्षा पर सरकार का अधिकार कम रहना चाहिए। सरकारी स्कूल खोलने की अपेक्षा चन्दा से स्थापित किये हुए स्कूल तथा कालेजों को अधिक सहायता देनी चाहिए और अमीर लोगों से उनके लड़कों की पढ़ाई का पूरा खर्च लेना चाहिए, जिसमें सरकारी रुपया ग़रीबों की शिक्षा के लिए बच रहे।[१]

मनुष्य-गणना—सन् १८८१ में काश्मीर और नेपाल को छोड़कर देश भर की मनुष्य-गणना की गई। इसमें उनकी जाति, धर्म, शिक्षा, भाषा,

१ उल्फ़, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ११५।

पेशा, सभी बातों का उल्लेख किया गया। तब से हर दसवें वर्ष यह गणना होती है। इसकी रिपोर्टों से देश की बहुत सी बातों का पता चलता है।

इंडियन सिविल सर्विस—सन् १८३३ के आज्ञापत्र तथा सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में, भारतवासियों को यह विश्वास दिलाया गया था कि सरकारी नौकरियों में किसी प्रकार का जातिभेद न रखा जायगा। परन्तु वास्तव में जितने बड़े बड़े ओहदे थे, उन पर अँगरेज़ ही रखे जाते थे। भारतवासियों को जो वचन दिये गये थे, उनका मनमाना अर्थ लगाया जाता था। कहा जाता था कि सब छोटी छोटी नौकरियां हिन्दुस्तानियों के ही हाथ में हैं, सरकारी नौकरियों में अँगरेज़ों की अपेक्षा उनकी संख्या कहीं अधिक है, इस तरह प्रतिज्ञाओं का पालन हो रहा है। सिविल सर्विस के कुछ पदों पर भारतवासियों को नियुक्त करने के नियम बनाने के लिए सन् १८७० में इँगलेंड से भारत-सरकार को लिखा गया था, परन्तु उसने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने 'स्टैट्यूटरी सिविल सर्विस' नाम की एक श्रेणी खोली, जिसमें प्रान्तीय सरकार की सिफ़ारिश पर बड़े घराने के लोगों को रखना निश्चित किया गया। लार्ड लिटन का मत था कि "उन प्रतिज्ञाओं को, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है और जो वास्तव में बिना सोचे-समझे कर दी गई हैं, अधिक स्पष्ट कर देना चाहिए। उनको नियमों से भले ही जकड़ दिया जाय, पर आवश्यक सीमाओं के अन्तर्गत उन्हें सत्य बनाना चाहिए।"

इस तरह लार्ड रिपन के आने पर सिविल सर्विस में घुसने के दो तरीके थे। एक तो लार्ड लिटन के बनाये हुए नियमों द्वारा नामज़दगी से और दूसरे 'सिविल सर्विस परीक्षा' द्वारा, जो इँगलेंड में होती थी। नामज़दगी में शिक्षा और योग्यता की अपेक्षा सामाजिक पद पर अधिक ध्यान दिया जाता था। मध्य श्रेणी के उच्च शिक्षा-प्राप्त लोगों के साथ यह बड़ा अन्याय होता था। इसी लिए लार्ड रिपन इसको पसन्द न करता था। परीक्षा के लिए पहले २१ वर्ष की अवस्था का नियम था, लार्ड लिटन के समय में १९ वर्ष की अवस्था का नियम कर दिया गया था। यह नियम भी भारतवासियों

को परीक्षा से अलग रखने के उद्देश्य से ही बनाया गया था। लार्ड लिटन इस परीक्षा में बैठने से भारतवासियों को एकदम रोक देना चाहता था।[1] लार्ड रिपन का तो यहाँ तक कहना है कि उसको "उच्च शिक्षा-प्राप्त भारतवासियों से घृणा थी।" लार्ड रिपन २१ वर्ष की अवस्था का फिर नियम बनाना चाहता था। सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष में भी हुआ करे, उसकी यह भी इच्छा थी। परन्तु वह एक ऐसे झगड़े में पड़ गया कि इस सम्बन्ध में वह कुछ भी न कर सका। उसकी पूरी कौंसिल ने इसका घोर विरोध किया।

इलबर्ट बिल—इस समय तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता को छोड़कर अन्य स्थानों के हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेट और जजों को किसी गोरे अभियुक्त का मुक़दमा करने का अधिकार नहीं था। अब कुछ हिन्दुस्तानी सिविल सर्विस की परीक्षा पास करके आ गये थे और वे शीघ्र ही ज़िला मजिस्ट्रेट होनेवाले थे। कुछ हिन्दुस्तानी 'सेशंस जज' के ओहदे पर भी पहुँचनेवाले थे। पद में अँगरेज़ों के समान होते हुए भी इनको पूरे अधिकार न देना उचित न जान पड़ता था। महराजा ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर ने गवर्नर-जनरल की लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस प्रश्न को उठाया। लार्ड रिपन भी न्याय के मामलों में जातिभेद रखना बड़ा अनुचित समझता था। इसी लिए सन् १८८३ में इस भेद को उठाने के लिए सरकार की ओर से क़ानूनी सदस्य इलबर्ट ने एक बिल पेश किया। इससे अँगरेज़ों की कोई हानि न थी, पर तब भी उन्हों ने इसका घोर विरोध किया। वाइसराय का खुले तौर पर अपमान किया गया। सरकारी अफ़सरों के अतिरिक्त अन्य अँगरेज़ों ने उसके यहाँ जाना छोड़ दिया। अँगरेज़ अख़बार जामे से बाहर हो गये। 'इंगलिशमैन' ने लिख डाला कि "भारतवर्ष में यदि किसी को अधिकार है, तो वे अँगरेज़ हैं, भारतवासियों को कोई अधिकार नहीं है।" "इस तरह हिन्दुस्तानियों को गद्दी पर

---

१ बालफ़ोर बेटी, लिटंस इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० ५३१।

बिठलाना'' भारतवर्ष में रहनेवाले गोरे सहन न कर सके और उन्होंने गोरी सेना को भी भड़काने का प्रयत्न किया।

लार्ड रिपन को कभी सन्देह न था कि इस बात पर इतना घोर आन्दोलन उठेगा। यदि वह ऐसा जानता तो शायद इस प्रश्न को उठाता ही नहीं। पर एक बार ऐसा प्रस्ताव करके उसे वापस लेने से, रिपन की राय में, भारतवासियों को यह दिखलाना था कि महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में की हुई प्रतिज्ञाओं में कुछ तत्त्व नहीं है। परन्तु यह आन्दोलन बढ़ता ही गया और अन्त में लार्ड रिपन को भी इसके आगे सिर झुकाना पड़ा। कलकत्ता की सड़कों पर उपद्रव होने की नौबत देखकर लार्ड रिपन ने समझौता कर लिया। गोरे अभियुक्तों को 'जूरी' की सहायता से, जिसमें आधे अँगरेज़ या अमरीकन हों, मुक़दमा कराने का अधिकार दे दिया गया। इस तरह देखने के लिए तो जातिभेद उठा दिया गया; क्योंकि जूरी की सहायता से मुक़दमा करने का अधिकार हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ जजों को समान रूप से दे दिया गया। पर वास्तव में यह भेद बना रहा; क्योंकि हिन्दुस्तानियों को जूरी की सहायता से मुक़दमा कराने का कोई अधिकार न दिया गया।

उदार नीति—लार्ड रिपन इंडिया कौंसिल के हस्तक्षेप को पसन्द न करता था। उसका कहना था कि "भारतवर्ष को लिबरल सरकार से लाभ ही क्या हो सकता है, यदि वह हाथ-पैर बांधकर कुछ ऐसे बुड्ढे आदमियों के हवाले कर दिया जाय, जिनकी शक्तियां बुढ़ापे से नष्ट हो गई हैं, जिन्हें बिना किसी ज़िम्मेदारी के अच्छी तनख़्वाहें मिलती हैं और जिनको उन लोगों के प्रस्तावों की आलोचना करने तथा उनके काम में बाधा डालने में आनन्द आता है, जिन्हें भारतवर्ष की वास्तविक दशा का पूरा ज्ञान है और जिनके ऊपर देश का अच्छा शासन करने की पूरी ज़िम्मेदारी है?"[१] भारतवर्ष की आमदनी से इँग्लैंड का लाभ उठाना वह अनुचित समझता था। सन् १८८२ में विद्रोह शान्त करने के लिए भारतवर्ष से जो सेना

१ उल्फ़, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ५३।

मिस्र भेजी गई थी, उसका खर्च प्रधान सचिव ग्लैडस्टन भारतवर्ष से लेना चाहता था; क्योंकि उसकी राय में इँग्लेंड पर काफ़ी बोझ था और मिस्र को शान्त रखने से स्वेज़ की नहर सुरक्षित रह सकती थी। इस पर लार्ड रिपन ने भारतसचिव को लिखा कि इँग्लेंड में पार्लामेंट है, इसलिए अधिक रुपया मांगने में भय होता है। भारतवर्ष पर "अनावश्यक बोझ" लाद देने से कोई पूछनेवाला नहीं है, इसी लिए ऐसा किया जा रहा है। मेरी राय में यह न्याय नहीं बल्कि मंत्रिमंडल की सरासर ज़बरदस्ती है। लिबरल दल का नेता होकर ग्लैडस्टन इसका समर्थन कर रहा था, लार्ड रिपन को इसका बड़ा दुख था। अन्त में उसकी बात मानकर इँग्लेंड-सरकार ने आधा खर्च देना स्वीकार किया।[1]

भारतवर्ष की रक्षा के सम्बन्ध में उसका मत था कि रूस के आक्रमण का भय निर्मूल है। यह बात ठीक है कि जनता में असन्तोष होने से रूसी उसको हमारे विरुद्ध भड़का सकते हैं। इसको दबाने का सबसे मुख्य उपाय यह है कि देश का शासन उत्तम रीति से किया जाय और वहां की समृद्धि बढ़ाई जाय। देश भर में उन्नति के चिह्न दिखलाई दे रहे हैं, जनता के आचार-विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा है। स्थिति निस्सन्देह बड़ी जटिल है, परन्तु यदि बुद्धि और साहस से काम लिया जाय, तो इससे बहुत कुछ लाभ हो सकता है। थोड़े दिनों के "न्याय और सत्यतापूर्ण शासन" से हमारा प्रभाव जनता के हृदय पर जम जायगा और उसका हम पर विश्वास तथा हमारे शासन में सन्तोष बढ़ जायगा। ऐसा करने से अफ़ग़ानिस्तान की सीमाओं पर सेना रखने की अपेक्षा हम रूसियों के आक्रमण से भारतवर्ष की अधिक रक्षा कर सकेंगे।[2]

लार्ड रिपन का कहना था कि भारत-सरकार के सामने दो नीतियां हैं। एक तो उनकी नीति है, जिन्होंने समाचारपत्रों को स्वतंत्रता दी

---

१ उल्फ़, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ५५-५६।

२ वही, पृ० ५९।

है, शिक्षा की उन्नति की है, अधिक संख्या में भारतवासियों को सब तरह की नौकरियां दी हैं और जिन्होंने स्वशासन की वृद्धि का समर्थन किया है। दूसरी नीति उन लोगों की है, जो समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का तिरस्कार करते हैं, जो शिक्षा की उन्नति से डरते हैं और जिन्हें शासन में भारतवासियों को ज़रा सा भी भाग देने से जलन होती है। "इन दो नीतियों में से हमें चुनना पड़ेगा। एक का अर्थ उन्नति और दूसरी का अर्थ दमन है। लार्ड लिटन ने दूसरी को और मैंने पहली नीति को चुना।"[१]

लार्ड रिपन का इस्तीफ़ा—सन् १८८४ में लार्ड रिपन ने इस्तीफ़ा दे दिया। जहां तक बन पड़ा उसने भारतवर्ष का हित करने के लिए बराबर प्रयत्न किया। हर एक बात में उसको भारतवासियों का ध्यान रहता था और शासन में वह किसी प्रकार का जातिभेद पसन्द न करता था। इसके लिए उसको अपने देशवासियों के मुख से बहुत सी बुरी-भली बातें भी सुननी पड़ीं। चलते समय भारतवासियों ने अपनी कृतज्ञता का पूरा परिचय दिया। जगह जगह पर उसको मानपत्र दिये गये और मीलों तक लाखों आदमियों ने जयध्वनि से उसकी बिदाई की। कुछ अँगरेज़ इतिहासकारों का कहना है कि उसमें कोई विशेष योग्यता न थी। सम्भव है यह ठीक हो, पर जैसा कि अर्सकाइन पेरी ने लिखा है, उसमें "दिल था, जिसका हिन्दुस्तानी सबसे अधिक आदर करते हैं।" सर काल्विन का विश्वास था कि लार्ड रिपन का भारतवासियों के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव था कि वह जो चाहे कर सकता था। पंजाब के सर साहबदयाल ने ठीक कहा था कि लार्ड रिपन सहस्रों सैनिकों के बराबर हैं; क्योंकि भारतवासियों का उस पर विश्वास है और वे उसको चाहते हैं। यदि भारतवर्ष में कभी अँगरेज़ों पर विपत्ति पड़े, तो उन्हें लार्ड रिपन को भेजना चाहिए।[२]

१ उल्फ, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ९४।

२ वही, पृ० १६५—६६।

लार्ड डफ़रिन—लार्ड रिपन के स्थान पर लार्ड डफ़रिन वाइस-राय बनाया गया। वह कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और बहुत दिनों तक रूस, तुर्की और मिस्र में भी रहा था। पूर्वीय राजनीति का उसे अच्छा ज्ञान था। कुछ दिनों तक सर जान लारेंस के समय में भारतवर्ष के उपसचिव के पद पर काम करने के अतिरिक्त उसको भारतवर्ष के सम्बन्ध में विशेष अनुभव न था। पर वह अपने समय का "एक बड़ा नीतिज्ञ समझा जाता था।"
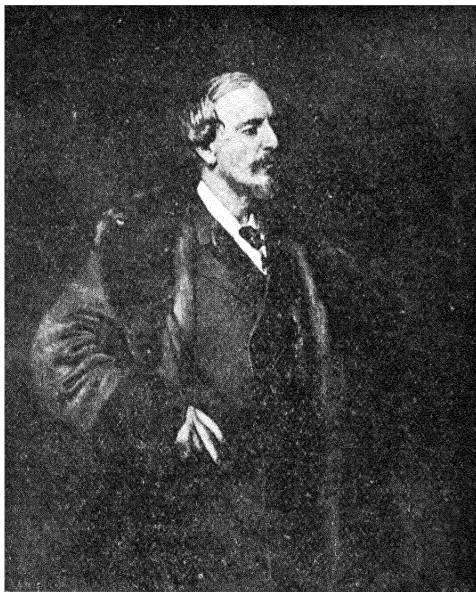
डफ़रिन

पंजदेह की घटना—मार्च सन् १८८५ में रूसियों ने हेरात और मर्व के बीच अफ़ग़ानिस्तान की चौकी पंजदेह पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस पर इँग्लेंड और भारतवर्ष में बड़ी सनसनी फैली और रूस के साथ युद्ध की तैयारी होने लगी। परन्तु लार्ड डफ़रिन और अब्दुर्रहमान की चतुरता से लड़ाई की नौबत न आई। इन दोनों की रावल-पिंडी में भेंट हुई। अमीर अब्दुर्रहमान अफ़ग़ानिस्तान की रक्षा के लिए रूस और इँग्लेंड का युद्ध न चाहता था। वह जानता था कि इन दो शक्तियों के बीच उसका छोटा सा राज्य पिसकर तबाह हो जायगा। उसका कहना था कि

"मेरा देश एक बेचारे बकरे की तरह है, जिस पर भालू (रूस) और शेर (इँग्लेंड) दोनों की निगाहें जमी हुई हैं। उसका ईश्वर ही रक्षक है।" इसी लिए वह पंजदेह छोड़ देने के लिए भी राज़ी हो गया। इस पर रूस से समझौते की बातचीत होने लगी।

लार्ड डफ़रिन ने भी बड़ी चतुरता से काम लिया। उसने अमीर का बड़ा सम्मान किया और उसको रुपये तथा अस्त्र-शस्त्र की सहायता देकर काबुल वापस भेज दिया। अमीर किसी प्रकार की सैनिक सहायता न चाहता था; क्योंकि वह जानता था कि इससे फिर झगड़ा होगा। लार्ड डफ़रिन कुछ इंजीनियरों को भेजना चाहता था, परन्तु अमीर ने इसको भी अस्वीकार कर दिया। लार्ड डफ़रिन भी सेना भेजने के लिए उत्सुक न था, यदि अमीर चाहता तो उसको सेना भेजनी पड़ती; क्योंकि बाहरी आक्रमण से अफ़ग़ानिस्तान की रक्षा करने का लार्ड रिपन वचन दे चुका था। परन्तु इसका अवसर न आया। सन् १८८७ में रूस से समझौता हो गया और पंजदेह पर उसका अधिकार मान लिया गया। इस घटना का भारतवर्ष पर यह प्रभाव पड़ा कि उसके ख़ज़ाने का बहुत सा रुपया युद्ध की तैयारी में उड़ गया और सेना की संख्या बढ़ गई।

बर्मा का तीसरा युद्ध—सन् १८७९ में बर्मा के राजा थीबा के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अँगरेज़ी राजदूत वापस बुला लिया गया था। तब से बर्मा में अँगरेज़ों को पूरी व्यापारिक सुविधाएँ नहीं मिल रही थीं और व्यापारी लोग बर्मा को भी अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने के लिए कह रहे थे। थीबा जर्मनी, इटली और फ़्रांस से सन्धि की बातचीत कर रहा था। सन् १८८५ में एक फ़्रांसीसी राजदूत भी मंडाले आया था और एक बेंक स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। बर्मा दरबार में फ़्रांसीसियों का प्रभुत्व अँगरेज़ों को खटक रहा था और वे लड़ाई का कोई न कोई बहाना ढूँढ़ रहे थे। इन्हीं दिनों एक अँगरेज़ी व्यापारिक कम्पनी पर थीबा ने २३ लाख रुपया जुरमाना कर दिया। यह अच्छा बहाना मिल गया। रंगून में दस हज़ार सेना एकत्र करके थीबा को इस मामले की अँगरेज़ पंचों द्वारा जांच

कराने के लिए कहा गया। जब उसने इसे स्वीकार नहीं किया तब अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखने तथा उसकी सलाह से विदेशी नीति संचालन करने के

थीबा और उसकी रानी

लिए लिखा गया। कोई ठीक उत्तर न मिलने पर युद्ध की घोषणा कर दी गई।

दस ही दिन में युद्ध समाप्त हो गया। बर्मियों ने युद्ध की कोई तैयारी न की थी, उन पर सहसा आक्रमण कर दिया गया था। जनवरी सन् १८८६ में उत्तरी बर्मा भी अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया और थीबा क़ैद करके भारतवर्ष भेज दिया गया, जहां रत्नागिरि में वह बहुत दिनों तक जीवित रहा। इस तरह विजय तो हो गई पर बर्मा को शान्त करने में बहुत समय लगा। चार पांच वर्षों तक बहुत से लुटेरे बड़ा उपद्रव मचाते रहे, पर धीरे धीरे शान्ति स्थापित हो गई और अँगरेज़ी शासन चल पड़ा। इतिहासकार राबर्ट्स की राय में बर्मा के साथ "ज़बरदस्ती और निष्ठुरता" का व्यवहार किया गया। यह मानते हुए भी कि थीबा अत्याचारी था, उसके राज्य को छीन लेने का भारत-सरकार को कौन सा अधिकार था? वह स्वतंत्र शासक था और चाहे जिसके साथ सन्धि कर सकता था। फ़्रांसीसियों का 'इंडो-चैना' भी उसके राज्य से मिला हुआ था। यदि उसके कहने पर फ़्रांसीसी अपना प्रभाव वहां जमा रहे थे, तो फिर अँगरेज़ों को जलन क्यों होती थी? जैसा हक़ अँगरेज़ों का था वैसा ही फ़्रांसीसियों का, इसमें बिगड़ने की कौन सी बात थी? परन्तु स्वार्थ के आगे न्याय की कौन सुनता है? निर्बल पर सबल का सभी अधिकार रहता है। दक्षिणी बर्मा से उत्तरी बर्मा अधिक उपजाऊ है, वहाँ ख़ूब धन कमाने की सम्भावना थी। युद्ध छिड़ने के पहले ही लार्ड डफ़रिन ने लिखा था कि यदि फ़्रांसीसी उत्तरी बर्मा में अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करें तो उसको बिना किसी संकोच के अँगरेज़ी राज्य में मिला लेना चाहिए।[1]

देशी राज्य—सन् १८८६ में ग्वालियर का क़िला सिन्धिया को वापस कर दिया गया। काश्मीर के शासन में रेज़ीडेंट प्लाउडन बहुत हस्तक्षेप करता था। सन् १८८८ में लार्ड डफ़रिन ने उसको वापस बुला लिया। वाइसराय के इन कार्यों का देशी राज्यों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जब रूस के साथ युद्ध छिड़नेवाला था, तब बहुत से राज्यों ने सहायता करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। समय पड़ने पर सरकार की सहायता करने के लिए बड़े बड़े

१ लायल, डफ़रिन, जि० २, पृ० ११८।

राज्यों ने एक अलग सेना रखना भी निश्चित किया; जो 'इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स' अथवा 'साम्राज्य-सेवा सेना' कहलाती है। इसमें हिन्दुस्तानी ही अफ़सर रहते हैं, पर इसका निरीक्षण अँगरेज़ करते हैं।

क़ानून-लगान—किसानों की रक्षा के लिए जिन क़ानूनों पर लार्ड रिपन के समय से विचार हो रहा था, वे अब पास कर दिये गये। बंगाल में ज़मीन्दारों ने नये क़ानून का बड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि सन् १७९३ में इस्तमरारी बन्दोबस्त करके अब ऐसा क़ानून पास करने का सरकार को अधिकार नहीं है। उत्तर में लार्ड डफ़रिन का कहना था कि लार्ड कार्नवालिस स्वयं ऐसा क़ानून बनाना चाहता था। इसके अतिरिक्त सन् १८५९ में काश्तकारों के सम्बन्ध में एक क़ानून बन चुका है। सन् १८८५ में 'बंगाल टेनेंसी बिल' पास हो जाने से काश्तकारों को जब चाहे बेदख़ल करने का अधिकार ज़मीन्दारों को न रहा। ज़मीन्दार और काश्तकारों के झगड़ों को निपटाने के लिए भी नियम बना दिये गये। चलते समय लार्ड रिपन अवध के काश्तकारों का ध्यान रखने के लिए लार्ड डफ़रिन से अनुरोध कर गया था। अवध के क़ानून-लगान से वहाँ के काश्तकारों की दशा कुछ सुधर गई, ज़मीन्दारों के लिए उनका बेदख़ल करना और लगान बढ़ाना मुश्किल हो गया। सन् १८८७ में इसी ढंग का पंजाब के लिए भी एक क़ानून पास किया गया। आयर्लेंड के ज़मीन्दार और काश्तकारों के सम्बन्ध का लार्ड डफ़रिन को बहुत कुछ अनुभव था, जिससे इस जटिल प्रश्न के सुलझाने में उसको बड़ी सहायता मिली।

आर्य्यसमाज—सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आर्य्यसमाज स्थापित किया। सन् १८७७ में लाहोर में इसका पूर्ण रूप से संगठन किया गया। स्वामीजी ने वेदों को ईश्वरवाक्य मानकर उन पर अधिक ज़ोर दिया; मूर्त्तिपूजन, श्राद्ध तथा जाति-पांति के भेदों को स्वीकार नहीं किया और अन्य मतावलम्बियों को शुद्ध करके आर्य्य बनाना जायज़ मान लिया। थोड़े ही दिनों में उत्तरी भारत में आर्य्यसमाज का बड़ा ज़ोर हो गया और स्थान

स्थान पर इसकी शाखाएँ खुल गईं। बहुत से हिन्दुओं को इसने ईसाई और मुसलमान होने से बचाया। समाजसुधार की ओर इसने विशेष ध्यान दिया और विधवा-विवाह का प्रचार किया। प्राचीन ढंग से शिक्षा देने के लिए इसने गुरुकुल स्थापित किये। उत्तरी भारत में इसने वही काम किया, जो ब्रह्मसमाज ने बंगाल में किया। केवल भेद इतना ही था कि ब्रह्मसमाज ने पाश्चात्य ढंग को अपनाया, परन्तु यह पूरा भारतीय बना रहा। इस समय भी समाजसुधार और शिक्षा के लिए आर्य्य-समाज बहुत कुछ कर रहा है। इसके प्रचारक उपनिवेशों तक में पहुँच गये हैं।

स्वामी दयानन्द
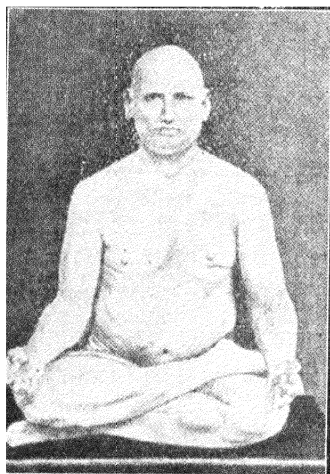
थियासोफ़िकल सोसायटी—जिस साल भारतवर्ष में आर्य्यसमाज स्थापित हुआ, उसी साल अमरीका के न्यूयार्क नगर में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अलकाट ने 'थियोसोफ़िकल सोसायटी' स्थापित की। इस सोसायटी ने सब धर्मों की एकता और सत्यता पर ज़ोर दिया। स्वामी दयानन्द जी के आमंत्रित करने पर सन् १८७९ में ये दोनों भारतवर्ष आये। इन्होंने प्राच्य शास्त्रों की महत्ता दिखलाते हुए यह बतलाया कि भारतवर्ष का उद्धार उसी के विचारों द्वारा हो सकता है। इस सोसायटी का मुख्य कार्यालय मद्रास के निकट अदयार में स्थापित हुआ। सन् १८९३ में मिसेज़ बेसेंट के आ जाने से इसका ज़ोर बहुत बढ़ गया। अँगरेज़ी पढ़े हुए लोगों को भी, जो पाश्चात्य सभ्यता पर मुग्ध हो रहे थे, यह ज्ञात होने लगा कि उनके देश की प्राचीन सभ्यता और आचार-विचारों में भी कुछ तत्त्व है। इस सोसायटी ने समाजसुधार और शिक्षा को भी अपनाया और तत्कालीन शिक्षा को "धर्म तथा राष्ट्रीयता के भावों के विरुद्ध" बतलाया।

रामकृष्ण मिशन—बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उच्च विचारों का उस समय के कई एक शिक्षित नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके शिष्य सुप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दजी सन् १८९३ में अमरीका गये। वहाँ उन्होंने वेदान्त का उपदेश दिया। उनके व्याख्यानों से अमरीका चकित रह गया। इसके बाद वे इँग्लेंड गये। इस तरह वेदान्त की ध्वनि पाश्चात्य संसार में भी पहुँच गई। स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के नाम से सेवाश्रम स्थापित किये। भेद-भावों को भूलकर सबकी सेवा करना इनका मुख्य उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द को अपने देश का हर समय ध्यान रहता था। उनके उपदेशों से नवयुवकों में समाजसेवा और स्वदेशभक्ति के भाव उत्पन्न होने लगे।

स्वामी विवेकानन्द

राष्ट्रीयता का भाव—मुग़ल तथा मराठा साम्राज्यों के पतन और विदेशियों के आगमन से समाज की जो दुर्दशा हो गई थी, उसके विरुद्ध सबसे पहले राजा राममोहन राय ने आवाज़ उठाई। परन्तु ब्रह्मसमाज पर पाश्चात्य विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा, केशवचन्द्र के समय से तो उसके एक भाग का रूप ही बदल गया। आर्य्यसमाज ने इसको रोकने की चेष्टा की और भारतवासियों का ध्यान उनकी प्राचीन सभ्यता की ओर आकर्षित किया। थियासोफ़ी ने धार्मिक सहिष्णुता पर ज़ोर देकर संकीर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया। स्वामी विवेकानन्द ने सब भेद-भावों को हटाकर भारतवर्ष

अय्यर, पश्चिमोत्तर प्रान्त के पंडित अयोध्यानाथ तथा पंडित मदनमोहन मालवीय और पंजाब के सरदार दयालसिंह मुख्य थे।

कलकत्ता में 'ब्रिटिश इंडियन असोसियेशन,' बम्बई में 'सार्वजनिक सभा', मदरास में 'महाजनसभा', लाहौर में 'अंजुमन' तथा अन्य प्रान्तों में भी कई एक ऐसी ही संस्थाएँ थीं, जो राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करती थीं। परन्तु इस समय तक सारे देश के लिए कोई ऐसी संस्था न थी। लार्ड लिटन के दिल्ली दरबार के समय से, जब ये सब नेता एकत्र हुए थे, इस अभाव को दूर करने के प्रश्न पर विचार हो रहा था। सन् १८८५ में मिस्टर ए० ओ० ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न और श्री दादाभाई नौरोजी के उद्योग से 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' स्थापित की गई। ह्यूम साहब का विचार इसको एक सामाजिक संस्था ही बनाने को था, पर लार्ड डफ़रिन की राय से इसको राजनैतिक स्वरूप दिया गया। बम्बई में इसका पहला अधिवेशन हुआ, जिसके कलकत्ता के श्री उमेशचन्द्र बनर्जी सभापति बनाये गये। इसमें एक 'रायल कमीशन' द्वारा भारतवर्ष के शासन की जाँच कराने, इंडिया कौंसिल को तोड़ने और लेजिस्लेटिव कौंसिलों को निर्वाचित बनाने के लिए प्रस्ताव किये गये। थोड़े ही दिनों में कांग्रेस भारतवर्ष की
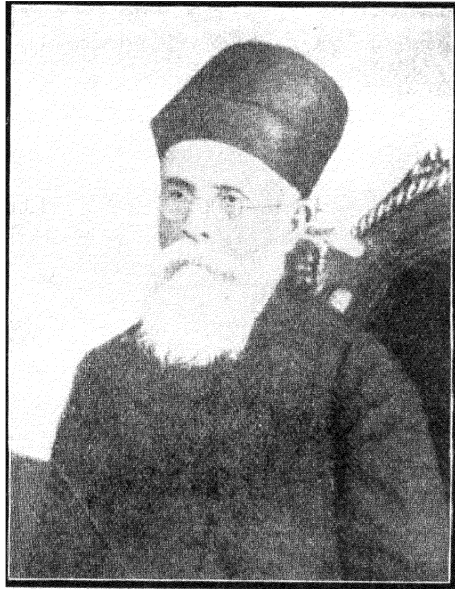
दादाभाई नौरोजी

राष्ट्रीय सभा बन गई। कांग्रेस का इतिहास वास्तव में भारतवर्ष के स्वतंत्रता-युद्ध का इतिहास है।

डफ़रिन की नीति—सन् १८८८ में लार्ड डफ़रिन इस्तीफ़ा देकर वापस चला गया। भारतवर्ष आने पर उसने इस बात को दिखलाने का प्रयत्न किया था कि वह लार्ड रिपन की नीति का अनुकरण करना चाहता है। अन्त तक वह यही कहता भी रहा, पर दोनों की नीति में बड़ा अन्तर था। लार्ड रिपन की नीति से असन्तुष्ट अँगरेज़ों को सन्तुष्ट करने का उसे सब से अधिक ध्यान था। शासन में शिक्षित भारतवासियों के सहयोग की आवश्यकता को वह समझता था और उसने कौंसिलों के सुधार के लिए भारतसचिव को लिखा भी था, पर कांग्रेस की नीति और उसके कार्य्यक्रम को वह पसन्द न करता था। कांग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने की सलाह देने में उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि सरकार को उसके द्वारा देश की जनता के मन का पता लगता रहे। उसकी राय थी कि थोड़ा-बहुत सुधार करके दस पन्द्रह वर्ष के लिए "सार्वजनिक सभाओं और उत्तेजित करनेवाली वक्तृताओं को बन्द कर देना चाहिए।" वह भारतवर्ष को प्रतिनिधि-शासन के योग्य न समझता था। उसका मत था कि "इँग्लेंड को अपना शासनाधिकार कभी न छोड़ना चाहिए।"[१]

लार्ड लैंसडौन—सन् १८८८ में लार्ड लैंसडौन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह भी कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और कुछ दिनों तक भारतवर्ष का उपसचिव भी रहा था। वाइसराय पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, परन्तु लैंसडौन भारतवर्ष में ६ वर्ष के लगभग रहा।

सीमाओं की रक्षा—अफ़ग़ानिस्तान और भारतवर्ष की सीमाओं के बीच २५००० वर्ग मील के लगभग पहाड़ी भूमि है। इसके दक्षिण में बिलोचिस्तान और उत्तर में चित्राल है। इन्हीं पहाड़ियों में से अफ़ग़ानिस्तान

१ लायल, डफ़रिन, जि० २, पृ० १५१, २०३।

आने जाने के मार्ग हैं। यहाँ के निवासी नाममात्र के लिए अमीर की अधीनता स्वीकार करते थे, पर वास्तव में वे स्वतंत्र थे। ये लोग भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर बराबर लूट-पाट किया करते थे। इनके सम्बन्ध में भारत-सरकार की क्या नीति होना चाहिए, यह कुछ निश्चित न था। एक दल 'आगे बढ़ने की नीति' के पक्ष में था। उसका कहना था कि रेलें चलाकर और चौकियाँ क़ायम करके अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक पहुँच जाना चाहिए। इसके प्रतिकूल दूसरा दल था, जो सिन्ध नदी की सीमा से ही सन्तुष्ट रहना चाहता था। इसका कहना था कि इन पहाड़ी जातियों को दबाये रखने में बड़ा ख़र्च पड़ता है और अफ़ग़ानिस्तान के अमीर को भी भारत-सरकार की नीयत पर सन्देह होता है।

लार्ड लैंसडौन के समय में 'आगे बढ़ने की नीति' के अनुसार गिलगिट पर अधिकार जमाने का प्रयत्न हो रहा था। उसके व्यवहार से भी अमीर अब्दुर्रहमान चिढ़ा हुआ था। वाइसराय के "आदेशपूर्ण" पत्रों को, जिनमें शासनप्रबन्ध ठीक करने के लिए उसको लिखा जाता था, वह पसन्द न करता था। सन् १८९२ में एक अँगरेज़ दूत चितराल भेजा गया। इससे अमीर का सन्देह और भी बढ़ गया। परन्तु सर हेनरी मार्टिमर डुरांड की चतुरता से अमीर का भ्रम दूर हो गया और अँगरेज़ों के साथ मित्रता का सम्बन्ध हो गया। डुरांड अपने साथ किसी संरक्षक को भी नहीं ले गया, जिससे अफ़ग़ानिस्तान-निवासियों को किसी प्रकार का सन्देह न हो। इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। सीमा के बहुत से झगड़े तय हो गये और अमीर को जो सालाना रक़म दी जाती थी, वह बढ़ा दी गई। कुछ भूमि भी अमीर को दी गई, जिसके बदले में उसने सीमा पर बसनेवाले अफ़्रीदी, वज़ीरी तथा अन्य जातियों के झगड़ों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। अमीर इँग्लेंड की नीति को ख़ूब समझता था। उसका कहना था कि मित्रता दिखलाते हुए भी इँग्लेंड अपने मतलब से कभी नहीं चूकता। जो कुछ रूस ने लिया है, उससे भी अधिक इस मित्र ने लिया है।

काश्मीर—महाराजा गुलाबसिंह के लड़के महाराजा रणवीरसिंह को इस बात का बराबर भय था कि किसी दिन काश्मीर अँगरेज़ी राज्य में अवश्य

मिला लिया जायगा। वह कहा करता था कि उसके एक ओर रूस, दूसरी ओर अफ़ग़ानिस्तान और तीसरी ओर अँगरेज़ हैं। इनके बीच में पड़कर उसका राज्य अवश्य पिसेगा। लार्ड रिपन ने लिखा ही था कि लार्ड लिटन इस चांद को अँगरेज़ी राज्य में मिलाने का प्रयत्न कर रहा था। परन्तु रणवीरसिंह के समय में अँगरेज़ों की दाल न गल सकी। सन् १८८५ में उसके मरने पर प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। उसमें उतनी योग्यता और दृढ़ता न थी। उसके गद्दी पर बैठते ही पहला काम यह किया गया कि काश्मीर दरबार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रख दिया गया। गुलाबसिंह के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमें रेज़ीडेंट रखने की कोई बात भी न थी। महाराजा प्रतापसिंह ने इसका विरोध भी किया, पर उसकी कुछ भी न सुनी गई। रेज़ीडेंट प्लाउडन ने शासन की हर एक बात में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर सन् १८८८ में लार्ड डफ़रिन ने उसको दूसरी जगह बदल दिया।

पर तब भी महाराजा प्रतापसिंह को चैन नहीं लेने दिया गया। सन् १८८९ में उस पर अँगरेज़ों के विरुद्ध रूस से पत्र-व्यवहार करने, प्रजा पर अत्याचार करने तथा भोग-विलास में राज्य का ख़ज़ाना उड़ाने के अपराध लगाये गये और उससे एक पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिये गये, जिसके अनुसार उसने कुल शासन कुछ सरदार तथा अँगरेज़ अफ़सरों की एक कौंसिल को सौंप दिया। उस पर जो अपराध लगाये गये, उनकी कभी जांच नहीं की गई। महाराजा प्रतापसिंह का कहना था कि उसने रूस से कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया था, शासन में भी वह बहुत से सुधार करना चाहता था, परन्तु रेज़ीडेंट के हस्तक्षेप के कारण कुछ न हो सका। उसके शासन से प्रजा को कोई शिकायत न थी, न उसके अत्याचार ही का कोई प्रमाण बतलाया गया। शिकायत करना तो दूर रहा, जम्मू के डोगरों का कहना था कि अँगरेज़ रेज़ीडेंट की आज्ञा पर चलनेवाली कौंसिल के इनामों से अपने राजा द्वारा लूटा जाना कहीं अच्छा है। मिस्टर विनगेट ने भी, जिसकी राय से भारत-सरकार ने अपना मत स्थिर किया था, माना है कि महाराजा दरिद्रों पर सदा दया करता था, ज़मीन के मामलों में बड़ी दिलचस्पी लेता था और अफ़सरों के

अत्याचारों से काश्तकारों की रक्षा करता था। सन् १८८८ में स्वयं लार्ड डफ़रिन ने लिखा था कि "सुधार के सम्बन्ध में बहुत कुछ उन्नति की गई है।" ऐसी दशा में प्रजा पर अत्याचार का अपराध सिद्ध नहीं होता। ख़ज़ाने से अपने ख़र्चे के लिए वह एक बँधी रक़म लेता था। उसका बहुत सा रुपया काश्मीर की सैर करनेवाले अँगरेज़ अफ़सरों की ख़ातिरदारी में उड़ता था।

काश्मीर पर अँगरेज़ों की जैसी कुछ दृष्टि थी, सो तो थी ही, परन्तु इस समय मुख्य बात यह थी कि उन्हें गिलगिट पर अधिकार करने की आवश्यकता थी। यह काश्मीर के अधीन था। उन दिनों मध्य एशिया में यह एक सैनिक महत्त्व का स्थान था। सन् १८९० में चार्ल्स ब्रैडला ने काश्मीर के मामले की जाँच कराने के लिए पार्लामेंट में प्रयत्न किया पर कोई फल नहीं हुआ। सन् १९०५ में न जाने क्या सोचकर महाराजा प्रतापसिंह को फिर से शासनाधिकार दिये गये।[1]

मनीपुर—सन् १८९१ में आसाम की सीमा पर कचार के पूर्व, मनीपुर की रियासत में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। भारत-सरकार ने वहां के सेनापति को निकाल दिया। इस पर उसने बग़ावत कर दी और कुछ अफ़सरों को धोखे से मार डाला। अन्त में वह और उसके साथी पकड़े गये और उन्हें फाँसी का दंड दिया गया। मनीपुर अँगरेज़ी राज्य में नहीं मिलाया गया। गद्दी पर एक लड़का बिठला दिया गया। अँगरेज़ अफ़सर उसी के नाम से शासन करते रहे। सन् १९०७ में उसको पूरे अधिकार दे दिये गये।

सिक्का—भारतवर्ष में बहुत दिनों से चाँदी का सिक्का काम में लाया जाता है और इँग्लेंड में सोने का सिक्का चलता है। भारतवर्ष को बहुत सा रुपया इँग्लंड भेजना पड़ता है, परन्तु वहाँ चांदी का सिक्का न होने के कारण यह रुपया सोने के सिक्कों में देना पड़ता है। पहले एक रुपया पौंड का आठवाँ हिस्सा, यानी २ शिलिंग ६ पेंस के बराबर माना जाता था। सन् १८७० से यह पौंड का दसवाँ हिस्सा अर्थात् २ शिलिंग के बराबर माना

१ डिगबी, कंडेम्ड अनहर्ड।

जाने लगा। इधर कई कारणों से चांदी बहुत सस्ती हो गई, जिसका फल यह हुआ कि सन् १८९२ में रुपये का भाव घट कर १ शिलिंग १ पेंस ही रह गया। इसका भारत की आर्थिक स्थिति पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसको अब पहले से बहुत अधिक रुपया देना पड़ने लग गया। इस कमी को पूरा करने के लिए भारत-सरकार ने फिर से इनकम टैक्स लगा दिया और नमक-कर बढ़ा दिया। जब इतने से भी पूरा न पड़ा, तब रुपये का मूल्य १ शिलिंग ४ पेंस निर्धारित कर दिया गया, सरकारी खज़ानों में 'सावरेन' भी लिये जाने लगे और आगे चलकर भारतवर्ष में सोने का सिक्का चलाने की दृष्टि से टकसालों में अधिक रुपया ढालना बन्द कर दिया गया।

कौंसिलों का सुधार—लार्ड डफ़रिन के समय से कौंसिलों के सुधार पर विचार हो रहा था। उसकी बहुत सी बातें मान ली गईं और सन् १८९२ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास किया गया, जिसके अनुसार भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। म्यूनिसिपलिटियों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और यूनिवर्सिटियों को लेजिस्लेटिव कौंसिलों में अपने प्रतिनिधियों के भेजने का अधिकार दिया गया। इस तरह प्रतिनिधियों के चुनने के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया गया। पर उस समय तक कौंसिलों में सरकारी मेम्बरों की ही अधिकता रखी गई। 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' में मेम्बरों को प्रश्न पूछने और सालाना बजट पर बहस करने का भी अधिकार दिया गया। शिक्षित समाज इन सुधारों से सन्तुष्ट न हुआ। कांग्रेस का मत था कि इनसे "कौंसिलों में भेजने के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार जनता को न मिला।" इसलिए उसने इसको स्वीकार करते हुए आन्दोलन जारी रखना निश्चित किया।

पब्लिक सर्विसेज़ कमीशन—सरकारी नौकरियों की जांच करने के लिए सन् १८८७ में एक कमीशन नियुक्त किया गया था। सन् १८९१ में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसने नौकरियों की भारतीय, प्रान्तीय और मातहती ये तीन श्रेणियां बनाईं और यह निश्चित किया कि इँग्लेंड में सिविल सर्विस परीक्षा पास करनेवालों को केवल भारतीय श्रेणी की नौकरियाँ दी जाया

करें और बाक़ी दो श्रेणियों में यथासम्भव हिन्दुस्तानी रखे जाया करें। भारत-सरकार ने इन सिफ़ारिशों को भी पूरे तौर पर नहीं माना। इस पर कांग्रेस ने बड़ा असन्तोष प्रकट किया और इस सम्बन्ध में श्री दादाभाई नौरोजी द्वारा, जो पार्लामेंट के मेम्बर चुन लिये गये थे, एक प्रार्थनापत्र भेजना निश्चित किया। सन् १८९३ में पार्लामेंट ने सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष में भी करने की इच्छा प्रकट की। मदरास को छोड़कर सभी प्रान्तीय सरकारों ने इसका बड़ा विरोध किया। इसलिए कोई क़ानून पास न किया गया और पार्लामेंट का प्रस्ताव यों ही रह गया।

दूसरा लार्ड एलगिन—सन् १८९४ में लार्ड एलगिन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह पहले लार्ड एलगिन का, जो सन् १८६२-६३ में गवर्नर-जनरल रह चुका था, लड़का था। यह किसी बड़े ओहदे पर नहीं रहा था और न इसको शासन का ही अधिक अनुभव था। इसमें कोई विशेष योग्यता भी नहीं थी और यह भारतवर्ष में रहनेवाले अफ़सरों के कहने ही पर अधिकतर चलता था।

चितराल और तीराह—हिन्दूकुश के दक्षिण में चितराल एक छोटी सी रियासत है। सन् १८९५ में यहाँ की गद्दी के लिए झगड़ा हुआ और विद्रोहियों ने अँगरेज़ी चौकी को घेर लिया। इस पर अँगरेज़ी सेना ने बढ़कर चितराल पर अधिकार कर लिया। लार्ड एलगिन चितराल को छोड़ना न चाहता था। इँग्लेंड की लिबरल सरकार की राय थी कि वहाँ से सेना वापस बुला लेनी चाहिए। इस पर लिखा-पढ़ी हो ही रही थी कि इतने में इँग्लेंड की सरकार बदल गई और नई सरकार ने एलगिन की बात मानकर चितराल से अँगरेज़ी राज्य तक सड़क बनाने और उस पर चौकियाँ स्थापित करने की आज्ञा दे दी। मार्ले और एसक्विथ की राय में चितरालियों के साथ यह विश्वासघात किया गया। इसके उत्तर में भारतसचिव का कहना था कि चितराली युद्ध करने पर उद्यत थे, ऐसी दशा में चितराल पर सैनिक अधिकार रखना आवश्यक था।

चितराल के मामले का सरहद्दी जातियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्हें अँगरेज़ों की नीति पर सन्देह होने लगा। सड़कें बनाना और चौकियों को क़ायम करना उन्हें पसन्द न आया। इसके अतिरिक्त इन दिनों तुर्की के सुलतान का, जिनको सब मुसलमान अपना 'ख़लीफ़ा' मानते थे, बराबर अपमान करने के कारण ईसाइयों से मुसलमान चिढ़े हुए थे और मुल्ला लोग सरहद्दी अफ़ग़ानों को 'जिहाद' का उपदेश दे रहे थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि सन् १८९७ में कई एक सरहद्दी जातियाँ बिगड़ पड़ीं। स्वात निवासियों ने अँगरेज़ी चौकियों पर धावा कर दिया, काबुल नदी के उत्तर में रहनेवाले महमन्द लोगों ने पेशावर तक लूटमार मचा दी। अफ़्रीदियों ने सिख सिपाहियों को मार डाला और खैबर के दर्रे को रोक दिया। इस उपद्रव को शान्त करने के लिए दो सेनाएँ भेजी गईं। एक ने महमन्द लोगों को हराया और दूसरी ने पेशावर के दक्षिण-पश्चिम तीराह की घाटी में अफ़्रीदियों को दबाया। इसमें अँगरेज़ों को बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ीं। अफ़्रीदी बड़ी वीरता से लड़े। सन् १८८९ में उन्होंने हार मान ली। इस युद्ध में भारत-सरकार को देशी राज्यों की 'साम्राज्य-सेवा सेना' से बड़ी सहायता मिली।

रूस से सन्धि हो जाने के कारण पामीर के पर्वतों में दोनों साम्राज्यों की सीमाएँ निश्चित हो गईं। अफ़ग़ानिस्तान की सीमा भी निर्धारित हो गई और पूर्व में बर्मा तथा चीन के बीच की सीमा भी तय हो गई। इस तरह लार्ड एलगिन के समय में सीमाओं का प्रश्न कुछ काल के लिए हल हो गया।

प्लेग और अकाल—भारतवर्ष में पहले भी प्लेग हो चुका था। जहाँगीर बादशाह ने अपनी 'तुज़क जहाँगीरी' में इस 'वबा' का उल्लेख किया है और लिखा है कि यह रोग चूहों से फैलता है। सन् १८९६ में बम्बई शहर में यह रोग बड़े ज़ोरों से फैल गया। कहा जाता है कि यह चीन से आया था। शहर से लगभग चार लाख मनुष्य भाग निकले। यह रोग अन्य स्थानों में न फैलने पावे, इसके लिए बड़ा प्रबन्ध किया गया। मकानों की सफ़ाई और रोगियों को अलग रखने के लिए बड़े कड़े नियम बनाये गये और जनता की आराम-तकलीफ़ तथा उसके भावों का ध्यान न रखकर इनसे काम

लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता में बड़ा असन्तोष फैल गया और पूना में दो अँगरेज़ अफ़सर मार डाले गये। इस पर सरकार ने नाटू भाइयों को, बिना अभियोग चलाये हुए, निर्वासित कर दिया और अपने पत्र 'केसरी' में तीव्र लेख लिखने के कारण श्री बाल गंगाधर तिलक को जेल भेज दिया। अशिक्षित जनता को यह भ्रम हो गया था कि प्लेग के कीड़ों को सरकार फैलाती है। सन् १८९८ में सरकार को भी अपनी भूल का पता लग गया। उसने अधिक हस्तक्षेप न करना ही उचित समझा और नियमों को बहुत कुछ बदल दिया। धीरे धीरे प्लेग सभी प्रान्तों में फैल गया और सन् १९०३ के अन्त तक इसमें २० लाख आदमी मर गये। अब प्लेग का उतना प्रकोप नहीं है, पर तब भी हरसाल लाखों आदमी इसके कलेवा बन जाते हैं।

इसी समय पश्चिमोत्तर प्रान्त, मध्य प्रदेश, बिहार और पंजाब में बड़ा भीषण अकाल पड़ा। पश्चिमोत्तर प्रान्त में अकालपीड़ित मनुष्यों के लिए लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर एँटनी मैकडानेल ने सराहनीय प्रयत्न किया। सन् १८९८ में अकाल से बचने के साधन बतलाने के लिए फिर एक कमीशन नियुक्त किया गया। अकालों के सम्बन्ध में कांग्रेस का मत था कि भारतवर्ष का बहुत सा धन हर साल विलायत चला जाता है। अँगरेज़ अफ़सरों को बड़ी बड़ी तनख़्वाहें देने और सेना रखने में ख़ूब रुपया उड़ाया जाता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि जनता बराबर दरिद्र होती जाती है। यही कारण है कि दुर्भिक्ष के समय में कष्ट इतना अधिक बढ़ जाता है। इसको निवारण करने के लिए ख़र्च घटाना चाहिए, रुपया जोड़ना चाहिए और देशी कलाओं को, जो नष्ट कर दी गई हैं, फिर से जाग्रत करना चाहिए।[1]

कपड़े पर चुंगी—सिक्के के झगड़े के कारण, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, भारत-सरकार को जिस साल लार्ड एलगिन आया बड़ा घाटा उठाना पड़ा। इसको पूरा करने के लिए सूती कपड़े को छोड़कर बाहर से आनेवाले माल पर पांच सैकड़ा फिर चुंगी लगा दी गई। साल के अन्त

---

१ सन् १८९६ की कांग्रेस का प्रस्ताव।

में यह चुंगी कपड़े पर भी ली जाने लगी। इस पर मैंचेस्टर और लंका-शायर के कपड़े के व्यापारियों ने बड़ा शोर-गुल मचाया। तब भारत-सरकार ने उनको शान्त करने के लिए भारत के कारखानों में बने हुए कपड़े पर भी उतनी ही चुंगी लगा दी। सरकार की यह बड़ी ज़बरदस्ती थी। इसके विरुद्ध भारत में भी आन्दोलन होने लगा। सन् १८९६ में देशी और विलायती दोनों कपड़ों पर चुंगी घटाकर साढ़े तीन सैकड़ा कर दी गई। मैंचेस्टर के लाभ के लिए देशी माल पर चुंगी लगाने का भारतवर्ष बराबर विरोध करता रहा।

अफ़ीम का व्यापार—अफ़ीम पर सरकार का ठेका है। इसका बहुत सा भाग चीन जाता है। सन् १८४२ में अफ़ीम के ही कारण चीन से युद्ध हो गया था। इस व्यापार से सरकार का बड़ा लाभ होता है। कुछ लोगों के मत में अफ़ीम ऐसी हानिकारक वस्तु के प्रचार से लाभ उठाना सरकार के लिए उचित नहीं था। इसकी जाँच करने के लिए सन् १८९३ में एक कमीशन नियुक्त हुआ। इसकी राय थी कि अफ़ीम से कोई विशेष हानि नहीं होती, इसलिए आमदनी के ख़याल से भारत-सरकार को यह व्यापार नहीं छोड़ना चाहिए। इस तरह चीन का पीछा नहीं छोड़ा गया। बहुत झगड़ों के बाद यह तय हुआ कि सन् १९०८ से चीन में अफ़ीम का भेजना धीरे धीरे कम कर दिया जाय।

सैनिक प्रबन्ध—इस समय तक बंगाल, बम्बई और मदरास की सेनाएँ अलग अलग रहती थीं और उनके सेनापति भी अलग अलग होते थे। परन्तु सन् १८७९ से इन तीनों सेनाओं को मिलाकर एक सेनापति रखने के प्रश्न पर विचार हो रहा था। सन् १८९५ में यह प्रबन्ध स्वीकार कर लिया गया और भारत की कुल सेना का एक सेनापति बना दिया गया। इस सुधार से सेना का प्रान्तीय भेद जाता रहा और उसमें एकता के भाव का संचार हुआ।

लार्ड कर्ज़न—सन् १८९९ में लार्ड कर्ज़न वाइसराय बनाया गया। भारतवर्ष के वाइसराय बनने की बचपन से ही इसको बड़ी आकांक्षा थी।

इस पद पर नियुक्त होने के पहले वह चार बार भारतवर्ष आ चुका था और एशिया के प्रायः सभी देशों का भ्रमण कर चुका था। फ़ारस के शाह, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर, कोरिया तथा श्याम के बादशाहों से उसका परिचय था और पूर्वीय राजनीति का उसको अच्छा ज्ञान था। इस सम्बन्ध में उसने तीन पुस्तकें भी लिखी थीं। इन दिनों पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न फिर जटिल हो रहा था। ऐसी दशा में उस विषय के एक पूर्ण ज्ञाता का वाइसराय के पद पर नियुक्त किया जाना आवश्यक समझा जाता था। इस समय लार्ड कर्ज़न की अवस्था ४० वर्ष की भी न थी, पर तब भी उसकी योग्यता का परिचय सारे देश को मिल चुका था। भाषण की उसमें विचित्र शक्ति थी,

लार्ड कर्ज़न

कल्पना की उसमें कमी न थी। हर एक बात उसकी समझ में शीघ्र ही आ जाती थी। उसका प्रबन्ध ऐसा होता था कि कोई कसर बाक़ी न रह जाती थी। वह बड़ा परिश्रमी था, उसके नीचे काम करनेवालों को उसका साथ देना मुश्किल हो जाता था। अपने आगे वह किसी की भी न सुनता था। ब्रिटिश साम्राज्य का उसको बड़ा अभिमान था। भारतवर्ष ऐसे विशाल देश पर वह शासन करने आया है, इसका उसे बराबर ध्यान रहता था।

भारतवर्ष की राजनीति से भी वह अनभिज्ञ न था। दो वर्ष तक वह उपसचिव के पद पर काम कर चुका था। सन् १८९२ का 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पार्लामेंट की कामंस सभा में उसी ने पेश किया था। भारतवर्ष को वह "ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र" समझता था। इँग्लेंड से चलते समय उसने कहा था कि वाइसराय के पद को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ; क्योंकि मैं भारतवर्ष, उसके निवासी, उसके इतिहास, उसके शासन, उसके जीवन तथा उसकी सभ्यता के मनोग्राही रहस्यों से प्रेम करता हूँ।[1] लार्ड कर्ज़न के इन शब्दों से भारतवासियों को भी उससे बहुत कुछ आशा हो रही थी और चौदहवीं कांग्रेस ने, सहानुभूतिसूचक शब्दों के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए, उसके स्वागत का प्रस्ताव पास किया था।

अकाल—भारतवासियों के लिए लार्ड कर्ज़न के शासन का प्रारम्भ अकाल से हुआ। सन् १९०० में फिर बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। इस बार गुजरात में इसका बड़ा प्रकोप रहा। सन् १९०१ में सर ऐंटनी मैकडानेल की अध्यक्षता में फिर एक कमीशन नियुक्त किया गया, पर कांग्रेस के बताये हुए उपायों की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। कांग्रेस का कहना था कि जहाँ तक सम्भव हो देश भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त कर देना चाहिए, लगान घटा देना चाहिए, अँगरेज़ अफ़सरों के वेतन में हर साल करोड़ों रुपया विलायत जाता है, उसको कम करने के लिए हिन्दुस्तानियों को बड़े बड़े ओहदे देना चाहिए और देशी कारखानों की रक्षा तथा कलाओं को उत्साह प्रदान करना चाहिए।

पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त—लार्ड कर्ज़न 'आगे बढ़ने की नीति' का अनुयायी था। इँग्लेंड में बहुतों को सन्देह था कि उसके समय में सीमा पर लड़ाई छिड़ेगी और रूस से भी वैर होगा। परन्तु उसने ऐसी नीति से काम लिया कि सन् १९०१ में महसूदी वज़ीरियों को दबाने के लिए एक छोटी सी लड़ाई के सिवा, दस वर्ष तक सीमा पर शान्ति रही। लार्ड

१ रोनाल्डशे, लार्ड कर्ज़न, जि० १, पृ० ३१५।

एलगिन के समय में दस बारह हज़ार सेना भिन्न भिन्न स्थानों में रख दी गई थी। लार्ड कर्ज़न ने इसमें की बहुतसी सेना को वापस बुला लिया और अँगरेज़ अफ़सरों की अध्यक्षता में वहीं के निवासियों को अस्त्र-शस्त्र देकर रक्षा का भार सौंप दिया। इस समय तक सीमा पर के ज़िलों का शासन पंजाब-सरकार के हाथ में था। सन् १९०१ में इनका 'पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त' के नाम से एक अलग प्रान्त बना दिया गया। नाम में कोई गड़बड़ न हो इसलिए 'पश्चिमोत्तर प्रान्त' का नाम 'संयुक्त प्रान्त आगरा और अवध' रख दिया गया।

अफ़ग़ानिस्तान—सन् १९०१ में अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई। लार्ड कर्ज़न के साथ उसका पहले से परिचय था और वह कर्ज़न की नीति से सन्तुष्ट था। यद्यपि अँगरेज़ों की नीति पर उसे अधिक विश्वास नहीं था, पर तब भी अपने हित के लिए वह उनकी मित्रता आवश्यक समझता था। उसका लड़का अमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। उसके साथ भी अँगरेज़ नई सन्धि करना चाहते थे, पर उसने इसको स्वीकार न किया। उसकी राय में पिछली सन्धि अफ़ग़ानिस्तान राज्य के साथ हुई थी। वह अमीर अब्दुर्रहमान के साथ व्यक्तिगत सन्धि न थी। ऐसी दशा में उसके बदलने की कोई आवश्यकता न थी। इस पर दो तीन वर्ष तक दोनों सरकारों में कोई सम्बन्ध न रहा और अमीर हबीबुल्ला ने, भारत-सरकार से जो सालाना रुपया मिलता था, वह भी न लिया। सन् १९०४ में एक अँगरेज़ दूत फिर अफ़ग़ानिस्तान भेजा गया, नई सन्धि पर ज़ोर देना छोड़ दिया गया और हबीबुल्ला की 'शाह' की उपाधि मान ली गई। इस पर दोनों राज्यों में फिर मित्रता स्थापित हो गई और हबीबुल्ला ने भारत-सरकार से जो रुपया बाक़ी था ले लिया।

फ़ारस की खाड़ी—सत्रहवीं शताब्दी में अँगरेज़ों ने फ़ारस की खाड़ी को व्यापार के लिए सुरक्षित बनाया था। सन् १८५३ में अन्य राज्यों के जहाज़ भी यहाँ से आने-जाने लगे थे, पर अँगरेज़ इसके तटों पर किसी अन्य राज्य का अधिकार पसन्द न करते थे। यह बात इन राज्यों को खटकती थी और धीरे धीरे फ़्रांस, रूस, जर्मनी और तुर्की इसके तटों पर जहाज़ों के स्टेशन बनाकर

अपना अधिकार जमाना चाहते थे। इस पर सन् १९०३ में यह स्पष्ट कह दिया गया कि खाड़ी के तट पर किसी अन्य राज्य का क़िला या स्टेशन बनाना ब्रिटिश हित के विरुद्ध समझा जायगा और उसको रोकने का भरपूर प्रयत्न किया जायगा। उधर फ़ारस में रूस का प्रभाव भी अधिक बढ़ रहा था, इसको भी किसी तरह दबाना था। इसलिए लार्ड कर्ज़न ने फ़ारस की खाड़ी में स्वयं जाकर वहाँ की रक्षा का प्रबन्ध किया। इस तरह अदन से लेकर बिलोचिस्तान तक सागर के तट पर अँगरेज़ों के जहाज़ी बेड़े का पूरा आतंक जम गया।

तिब्बत—हिमालय के उत्तर में तिब्बत का राज्य है। यहाँ के निवासी बौद्ध मत के अनुयायी हैं और शासन महन्तों के हाथ में है, जो 'लामा' कहलाते हैं। पहले यह राज्य चीन के अधीन था। सन् १७७४ में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने एक दूत तिब्बत भेजा था और वहाँ अँगरेज़ी व्यापार जमाने का कुछ प्रयत्न किया था। तब से अँगरेज़ तिब्बत में घुसने का बराबर प्रयत्न कर रहे थे, पर सफलता न होती थी। सन् १८८७ में सिकिम पर आक्रमण करने के कारण तिब्बतवालों की अँगरेज़ों से लड़ाई भी हो गई थी, जिसमें तिब्बतवालों को पीछे हटना पड़ा था। सन् १८९० में इँग्लेंड और चीन की जो सन्धि हुई थी, उसमें तिब्बत और सिकिम की सीमाएँ निश्चित कर दी गई थीं, पर तब भी थोड़ा बहुत सरहद्दी झगड़ा चलता रहता था।

सन् १९०१ के लगभग तिब्बत का रूस के साथ सम्बन्ध अधिक बढ़ रहा था और सन्धि होने की बातचीत हो रही थी। भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर रूस का यह बढ़ता प्रभाव लार्ड कर्ज़न सहन न कर सका और उसने एक दूत तिब्बत भेजना निश्चित किया। इँग्लेंड-सरकार की राय में इसकी कोई आवश्यकता न थी; क्योंकि यह मामला चीन और रूस के बीच तय हो सकता था। परन्तु लार्ड कर्ज़न के बहुत दबाव डालने पर उसने इसके लिए आज्ञा दे दी। इस पर सन् १९०३ के अन्त में कर्नल यंगहसबैंड भेजा गया। तिब्बत-सरकार उससे बातचीत करने के लिए राज़ी थी, पर उसका कहना था कि अँगरेज़ी दूत का सीमा से आगे बढ़ना ठीक नहीं है। इस बात को न मानने पर जब तिब्बतवालों ने उसको रोकने का प्रयत्न किया, तब सन् १९०४ में

उसकी सहायता के लिए एक सेना भेज दी गई। तिब्बतवाले आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना का सामना न कर सके और अँगरेज़ वहाँ की राजधानी लहासा में पहुँच गये। इस पर सन्धि हो गई, जिसके अनुसार ७५ लाख रुपया दंड माँगा गया, ज़मानत के लिए कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया गया; और अँगरेज़ों को व्यापारिक सुविधाएँ देने तथा प्रतिनिधि रखने के लिए तिब्बत-सरकार को मजबूर किया गया। उससे यह वचन भी लिया गया कि भविष्य में वह किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध न रखेगी।

इँग्लेंड-सरकार की इच्छा के विरुद्ध यह सन्धि की गई थी। तिब्बत के किसी भाग पर अधिकार न करने का वह रूस को वचन दे चुकी थी। लार्ड कर्ज़न के विरोध करते रहने पर भी उसने सन्धि की शर्तों को बदल दिया और दंड की रक़म को घटाकर २५ लाख कर दिया। तीन वर्ष के बाद अधिकृत प्रदेश को ख़ाली कर देने का वचन दिया और प्रतिनिधि रखने का विचार छोड़ दिया। एक दल का कहना है कि लार्ड कर्ज़न ने रूस की गुप्त चालों का अन्त कर दिया। इसके प्रतिकूल दूसरे दल का मत है कि एक स्वतंत्र पर निर्बल राज्य को अकारण दबाना अनुचित था। यह बात ठीक है कि सिवा लहासा देख आने के इससे अँगरेज़ों का कोई लाभ नहीं हुआ, तिब्बत पर चीन का अधिकार पक्का हो गया और बैठे-बिठाये भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर एक झगड़ा पैदा हो गया। इस झंझट में भारतवर्ष का ख़ज़ाना बेकार लुटाया गया। सन् १८५८ में यह कहा गया था कि भारतवर्ष की आमदनी सिवा उस पर आक्रमण रोकने के और किसी दशा में उसकी सीमाओं के बाहर न ख़र्च की जायगी, परन्तु इस समय इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया। कांग्रेस ने सरकार की इस नीति का विरोध किया।

बरार का झगड़ा—सन् १८५३ में निज़ाम के साथ बरार के सम्बन्ध में जो सन्धि की गई थी, उसमें यह कहा गया था कि निज़ाम को कुल हिसाब बराबर समझाया जायगा और जो बचत होगी दी जाया करेगी। बरार की आमदनी से ७ हज़ार सेना का ख़र्च चलाना और ४८ लाख रुपये का क़र्ज़ निपटाना निश्चित किया गया था। शासन का ख़र्च स्पष्ट नहीं किया

गया था पर यह कह दिया गया था कि दो लाख रुपया साल से अधिक न होगा। सन् १८५३ तक सेना का खर्च ४० लाख रुपया साल होता था, यह घटाकर २४ लाख कर दिया गया, पर सेना की संख्या में कोई कमी या प्रबन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की गई। यदि यह रकम पहले ही घटा दी गई होती, जिसके करने में किसी प्रकार की बाधा न थी, तो इतने क़र्ज़ की नौबत ही न आती; परन्तु वैसा नहीं किया गया। सन् १८५७ के ग़दर में अँगरेज़ों की सहायता करने के बदले में क़र्ज़ माफ़ कर दिया गया। सेना का खर्च घट जाने से जो बचत हुई, उसका तथा आबकारी का जब निज़ाम ने पिछला हिसाब मांगा, तब उसके ज़िम्मे ४४ लाख की दो रक़में और दिखला दी गईं, जिनका इसके पहले कभी ज़िक्र तक नहीं किया गया था। सन् १८६० में जो नई सन्धि की गई, उसमें से हिसाब समझाने की शर्त ही निकाल दी गई।

शासन का खर्च बढ़ाकर चौगुना कर दिया गया। इस पर सन् १९०२ में इलाहाबाद के अँगरेज़ी समाचारपत्र 'पायनियर' का लिखना था कि "पहले हमने क़र्ज़ के बदले में जायदाद देने के लिए निज़ाम पर ज़ोर दिया, बाद को यह क़र्ज़ फ़र्ज़ी साबित हुआ। २५ सैकड़ा से अधिक शासन में खर्च न करने और सालाना बचत निज़ाम को देने का हमने वचन दिया। इस पर विश्वास करके निज़ाम ने हिसाब मांगना छोड़ दिया और हमको शासन की स्वतंत्रता दे दी। हमने इसका (अनुचित) लाभ उठाकर केवल शासन का खर्च ४३ सैकड़ा कर दिया।" यह बात ठीक है कि इस शासन से बरार का भी लाभ हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि खर्च खुले हाथ से किया गया। सन् १९०२ में लार्ड कर्ज़न निज़ाम महबूबअलीख़ां से एकान्त में मिला और उससे यह स्वीकार करवा लिया कि २५ लाख रुपया सालाना देने पर अँगरेज़ों को बरार सदा के लिए दे दिया जाय। इस प्रबन्ध से बेचारे निज़ाम की ही हानि हुई; क्योंकि सेना टूट जाने से बरार की बचत ५० लाख साल से भी अधिक हो गई।[1]

---

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० २१५-३४।

निज़ाम के वज़ीर नवाब सर सालारजंग के समय में हैदराबाद की बहुत कुछ उन्नति हुई। मालगुज़ारी के ठेके उठा दिये गये, पुलिस का प्रबन्ध ठीक किया गया, नई अदालतें स्थापित की गईं, स्कूल तथा कालेज खोले गये और प्रजा की दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान दिया गया। हैदराबाद राज्य में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, पर यहाँ कभी पक्षपात से काम नहीं लिया गया। इन दिनों भी वज़ीर के पद पर एक हिन्दू राजा है।

दिल्ली दरबार और देशी राज्य—जनवरी सन् १९०१ में, ८२ वर्ष की अवस्था में, महारानी विक्टोरिया का देहान्त हो गया। ६४ वर्ष तक उसने राज्य किया। उसको अपनी भारतीय प्रजा से भी प्रेम था। देश भर में उसके मरने का शोक मनाया गया। उसका लड़का सातवाँ एडवर्ड गद्दी पर बैठा। सन् १९०३ में दिल्ली में भी एक बड़ा भारी दरबार किया गया। भारतवर्ष पिछले दुर्भिक्ष के कष्ट से इस समय तक मुक्त न हो पाया था, पर इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया और लाखों रुपया 'तमाशे' में उड़ाया गया। इस साल की कांग्रेस के सभापति श्री लालमोहन घोष का कहना था कि जितना दरबार में रुपया फूँका गया, यदि उसके आधे से भी अकालपीड़ितों की सहायता की गई होती, तो लाखों मनुष्यों के प्राण बच गये होते। इस दरबार में देशी नरेशों के सम्मान का कुछ भी ध्यान न रखा गया। इन पर

सातवें एडवर्ड

लार्ड कर्ज़न की बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। उसने एक आज्ञा प्रकाशित करवा दी थी कि भारत-सरकार की बिना अनुमति के कोई राजा यूरोप न जाय।[1]

कृषि और व्यापार—पंजाब में महाजन लोग अधिक ब्याज पर रुपया देकर किसानों की ज़मीनें छीन लेते थे। उनकी रक्षा के लिए सन् १९०० में यह नियम बना दिया गया कि क़र्ज़ में किसी काश्तकार की ज़मीन न छीनी जाय। सन् १९०२ में मालगुज़ारी के प्रश्न की भी फिर से जांच की गई। लार्ड कर्ज़न ने इस बात को दिखलाने की चेष्टा की कि अकालों का कारण मालगुज़ारी या लगान की अधिकता नहीं है। पर साथ ही साथ उसने यह भी निश्चय किया कि फ़सल ख़राब होने पर कुछ माफ़ी देनी चाहिए या कुछ काल तक लगान वसूल न करना चाहिए। किसानों को आर्थिक सहायता देने के लिए 'कोआपरेटिव सोसाइटियों' (सहयोग-समितियों) के खोलने का प्रबन्ध किया गया और खेती की देखभाल करने के लिए 'कृषि-विभाग' स्थापित किया गया। व्यापार की निगरानी करने के लिए वाइसराय की कौंसिल का एक मेम्बर और बढ़ाया गया।

प्राचीन स्मारक-रक्षा—भारतवर्ष में बहुत सी हिन्दूकालीन इमारतें तो नष्ट हो ही चुकी थीं, मुग़ल साम्राज्य तथा बड़े बड़े देशी राज्यों का अन्त हो जाने से मध्यकालीन इमारतों की भी वही दशा हो रही थी। फ़तहपुर सीकरी के विशाल भवनों में भालू और भेड़िये निवास करते थे। संसार की सुन्दर इमारतों के ताज—ताजमहल—की शोचनीय दशा थी। बहुत सी इमारतों को तोड़-फोड़कर सरकारी दफ़्तर बना लिये गये थे। लार्ड कैनिंग ने इस ओर अवश्य कुछ ध्यान दिया था, पर इस समय तक भारत-सरकार इनकी रक्षा के लिए अपने को ज़िम्मेदार न मानती थी। लार्ड कर्ज़न के समय में इनकी रक्षा तथा मरम्मत करने के लिए एक ख़ास क़ानून बनाया गया और इसके लिए एक नया विभाग स्थापित किया गया, जो 'आर्क्यॉलोजिकल डिपार्टमेंट' कहलाता है। इस विभाग ने बड़ी खोज की है और अनेक ऐतिहासिक विषयों

---

१ फ़्रेज़र, इंडिया अंडर कर्ज़न, पृ० २२९।

पर नया प्रकाश डाला है। निस्सन्देह प्राचीन सभ्यता के चिह्नों की रक्षा करके लार्ड कर्ज़न ने भारत का बड़ा उपकार किया।

उच्च शिक्षा—सन् १९०१ में शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए शिमला में एक सम्मेलन किया गया। इसमें एक भी हिन्दुस्तानी नहीं बुलाया गया। यद्यपि लार्ड कर्ज़न का कहना था कि "मैं जब से भारतवर्ष आया हूँ, किसी बात का गुप्त रखना मेरी नीति नहीं रही," पर तब भी इस सम्मेलन की कार्यवाही गुप्त रखी गई। इसके बाद एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसमें भी पहले कोई हिन्दुस्तानी मेम्बर नहीं रखा गया। समाचारपत्रों में बड़ा विरोध होने पर कलकत्ता हाईकोर्ट के जज सर गुरुदास बनर्जी का नाम शामिल कर लिया गया। पांच ही महीने में इस कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। इसकी राय थी कि सरकारी सहायता पानेवाले छोटे छोटे कालेजों में शिक्षा ठीक नहीं होती। इन कालेजों में क़ानून पढ़ाने के दर्जे न रखने चाहिएँ, इसके लिए एक कालेज अलग खोलना चाहिए। कालेजों में फ़ीस बढ़ा देनी चाहिए, उनके निरीक्षण के लिए इंसपेक्टर रखने चाहिएँ और यूनिवर्सिटियों का प्रबन्ध करनेवाले 'सिनेट' तथा 'सिंडिकेट' का ऐसा संगठन करना चाहिए कि जिसमें उन पर सरकार की पूरी देख-रेख रह सके।

इसी रिपोर्ट के आधार पर सन् १९०४ में 'यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट' पास किया गया। कमीशन का उद्देश्य "शिक्षा का सुधार" बतलाया गया था, पर वास्तव में जैसा कि कमीशन ने स्वयं स्वीकार किया था, इसने यूनिवर्सिटियों पर सरकार का अधिकार बढ़ा दिया और उच्च शिक्षा के क्षेत्र को संकुचित बना दिया। उच्च शिक्षा से जिस लोकमत की जागृति हो रही थी, वह लार्ड कर्ज़न को पसन्द न था। उसका कहना था कि इससे हिन्दुस्तानी पाश्चात्य सभ्यता के कोरे कोरे शब्दों को सीख जाते हैं, पर उनके भावों को नहीं समझते। सार्व-जनिक आन्दोलनों में सबसे अधिक भाग लेने के कारण वकील सरकार की आंखों में खटक रहे थे। इसी लिए क़ानून पढ़ाने की सुविधाओं को हटा कर उनकी संख्या कम करने का प्रयत्न किया गया। सर गुरुदास बनर्जी ने कमीशन की सिफ़ारिशों से अपना मतभेद प्रकट किया। कांग्रेस की राय थी

कि इस नये क़ानून से यूनिवर्सिटियों की "स्वतंत्रता नष्ट हो गई और वे सरकार का एक विभाग बन गईं।"

बंग-विच्छेद—शासन की दृष्टि से उस समय का बंगाल प्रान्त एक लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के लिए बहुत बड़ा था। सारे प्रान्त पर पूरा निरीक्षण न हो पाता था। इसी लिए कुछ दिनों से उसके दो टुकड़े करने का विचार किया जा रहा था। पहले यह सोचा गया कि पूर्वीय बंगाल अर्थात् चटगाँव, ढाका तथा मैमनसिंह के ज़िले आसाम में मिला दिये जायँ। बाद को लार्ड कर्ज़न ने गुप्त रीति से यह निश्चित किया कि उत्तरी बंगाल के कुछ ज़िले भी इसी के साथ मिला दिये जायँ। ये सब ज़िले बंगाल के अंग हैं। उनकी भाषा, सभ्यता और संस्कृति एक है, इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया। सन् १९०५ में 'आसाम और पूर्वीय बंगाल' का नया प्रान्त बना दिया गया और उसके शासन के लिए एक लेफ़्टिनेंट-गवर्नर रख दिया गया। ढाका उस प्रान्त की राजधानी बनाया गया।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

स्वदेशी और बायकाट—इसके विरुद्ध बंगाल में घोर आन्दोलन मच गया। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जिन्होंने अपना सर्वस्व देशसेवा के लिए अर्पण कर दिया था, इसके मुख्य नेता हुए। पहले सरकार से प्रार्थना की गई, पर जब कोई सुनवाई नहीं हुई, तब अँगरेज़ों पर ज़ोर डालने के लिए

स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और विलायती वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा की गई। इसमें देश के प्रायः सभी प्रान्तों ने बंगाल का साथ दिया। सर्वत्र स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का प्रबन्ध होने लगा और आन्दोलन में एक नया जीवन आ गया। कांग्रेस ने भी 'स्वदेशी और बायकाट' की नीति को मान लिया और देश भर में एक विचित्र जागृति हो गई। कई एक नये कारखाने खुल गये, समाचारपत्रों में निर्भीकता आ गई, अशिक्षित समाज में भी देश की चर्चा होने लगी, एकता का भाव बढ़ने लगा और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का सचमुच जन्म हो गया।

शासन की सुविधा के लिए कई उपाय थे, जिनमें बंगाल की जनता को कोई आपत्ति न हो सकती थी। मदरास और बम्बई की तरह यहां भी लेफ़्टि-नेंट-गवर्नर की सहायता करने के लिए एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल स्थापित की जा सकती थी या बिहार तथा उड़ीसा के ज़िले अलग किये जा सकते थे, जैसा कि बाद में किया गया, पर इन दिनों सरकार की नीति ही दूसरी थी। कलकत्ता के नेताओं का सारे प्रान्त पर प्रभाव पड़ रहा था। लार्ड कर्ज़न इसको अच्छा न समझता था। 'स्टेट्स्मैन' पत्र के एक भूतपूर्व सम्पादक की राय में बंगालियों की संयुक्त शक्ति तथा कलकत्ते के राजनैतिक प्राधान्य का नष्ट करना और हिन्दुओं को दबाये रखने के लिए मुसलमानों के ज़ोर को बढ़ाना वास्तव में बंग-विच्छेद के मुख्य उद्देश्य थे। पूर्वीय बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक है, इसलिए यह दिखलाने की चेष्टा की गई कि इस प्रबन्ध में मुसलमानों के हित का विशेष ध्यान रखा गया है। देशव्यापी आन्दो-लन बनावटी बतलाया गया और उसके दबाने का संकल्प कर लिया गया। सभाएँ तोड़ दी गईं, 'वन्दे मातरम्' चिल्लाना अपराध बना दिया गया, नेताओं पर अभियोग चलाये गये और बहुतों को जेल का दंड दिया गया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि आन्दोलन और भी ज़ोर पकड़ गया।

किचनर से मतभेद—प्रधान सेनापति प्रायः वाइसराय की कौंसिल का मेम्बर भी होता था, पर सेना का 'शासनविभाग' कौंसिल के एक साधा-रण मेम्बर के हाथ में रहता था, जो एक सैनिक ही हुआ करता था। सेना

के शासन-सम्बन्धी मामलों में वाइसराय को यही सलाह देता था और प्रधान सेनापति के सब प्रस्ताव इसी के द्वारा वाइसराय के पास जाते थे। लार्ड किचनर की राय में, जो इन दिनों भारत का प्रधान सेनापति था, इस तरह सैनिक प्रबन्ध के हर एक काम में बड़ी देर लगती थी और वाद-विवाद बढ़ जाता था। इसलिए वह इस विभाग को प्रधान सेनापति की अध्यक्षता में ही रखना चाहता था। लार्ड कर्ज़न और उसकी कौंसिल दोनों इस राय के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि ऐसा करने से प्रधान सेनापति का अधिकार बहुत बढ़ जायगा; वाइसराय को, जिसे प्रायः सैनिक मामलों का विशेष ज्ञान नहीं रहता, स्वतंत्र सलाह न मिल सकेगी और उसको प्रधान सेनापति की सब बातें माननी पड़ेंगी। इसके उत्तर में लार्ड किचनर का कहना था कि हर एक बात के मानने या न मानने का वाइसराय को सदा अधिकार है। फिर ऐसी दशा में प्रधान सेनापति के होते हुए सेना का शासन एक साधारण सैनिक के हाथ में देना उचित नहीं जान पड़ता।

लार्ड कर्ज़न का इस्तीफ़ा—इस मामले में भारतसचिव ने जो निर्णय किया, वह लार्ड कर्ज़न को पसन्द न आया और उसने सन् १९०५ में इस्तीफ़ा दे दिया। उसके पद की अवधि सन् १९०४ ही में समाप्त हो गई थी, पर वह दूसरी बार पांच वर्ष के लिए फिर से नियुक्त किया गया था। इस बीच में, जब वह ६ महीने के लिए इँग्लैंड गया था, तब उसके स्थान पर मदरास के गवर्नर लार्ड एमथिल ने काम किया था। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड कर्ज़न बड़ा प्रतिभाशाली मनुष्य था। हर एक बात पर वह अपनी छाप लगाना चाहता था। अपने सिद्धान्तों के अनुसार वह कायापलट करना चाहता था। वह लार्ड वेलेज़ली और डलहौज़ी के ढंग का गवर्नर-जनरल था, जिन्होंने भारतवर्ष का नक़शा बदल दिया था। लार्ड कर्ज़न के लिए जीतने को कुछ बाक़ी न रह गया था, उसने बंगाल के टुकड़े करके ही ऐसा किया। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र की प्रतिज्ञाओं का पालन करना उसकी राय में असम्भव था। वह अपने को भारत की दीन जनता का संरक्षक मानता था, देश के नेताओं पर उसको विश्वास न था और भारतीय शिक्षित

समाज को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उसका कहना था कि पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में सत्य का अधिक सम्मान है, पूर्व में कपट की ही मात्रा अधिक है, पूर्वीय कूटनीति संसार में प्रसिद्ध है।[१]

वह भारतवर्ष का शासन अँगरेज़ों के लिए "ईश्वरदत्त" मानता था। उसका विश्वास था कि सत्य के लिए लड़ना, अपूर्णता, अन्याय तथा नीचता का तिरस्कार करना, प्रशंसा, ख़ुशामद या निन्दा की, जिनकी भारतवर्ष में कमी नहीं है, कभी पर्वाह न करना, ईश्वर ने यह काम सौंपा है, ऐसा समझ कर, न्याय, सुख, समृद्धि, नैतिक सम्मान, स्वदेशभक्ति, मानसिक उन्नति और कर्तव्य-परायणता के भावों का करोड़ों भारतवासियों में यथाशक्ति प्रचार करना ही भारतवर्ष में अँगरेज़ों के रहने का समर्थन है। उसका कहना था कि इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहा, इसका निर्णय भारतवर्ष ही करेगा।[२]

गोपाल कृष्ण गोखले

भारतवर्ष ने जो निर्णय किया, वह सन् १९०५ की कांग्रेस के सभापति स्वर्गीय श्री गोपाल कृष्ण गोखले के शब्दों से प्रकट है। गोखले का कहना था कि भारतवर्ष के इतिहास में लार्ड कर्ज़न के शासन की तुलना

---

१ कलकत्ता कनवोकेशन ऐड्रेस।

२ रोनाल्डशे, लार्ड कर्ज़न, जि० २, पृ० ४२४।

औरंगज़ेब के शासन से हो सकती है। उसने भी शासन को पूर्ण रूप से व्यक्तिगत बनाने का प्रयत्न किया था। उद्देश्य की दृढ़ता, कर्तव्य का भाव, काम करने की विचित्र शक्ति, अविश्वास और दमन की नीति में आग्रह उसमें भी ऐसा ही था। लार्ड कर्ज़न की सबसे अधिक प्रशंसा करनेवाले भी इस बात को मानने के लिए तैयार न होंगे कि उसने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की नींव को दृढ़ बना दिया। "उसके लिए भारतवर्ष ऐसा देश था, जिसमें अँगरेज़ कुल शक्ति सदा अपने हाथ में रखकर केवल कर्तव्य ही का बखान किया करें। उसकी राय में भारतवासियों के लिए शासित होना ही केवल काम था, अन्य कोई आकांक्षा रखना पाप था।"

यह बात ठीक है कि अविश्वास तथा दमन की नीति से स्वदेशप्रेम और राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजना देने के लिए भारतवर्ष लार्ड कर्ज़न का अवश्य कृतज्ञ रहेगा।

परिच्छेद १६

राजनैतिक सुधार

लार्ड मिंटो—लार्ड कर्ज़न के इस्तीफ़ा देने पर लार्ड मिंटो वाइसराय नियुक्त किया गया। यह पहले लार्ड मिंटो का, जो सन् १८०६ में गवर्नर-जनरल होकर आया था, वंशज था और कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था। लार्ड कर्ज़न ने देश की स्थिति बड़ी नाज़ुक बना दी थी; जिसके कारण लार्ड मिंटो को बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

लार्ड मिंटो

अमीर हबीबुल्ला—सन् १९०७ में अफ़ग़ानिस्तान का अमीर हबीबुल्ला भारतवर्ष आया। लार्ड कर्ज़न उसको दिल्ली के दरबार में बुलाना चाहता था, परन्तु वह लार्ड कर्ज़न के स्वभाव को अच्छी तरह जानता था, इसलिए उसने आने से इनकार कर दिया था। लार्ड मिंटो ने आगरा में उसका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया। वाइसराय के व्यवहार से वह बहुत सन्तुष्ट होकर वापस गया। हिन्दुओं का ध्यान रखकर बक़रीद के समय पर उसने दिल्ली में गोवध न होने दिया। सन् १९०७ में इँग्लेंड का रूस से समझौता हो गया, जिससे दोनों साम्राज्यों ने अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस की खाड़ी

और तिब्बत के सम्बन्ध में अपनी नीति स्थिर कर ली। यह समझौता हबीबुल्ला को पसन्द न आया, पर तब भी उसने भारत-सरकार के साथ मित्रता का व्यवहार न छोड़ा। सन् १९०८ में सीमा पर जब ज़क्काखेल अफ़्रीदियों ने फिर से उपद्रव किया, तब भी उसने उनका पक्ष न लिया। सीमा प्रदेश पर अधिकार करने की बात फिर चल पड़ी, परन्तु भारतसचिव ने स्पष्ट शब्दों में इसको रोक दिया।

मुसलिम लीग—कांग्रेस में बहुत कम मुसलमान शामिल हुए थे, अँगरेज़ी शिक्षा का बहुत प्रचार न होने के कारण अधिकांश मुसलमानों का ध्यान देश की स्थिति की ओर न गया था। राष्ट्रीय आन्दोलन को ज़ोर पकड़ते देखकर सन् १९०६ में कुछ नेताओं ने मुसलमानों के राजनैतिक स्वत्वों की रक्षा करने के लिए कांग्रेस के ढंग पर 'मुसलिम लीग' की स्थापना की। मुसलमानों के कुछ प्रतिनिधि वाइसराय से भी मिले और उन्होंने यह दिखलाया कि मुसलमानों ने सदा अँगरेज़ों का साथ दिया है, इसलिए उनकी संख्या का खयाल न करके उनके राजनैतिक महत्त्व का बराबर ध्यान रखना चाहिए। साथ ही साथ उन्होंने इस पर भी ज़ोर दिया कि कौंसिलों में जाने के लिए मुसलमान प्रतिनिधि केवल मुसलमानों द्वारा ही चुने जायँ। लार्ड मिंटो ने इन बातों का ध्यान रखने का वचन दिया।

कांग्रेस में मतभेद—सन् १९०६ की कांग्रेस के सभापति वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' अर्थात् उपनिवेशों के ढंग का शासन राजनैतिक आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बतलाया। इसका प्रारम्भ सरकार किस ढंग से कर सकती है, इसके लिए कांग्रेस ने कई एक सुधार बतलाये। परन्तु इसके बाद से ही कांग्रेस में मतभेद उत्पन्न हो गया। सरकार की दमन-नीति के कारण एक दल का, जिसके नेता श्री बाल गंगाधर तिलक थे, सरकार पर से विश्वास जाता रहा। इस दल का कहना था कि कांग्रेस को 'प्रार्थना-नीति' छोड़कर अधिक साहस से काम लेना चाहिए। सन् १९०७ में सूरत में इन दोनों दलों में बड़ा झगड़ा हो गया। 'नरम' और 'गरम' दल अलग

अलग हो गये। पहले दल के नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले, सर फ़ीरोज़शाह मेहता और बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। कांग्रेस में नरम दलवालों की संख्या अधिक थी, इन्होंने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' कांग्रेस का ध्येय माना और क़ानूनी उपायों द्वारा उसे प्राप्त करना निश्चित किया। साथ ही साथ यह भी नियम बना दिया कि जो लोग कांग्रेस के ध्येय और नियमों को मानने की लिखित प्रतिज्ञा करेंगे, वे ही उसके मेम्बर हो सकेंगे। इस पर गरम दल-वालों ने कांग्रेस छोड़ दी। तब से सन् १९१६ तक उस पर नरम दलवालों ही का अधिकार रहा।

क्रान्तिकारी दल—इन दिनों देश भर में घोर राजनैतिक अशान्ति थी। इसके कई एक कारण थे। लार्ड कर्ज़न की नीति से सारा देश असन्तुष्ट था, अकाल और प्लेग से जनता पीड़ित थी, देश में धन का अभाव था, व्यापार चौपट हो गया था और पढ़े-लिखे लोगों की बेकारी बढ़ रही थी। बहुत से अँगरेज़ अफ़सर दूरदर्शिता से काम न ले रहे थे, पूर्वीय बंगाल में नये लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर बैमफ़ील्ड फ़ुलर का शासन असह्य हो रहा था। सन् १९०५ में जापान ने रूस को परास्त किया था, इसका भी बड़ा प्रभाव पड़ रहा था और नवयुवकों में बड़ी उत्तेजना फैल रही थी। इन्हीं दिनों सरकार की नीति से हताश होकर कुछ नवयुवकों का एक ऐसा दल स्थापित हो गया, जिसने सरकार को नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। कई एक स्थानों में इसकी गुप्त समितियां बन गईं और अँगरेज़ों पर बम फेंके जाने लगे। एक मजिस्ट्रेट के धोखे मुज़फ़्फ़रपुर में बम लगने से दो अँगरेज़ महिलाओं के प्राण गये। इसी तरह जहां तहाँ और भी कई एक हत्याएँ हुईं।

दमन का ज़ोर—इस अवसर पर सरकार ने भी बड़ी कड़ाई से काम लिया। गुप्त समितियों को ढूँढ़ निकालना और सच्चे अपराधियों को पकड़ना सहज काम न था; इसलिए गरम दल के नेता ही, जिनका इस आन्दोलन से कुछ भी सम्बन्ध न था, सरकार के क्रोध का अधिकतर शिकार बने। पहले सेना में विद्रोह फैलाने के सन्देह पर, बिना किसी प्रकार की जाँच किये हुए, सन् १८१८ के एक क़ानून के अनुसार, पंजाब से श्री लाला

लाजपतराय और अजीतसिंह निर्वासित कर दिये गये। फिर 'केसरी' में सरकार के विरुद्ध तीव्र लेख लिखने के कारण श्री बाल गंगाधर तिलक पर अभियोग चलाया गया और ६ वर्ष के लिए कैद करके उन्हें मंडाले भेज दिया गया। बंगाल का उपद्रव शान्त करने के लिए ६ प्रतिष्ठित नेता भी, सन् १८१८ के क़ानून के अनुसार, निर्वासित कर दिये गये।

बाल गंगाधर तिलक

विस्फोटक पदार्थों का रखना या बेंचना अपराध बना दिया गया। समाचारपत्रों की स्वतंत्रता छीन ली गई। उनके लिए ज़मानत जमा करने का नियम बना दिया गया। राजनैतिक अभियोगों को जल्दी निपटाने के लिए ज़ाब्ता फ़ौजदारी का संशोधन किया गया और सरकार को, जहाँ उचित समझे, सभाएँ रोक देने का अधिकार दिया गया।

सातवें एडवर्ड का घोषणापत्र—सन् १६०८ में भारतवर्ष पर इँगलेंड के राजाओं को राज्य करते हुए ५० वर्ष पूरे हुए, इसलिए इस अवसर पर सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। जोधपुर के दरबार में वाइसराय ने इसको पढ़कर सुनाया। इसमें महारानी विक्टोरिया की प्रतिज्ञाएँ दोहराई गईं, इतने वर्ष के शासन पर सन्तोष प्रकट

किया गया और प्रजाहित के लिए जो कुछ भारत-सरकार ने किया था, उसकी बड़ी प्रशंसा की गई। इसमें यह भी कहा गया कि ज़िम्मेदार बड़ी बड़ी नौकरियों के सम्बन्ध में जातिगत भेद मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है और प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्त की वृद्धि के प्रश्न पर भी विचार हो रहा है।

जान मार्ले की नीति——इन दिनों भारतसचिव के पद पर इँग्लेंड का सुप्रसिद्ध विद्वान् जान मार्ले काम करता था। वह भारत-सरकार की दमन-नीति को पसन्द न करता था। यह उसके उदार सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। पर तब भी शासन की दृष्टि से, जहाँ तक बन पड़ा, उसने वाइसराय का साथ दिया। जब कभी वह देखता कि भारत-सरकार बहुत आगे बढ़ रही है, तब वह उसके रोकने का प्रयत्न करता था। बिना जाँच किये हुए नेताओं का निर्वासित करना उसे बहुत खटकता था। "जंगी क़ानून" के नाम से उसके "रोंगटे खड़े हो जाते थे।" उसका विश्वास था कि "यदि सुधारों से (ब्रिटिश) राज्य की रक्षा नहीं हो सकती, तो फिर किसी से नहीं हो सकती।" परन्तु इन सुधारों से उसका अभिप्राय भारतवर्ष को कभी स्वराज्य देने का न था। वह केवल शिक्षित भारतवासियों को शासन में कुछ भाग देना चाहता था। उसकी राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो नरम दलवालों को अपने पक्ष में मिलाये रखना चाहिए। वह गोखले के साथ बराबर परामर्श किया करता था।

जान मार्ले

मार्ले-मिंटो सुधार—लार्ड मिंटो भी जब से भारतवर्ष आया था सुधारों की आवश्यकता प्रतीत कर रहा था। उसने समझ लिया था कि देश की स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब "आंख बन्द रखने" से काम न चलेगा, भारतवासियों को कुछ अधिकार अवश्य देने पड़ेंगे। इस पर विचार करने के लिए उसने एक कमेटी भी नियुक्त की थी। वह एक हिन्दुस्तानी को अपनी 'एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल' का मेम्बर बनाना चाहता था, इसी का उसके कौंसिलवाले विरोध कर रहे थे। जातिगत भेद मिटाने की घोषणा करनेवाले स्वयं सम्राट् एडवर्ड भी इसके विरुद्ध थे। तीन वर्ष तक सुधारों के सम्बन्ध में वाइसराय की भारतसचिव से लिखा-पढ़ी होती रही। अन्त में दो भारतवासी 'इंडिया कौंसिल' के मेम्बर बनाये गये और कलकत्ता हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर तथा 'एडवोकेट जनरल' सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह वाइसराय की कौंसिल के 'क़ानूनी मेम्बर' बनाये गये। सन् १९०९ में पार्लामेंट से सुधारबिल भी पास हो गया। इसके अनुसार लेजिस्लेटिव कौंसिलों के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई और प्रान्तीय कौंसिलों में ग़ैरसरकारी मेम्बरों की कुछ अधिकता रक्खी गई। बम्बई तथा मदरास की एक्ज़ीक्युटिव कौंसिलों के मेम्बरों की भी संख्या बढ़ा दी गई और उनमें एक हिन्दुस्तानी मेम्बर रखने की व्यवस्था की गई। अन्य प्रान्तों में भारतसचिव की अनुमति से एक्ज़ीक्युटिव कौंसिलें स्थापित करने का अधिकार वाइसराय को दिया गया। लेजिस्लेटिव कौंसिलों में मेम्बरों को प्रस्ताव पेश करने, बजट पर पूरी तरह बहस करने और एक ही विषय पर कई एक प्रश्न पूँछने के अधिकार दिये गये। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार भी मिल गया।

सम्प्रदायों के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र बनाने के सिद्धान्त को कांग्रेस ने पसन्द न किया। इससे हिन्दू और मुसलमानों का भेद-भाव बढ़ गया। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने के अतिरिक्त हिन्दुओं के साथ भी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। कांग्रेस ने इसको ग़ैरमुसलमान प्रजा के साथ "अन्याय" बतलाया। सुधारों के सम्बन्ध में जो नियम

बनाये गये, उनसे उनका क्षेत्र और भी संकुचित कर दिया गया। किसी प्रतिनिधि को न चुने जाने की आज्ञा देने का अधिकार वाइसराय को दे दिया गया। गरम दल के नेताओं को कौंसिलों से अलग रखने की दृष्टि से यह नियम बनाया गया। प्रान्तीय कौंसिलों में नाम भर के लिए ग़ैरसरकारी मेम्बरों की अधिकता रखी गई, पर वास्तव में सरकार के अधिकार ज्यों के त्यों बने रहे। कांग्रेस का कहना था कि इन नियमों में "शिक्षित समाज के प्रति सरकार का अविश्वास" स्पष्ट दिखलाई दे रहा था। इनसे सुधारों में जो कुछ बल था, वह भी नष्ट हो गया। इन सुधारों में स्वेच्छाचारी और प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्तों को मिलाने की चेष्टा की गई, जो सर्वथा असम्भव है।

मिंटो की नीति—लार्ड मिंटो के सामने बड़ी कठिन समस्या थी। एक ओर तो राजनैतिक अशान्ति से घबड़ाकर अँगरेज़ अफ़सर दमन पर ज़ोर दे रहे थे और दूसरी ओर भारत का शिक्षित समाज सुधारों के लिए आतुर हो रहा था। इन दोनों को सन्तुष्ट रखने के लिए लार्ड मिंटो ने "दमन और सुधार" की नीति का अवलम्बन किया। दोनों ओर के उग्र आन्दोलनकारियों की बात को न मानकर उसने मध्य के मार्ग पर चलना निश्चित किया। दो चार अँगरेज़ों की हत्याओं से घबड़ाकर उसने अपना धैर्य्य न छोड़ा और वह चुपचाप अपनी नीति से काम लेता रहा। नई कौंसिल द्वारा समाचारपत्र-सम्बन्धी क़ानून पास हो जाने पर, जब उसने देख लिया कि नरम दल सरकार का पूरा साथ दे रहा है, तब उसने निर्वासित नेताओं को छोड़ देने की आज्ञा दे दी। देशी राजाओं से उसने बहुत मेल पैदा किया। भारत के शासन में वह उन्हें भी कुछ भाग देना चाहता था। इसके लिए उसने उनकी एक समिति बनाने का प्रस्ताव किया था। राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के सम्बन्ध में भी उसने बड़े बड़े राजाओं से राय मांगी थी।[1]

---

१ बूकन, लार्ड मिंटो।

लार्ड हार्डिंज—सन् १९१० में लार्ड मिंटो वापस चला गया और उसके स्थान पर लार्ड हार्डिंज वाइसराय बनाया गया। पहले लार्ड किचनर को वाइसराय बनाने की बात-चीत थी, परन्तु जान मार्ले इसके पक्ष में न था। लार्ड हार्डिंज का भारतवर्ष से पुराना सम्बन्ध था। सन् १८४४ में इसी का दादा गवर्नर-जनरल होकर आया था, जिसके समय में पहला सिख-युद्ध हुआ था। मिंटो के सुधारों से राजनैतिक अशान्ति दूर न हुई थी, बंगाल का आन्दोलन चल रहा था। मार्ले ने बंगाल के विच्छेद को अनुचित मानते हुए भी उसे रद्द न किया था। उसका कहना था कि अब यह तय हो चुका। इससे असन्तोष बढ़ रहा था।

लार्ड हार्डिंज

सम्राट् का आगमन—सन् १९१० में सातवें एडवर्ड की मृत्यु हो गई और उसका लड़का पाँचवाँ जार्ज गद्दी पर बैठा। युवराज की हैसियत से यह पहले भारतवर्ष आ चुका था। सन् १९११ में अपने मंत्रियों की सलाह से सम्राज्ञी सहित यह फिर भारतवर्ष आया, जहाँ दिल्ली में बड़े समारोह के साथ इसका राज्याभिषेक किया गया। इसके पहले इँग्लैंड का कोई राजा भारतवर्ष न आया था। भारतवासी स्वभाव से ही राजभक्त हैं; सम्राट् का भारतवर्ष में भी राज्याभिषेक कराकर लार्ड हार्डिंज ने अपनी नीति-निपुणता का परिचय दिया। इस अवसर पर कई एक बड़े महत्त्व की घोषणाएँ की गईं। लार्ड कर्ज़न का किया हुआ बंग-विच्छेद रद्द कर दिया गया। बंगाल के जो ज़िले अलग किये गये थे फिर उसमें मिला दिये गये

श्रौर शासन के लिए एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल सहित एक गवर्नर रख दिया गया। आसाम फिर चीफ़ कमिश्नर के अधीन रह गया और लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के अधीन बिहार तथा उड़ीसा का एक नया प्रान्त बना दिया गया। भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता के बजाय दिल्ली कर दी गई। 'विक्टोरिया क्रास' नामक विख्यात पदक लड़ाई में पराक्रम दिखलानेवाले भारतवासियों को भी देने का नियम कर दिया गया। गद्दी पर बैठते समय देशी राजाओं से नज़राना लेने की प्रथा उठा दी गई। बहुत से क़ैदी छोड़ दिये गये, पचास रुपये से कम वेतनवाले कर्मचारियों को एक महीने का अधिक वेतन इनाम में दिया गया और पचास लाख रुपया शिक्षा के लिए दान किया गया।

पाँचवें जार्ज

बंगाल के विच्छेद का रद्द होना कर्ज़न के दल को बड़ा खटका। राजधानी का परिवर्त्तन भारत में, विशेषकर कलकत्ता में, रहनेवाले अँगरेज़ों को पसन्द न आया। शासन-सम्बन्धी परिवर्तन का अधिकार केवल पार्लामेंट को है, इसलिए जब ये प्रस्ताव पार्लामेंट में पेश हुए तब लार्ड कर्ज़न को अपने हृदय के उद्गार निकालने का अवसर मिला। इन दोनों बातों को गुप्त रखकर, बिना पार्लामेंट की सलाह लिये हुए, सम्राट् के मुख से उनकी घोषणा कराने के लिए उसने मंत्रियों की निन्दा की। इसमें सन्देह नहीं कि इस अवसर

पर यह बिलकुल नया ढंग निकाला गया था, सम्राट् के मुख से निकली हुई बातों में हेर-फेर करना उचित न जान पड़ता था, ऐसी दशा में इन पर वाद-विवाद व्यर्थ था। बंगाल के विच्छेद को रद्द करने के सम्बन्ध में लार्ड कर्ज़न ने कहा कि इससे मुसलमान रुष्ट हो जायँगे। बंगालियों का "बनावटी आन्दोलन" शान्त हो गया था, ऐसी दशा में इसकी कोई आवश्यकता न थी। दिल्ली को उसने "साम्राज्यों का क़ब्रिस्तान" बतलाया और कहा कि वहाँ राजधानी बनाने में बड़ा ख़र्च पड़ेगा।

दिल्ली को राजधानी बनाने के पक्ष में भारत-सरकार का कहना था कि यह नगर ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही, प्राचीन स्मृतियों के कारण, इसको बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह शिमला के निकट और भारतवर्ष के मध्य में भी है। यहाँ रेल की कई लाइनें मिलती हैं और जलवायु भी अच्छा है। कलकत्ता भारतवर्ष के एक कोने में है, समुद्र-तट पर अब राजधानी रखने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त बंगाल में अब गवर्नर रहेगा, उसका और वाइसराय का एक ही स्थान पर रहना ठीक नहीं जान पड़ता। यह सब ठीक होते हुए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि नई राजधानी के बनाने में बहुत धन फूँका गया। जितना तख़मीना हुआ था, उससे बहुत अधिक रुपया ख़र्च हो चुका है, परन्तु इस साल तक काम समाप्त नहीं हुआ है।

दक्षिण अफ़्रिका का सत्याग्रह—सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ अँगरेज़ और डच अफ़्रिका पहुँचे। इन दोनों ने वहाँ के हबशियों को दबाकर बहुत सी भूमि पर अधिकार कर लिया। नैटाल प्रदेश में गन्ना, चाय और काफ़ी की खेती में बराबर काम करने के लिए मज़दूरों की आवश्यकता थी। पहले हबशियों को फँसाने का प्रयत्न किया गया, उसमें सफलता न होने पर भारत-सरकार को लिखा गया। भारतवर्ष में भूखे मरनेवालों की कमी न थी। सन् १८४० से हिन्दुस्तानी मज़दूरों का वहाँ जाना प्रारम्भ हो गया। इनसे पांच वर्ष तक काम करने के लिए एक ऐग्रीमेंट (इक़रारनामा) लिखाया जाने लगा। मज़दूरों में यह 'गिरमिट' के नाम से प्रसिद्ध हो गया, इसी लिए

ऐग्रीमेंटवाले मज़दूर 'गिरमिटिया' कहलाने लगे। नेटाल में इनकी आबादी बढ़ने पर कुछ हिन्दुस्तानी व्यापारी भी पहुँच गये। थोड़े ही दिनों में उनका व्यापार ख़ूब चल पड़ा। हबशी और डच लोगों से, जिन्हें अँगरेज़ घृणा की दृष्टि से देखते थे, हिन्दुस्तानियों की पटने लगी और वे सब रियासतों में पहुँच गये। अपनी मितव्ययता और परिश्रम से उन्होंने धन जमा कर लिया और ज़मीनें ख़रीद लीं। हिन्दुस्तानियों की यह बढ़ती गोरों को खटकने लगी और वे उनको तंग करने लगे। मुक्त हुए कुलियों से २१ पौंड साल का कर मांगा जाने लगा। अच्छी अच्छी ज़मीनें छीन ली गईं और राजनैतिक अधिकार भी रद्द करने का प्रयत्न होने लगा। सन् १८९९ में डच लोगों का, जो 'बोअर' के नाम से प्रसिद्ध हैं, अँगरेज़ों से घोर युद्ध हुआ। इसमें साम्राज्य के नाते से हिन्दुस्तानियों ने अँगरेज़ों का पूरा साथ दिया। इसका भी कुछ ध्यान न करके उनका हर तरह से अपमान किया गया। सन् १८९३ से वहां श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी बैरिस्टरी कर रहे थे। उनके उद्योग से प्रवासी हिन्दुस्तानियों में आत्म-सम्मान और एकता के भाव जागृत हुए। गान्धीजी ने कई अनुचित नियमों का घोर विरोध किया, जिसके लिए उन्हें जेल जाना पड़ा और तरह तरह के कष्ट भोगने पड़े।

सन् १९१३ में वहां एक नया क़ानून पेश किया गया। इसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि हिन्दुस्तानी मज़दूर वहां के निवासी न समझे जायँगे और स्वदेश जाने पर उन्हें लौटने का अधिकार न होगा। फ़्री स्टेट की रियासत में व्यापार या खेती-बारी न करने की प्रतिज्ञा करने पर वहां जाने की आज्ञा दी जायगी, जिस धर्म में बहु-स्त्री-विवाह की प्रथा है, उस धर्म के अनुसार किया हुआ विवाह अप्रामाणिक माना जायगा और प्रत्येक हिन्दुस्तानी को अपना विवाह अदालत में जाकर रजिस्ट्री कराना पड़ेगा। इसका घोर विरोध किया गया। लगभग १५०० हिन्दुस्तानियों ने गान्धीजी की अध्यक्षता में सत्याग्रह प्रारम्भ किया। यह समाचार मिलने पर भारतवर्ष में भी बड़ा असन्तोष फैला। परन्तु इस अवसर पर लार्ड हार्डिंज ने बड़े साहस से काम लिया। उसने मदरास के भाषण में अफ़्रिका के इस नये क़ानून को

"अन्यायपूर्ण" बतलाया, सत्याग्रहियों के प्रति सहानुभूति प्रकट की और अफ़्रिका की सरकार से जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त करने का अनुरोध किया। इस बात को वहाँ की सरकार ने मान लिया और सबको जेल से छोड़ दिया। प्रवासी हिन्दुस्तानियों के पक्ष का समर्थन करने के लिए गोखले भी अफ़्रिका गये। अन्त में समझौता होगया, जिससे वहाँ के हिन्दुस्तानियों की दशा कुछ सुधर गई।

मदनमोहन मालवीय

काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय—सन् १६१६ में श्री पंडित मदनमोहन मालवीय के उद्योग से काशी में हिन्दू-विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई। हिन्दू-शास्त्रों और संस्कृत-साहित्य की शिक्षा द्वारा हिन्दुओं के सर्वोत्तम विचारों तथा उनकी गौरवमयी प्राचीन सभ्यता के प्रसिद्ध गुणों की रक्षा और उनका प्रचार करना, आधुनिक साहित्य और विज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन और उनमें अन्वेषण करना, ऐसी वैज्ञानिक, आर्थिक तथा व्यापारिक विद्याओं का काम में लाने योग्य शिक्षा के साथ फैलाना, जिनसे देश की सम्पत्ति बढ़े, और धर्म तथा सदाचार की शिक्षा देकर विद्यार्थियों को चरित्रवान् बनाना इस विश्वविद्यालय के मुख्य उद्देश्य हैं। 'सेंट्रल हिन्दू-कालेज', जिसको मिसेज़ बेसेंट ने अपने कुछ मित्रों की सहायता से सन् १८६८ में स्थापित किया था, इसका पहला कालेज हुआ। सन् १६२६ तक विश्वविद्यालय के लिए १ करोड़ २१ लाख

रुपया जमा हो गया। सभी श्रेणी के लोगों ने इसमें चन्दा दिया और सरकार ने भी सहायता की। यह अखिल भारतीय संस्था है। इसमें सभी प्रान्तों के

हिन्दू विश्वविद्यालय (विज्ञान-विभाग)

छात्र शिक्षा पाते हैं। हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य जातियों के छात्र भी इसमें बिना किसी रोक-टोक के पढ़ सकते हैं।

यूरोपीय महायुद्ध—सन् १९१४ में यूरोप में बड़ा भीषण युद्ध छिड़ गया। इसके जटिल राजनैतिक कारणों की विवेचना यहाँ नहीं हो सकती, इतना ही कह देना काफ़ी है कि इसकी तैयारियाँ बहुत दिनों से हो रही थीं। यूरोप के भिन्न भिन्न राज्य एक दूसरे से जल रहे थे और इनके दो मुख्य गुट्ट बन गये थे। आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली एक ओर थे और दूसरी ओर फ़्रांस, रूस तथा इँग्लेंड के राज्य थे। जून सन् १९१४ में आस्ट्रिया का युव-

विधाएँ हुई । सन् १९१७ में बग़दाद पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। इतने ही में पैलेस्टाइन (फ़िलस्तीन) होकर जनरल एलेनबी की सेना, जिसमें अधिकांश हिन्दुस्तानी सिपाही थे, आ गई और उसने जरुसेलम और दमश्क़ के विख्यात नगरों को जीत लिया। अँगरेज़ों की इन विजयों से तुर्की के ख़लीफ़ा की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। यह युद्ध चार वर्ष तक बराबर चलता रहा। जर्मनी के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अमरीका भी 'मित्र राष्ट्रों' की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। इटली, यूनान और जापान ने भी उनका साथ दिया। राज्य-क्रान्ति हो जाने के कारण रूस युद्ध से अलग हो गया था, जर्मनी में भी इसके लक्षण दिखलाई पड़ रहे थे। विजय की कोई आशा न देखकर जर्मन सम्राट् कैसर विलियम हालेंड भाग गया और जर्मनी ने हार स्वीकार कर ली। सन् १९१९ में सन्धि हो गई। इस सन्धि-पत्र पर भारत की ओर से महाराजा बीकानेर और लार्ड सिंह ने हस्ताक्षर किये।

लार्ड चेम्सफ़र्ड—लार्ड हार्डिंज के शासन से भारतवासी बहुत सन्तुष्ट थे। सन् १९१२ में दिल्ली की चाँदनी चौक में उस पर बम भी फेंका गया, पर उसने इसका कुछ भी ख़याल नहीं किया। सन् १९१५ में उसकी अवधि समाप्त होने पर कांग्रेस ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया। इन दिनों लड़ाई की दशा बड़ी नाज़ुक थी; इसलिए

चेम्सफ़र्ड

इँग्लेंड-सरकार ने ६ महीने तक उसी को वाइसराय के पद पर काम करने दिया। सन् १६१६ में उसके स्थान पर लार्ड चेम्सफ़ोर्ड आ गया। इसने सबसे पहले युद्ध के प्रबन्ध की ओर ध्यान दिया। शिमला में मुख्य मुख्य नेताओं का एक सम्मेलन करके सबसे सरकार की सहायता के लिए अनुरोध किया गया। इस समय बहुत सी सेना तथा युद्धसामग्री हिन्दुस्तान से बाहर भेजी गई।

लखनऊ का समझौता—सन् १६१६ में लोकमान्य तिलक ६ वर्ष की कैद काटकर मंडाले से भारतवर्ष आ गये।[1] उनकी अध्यक्षता में गरम दलवाले फिर कांग्रेस में शामिल हो गये। सन् १६१६ में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में बड़े उत्साह के साथ हुआ। इसी अवसर पर हिन्दू और मुसलमानों में भी समझौता हो गया। सन् १६१३ में मुसलिम लीग ने भी औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना ध्येय मान लिया था, मतभेद केवल अलग प्रतिनिधि चुनने के सम्बन्ध में था। एकता की दृष्टि से हिन्दुओं ने मुसलमानों के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया और जिन प्रान्तों में उनकी संख्या कम थी, वहां जितने उनके प्रतिनिधि होने चाहिएँ, उससे कुछ अधिक प्रतिनिधि चुनने के लिए भी कह दिया। उस समय यह आशा थी कि इस समझौते से हिन्दू और मुसलमानों में एकता स्थापित हो जायगी, जो भारतवर्ष की उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है। परन्तु इसका परिणाम उलटा हुआ। एकता के बजाय भेदभाव अधिक बढ़ गया, जैसा कि आगे चलकर दिखलाया जायगा। कांग्रेस तथा लीग की ओर से सरकार के पास एक सुधार-योजना भेजने का भी निश्चय किया गया।

देश की स्थिति—मार्ले-मिंटो सुधारों से जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इनका क्षेत्र बहुत संकुचित था। इनसे स्थानीय स्वशासन की कोई विशेष उन्नति नहीं हुई, पार्लामेंट का भारत-सरकार पर और भारत-सरकार

१ मंडाले में लोकमान्य तिलक ने अपना सुप्रसिद्ध तथा विद्वत्तापूर्ण 'गीता-रहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा।

का प्रान्तीय सरकारों पर अधिकार ज्यों का त्यों बना रहा। कौंसिलों में नामज़द और सरकारी मेम्बरों की सहायता से सरकार की ही जीत होती रही, जिससे प्रतिनिधियों को इनकी निरर्थकता का पूरा अनुभव हो गया। लार्ड मिंटो के समय में पास किये हुए दमन-सम्बन्धी क़ानूनों के कारण भी बड़ा असन्तोष था। लार्ड हार्डिंज पर बम फेंके जाने के बाद राजनैतिक षड्यंत्रों के सम्बन्ध में ज़ाब्ता फ़ौज़दारी के नियम और भी कड़े बना दिये गये थे। "विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है" कौंसिलों में यह बराबर कहते रहने पर भी प्रतिनिधियों की कुछ सुनवाई नहीं होती थी। ज़िम्मेदार पदों पर हिन्दुस्तानियों को नियुक्त करने की ओर भी अधिक ध्यान न दिया जाता था। 'गोरे और काले' का भेद भी बना था। बिना लाइसेंस के भारतवासियों को हथियार रखने की आज्ञा न थी। अपने देश की रक्षा में उन्हें कोई भाग न दिया जाता था। सैनिक वालंटियर बनने तक का उन्हें अधिकार न था। उपनिवेशों में उनके साथ बड़ा अनुचित व्यवहार किया जाता था।

इन्हीं कारणों से युद्ध के समय में भी राजनैतिक आन्दोलन बन्द न हुआ था, बल्कि युद्ध छिड़ने से इसमें एक नया जीवन आ गया था। प्रजातंत्र के लिए संसार को सुरक्षित बनाना, स्वेच्छाचारी शासन को नष्ट करना और छोटे राष्ट्रों की रक्षा करना, युद्ध के उद्देश्य बतलाये जाते थे। अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने "आत्मनिर्णय" के सिद्धान्त को संसार के भावी राजनैतिक प्रबन्ध का आधार बतलाया था। ऐसी दशा में भारतवासियों के लिए यह आशा करना स्वाभाविक था कि जिन सिद्धान्तों के लिए अँगरेज़ यूरोप में लड़ रहे थे, उनके लाभ से वे भारतवर्ष को, जिसने साम्राज्य की रक्षा के लिए अपना धन लुटाया और रक्त बहाया है, वंचित न रखेंगे। 'युद्ध-समिति' और 'साम्राज्य-सम्मेलन' में भारतीय प्रतिनिधियों के बुलाये जाने से, यह आशा और भी पक्की हो रही थी। भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन पर रूस की बोलशेविक राज्यक्रान्ति का भी, जिसने ज़ार के स्वेच्छाचारी शासन को समूल नष्ट कर डाला था, प्रभाव पड़ रहा था। युद्ध के समय की कठिनाइयों से लाभ उठाने के लिए एक 'ग़दर पार्टी' बन गई थी। मिसेज़ एनी बेसेंट

का 'होमरूल आन्दोलन' भी चल पड़ा था और उन्हें नज़रबन्द करने से बड़ी उत्तेजना फैल गई थी। लखनऊ में हिन्दू-मुसलमानों के समझौता तथा नरम और गरम दलों की एकता से राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा ज़ोर आ गया था।

भारतसचिव की विज्ञप्ति—इन दिनों मांटेग्यू भारतसचिव था। लार्ड मार्ले के समय में वह उपसचिव रह चुका था और भारतवर्ष भी आया था। वह इस बात को देख रहा था कि भारत के प्रति अपनी नीति को बिना स्पष्ट किये हुए भारत-सरकार को काम चलाना मुश्किल हो रहा है। लार्ड चेम्सफ़र्ड भी उसको बराबर यही लिख रहा था। उस समय की "स्थिति में नये ढंग से काम करने की आवश्यकता हर तरफ़ प्रतीत हो रही थी।" युद्ध इस समय तक समाप्त न हुआ था, भारत को किसी न किसी तरह सन्तुष्ट रखना था। इसलिए ता० २० अगस्त सन् १९१७ को पार्लामेंट की कामंस सभा में भारतसचिव ने यह कहा कि शासन के प्रत्येक विभाग में भारत-

मांटेग्यू

वासियों के सहयोग को बढ़ाना और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारतवर्ष को उत्तरदायी शासन देने के लिए स्वशासित संस्थाओं की धीरे धीरे वृद्धि करना इँग्लेंड-सरकार की नीति है, जिसके साथ भारत-सरकार पूर्ण रूप से सहमत है। इस नीति को कैसे काम में लाना चाहिए, इस सम्बन्ध में भारत-सरकार तथा जनता की राय जानने के लिए मैं शीघ्र ही भारतवर्ष जाऊँगा।

मांटेग्यू-चेम्सफ़र्ड सुधार—इसी विज्ञप्ति के अनुसार नवम्बर में मांटेग्यू भारतवर्ष आया और दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मदरास में रहकर

भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकारों से परामर्श किया। लार्ड चेम्सफ़र्ड के साथ भारत की मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों तथा नेताओं से भी वह मिला। देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसने राजाओं से भेंट की और सुधार सम्बन्धी अपने प्रस्तावों को उसने एक रिपोर्ट के स्वरूप में पार्लामेंट के सामने पेश किया। सन् १९१८ में उसने सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह को, जिसे 'लार्ड' की उपाधि दी गई, भारत का उपसचिव बनाया। मांटेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट पर दो वर्ष तक विचार होता रहा। इसके प्रस्तावों के सम्बन्ध में भारतवर्ष में फिर राजनैतिक मतभेद हो गया। नरम दलवालों ने इसके मुख्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, परन्तु कांग्रेस ने, जिसमें अब गरम दलवालों की अधिकता थी, "निराशा और असन्तोष" प्रकट किया। मुख्य मुख्य दलों के प्रतिनिधि इँग्लेंड गये और उन्होंने पार्लामेंट की कमेटी के सामने अपने विचार प्रकट किये। कुछ हेर-फेर के बाद सन् १९१९ में सुधार-क़ानून पास हो गया, जिससे भारतवर्ष की शासनव्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया।

भारतसचिव और इंडिया कौंसिल—भारतवर्ष के शासन के लिए पार्लामेंट के प्रति भारतसचिव ज़िम्मेदार मान लिया गया और उसका वेतन इँग्लेंड के ख़ज़ाने से दिया जाने लगा। शासन का कुल निरीक्षण उसी के हाथ में है। भारत-सरकार को बराबर उसकी सलाह लेनी पड़ती है। उसकी अधिकार-सीमा इतनी बढ़ी हुई है कि भारत-सरकार को बहुत कम स्वतंत्रता रह जाती है। इंडिया कौंसिल का मुख्य काम भारतसचिव को सलाह देना रह गया। इसमें हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या दो से तीन कर दी गई। कांग्रेस पहले से ही इस कौंसिल के तोड़ देने पर ज़ोर दे रही थी, परन्तु इसका कुछ भी ध्यान नहीं किया गया। इसमें अधिकतर भारत से लौटे हुए सिविलियन होते हैं, जो हरएक बात को निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देखते। हिन्दुस्तानी मेम्बरों को भारतसचिव ही नामज़द करता है। प्राय: ऐसा अवसर आ जाता है, जब इनमें से कोई भी इँग्लेंड में उपस्थित नहीं रहता।

भारत-सरकार—गवर्नर-जनरल की एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल के हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या भी बढ़ाकर तीन कर दी गई। इसके मेम्बर राजाज्ञा द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और इसका सभापति गवर्नर-जनरल होता है। इसके मेम्बरों के हाथ में शासन के भिन्न भिन्न विभाग रहते हैं। क़ानून बनाने के लिए 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' के स्थान पर दो सभाएँ कर दी गईं, एक 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' (बड़ी व्यवस्थापक सभा) और दूसरी 'कौंसिल ऑफ़ स्टेट' (राज्यपरिषद्)। लेजिस्लेटिव असेम्बली के मेम्बरों की संख्या १४३ है, जिसमें १०३ निर्वाचित और बाक़ी सरकारी अफ़सर तथा नामज़द मेम्बर होते हैं। निर्वाचित मेम्बरों में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होते हैं, जिनका चुनाव जनता द्वारा होता है। 'कौंसिल आफ़ स्टेट' के मेम्बरों की संख्या ६० है, जिनमें ३४ निर्वाचित मेम्बर होते हैं। परन्तु इनके निर्वाचन के ऐसे नियम रखे गये हैं, जिनके कारण बड़े बड़े ज़मीन्दार और धनी लोग ही अधिक चुने जाते हैं। गवर्नर-जनरल इन दो सभाओं में से न किसी का मेम्बर ही होता है और न सभापति। लेजिस्लेटिव असेम्बली का सभापति मेम्बरों द्वारा चुना जाता है; पर कौंसिल आफ़ स्टेट के सभापति को सरकार नियुक्त करती है। लेजिस्लेटिव असेम्वली की अवधि साधारणतः तीन वर्ष की होती है और कौंसिल आफ़ स्टेट का हर पांचवें वर्ष चुनाव होता है।

क़ानून बनाने के लिए किसी प्रस्ताव का दोनों सभाओं द्वारा पास होना और गवर्नर-जनरल द्वारा उसका मंज़ूर होना आवश्यक है। दोनों सभाओं में मतभेद होने पर एक साथ वाद-विवाद हो सकता है। बजट के कुछ भाग में कमी-बेशी करने का भी इन सभाओं को अधिकार है, पर इसका अधिक भाग ऐसा है, जिसमें सेना का ख़र्च, वेतन तथा और कई ऐसी रक़में रहती हैं, जिन पर केवल बहस हो सकती है, पर कोई कमी नहीं की जा सकती। सरकारी क़र्ज़, भारतवर्ष की आमदनी, सैनिक प्रबन्ध तथा देशी या बाहरी राज्यों के प्रति सम्बन्ध के विषय में इन सभाओं को कुछ भी अधिकार नहीं है। गवर्नर-जनरल इन सभाओं को स्थगित, भंग तथा आमंत्रित कर सकता

है और उनमें आवश्यकता होने पर भाषण भी कर सकता है। किसी बिल को गवर्नर-जनरल "ब्रिटिश भारत की शान्ति, रक्षा तथा हित" की दृष्टि से सभाओं की इच्छा के विरुद्ध भी पास या रद्द कर सकता है। बजट के सम्बन्ध में भी उसको इसी तरह के अधिकार हैं। वह या उसकी कौंसिल के मेम्बर भारत की व्यवस्थापक सभाओं के प्रति ज़िम्मेदार नहीं हैं। ये सभाएँ केवल आलोचना कर सकती हैं, जिससे इतना लाभ अवश्य होता है कि लोकमत प्रकट हो जाता है, अन्यथा इनकी अधिकार-सीमा बहुत संकुचित है। कौंसिल आफ़ स्टेट का ऐसा संगठन किया गया है कि वह बराबर सरकार का साथ देती है। लेजिस्लेटिव असेम्बली को गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार के अंकुश से बराबर दबाये रख सकता है।

प्रान्तीय सरकार—बम्बई, मदरास और बंगाल में तो गवर्नर थे ही अब अन्य बड़े बड़े प्रान्तों के लेफ्टिनेंट-गवर्नर भी गवर्नर बना दिये गये और उनकी सहायता के लिए एक्ज़ीक्युटिव कौंसिलें स्थापित कर दी गईं, जिनमें एक या दो हिन्दुस्तानी मेम्बर रखने की व्यवस्था भी रक्खी गई। इनके अतिरिक्त लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुने हुए मेम्बरों में से दो या तीन मंत्री नियुक्त करने का अधिकार भी प्रान्तीय गवर्नरों को दिया गया। प्रान्त का शासन, मंत्रियों तथा एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल के मेम्बरों में बांट दिया गया। स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग तथा अन्य छोटे छोटे विभागों का भार मंत्रियों को सौंपा गया और न्याय, शान्ति-स्थापन, पुलिस, टैक्स तथा आमदनी के विभागों पर एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल को अधिकार दिया गया। इस तरह शासन के दो विभाग कर दिये गये, इसी लिए यह व्यवस्था 'डायर्की' अर्थात् 'दोहरी शासन-व्यवस्था' के नाम से प्रसिद्ध है। मंत्री कौंसिल के प्रति ज़िम्मेदार समझे जाते हैं और उनका वेतन उसी के द्वारा स्वीकार होता है। कौंसिलों के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई और उनमें निर्वाचित मेम्बरों की अधिकता रक्खी गई। प्रान्तीय गवर्नरों को भी विशेषाधिकार दिये गये।

भारतीय और प्रान्तीय सरकारों की अधिकार-सीमाओं को निश्चित करने का भी प्रयत्न किया गया। देश-रक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्ध, व्यापार-नीति, सिक्का,

तार, डाक तथा अन्य ऐसे विभागों पर भारत-सरकार का अधिकार बना रहा। परन्तु स्थानीय विषय, जैसे न्याय, शासन, म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का प्रबन्ध, सफ़ाई, खेती और शिक्षा ऐसे विषय प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिये गये। आमदनी का भी बटवारा किया गया। मालगुज़ारी, आबकारी, सिंचाई और स्टाम्प की आमदनी प्रान्तीय सरकारों को दे दी गई और इनकम टैक्स, नमक, अफ़ीम तथा रेलों की आमदनी भारत-सरकार के पास रह गई। इतने से भारत-सरकार का खर्च पूरा न पड़ता था, इसलिए प्रान्तों द्वारा उसे एक सालाना रक़म देने का नियम बनाया गया। इसका प्रान्तों ने बड़ा विरोध किया। प्रान्तीय सरकारों को क़र्ज़ लेने और कुछ टैक्स लगाने का भी अधिकार दिया गया। भारत-सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर इस समय भी बहुत अधिकार है। हर एक क़ानून के लिए गवर्नर-जनरल की मंज़ूरी आवश्यक है।

इस प्रबन्ध से खर्च बहुत बढ़ गया। मंत्रियों को केवल खर्चवाले विभाग दिये गये। रुपये के लिए उन्हें गवर्नर का मुँह ताकना पड़ता है। अर्थसचिव एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल का ही मेम्बर होता है। इसके मेम्बरों के हाथ में जो विभाग रहते हैं, वे 'रिज़र्व्ड' (रक्षित) कहलाते हैं। इनके खर्चे में यदि लेजिस्लेटिव कौंसिल कोई कमी करे, तो उसके मानने के लिए गवर्नर बाध्य नहीं है, पर यह बात मंत्रियों के विभाग के सम्बन्ध में, जो 'ट्रांसफ़र्ड' (हस्तान्तरित) कहलाते हैं, नहीं है। कौंसिल में जिस दल की अधिकता हो, उसी से मंत्रियों को चुनना चाहिए, तभी वे कौंसिल के विश्वासपात्र बन सकेंगे और अपनी नीति को काम में ला सकेंगे। परन्तु ऐसा करने का कोई नियम नहीं है, गवर्नर जिस दल से चाहता है मंत्री चुन लेता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मंत्रियों को अपना काम चलाने के लिए सरकारी तथा नामज़द मेम्बरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है।

निर्वाचन—पहले प्रान्तीय कौंसिलों के मेम्बरों का निर्वाचन, म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा होता था और भारतीय कौंसिल में प्रान्तीय कौंसिलों से प्रतिनिधि जाते थे। अब इन मेम्बरों का

निर्वाचन जनता के हाथ में आ गया। परन्तु सम्पत्ति को आधार मानकर निर्वाचकों के लिए ऐसे नियम बनाये गये कि सैकड़ा पीछे दो आदमियों को भी वोट देने का अधिकार मुश्किल से मिला। स्त्रियों को वोट देने का अधिकार देना या उन्हें प्रतिनिधि बनाना कौंसिलों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध में लखनऊ का समझौता स्वीकार कर लिया गया और यूरोपियन तथा सिक्खों को भी अपने प्रतिनिधि अलग अलग चुनने का अधिकार दे दिया गया। मांटेग्यू साम्प्रदायिक निर्वाचन के सिद्धान्त को पसन्द न करता था। उसका कहना था कि इससे नागरिकता के भाव की अपेक्षा पक्षपात बढ़ जाता है। परन्तु सन् १९०९ में मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार दिया जा चुका था, इसलिए उसको यह स्वीकार करना पड़ा।

नरेन्द्रमंडल—देशी राजा और नवाबों का भी एक मंडल बनाया गया, जो 'चेम्बर आफ़ प्रिंसेज़' कहलाता है। इसका सभापति वाइसराय होता है। यह देशी राज्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करता है और वाइसराय को सलाह देता है। इसके संगठन से बड़े बड़े राज्य सन्तुष्ट नहीं हैं। हैदराबाद, मैसूर तथा अन्य कई एक बड़े राज्य इसमें इस समय तक शामिल नहीं हुए हैं।

पार्लामेंट का अधिकार—इस नये क़ानून की भूमिका में भारतवर्ष पर पार्लामेंट का पूर्ण अधिकार स्पष्ट कर दिया गया और यह भी नियम बनाया गया कि हर दसवें वर्ष एक कमीशन द्वारा शासन की जांच की जाया करे और उसकी रिपोर्ट के अनुसार परिवर्तन किये जायँ। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के, जिस पर युद्ध में इतना ज़ोर दिया गया था, यह सर्वथा प्रतिकूल है। इस क़ानून के अनुसार भारत के भाग्य का निर्णय उसके नहीं बल्कि पार्लामेंट के हाथ में है।

सुधारों का प्रारम्भ—सन् १९१९ के अन्त में सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, जिसमें सुधारों के लिए मंजूरी देते हुए यह कहा गया कि भारतवर्ष को यथासम्भव सभी सुख देने का प्रयत्न किया गया, परन्तु "उसके हित की रक्षा और उसके शासन के चलाने का अधिकार

वहाँ के निवासियों को इस समय तक नहीं दिया गया था, जिसके बिना किसी देश की उन्नति पूर्ण रूप से नहीं हो सकती।" उसी का प्रारम्भ अब इन सुधारों से किया जाता है और आशा की जाती है कि सरकारी अफ़सर और प्रजा के नेता, दोनों मिलकर इनको सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। नई संस्थाओं को खोलने के लिए पहले युवराज आनेवाला था, परन्तु बाद में सन् १९२१ में सम्राट् का चचा ड्यूक ऑफ़ कनाट आया। इसने दिल्ली में राजकीय सन्देश पढ़कर सुनाया, जिसमें कहा गया कि वर्षों से स्वदेश और राजभक्त भारतवासी अपनी मातृभूमि के लिए 'स्वराज्य' का स्वप्न देख रहे थे, उसके लिए अब अवसर दिया जा रहा है। ड्यूक ने अपने भाषण में बड़े ज़ोर के साथ यह बतलाया कि भारतवर्ष में शासन का आधार "बल और भय" नहीं है। वाइसराय के शब्दों में उसने यह भी कहा कि "स्वेच्छाचारी शासन का सिद्धान्त" अब त्याग दिया गया। सन् १९१९ में अमृतसर की कांग्रेस ने सुधारों के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया। इस पर नरम दलवाले कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अपनी दूसरी सभा स्थापित की, जो "नेशनल लिबरल फ़ेडरेशन" के नाम से प्रसिद्ध हुई। सन् १९२० में नई कौंसिलों का पहला चुनाव हुआ, जिसमें असहयोग के कारण कांग्रेस ने कोई भाग न लिया। नरम दलवालों ने सरकार का साथ दिया और उनके कई एक नेता भिन्न भिन्न प्रान्तों में मंत्री बनाये गये। लार्ड सिंह बिहार और उड़ीसा के गवर्नर नियुक्त किये गये।

रौलट-बिल-सत्याग्रह—युद्ध के समय क्रान्तिकारी कार्यों को रोकने के लिए 'भारत-रक्षा-क़ानून' बनाया गया था। सरकार ने राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के लिए इसके प्रयोग न करने का वचन दिया था, पर तब भी कई बार इसका दुरुपयोग किया गया। इसी के अनुसार 'होमरूल आन्दोलन' को दबाने का प्रयत्न किया गया। युद्ध में असाधारण सहायता और नये सुधारों की घोषणा से यह आशा थी कि युद्ध के साथ साथ साधारण स्वतंत्रता में बाधा डालनेवाले इस क़ानून का भी अन्त कर दिया जायगा। परन्तु ऐसा न करके सरकार ने इँगलेंड के जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की, जिसने गुप्त रीति से जांच करके यह निश्चित किया कि भारतवर्ष में इस समय भी बहुत से क्रान्तिकारी मौजूद हैं, इसलिए बिना किसी ऐसे क़ानून के हिंसा का रोकना असम्भव है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने कौंसिल में दो क़ानून पेश किये, जिनमें पुलिस को बहुत अधिकार दिये गये और राजविद्रोह-सम्बन्धी मुक़दमों को जल्दी निपटाने के लिए नियम बनाये गये। गान्धीजी ने इनको "न्याय तथा स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के विरुद्ध और मनुष्यों के उन प्रारम्भिक अधिकारों को, जिन पर जनसमाज तथा राज्य अवलम्बित है, नष्ट करनेवाला" बतलाया और इनके विरुद्ध सत्याग्रह करना निश्चित किया। सत्याग्रह की प्रतिज्ञा में कहा गया कि हम लोग इन तथा अन्य ऐसे ही क़ानूनों को न मानेंगे और इस झगड़े में "धर्मपूर्वक सत्य का आश्रय ग्रहण करके किसी के जीवन या सम्पत्ति पर आघात न करेंगे।" इसी सम्बन्ध में ता० ६ अप्रैल सन् १९१९ को देश भर में हड़ताल मनाई गई। दिल्ली में ता० ३० मार्च को ही हड़ताल मनाई गई, वहां कुछ दंगा होने पर गोलियां चलाई गईं। बम्बई से आते हुए गान्धीजी गिरफ़्तार करके वापस कर दिये गये। यह समाचार मिलने पर अहमदाबाद तथा उसके आस-पास कई स्थानों में कुछ उपद्रव हुआ।

पंजाब में अशान्ति—यूरोप के युद्ध में केवल पंजाब से ३६०००० योद्धा भेजे गये। इनके भरती करने में बहुत सख़्ती से काम लिया गया। सन् १९१८ में दिल्ली की 'युद्ध-सभा' के बाद पंजाब के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर माइकेल ओडायर ने स्वयं कहा था कि "हमें सेना के लिए दो लाख आदमी चाहिएँ, सम्भव हो तो रज़ामन्दी से, नहीं तो ज़बरदस्ती से।" व्यवहार में इसी नीति से काम लिया गया और जनता के साथ बहुत ज़बरदस्ती की गई। इसी तरह लड़ाई के लिए क़र्ज़ लेने में भी ज़्यादती की गई। युद्ध में महँगी के कारण भी जनता में बड़ा असन्तोष था। तुर्की के प्रति इँग्लेंड की नीति से मुसलमान भी असन्तुष्ट थे। इतने ही में गान्धीजी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इस पर ओडायर ने राष्ट्रीय पत्रों का

पंजाब में आना बन्द कर दिया और कई एक नेताओं की भर्त्सना की। शिक्षित नेताओं के प्रति उसका व्यवहार बहुत अनुचित होता था, अपने निन्दनीय आक्षेपों के कारण, कौंसिल में एक बार उसे माफ़ी मांगनी पड़ी थी। सुधारों के साथ भी उसकी सहानुभूति न थी। ता० ६ अप्रैल की हड़ताल में कोई उपद्रव न होने पर भी उसने बहुत चिढ़कर अमृतसर के कुछ नेताओं को निर्वासित कर दिया और गान्धीजी को पंजाब आने से रोक दिया।

भीषण हत्याकांड—उसके इन कार्यों से अमृतसर में बड़ी उत्तेजना फैल गई। नेताओं को छुड़ाने की प्रार्थना करने के लिए एक बड़ा भारी जलूस डिप्युटी कमिश्नर के बँगले की तरफ़ चल पड़ा। इन लोगों के पास कोई हथियार न थे, पर तब भी इन पर गोली चलाई गई, जिसका फल यह हुआ कि कुछ लोगों का धैर्य जाता रहा और उपद्रव मच गया। कई एक अँगरेज़ मार डाले गये, एक बेंक का गोदाम लूट लिया गया और टाउनहाल में आग लगा दी गई। इस गड़बड़ में बदमाशों को अपना काम बनाने का अच्छा अवसर मिल गया। इन थोड़े मनुष्यों के उपद्रव पर, जिन्हें शान्त नागरिक नहीं रोक सकते थे, समस्त नागरिकों को दंड देना निश्चित कर लिया गया। जनरल डायर की आज्ञा से ४ मनुष्यों का जमाव ग़ैरक़ानूनी बना दिया गया, परन्तु इसकी पूरी तरह से मुनादी नहीं की गई। ता० १३ अप्रैल को तीसरे पहर जलियानवाला बाग़ में एक सभा हो रही थी। यह बैसाखी का दिन था, जब अमृतसर में यात्रियों की ख़ूब भीड़ होती है। सभा में लगभग २० हज़ार आदमियों की भीड़ थी, स्थान घिरा हुआ था, जिसमें केवल एक मुख्य रास्ता था। सभा का समाचार मिलने पर जनरल डायर ६० सैनिक और २ मशीनगन लेकर वहां पहुँच गया। उसने "तीस सेकेंड" में अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया और गोली चलाने की आज्ञा दे दी। भीड़ के भागने पर भी गोली चलाना बन्द नहीं किया गया। जनरल डायर का कहना था कि "मैंने इसे पूरा तितर-बितर होने तक गोली चलाते रहना अपना कर्तव्य समझा। यदि मैंने थोड़ी गोलियाँ चलाई होतीं तो यह मेरी भूल होती।"

इसमें लगभग एक हज़ार निरपराध मनुष्यों की जानें गईं और बहुत से घायल हुए, जिनकी सेवा, शुश्रूषा और चिकित्सा का कोई उचित प्रबन्ध न किया गया।[1] पंजाब के पांच ज़िलों में जंगी क़ानून जारी कर दिया गया। कितने ही नेता निर्वासित कर दिये गये, शान्त नागरिकों को हर तरह से अपमानित और पीड़ित किया गया। पेट के बल रेंगने का दंड दिया गया और हर एक अँगरेज़ को सलाम करने का नियम बनाया गया। पंजाब की इन घटनाओं से देश भर में रोष फैल गया और सरकार की कठोर नीति की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की गई। कांग्रेस की ओर से जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसने सर माइकेल ओडायर की नीति को पंजाब के असन्तोष का मुख्य कारण बतलाया और जनरल डायर की कठोरता का वर्णन करते हुए, उसे दंड देने का अनुरोध किया। वाइसराय लार्ड चेम्सफर्ड की उदासीनता पर भी उसने खेद प्रकट किया और उसको वापस बुला लेने की सलाह दी। हंटर की अध्यक्षता में जांच करने के लिए सरकार की ओर से भी एक कमेटी नियुक्त हुई, जिसके सामने जनरल डायर ने स्वीकार किया कि जलियानवाला की फ़ायरों से भय उत्पन्न करके वह "नैतिक प्रभाव" डालना चाहता था। कमेटी के अँगरेज़ मेम्बरों ने, जिनकी संख्या अधिक थी, राजनैतिक आन्दोलन को अशान्ति का मुख्य कारण बतलाया। उनकी राय में पंजाब में राज-विद्रोह की स्थिति थी, जिसके दमन के लिए जंगी क़ानून आवश्यक था, पर फ़ौजी अफ़सरों ने कुछ अनुचित उपायों से काम लिया और जनरल डायर ने जलियानवाला में ज़्यादती की। कमेटी के हिन्दुस्तानी मेम्बरों की राय में जंगी क़ानून जारी करनेवाली स्थिति न थी और अशान्ति के मुख्य कारण वे ही थे, जिन्हें कांग्रेस कमेटी ने बतलाया था।

भारत-सरकार ने हंटर कमेटी के अँगरेज़ मेम्बरों की राय मानकर जंगी क़ानून के कुछ कार्यों की निन्दा की और जनरल डायर के व्यवहार को कठोर तथा

[1] सरकार ने मरे हुए लोगों की संख्या पहले २९१ और बाद में ३७९ या कुछ अधिक मानी

"आवश्यकता से अधिक" बतलाया। इँग्लेंड-सरकार ने भी यही मत प्रकट किया और जनरल डायर के "नैतिक प्रभाव" के मत का खंडन किया। सिवा निन्दा करने के अपराधी अफ़सरों को कोई दंड न दिया गया। जनरल डायर को, जो अपने पद से हट गया था, भारतवर्ष के ख़ज़ाने से बराबर पेंशन मिलती रही। भारतवर्ष के बहुत से अँगरेज़ों ने भी उसका बड़ा पक्ष लिया। ऐंग्लो इंडियन समाचारपत्रों में उसकी वीरता की प्रशंसा की गई और उसकी सहायता के लिए चन्दा भी जमा किया गया। पंजाब के सम्बन्ध में सरकार के निर्णय से सारे देश में असन्तोष प्रकट किया गया।

ख़िलाफ़त—तुर्की के विरुद्ध युद्ध छिड़ने पर इँग्लेंड के प्रधान सचिव की ओर से भारतवर्ष के मुसलमानों को यह वचन दिया गया था कि ख़लीफ़ा के मान का बराबर ध्यान रखा जायगा और उनके पवित्र स्थानों की रक्षा की जायगी। परन्तु सन्धि करने के समय इसका कुछ भी ध्यान न रखकर बड़ी अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करने के लिए ख़लीफ़ा से कहा गया। इस पर भारतवर्ष के मुसलमानों में बड़ी खलबली मच गई और आन्दोलन करने के लिए 'ख़िलाफ़त कमेटी' स्थापित की गई। सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के लगभग १८ हज़ार मुसलमानों ने भारतवर्ष छोड़कर अफ़ग़ानिस्तान चले जाना निश्चित किया। इस 'हिजरत' में इन यात्रियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, अफ़ग़ान-सरकार ने इनका आना रोक दिया, वापस होने में मार्ग के कष्ट से बहुतों के प्राण गये। अन्त में यह विचार त्याग दिया गया और भारतवर्ष ही में बड़े ज़ोरों का आन्दोलन करना निश्चित किया गया। गान्धीजी ने भी इसमें मुसलमानों का साथ दिया, ख़िलाफ़त को उन्होंने हिन्दुओं की गाय बतलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमानों में अद्भुत एकता का संचार हो गया।

असहयोग आन्दोलन—पंजाब और ख़िलाफ़त के प्रति सरकार की नीति से असन्तुष्ट होकर असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। सितम्बर सन् १९२० में, कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसने गान्धीजी की सलाह से यह निश्चित किया कि स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य

से सरकारी उपाधियाँ त्याग दी जायँ, अवैतनिक पदों से इस्तीफ़ा दे दिया जाय, सरकारी दरबार तथा अन्य उत्सवों में जाना छोड़ दिया जाय, सरकारी या सरकार से सहायता पानेवाले स्कूल तथा कालेजों से लड़के हटा लिये जायँ, उनकी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय स्कूल खोले जायँ, धीरे धीरे सरकारी अदालतों में जाना छोड़ दिया जाय और उनकी जगह पर पंचायतें नियुक्त की जायँ। नई कौंसिलों के निर्वाचन में कोई भाग न लिया जाय और सूत की कताई तथा कपड़े की बुनाई का खूब प्रचार किया जाय। दिसम्बर में नागपुर की कांग्रेस में इसका समर्थन किया गया और इसको अहिंसात्मक बनाये रखने पर बड़ा ज़ोर दिया गया। कांग्रेस का संगठन भी ठीक किया गया। बराबर काम चलाने के लिए एक 'कार्यकारिणी समिति' (वर्किंग कमेटी) नियुक्त की गई और "न्याययुक्त तथा शान्त उपायों द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति" कांग्रेस का ध्येय बनाया गया।

अगस्त सन् १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु हो गई। उनकी स्मृति में 'तिलक स्वराज्य कोष' स्थापित किया गया और देश भर में असहयोग आन्दोलन बड़े ज़ोरों से चल पड़ा। हज़ारों विद्यार्थियों ने सरकार से सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं में पढ़ना छोड़ दिया। पढ़ाई के लिए कई एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये। कौंसिलों के बहिष्कार में भी बड़ी सफलता प्राप्त हुई। लिबरल नेताओं को छोड़कर, जो असहयोग की नीति से सहमत न थे, अन्य कोई राष्ट्रीय नेता नई कौंसिलों में न गया। खद्दर राष्ट्रीय पोशाक हो गया और चर्खा का प्रचार फिर से प्रारम्भ हुआ। असहयोगी नेताओं ने देश भर में भ्रमण किया, गांवों तक में कांग्रेस की शाखाएँ स्थापित हो गईं, हिन्दू और मुसलमान परस्पर के भेद को भूल गये और सारे देश में एक विचित्र जागृति हो गई।

लार्ड रीडिंग—अप्रैल सन् १९२१ में लार्ड रीडिंग वाइसराय होकर आया। यह इँग्लैंड का प्रधान न्यायाधीश रह चुका था, जिसके कारण सबको आशा थी कि उसके समय में न्याय होगा। लार्ड रीडिंग भी आते ही जलियानवाला गया और मुख्य मुख्य नेताओं से मिला, जिसका अच्छा प्रभाव

पड़ा। उसने जनता का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए युवराज (प्रिंस ऑफ़ वेल्स) को आमंत्रित किया, परन्तु इस समय देश में दूसरी धुन थी। 'तिलक स्वराज्य कोष' में बात की बात में एक करोड़ रुपया जमा हो गया था, सरकार की दमन-नीति के उत्तर में 'सविनय अवज्ञा' की तैयारियां हो रही थीं। देश भर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक भरती किये जा रहे थे, विलायती कपड़े के पूर्ण बहिष्कार और खद्दर के प्रचार पर ज़ोर दिया जा रहा था। अछूत जातियों के उद्धार और मादक वस्तुओं के व्यवहार को रोकने के लिए भी प्रयत्न हो रहा था। कांग्रेस ने युवराज के आने को "राजनैतिक चाल" समझकर उसके बहिष्कार करने का निश्चय कर लिया पर साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि "भारतवर्ष को युवराज के साथ किसी प्रकार का व्यक्तिगत द्वेष नहीं है।" इस पर लार्ड रीडिंग ने समझौते का भी कुछ प्रबन्ध किया, पर सफलता न हुई। बम्बई में विलायती कपड़े की होली जलाकर युवराज का स्वागत किया गया। इस अवसर पर कुछ उपद्रव भी हुआ, जिसमें कई एक आदमियों की जानें गई। इसके प्रायश्चित्त में गान्धीजी ने ६ दिन का उपवास किया। देश भर में जहाँ जहाँ युवराज गया वहीं पूर्ण हड़ताल मनाई गई। इससे लार्ड रीडिंग का रुख़ बिलकुल बदल गया और उसने असहयोग आन्दोलन का अच्छी तरह से दमन करना निश्चित कर लिया।

लार्ड रीडिंग

उसके आने के पहले ही सरकार की दमन-नीति प्रारम्भ हो गई थी। संयुक्त प्रान्त में असहयोग आन्दोलन क्रान्तिकारी बतला दिया गया था, बिहार में स्वयंसेवकों पर बड़ा अत्याचार किया जा रहा था। जगह जगह सरकारी अफ़सरों द्वारा 'अमन सभाएँ' स्थापित की जा रही थीं और उनमें सब तरह से असहयोगियों को बदनाम करने का प्रयत्न किया जा रहा था। अब और भी कड़ाई से काम लिया जाने लगा। जहां कहीं उपद्रव हुआ उसके लिए असहयोगी ही अपराधी ठहराये गये। हज़ारों असहयोगी, बड़े बड़े नेताओं सहित, जिनसे कभी विद्रोह की आशंका नहीं की जा सकती थी, जेल में ठूँस दिये गये।

मोपला-विद्रोह—इतने ही में मद्रास के मलाबार प्रान्त में मोपला-विद्रोह उठ खड़ा हुआ। मलाबार में बसे हुए अरब लोग मोपला कहलाते हैं। ये कट्टर मुसलमान हैं और इनमें शिक्षा का भी प्रचार नहीं है। यहां के ज़मीन्दारों और काश्तकारों में बहुत दिनों से झगड़ा था। खिलाफ़त आन्दोलन भी चल पड़ा था, पर इनको इसके वास्तविक अर्थ का पता न था। कुछ उपद्रव होने पर कलेक्टर की आज्ञा से एक मसजिद घेर ली गई और नेताओं का मलाबार जाना रोक दिया गया। इस पर ये लोग जोश में आकर बिगड़ पड़े। कुछ अंगरेज़ अफ़सर मार डाले गये और 'खिलाफ़त राज्य' स्थापित किया गया। यहा हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचार किया गया, बहुत से हिन्दू ज़बरदस्ती मुसलमान बना डाले गये और उनके मन्दिर तोड़ डाले गये। सरकार ने सेना भेज कर उपद्रव शान्त किया और जंगी क़ानून जारी कर दिया। बहुत से मोपला क़ैद करके निर्वासित कर दिये गये। सौ क़ैदी मालगाड़ी के एक डब्बे में भर दिये गये, जिनमें से ६६ दम घुटने के कारण मर गये। मोपलाओं को उत्तेजित करने का अपराध भी असहयोगियों के मत्थे मढ़ दिया गया।

चौरीचौरा—गान्धीजी के बहुत प्रयत्न करने पर भी आन्दोलन अहिंसात्मक न रह सका। इसके कई एक कारण थे। सबसे मुख्य बात

तो यह है कि सविनय अवज्ञा की सफलता के लिए बड़े अध्यात्म-बल, आत्म-संयम, धैर्य और सहनशीलता की आवश्यकता है। सबमें इन गुणों का होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन को बदनाम करने के लिए सरकार की ओर से सभी तरह के उपायों से काम लिया जा रहा था। बदमाशों को भी अपना मतलब सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिल गया था और उनकी वजह से जगह जगह उपद्रव हो रहे थे। ख़िलाफ़त का झगड़ा चल ही रहा था। अहिंसात्मक उपायों से सफलता की कोई आशा न देखकर कुछ मुसलमान नेता भी असन्तुष्ट हो रहे थे। सरकार की दमन-नीति के कारण जनता की उत्तेजना बहुत बढ़ गई थी और उसका क़ाबू में रखना नेताओं के लिए असम्भव हो रहा था। कई जगह उपद्रव हो चुके थे, पर फ़रवरी सन् १९२२ में गोरखपुर के ज़िले में एक बड़ी भारी दुर्घटना हो गई। चौरीचौरा के थाने में आग लगा दी गई और थानेदार तथा सिपाही सब मिलाकर २२ आदमी मार डाले गये।

बारडोली-निर्णय—इस दुर्घटना से गान्धीजी की आंखें खुल गईं और उन्हें विश्वास हो गया कि देश सविनय अवज्ञा के लिए तैयार नहीं है। बारडोली में, जहां सत्याग्रह के लिए बड़े ज़ोरों से तैयारी हो रही थी, 'कांग्रेस वर्किंग कमेटी' की एक बैठक की गई, जिसमें सविनय अवज्ञा स्थगित करके, खद्दर के प्रचार, अछूतों के उद्धार, मादक वस्तुओं के निषेध, राष्ट्रीय विद्यालयों तथा पंचायतों को स्थापित करने और कांग्रेस के मेम्बरों की संख्या बढ़ाने पर अधिक ज़ोर देना निश्चित किया गया। कई नेताओं की राय में ऐसा निर्णय करके बड़ी भूल की गई, देश की जागृति से पूरा लाभ न उठाया गया, पहले धमकी देकर फिर सविनय अवज्ञा छोड़ देने का प्रभाव जनता पर अच्छा न पड़ा और उसकी हिम्मत टूट गई। गान्धीजी का कहना था कि बिना सविनय अवज्ञा की योग्यता के उसका प्रारम्भ करना हानिकारक है। सबसे पहले 'सत्य और अहिंसा' के सिद्धान्तों को अपने जीवन में लाना चाहिए। अपनी आत्मा की अपेक्षा संसार के सामने झूठा बनना लाखों दर्जा अच्छा है।

महात्माजी की इस जटिल उक्ति को साधारण जनता समझ न सकी, जिसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे उनका प्रभाव कम पड़ने लगा। सरकार बहुत दिनों से उन्हें दंड देने का विचार कर रही थी, परन्तु असहयोग आन्दोलन के ज़ोर और गान्धीजी की लोकप्रियता के कारण उसकी हिम्मत न पड़ती थी।[1] अब उसको अच्छा अवसर मिल गया और उसने कुछ तीव्र लेखों के कारण मार्च सन् १९२२ में गान्धीजी को गिरफ़्तार करके मुक़दमा चलाने की आज्ञा दे दी। उन पर सरकार के प्रति घृणा उत्पन्न करने और उसे नष्ट करने की चेष्टा करने का अपराध लगाया गया। उत्तर में गान्धीजी का कहना था कि जिस सरकार ने भारत को दरिद्र बना दिया है, जिसके क़ानूनों से उसकी लूट हो रहीं है और जिसके शासन ने उसको पुरुषार्थ-हीन बना दिया है, उस सरकार के प्रति किसी को भी स्नेह नहीं हो सकता। इस पर उन्हें ६ साल की सादी क़ैद का दंड दिया गया। जेल जाते समय महात्माजी देश के लिए केवल 'खद्दर' का सन्देश छोड़ गये। असहयोग आन्दोलन धीरे धीरे ठंढा पड़ रहा था, ऐसे समय पर उन्हें जेल भेजकर जनता पर केवल आतंक जमाने का प्रयत्न किया गया।
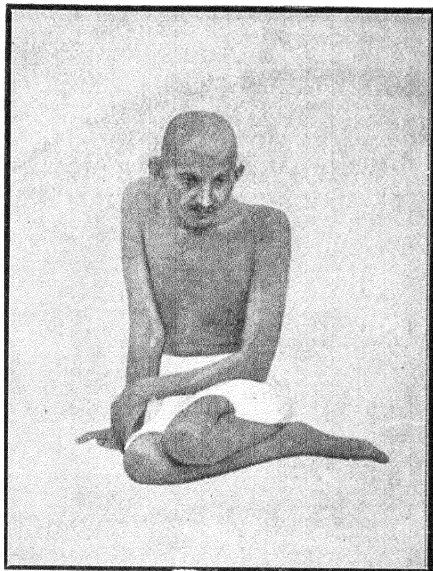
महात्मा गान्धी

---

१ इंडिया इन १९२१-२२, पृ० १०५।

असहयोग का प्रभाव—जिस उद्देश्य के लिए असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, वह प्राप्त न हो सका, यह बात ठीक है, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस आन्दोलन से देश का बड़ा लाभ हुआ। जनता में निर्भीकता आ गई, जेलों का भय जाता रहा, सरकार की सच्ची नीति का सबको पता लग गया, गांवों तक में स्वराज्य की चर्चा होने लगी, ग़रीबों की सहायता के लिए खद्दर का साधन मिल गया, अछूतों की दुर्दशा की ओर सबका ध्यान आकर्षित हो गया, कई एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये और देश भर को स्वावलम्बन का पाठ मिल गया। महात्माजी के आध्यात्मिक जीवन का भी कुछ लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके जीवन का काया-पलट ही हो गया।

मांटेग्यू का इस्तीफ़ा—भारतसचिव मांटेग्यू की नीति तत्कालीन इँग्लेंड-सरकार को पसन्द न थी। नये सुधारों से भारत के सिविलियन भी खूब चिढ़े हुए थे और उनका पक्ष पार्लमेंट में लिया जा रहा था। फ़रवरी सन् १९२२ में उसकी नीति की पार्लमेंट में बड़ी तीव्र आलोचना की गई। गान्धीजी को गिरफ्तार न करने का भी उस पर दोष लगाया गया। प्रधान सचिव लायड जार्ज ने अपने एक भाषण में यह कहते हुए कि भारत में कभी प्रजातंत्र शासन नहीं रहा, इंडियन सिविल सर्विस को भारतवर्ष का "फ़ौलादी ढाँचा" बतलाया। इतने ही में मांटेग्यू को भारतसचिव के पद से हटाने का एक अच्छा बहाना मिल गया। खिलाफ़त आन्दोलन का ज़ोर बढ़ते देखकर भारत-सरकार ने तुर्की के साथ मित्रों की जो सन्धि हुई थी, उसको बदलने के लिए मांटेग्यू को एक तार भेजा था। मुसलमानों को शान्त करने के लिए मांटेग्यू ने मंत्रि-मंडल से बिना पूछे हुए इस तार को प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी। मुसलमानों को असहयोग आन्दोलन से हटाकर अपने पक्ष में मिलाने की दृष्टि से ही इस तार के प्रकाशन में इतनी शीघ्रता की गई थी। मंत्रि-मंडल ने मांटेग्यू के इस कार्य्य को अनुचित समझा, इस पर उसने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। इसके थोड़े ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। जहां तक उससे बन पड़ा वह बराबर भारतवर्ष के हित के लिए प्रयत्न करता रहा।

तीसरा अफ़ग़ान-युद्ध—फ़रवरी सन् १९१९ में अमीर हबीबुल्ला मार डाला गया। उसके बड़े लड़के ने अपने चचा के पक्ष में गद्दी का अधिकार त्याग दिया। इस पर नसरुल्ला अमीर हो गया। परन्तु हबीबुल्ला का तीसरा लड़का अमानुल्ला इसको सहन न कर सका। उसे सन्देह था कि उसके पिता का वध नसरुल्ला ने ही कराया है। अमानुल्ला को सेना बहुत चाहती था। उसकी सहायता से वह अपने बड़े भाई और चचा को क़ैद करके अमीर बन गया। भारतवर्ष की अशान्ति में अमीर अमानुल्ला ने अफ़ग़ानिस्तान को पूरी तरह स्वतंत्र बनाने का अच्छा अवसर देखा। काबुल में बालशेविक रूस और तुर्की का प्रभाव बढ़ता हुआ देखकर अँगरेज़ों को भी बड़ी चिन्ता हो रही थी। अमीर की सेना भारत-

अमानुल्ला

वर्ष की तरफ़ बढ़ते देखकर युद्ध छेड़ दिया गया। इसमें अफ़ग़ान सेनापति नादिरख़ाँ ने बड़ी चतुरता से काम लिया। परन्तु अधिक दिनों तक अँगरेज़ों का सामना न किया जा सका। हवाई जहाज़ जलालाबाद और काबुल पहुँच गये। इस पर लड़ाई बन्द करके सन्धि की बात-चीत होने लगी। नवम्बर सन् १९२१ में दोनों राज्यों में सन्धि हो गई। इसके अनुसार अफ़ग़ानिस्तान पूर्ण रूप से स्वतंत्र मान लिया गया और उसे रुपया देना बन्द

कर दिया गया। वहां के शासक अब 'अमीर' के बजाय 'शाह' कहलाने लगे। इस सम्बन्ध में हबीबुल्ला के समय से ही झगड़ा चल रहा था।

सन् १९२७ में अमानुल्ला भारतवर्ष होता हुआ युरोप गया। सब जगह उसका ख़ूब स्वागत किया गया। वहाँ से लौटकर उसने बहुत से सुधार किये। शासन में सहायता देने के लिए एक राष्ट्रीय सभा स्थापित की गई, पर्दा उठा दिया गया, बहु-स्त्री-विवाह की प्रथा रोक दी गई और मुल्लाओं का ज़ोर दबा दिया गया। पाश्चात्य ढंग की शिक्षा तथा सभ्यता का देश में प्रचार करने का प्रबन्ध किया गया। इन उग्र सुधारों के लिए देश तैयार न था। खर्च अधिक बढ़ जाने से कई एक नये कर लगा दिये गये, जिससे प्रजा में असन्तोष फैल गया। सेना का वेतन बाक़ी पड़ा हुआ था, इसलिए वह भी असन्तुष्ट थी। सन् १९२८ के अन्त में शिनवारियों का भीषण विद्रोह उठ खड़ा हुआ। बच्चा सक़्क़ा हबीबुल्ला के नाम से बादशाह बन गया और अमानुल्ला कन्दहार भाग गया। साल भर तक देश में अराजकता फैली रही। इतने ही में फ्रांस से नादिरखां आ गया। सफलता की कोई आशा न देखकर अमानुल्ला इटली चला गया। उसका हिन्दू प्रजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार था। वह एशियाई राष्ट्रों का एक संघ स्थापित करना चाहता था। नादिरखां ने बड़ी चतुरता से देश को अपने पक्ष में करके काबुल पर अधिकार कर लिया। सन् १९२९ के अन्त में वह बादशाह बन गया और हबीबुल्ला मार डाला गया। नादिरशाह योग्य शासक जान पड़ता है। वह बड़े सोच-विचार के साथ चल रहा है।

अकाली आन्दोलन—सिखों के बहुत से गुरुद्वारे हिन्दू महन्तों के हाथ में थे, जिनका प्रबन्ध ठीक ठीक न होता था। इनको सुधारने के लिए एक आन्दोलन चल पड़ा, जिसमें 'अकालियों' ने बहुत भाग लिया। इस सम्बन्ध में सरकार का प्रस्ताव पसन्द न आने पर इन लोगों ने सत्याग्रह द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त करना निश्चित किया। सन् १९२० के अन्त में 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' नियुक्त हुई, जिसके आदेशानुसार सिखों ने गुरुद्वारों पर क़ब्ज़ा करना प्रारम्भ कर दिया। फ़रवरी सन् १९२१ में ननकाना के महन्त ने १३० अकालियों को मरवा डाला, जिसकी वजह से सिखों में बड़ा हलचल

मच गया। सिखों की शिकायतें ठीक थीं, अदालतों द्वारा उनका दूर होना एक तरह से असम्भव था, ऐसी दशा में सरकार का कर्तव्य था कि वह बीच में पड़कर झगड़ों को निपटवा देती, परन्तु ऐसा न करके इस आन्दोलन का भी दमन प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९२२ के अन्त में 'गुरु के बाग़' में अपना अधिकार जताने के लिए, अकाली लकड़ी काटना चाहते थे। यहां का गुरुद्वारा इस समय भी महन्त के अधिकार में था। उसकी रक्षा के लिए पुलिस पहुँच गई. इस पर अकालियों ने अपने जत्थे भेजना शुरू कर दिया। कड़ी धूप में पुलिस के डंडों की मार सहकर भी ये जत्थे शान्त रहे। अन्त में बाग़ का ठेका एक दूसरे सज्जन को देकर यह मामला शान्त किया गया।

इतने ही में सरकार के विरुद्ध अकालियों को एक और शिकायत का मौक़ा मिल गया। नाभा और पटियाला के राज्यों में आपस का कुछ झगड़ा था, जिसमें सरकार ने महाराजा नाभा को दोषी पाया। इस पर सन् १९२३ में महाराजा ने गद्दी छोड़ दी, जिस पर उसका लड़का बिठला दिया गया और राज्य का शासन भारत-सरकार की निगरानी में होने लगा। अकालियों की राय में महाराजा के साथ यह अन्याय किया गया। इसलिए वे महाराजा को फिर से गद्दी पर बिठलाने के लिए आन्दोलन करने लगे। जुलाई सन् १९२३ में नाभा राज्य के जायतो गुरुद्वारा में उनकी एक सभा तोड़ दी गई। परन्तु इससे अकाली डरे नहीं, उनके जत्थे बराबर मोर्चे पर पहुँचते रहे। इस पर अक्तूबर में सरकार ने 'गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' को ग़ैरक़ानूनी ठहराकर सब मेम्बरों को गिरफ़्तार कर लिया। कमेटी फिर से संगठित हो गई और पांच महीने तक २५ आदमियों का एक जत्था रोज़ाना जाकर गिरफ़्तार होता रहा। जनवरी सन् १९२४ में अमृतसर से ५०० आदमियों का एक 'शहीदी जत्था' पैदल रवाना हुआ, जिसमें कनाडा और शंघाई से भी बहुत से सिख आकर शामिल हुए। मार्ग में इसके साथ बहुत भीड़भाड़ हो गई। जायतो पहुँचने पर नाभा-सरकार की ओर से गोली चलाई गई, जिसमें बहुतों के प्राण गये। दूसरी प्रबन्धक कमेटी के मेम्बर भी गिरफ़्तार किये गये और 'कृपाण' बांधना क़ानून-विरुद्ध ठहरा दिया गया।

सरकार का बहुत कुछ सैनिक बल सिखों पर निर्भर है। अधिक दिनों तक उनको असन्तुष्ट रखना उचित न था। इसलिए सरकार ने कोई उपाय न देखकर अन्त में समझौता करना निश्चित किया। जुलाई सन् १९२५ में, पंजाब कौंसिल में 'गुरुद्वारा क़ानून' पास किया गया, जिसके अनुसार यथासम्भव गुरुद्वारों का प्रबन्ध सिखों के हाथ में दे दिया गया। सिख क़ैदी भी धीरे धीरे छोड़ दिये गये। इस आन्दोलन में ३० हज़ार सिख गिरफ़्तार किये गये, ४०० के प्राण गये, दो हज़ार घायल हुए और १५ लाख रुपया जुरमाना में वसूल किया गया।[१] पर तब भी सिख बराबर शान्त रहे और उन्होंने इस बात को दिखला दिया कि व्यवहार में भी गान्धीजी का सत्याग्रह असम्भव नहीं है।

चित्तरंजन दास

स्वराज्य दल—गान्धीजी के जेल जाने से असहयोग आन्दोलन और भी शिथिल पड़ गया। उनके बतलाये हुए कार्यक्रम पर अधिकांश जनता को श्रद्धा न थी और उसके लिए कुछ भी काम न हो रहा था। विद्यार्थी धीरे-धीरे फिर सरकारी स्कूल और कालेजों में वापस जा रहे थे, राष्ट्रीय संस्थाएँ टूट रही थीं, खद्दर का प्रचार कम पड़ रहा था, हिन्दू और मुसलमानों में भी

१ इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, कलकत्ता, सन् १९२५, जि० १, पृ० ९० ।

झगड़ा प्रारम्भ हो गया था। इस पर कांग्रेस की ओर से 'सविनय अवज्ञा कमेटी' नियुक्त की गई, जिसने देश भर में भ्रमण करके उस समय की स्थिति में सविनय अवज्ञा को सर्वथा असम्भव बतलाया और कौंसिलों में जाने की सलाह दी। इसके कुछ दिनों पहले से ही असहयोग के कई एक नेताओं की यह राय हो रही थी कि कौंसिलों में न जाकर भूल की गई। कहा जाता था कि लिबरलों के मिल जाने से सरकार और भी दृढ़ हो गई थी और अपनी मनमानी कर रही थी। इस भूल को सुधारने के लिए सन् १९२२ की गया कांग्रेस में 'स्वराज्य दल' स्थापित किया गया, जिसने कौंसिलों में जाकर सरकार के हर एक काम में बाधा डालना निश्चित किया। श्री चित्तरंजन दास, जिन्होंने असहयोग के समय पर बैरिस्ट्री छोड़ दी थी और जेल जा चुके थे, इस दल के नेता बनाये गये।

कांग्रेस में इस समय भी महात्माजी के नाम का बड़ा प्रभाव था। उसने इस दल को अपनाना स्वीकार नहीं किया। इस दल की नीति असहयोग के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। कौंसिल-बहिष्कार ही असहयोग का एक अंग बाक़ी रह गया था, वह भी इस नीति से नष्ट हो रहा था। इस पर कांग्रेस में दो दल हो गये, एक तो कौंसिलवादियों का और दूसरा उन कट्टर असहयोगियों का, जो अपनी नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न चाहते थे। इसी लिए यह दल 'अपरिवर्तनवादियों' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों दलों में बहुत दिनों तक झगड़ा चलता रहा। स्वराज्य दलवाले कम संख्या में होते हुए भी कांग्रेस को अपने मत में लाने के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। बीमार पड़ने के कारण फ़रवरी सन् १९२४ में सरकार ने गान्धीजी को छोड़ दिया। सन् १९२३ के निर्वाचन में सफलता होने से स्वराज्य दल का प्रभाव बहुत बढ़ गया। गान्धीजी ने भी देख लिया कि कौंसिलों का बहिष्कार अब सम्भव नहीं है। इस पर उन्होंने राजनीति से अपना हाथ ही खींच लिया और हिन्दू-मुसलमानों की एकता, अछूतों के उद्धार तथा सब से अधिक खद्दर के प्रचार पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। खद्दर पहनना और सूत कातना कांग्रेस के मेम्बरों के लिए अनिवार्य्य कर दिया गया। सफलता न होने पर सूत कातने

का नियम उठा दिया गया, खद्दर पहनना इस समय भी आवश्यक है। कताई का प्रचार करने के लिए गान्धीजी ने एक 'अखिल भारतीय चर्खा संघ' स्थापित किया। इसका व्यापारिक ढंग पर बड़ा अच्छा काम चल रहा है और यह कांग्रेस का एक अंग भी है। सन् १९२५ में कांग्रेस ने स्वराज्य दल की नीति को मान लिया।

सन् १९२३ के निर्वाचन में स्वराज्य दल को अच्छी सफलता हुई। यदि इस अवसर पर कांग्रेस ने इसका साथ दिया होता तो बहुत सम्भव था कि इस दल की पूरी विजय हुई होती, पर तब भी असेम्बली में इसकी प्रधानता रही और प्रान्तीय कौंसिलों में बंगाल तथा मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल के लोग सबसे अधिक संख्या में चुने गये। इन दोनों कौंसिलों में मंत्रियों का नियुक्त होना असम्भव कर दिया गया। बंगाल में दास की नीति-निपुणता के कारण सरकार को कई बार हार खानी पड़ी। मध्यप्रान्त में मंत्रियों के विभाग अन्ततः एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल के मेम्बरों को ही सौंप दिये गये। असेम्बली में भी स्वराज्य दल ने अपनी धाक जमा दी। असहयोग के दमन में सरकार का साथ देने के कारण इस निर्वाचन में लिबरलों की पूरी हार हुई थी। अन्य दल भी सरकार की नीति से सन्तुष्ट न थे। देशी नरेशों की समाचार-पत्रों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए एक क़ानून गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास कर दिया गया था। इसी तरह पूरा विरोध करते रहने पर भी नमक-कर बढ़ा दिया गया था। इस असन्तोष से स्वराज्य दल ने ख़ूब लाभ उठाया। उसने अन्य दलों से मिलकर सरकारी बजट नामंज़ूर कर दिया, जो गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास किया गया।

परन्तु अन्य दलों के साथ यह मेल स्थायी न हुआ, जिसकी वजह से स्वराज्य दल को फिर अधिक सफलता न हुई। उसकी नीति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया, हर एक काम में बाधा डालना छोड़ दिया गया और प्रजाहित के कार्यों में सरकार का साथ भी दिया जाने लगा। सन् १९२४ में दास की मृत्यु हो जाने से और भी धक्का लगा और हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े का भी प्रभाव पड़ा। नीति में परिवर्तन होने के कारण लोकप्रियता घट गई, आपस

में ही मतभेद हो गया, कुछ महाराष्ट्र नेता सरकारी पदों को स्वीकार करने के पक्ष में भी हो गये। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि सन् १९२६ के निर्वाचन में कांग्रेस के प्रयत्न करने पर भी इस दल को अधिक सफलता नहीं हुई। असेम्बली में इस दल के मेम्बरों की संख्या लगभग उतनी ही रही और बंगाल तथा मदरास में कुछ अधिकता रही। इस बार मंत्रियों को नियुक्त न करने देने का प्रयत्न कहीं भी सफल नहीं हुआ।

खिलाफ़त का अन्त—सन् १९२४ में, तुर्की में प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गया। सुलतान गद्दी से उतार दिया गया और मुस्तफ़ा कमाल पाशा राष्ट्रपति बनाया गया। इसके पहले ही लोसान की सन्धि हो गई थी, जिसमें यूरोपीय राष्ट्रों ने तुर्की की स्वाधीनता स्वीकार कर ली थी। तुर्की का यह कार्य्य भारतीय मुसलमानों को पसन्द न आया। खिला-फ़त की प्राचीन संस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्न भी किया गया, पर कोई सफलता न हुई। इस तरह खिलाफ़त का झगड़ा आप ही आप शान्त हो गया, पर तब भी मुसलमानों की कई एक शिकायतें बनी रहीं। उनके कुछ पवित्र स्थानों पर, नई सन्धियों के अनुसार, अन्य राष्ट्रों का अधिकार हो गया। अरब में वहाबी सुलतान इब्नसऊद की विजय के कारण यह समस्या और भी जटिल हो गई।

हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा—खिलाफ़त के अन्त के साथ साथ असहयोग के दिनों में हिन्दू-मुसलमानों में जो एकता स्थापित हुई थी, वह भी नष्ट हो गई। सन् १९२३ में दोनों का भेदभाव बहुत बढ़ गया और सन् १९२४ में सहारनपुर के ज़िले में मुहर्रम के समय पर बड़ा भारी दंगा हो गया। उत्तरी भारत के अन्य कई स्थानों में भी बहुत से दंगे हुए। इसके पहले भी कहीं एक आध दंगे हो जाते थे, पर इधर इनके बढ़ जाने के कई एक कारण थे। असहयोग एक राजनैतिक आन्दोलन था, इसके साथ खिलाफ़त का सम्बन्ध जोड़ देने से धार्मिक भाव पैदा हो गया। नये सुधारों में परस्पर के भेदभाव को मिटाने की कोई चेष्टा नहीं की गई।

कौंसिलों में दोनों के प्रतिनिधि अलग अलग चुने ही जाते थे, अब म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में भी इसी नियम से काम लिया जाने लगा और सरकारी नौकरियाँ देने में भी हिन्दू-मुसलमानों का ख़याल होने लगा। जो हिन्दू पहले मुसलमान हो गये थे उन्हें शुद्ध करने के लिए आन्दोलन चल पड़ा और हिन्दू-समाज को सुसंगठित बनाने के लिए 'हिन्दूमहासभा' स्थापित हो गई। मुसलमानों में भी 'तंज़ीम और तबलीग़' के लिए आन्दोलन होने लगा। धार्मिकप्रचार तथा सामाजिक संगठन का दोनों को समान अधिकार है, पर इनमें राजनैतिक रंग ला दिया गया। इसी तरह केवल राजनैतिक प्रश्नों में भी धर्म और जाति के भावों का समावेश कर दिया गया। गोवध का झगड़ा पहले ही से था, हिन्दू सदा से इसका विरोध करते रहे, अब मुसलमानों ने मसजिदों के सामने बाजा बजाने पर आपत्ति करना प्रारम्भ कर दिया। इन भेद-भावों को उत्तेजित करने में कुछ लोगों को आनन्द आने लगा; जिसका परिणाम यह हुआ कि देशभर में दोनों जातियों में परस्पर का अविश्वास उत्पन्न हो गया और लड़ाई-झगड़े तथा दंगा-फ़साद होने लगे।

सितम्बर सन् १९२४ में सीमा प्रान्त के कोहाट नगर में बड़ा उपद्रव हो गया। एक साधारण झगड़े पर सरहद्दी मुसलमानों ने नगर के हिन्दू मुहल्लों में आग लगा दी, दूकानें लूट लीं और कुछ लोगों को मार डाला। बहुत से हिन्दू कोहाट छोड़कर रावलपिंडी भाग आये। गुलबर्गा और लखनऊ में भी उपद्रव हुए। कोहाट के पूरे समाचार मिलने पर गान्धीजी ने दिल्ली में २१ दिन का उपवास किया। इसी समय दिल्ली में 'एकता सम्मेलन' हुआ, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी और सिखों के प्रतिनिधि शामिल हुए। इस सम्मेलन ने धार्मिक सहिष्णुता पर ज़ोर देते हुए यह निश्चित किया कि जहां जैसी रीति है उसी के अनुसार, बिना किसी का दिल दुखाये हुए, काम करना चाहिए। परन्तु इसके निर्णयों पर काम नहीं किया गया। कांग्रेस ने भी इन झगड़ों को निपटाने का कई बार प्रयत्न किया, पर तब भी कुछ न हुआ। झगड़ा बराबर बढ़ता ही गया और दोनों ओर से ज़्यादतियां होती रहीं। सरकार की कोई निश्चित नीति न रही और उसने दोनों के अधिकारों

की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न भी नहीं किया। सन् १९२६ में गुरुकुल कांगड़ी के स्थापक स्वामी श्रद्धानन्दजी का बध कर डाला गया। इलाहाबाद और कलकत्ता में भी बड़े उपद्रव हुए। सन् १९२८ के अन्त से ये झगड़े धीरे धीरे शान्त होने लगे। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। ये झगड़े प्रायः ब्रिटिश भारत में ही होते हैं, देशी राज्यों में ऐसे झगड़े बहुत कम होते हैं।

सुधारों की उपयोगिता—असहयोग के दिनों में नई कौंसिलों में प्रजा के प्रतिनिधियों का कुछ ध्यान रखा गया। उनके कहने पर न्याय तथा शस्त्रों के सम्बन्ध में गोरे-काले का भेद उठाने, कुछ दमनकारी क़ानूनों को रद्द करने और समाचारपत्रों को अधिक स्वतंत्रता देने का प्रयत्न किया गया। मद्रास और संयुक्त प्रान्त में मंत्रियों के साथ मिलकर चलने की भी चेष्टा की गई। परन्तु असहयोग का ज़ोर ठंढा हो जाने तथा मांटेग्यू के हटने पर सरकार की नीति फिर बदल गई। असेम्बली में 'देशी नरेश-रक्षक क़ानून' प्रतिनिधियों के विरोध करते रहने पर भी गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास कर दिया गया और नमक-कर बढ़ा दिया गया। प्रान्तीय सरकारों में लिबरल दल के मंत्रियों को काम करना असम्भव कर दिया गया और उनको मजबूर होकर इस्तीफ़ा देना पड़ा। इँग्लेंड की मज़दूर सरकार के शासनकाल में भी, जिससे भारतवर्ष को बहुत कुछ आशा थी, बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए एक कठोर क़ानून (बंगाल आर्डिनेंस) पास कर दिया गया। इसके अनुसार किसी पर ऐसे षड्यंत्रों में भाग लेने का सन्देह होने ही से बिना अभियोग चलाये हुए, उसको जेल में रखने या निर्वासित करने का अधिकार बंगाल-सरकार को मिल गया। सभी जगह विशेषाधिकारों से काम लिया जाने लगा। सरकार की इन कार्रवाइयों से, जो उसका साथ देना चाहते थे, उन्हें भी यह भासित हो गया कि सुधारों से सरकार के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त नहीं हुआ, जैसा कि ड्यूक ऑफ़ कनाट के भाषण में कहा गया था।

पहली असेम्बली के कहने पर सरकार ने भारतसचिव को यह लिखना स्वीकार कर लिया था कि असेम्बली की राय में सन् १९३० के पहले ही सुधारों की फिर से जांच करना आवश्यक है। परन्तु दूसरी असेम्बली

ने, जिसमें स्वराज्य दलवालों की अधिकता थी, यह प्रस्ताव पास किया कि भारत की शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सरकार और प्रजा के प्रतिनिधियों का एक मिश्रित सम्मेलन (राउँड टेबल कान्फ्रेंस) होना चाहिए। इसका स्वीकार करना तो दूर रहा, सन् १९१७ की विज्ञप्ति का भी इस अवसर पर मनमाना अर्थ लगाया गया। सरकार का कहना था कि विज्ञप्ति में 'उत्तरदायी शासन' का वचन दिया गया है, जिसका अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' नहीं है। अन्ततः सुधार-क़ानून के अन्तर्गत और क्या परिवर्तन हो सकते हैं, केवल इस पर विचार करने के लिए सन् १९२४ में मुडीमैन की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई।

इस कमेटी के सामने जो गवाहियां हुईं, उनसे यह स्पष्ट हो गया कि दोहरी शासन-व्यवस्था केवल असफल ही नहीं हुई, बल्कि भविष्य में भी उससे देश के हित की कोई आशा नहीं है। गवर्नर और उसकी एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल मंत्रियों के साथ मिलकर काम नहीं करते हैं। बहुत से प्रान्तों में मंत्रियों की मिश्रित ज़िम्मेदारी नहीं है, हर एक मंत्री अलग अलग ज़िम्मेदार माना जाता है। जिस ढंग से विषयों का विभाग किया गया है, वैसा होना असम्भव है। शासन के सभी विभागों का एक दूसरे से सम्बन्ध है, इसलिए कुल शासन की एक ही ज़िम्मेदारी हो सकती है। अर्थ-विभाग एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल के मेम्बर के हाथ में रहने से मंत्रियों के काम में बड़ी बाधा पड़ती है और भारतसचिव तथा गवर्नर का मंत्रियों पर, जो जनता के प्रति ज़िम्मेदार समझे जाते हैं, पूरा अधिकार रहता है। इस कमेटी की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई, उसमें अधिकांश मेम्बरों ने यह राय दी कि राजनैतिक अशान्ति के कारण नई शासन-व्यवस्था से पूरा लाभ नहीं उठाया गया। सुधार-क़ानून के अन्तर्गत रहकर ही, कुछ फेर-फार करने से लाभ हो सकता है। इसके विरुद्ध कमेटी के तीन हिन्दुस्तानी मेम्बरों की राय थी कि दोहरी शासन-व्यवस्था से हित की सम्भावना नहीं है, इसलिए 'रायल कमीशन' द्वारा फिर से जाँच कराना चाहिए और इस व्यवस्था का अन्त ही कर देना चाहिए।

परिच्छेद १७

औपनिवेशिक स्वराज्य

लार्ड अरविन—सन् १९२६ में पार्लामेंट ने यह नियम बना दिया कि गवर्नर-जनरल, प्रधान सेनापति, गवर्नर तथा एक्ज़ीक्युटिव कौंसिल के मेम्बर भी छुट्टी ले सकते हैं। इस पर लार्ड रीडिंग तीन महीने की छुट्टी लेकर भारतसचिव से परामर्श करने के लिए इँग्लेंड गया। उसके स्थान पर बंगाल का गवर्नर लार्ड लिटन काम करता रहा। वहाँ से उसके लौटने पर मालूम हुआ कि कृषि की उन्नति के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक रायल कमीशन नियुक्त होनेवाला है। लार्ड रीडिंग की अवधि समाप्त होने पर लार्ड अरविन वाइसराय बनाया गया। यह सर चार्ल्स वुड का पोता है, जो पहले भारतसचिव था और जिसने देशी राज्यों के प्रति लार्ड डलहौज़ी की नीति को बदला था। इसी के समय में प्रारम्भिक शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान दिया गया था। लार्ड अरविन

लार्ड अरविन

को खेती में बड़ी दिलचस्पी है और आप अपनी शिष्टता तथा सादगी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं।

भारत और साम्राज्य—गत यूरोपीय महायुद्ध के समय से साम्राज्य-सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर कई एक भारतीय नेताओं के जाने का फल यह हुआ कि उन्हें उपनिवेशों के प्रतिनिधियों को अपनी बात समझाने का अवसर मिल गया, जिसके कारण बहुत से भ्रम दूर हो गये। कनाडा और आस्ट्रेलिया में हिन्दुस्तानियों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार होने लगा, परन्तु दक्षिण अफ्रिका पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। गान्धीजी के साथ जो समझौता हुआ था, सन् १९१९ से उसके विरुद्ध फिर काम होने लगा। कई बार कुलियों को निकालने तथा प्रवासी हिन्दुस्तानियों के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न किया गया। इस पर भारत में फिर असन्तोष बढ़ने लगा। परस्पर का भ्रम दूर करने के लिए सन् १९२६ में भारत-सरकार ने एक डेप्यूटेशन (प्रतिनिधि मंडल) दक्षिण अफ्रिका भेजा, वहां से भी एक डेप्यूटेशन भारत आया। इस तरह आपस में फिर समझौता हो गया। दक्षिण अफ्रिका में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों की, जिनकी संख्या डेढ़ लाख से भी अधिक है, देख-भाल करने के लिए वहां भारत का एक 'एजेंट' (प्रतिनिधि) रखना निश्चित हुआ और इस पद पर श्रीनिवास शास्त्री नियुक्त किये गये। इस समय भी वहां के हिन्दुस्तानियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं हो रहा है। पूर्व अफ्रिका में भी, विशेष कर कीनिया में, हिन्दुस्तानियों के साथ बड़ा अन्याय हो रहा है। साम्राज्य के सभी भागों में अपनी अधीनता के कारण भारत को अपमान सहना पड़ता है।

राष्ट्रसंघ—जब साम्राज्य के भीतर ही उसकी यह दशा है, तब फिर संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों में उसका मान ही क्या हो सकता है? आज कल सब से भारी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था 'राष्ट्रसंघ' (लीग ऑफ़ नेशंस) है, जो महायुद्ध के पश्चात्, संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिए स्थापित किया गया था। भारत भी इस संघ का सदस्य है और उसका खर्च चलाने के लिए हर साल

एक बड़ी रक़म देता है। परन्तु उसमें जाने के लिए प्रतिनिधि सरकार द्वारा चुने जाते हैं। सन् १९२८ तक इन प्रतिनिधियों का नेता कोई अँगरेज़ ही होता था, परन्तु सन् १९२९ में वाइसराय की कौंसिल का एक हिन्दुस्तानी मेम्बर पहली बार नेता बनाया गया।

सीमाओं का प्रश्न—सन् १९१९ में अफ़ग़ान-युद्ध की चर्चा सुनकर सीमा पर के वज़ीरी और महसूदियों ने फिर उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर सेना भेजकर उन्हें दबाने का प्रयत्न किया गया और यह निश्चित किया गया कि रुपया तथा हथियार देकर रक्षा का भार उन्हीं लोगों के हाथ में सौंपने की नीति से काम न चलेगा, वज़ीरिस्तान में सेना रखनी पड़ेगी और रेल तथा सड़कों को जमरूद के आगे भी बढ़ाना पड़ेगा। दो वर्ष तक यह उपद्रव जारी रहा, जिसको शान्त करने में बड़ा धन फूँका गया और बहुत सी कठिनाइयां उठानी पड़ीं। सन् १९२१ के अन्त में सेना हटा ली गई और रक्षा का भार फिर 'खास्सादारों' को सौंप दिया गया। इस सीमा-प्रदेश के सम्बन्ध में इस समय भी दो मत चल रहे हैं, एक दल 'आगे बढ़ने की नीति' का पक्षपाती है। दूसरे दल का कहना है कि इसमें बड़ा खर्च पड़ता है, इसलिए यहां सड़कें बनाकर सेना की चौकियां स्थापित कर देनी चाहिएँ और जहां तक सम्भव हो यहां पर बसनेवाली जातियों को अपने पक्ष में मिलाये रखना चाहिए। भारत सरकार आवश्यकतानुसार दोनों नीतियों से काम ले रही है, जिसमें ख़ूब धन उड़ रहा है।

इस सीमा पर के निवासी पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के ज़िलों में बड़ा ऊधम मचाया करते हैं। सन् १९१९-२० में इनके ६११ धावे हुए, जिन में ३०० आदमियों के प्राण गये और ३० लाख की सम्पत्ति लुट गई। इन्हीं की वजह से इस प्रान्त की राजनैतिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ रही है। लार्ड कर्ज़न के समय से यह प्रान्त भारत-सरकार के अधीन है। एक दल का कहना है कि इस प्रान्त में भी सुधार-योजना के अनुसार शासन होना चाहिए, पर दूसरे दल की राय है कि सीमा-प्रदेश भारत-सरकार की निगरानी में रखना ही ठीक है, इस प्रान्त के कुछ ज़िलों को पंजाब में मिला देना चाहिए, जिसमें

सुधारों से वहाँ के निवासी भी लाभ उठा सकें। इस सम्बन्ध में भी हिन्दू-मुसलमानों का प्रश्न आ गया। सीमा प्रान्त में मुसलमानों की संख्या अधिक है, इसी लिए उसकी स्वतंत्रता से कुछ हिन्दुओं को भय हो रहा है, परन्तु अधिकांश हिन्दू नेताओं को इसमें विशेष आपत्ति नहीं है। इस पर अभी विचार हो रहा है।

उत्तर की सीमा पर कोई ऐसा भय नहीं है। उस ओर हिमालय की दीवाल खड़ी है। उसके बाद तिब्बत है, जिसके साथ मित्रता का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त उसकी ऐसी दशा भी नहीं है कि वह भारत की ओर निगाह उठा सके। नैपाल के साथ एक नई सन्धि हो गई है, जिसमें उसने सीमा पर निगरानी रखने का वचन दिया है। इसके बदले में भारत-सरकार की ओर से उसे कई एक व्यापारिक सुविधाएँ दी गई हैं। पूर्व की ओर चीन की अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण बर्मा की सीमा पर सेना बढ़ाई जा रही है। कुछ वर्षों से बर्मा में उसे भारत से अलग करने के प्रश्न पर आन्दोलन हो रहा है। कहा जाता है कि बर्मियों का धर्म, उनकी जाति, भाषा तथा संस्कृति हिन्दुस्तानियों से भिन्न है, इसलिए भारत के साथ रहने में उनका हित नहीं है। इसके अतिरिक्त बर्मा में हिन्दुस्तानी उन्हें बहुत दबाये हुए हैं। इस आन्दोलन में सरकार की ओर से बर्मियों को उत्साहित किया जा रहा है।

देशरक्षा—गत मेसोपोटामिया और अफ़ग़ान-युद्ध में भारतीय सेना का कुप्रबन्ध देखकर सन् १९१९ में, लार्ड एशर की अध्यक्षता में, सेना का संगठन ठीक करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई अक्तूबर सन् १९२० में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कई एक सुधारों को बतलाते हुए इसने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि भारतीय सेना साम्राज्य की सेना का एक अंग है, इसलिए इसकी नीति का संचालन इँग्लेंड के युद्ध-विभाग के हाथ में होना चाहिए। लेजिस्लेटिव असेम्बली ने इस सिद्धान्त को मानने से इनकार कर दिया। उसका कहना था कि भारतीय सेना का मुख्य कर्तव्य भारत की रक्षा है, उसका पूरा प्रबन्ध भारत-सरकार के हाथ में रहना चाहिए और यथासम्भव स्वदेश-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए भारतवर्ष से बाहर उस सेना

से काम न लेना चाहिए। साथ ही साथ उसने यह प्रस्ताव भी पास किया कि जल, स्थल, और वायु तीनों प्रकार की सेनाओं में बिना किसी जातिभेद के हिन्दुस्तानियों को भरती करना चाहिए, हर साल बड़े बड़े ओहदों पर २५ फ़ी सदी हिन्दुस्तानी 'शाही कमीशन' द्वारा नियुक्त करना चाहिए[1] और हिन्दुस्तानियों को सैनिक शिक्षा देने के लिए स्थानीय सेना (टेरिटोरियल फ़ोर्स) का संगठन ऐसा होना चाहिए, जिसमें हिन्दुस्तानी स्वदेश-रक्षा में भाग ले सकें और अँगरेज़ी सेना की भी अधिक आवश्यकता न रहे, जिसमें बड़ा धन खर्च होता है।

असेम्बली के बहुत ज़ोर देने पर 'सहायक सेना' (आक्ज़िलियरी फ़ोर्स), जिसमें केवल यूरोपियन होते हैं और 'स्थानीय सेना' (टेरिटोरियल फ़ोर्स) के कुछ भेदों को मिटाने का प्रयत्न किया गया। विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा के लिए छोटे छोटे दल बनाये गये और देहरादून में एक सैनिक कालेज खोला गया। यहां की पढ़ाई समाप्त करने पर इँग्लैंड के 'सैंडहर्स्ट कालेज' में भरती होने का प्रबन्ध किया जाता है। इसमें हिन्दुस्तानियों के लिए दस जगहें रखी जाती हैं। 'शाही कमीशनों' के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों के आठ दलों में धीरे धीरे सब अफ़सर हिन्दुस्तानी कर दिये जायँ। इसी में लगभग २५ वर्ष लग जायँगे। यदि इसी तरह सेना को राष्ट्रीय बनाने का प्रयत्न किया गया, तो इसमें सैकड़ों वर्ष लगेंगे। 'सैंडहर्स्ट कालेज' में शिक्षा पाने पर प्रायः 'शाही कमीशन' मिलता है। असेम्बली के बहुत कहने पर भारत में एक ऐसे कालेज के स्थापित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए जनरल स्कीन की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई। इसने सन् १९३३ में कालेज खोलने

१ भारतीय सेना में दो प्रकार के अफ़सर होते हैं, एक जो 'वाइसराय के कमीशन' द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और दूसरे जो 'किंग्ज़ या शाही कमीशन' द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। 'शाही कमीशन' के अफ़सरों का पद ऊँचा होता है और उनके अधिकार भी बहुत होते हैं। यूरोपीय महायुद्ध के पहले किसी हिन्दुस्तानी को 'शाही कमीशन' न मिलता था।

और तब तक सैंडहर्स्ट में हिन्दुस्तानियों के लिए जगहें बढ़ाने की सलाह दी, परन्तु इस ओर विशेष ध्यान न देकर भारत-सरकार 'आठ दलवाली योजना' ही पर डटी है।

भारत के पास कोई जहाज़ी सेना नहीं है। सन् १८२६ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक ऐसी सेना बनाई थी, परन्तु सिपाही-विद्रोह के बाद वह तोड़ दी गई। तब से भारत के सागर-तट की रक्षा इँग्लेंड की जहाज़ी सेना द्वारा होती है। इसके लिए हर साल इँग्लेंड को एक बड़ी रक़म दी जाती है। सन् १८६२ से भारत के पास कुछ जहाज़ों का एक छोटा बेड़ा है, जो 'रायल इंडियन मैरीन' कहलाता है। सन् १९२६-२७ में इसी से भारत की जहाज़ी सेना (इंडियन नेवी) बनाने का प्रयत्न किया गया। इसमें कुछ हिन्दुस्तानियों के भरती करने का वचन दिया गया, परन्तु साथ ही साथ यह शर्त लगाई गई कि आवश्यकता पड़ने पर इससे साम्राज्य की रक्षा का काम लिया जायगा। असेम्बली ने इसको स्वीकार न किया, इस पर यह विचार छोड़ दिया गया। इंडियन मैरीन के तीन जहाज़ जंगी बना दिये गये और कुछ हिन्दुस्तानियों को जहाज़ी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। सरकार के पास 'रायल एअर फ़ोर्स' के कुछ हवाई जहाज़ भी हैं।

स्वदेशरक्षा का भार अपने हाथ में न होने से हिन्दुस्तानी पूर्ण रूप से अँगरेज़ों के अधीन हैं। एक ओर तो उनकी सैनिक शिक्षा का कोई यथेष्ट प्रबन्ध नहीं किया जा रहा है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि स्वदेश-रक्षा के लिए अयोग्य होने के कारण, वे स्वराज्य के योग्य नहीं हैं। भारत में सेना का बड़ा ख़र्च है। सन् १९२१-२२ में यह ६५ करोड़ रुपया तक पहुँच गया था। इंचकेप कमेटी के कहने पर इसमें कुछ कमी की गई, परन्तु तब भी यह ५५ करोड़ रुपया है। इस तरह भारत का सैनिक ख़र्च आमदनी का ४२ सैकड़ा है, जितना किसी देश में नहीं है।

व्यापार—यूरोपीय महायुद्ध के समय में व्यापार की बड़ी अनिश्चित अवस्था रही। इन दिनों जापान ने ख़ूब लाभ उठाया। बाहर से आने-वाली चीज़ों का भाव बहुत बढ़ गया, यह दशा युद्ध के बाद भी कई साल

तक बनी रही। भारत को बहुत सा बना हुआ माल बाहर से मँगाना पड़ता है। ६६ करोड़ रुपये साल का तो केवल कपड़ा ही आता है। पिछले दस वर्षों में लगभग ७ अरब रुपये का माल बाहर से आया। महायुद्ध के बाद विलायती कपड़े पर चुंगी बढ़ा दी गई। भारत के सम्बन्ध में स्वतंत्र व्यापार के प्रश्न की जाँच करने के लिए सन् १९२१ में एक कमीशन नियुक्त हुआ, जिसकी सिफ़ारिशों के अनुसार सन् १९२२ में 'टैरिफ़ बोर्ड' स्थापित किया गया। देश की किस औद्योगिक कला को सरकारी रक्षा और सहायता की आवश्यकता है, यह निश्चित करना इस बोर्ड का मुख्य काम है। सन् १९२४ में इस बोर्ड के कहने पर बाहर से आनेवाली लोहे की कुछ चीज़ों पर चुंगी बढ़ा दी गई और रेलों का सामान बनाने के लिए जमशेदपुर में टाटा के लोहे के कारखाने को आर्थिक सहायता दी गई। सन् १८९६ से भारतवर्ष में बने हुए कपड़े पर जो चुंगी ली जाती थी, वह सन् १९२६ में उठा दी गई।

देश की औद्योगिक कलाओं की उन्नति की ओर भी कुछ ध्यान दिया गया। सन् १९२१ में इसके लिए भारत-सरकार का एक अलग विभाग खोला गया। प्रान्तों में यह विभाग मंत्रियों के हाथ में है। लोकमत के ज़ोर से सरकार थोड़ा-बहुत प्रयत्न इस ओर अवश्य कर रही है, पर उसको सब से अधिक ध्यान इँग्लेंड के लाभ का ही रहता है। साम्राज्य में बनी हुई चीज़ों का ही साम्राज्य के सब देशों में व्यवहार किया जाय इस पर बड़ा ज़ोर दिया जा रहा है। इस तरह इँग्लेंड का माल भारत के मत्थे मढ़ा जा रहा है, जिसका फल यह होता है कि भारतवर्ष को कभी कभी मँहगी चीज़ें ख़रीदनी पड़ती हैं, पर इँग्लेंड का व्यापार बढ़ता है और वहाँ की बेकारी दूर होती है। महायुद्ध के बाद से इस समय तक भारत की व्यापारिक दशा सुधर नहीं पाई है। प्रधान नेताओं का मत है कि इसका मुख्य कारण सरकार की आर्थिक नीति है, पर सरकार का कहना है कि इसका सम्बन्ध अन्य देशों की स्थिति से है।

खेती—लार्ड अरविन के आने पर 'कृषि कमीशन' नियुक्त हुआ। सन् १९२८ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसमें इसने पूसा के कृषि-

बोर्ड' को सौंप दिया गया। तार और डाक के विभागों को भी व्यापारिक ढंग पर चलाने का प्रबन्ध किया गया। भारतवर्ष को हर साल एक बड़ी भारी रक़म विलायत भेजनी पड़ती है, इससे बहुत सा सरकारी सामान ख़रीदा जाता है और अफ़सरों की तनख़्वाहें तथा पेंशनें दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार का लेन-देन भी रहता है। इसी लिए पौंड और रुपये की ठीक दर का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। सन् १९२६-२७ में सरकार ने १ शिलिंग ६ पेंस रुपये की दर निश्चित कर दी। इस निर्णय से सरकार को अवश्य कुछ बचत हुई, पर बाहर माल भेजने में देश का बड़ा नुक़सान होने लगा। 'एक्सचेंज' (विनिमय) और 'करंसी' (सिक्का) के सम्बन्ध में सरकार की मनमानी नीति के कारण भारत को करोड़ों रुपये का घाटा उठाना पड़ता है।

इन दिनों भारत की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो रही है। सन् १९२९ तक उस पर विलायती क़र्ज़ ४ अरब से भी अधिक हो गया, जो आदमी पीछे ४२ रुपया पड़ता है। इसके सूद तथा 'होम चार्जेज़' के नाम से अन्य ख़र्चे के लिए उसे प्रति वर्ष ४० करोड़ रुपया इँग्लेंड भेजना पड़ता है। विलायती पूँजी तो भारत में इतनी खपी हुई है कि उसका अनुमान करना कठिन है। इन सब रक़मों के कारण देश इँग्लेंड के पास बन्धक सा हो रहा है। जनता पर टैक्सों का इतना बोझ लद गया है कि उसको पेट भर खाने तक का ठिकाना नहीं है। भारत में आदमी पीछे प्रति दिन दो आने से अधिक की आमदनी का औसत नहीं है।

शिक्षा—सन् १९१७ में 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त हुआ। दो वर्ष तक देश में भ्रमण करने के बाद सन् १९१९ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसने भारतीय शिक्षा के सभी प्रश्नों पर विचार किया। इसकी राय थी कि स्कूलों से निकलनेवाले हर एक विद्यार्थी के लिए विश्वविद्यालयों में पढ़ना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में कालेजों से 'इंटरमीडियेट' के दर्जे निकालकर स्कूलों में मिला देने चाहिएँ और उनमें शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए, जिसमें उनसे निकलने पर विद्यार्थियों को जीवन-निर्वाह में सहायता मिल सके। इन 'इंटरमीडियेट कालेजों' का निरीक्षण एक बोर्ड के

हाथ में रखना चाहिए। विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में कमीशन का कहना था कि उनका मुख्य कर्तव्य "जीवन को हर तरह से उच्च बनाना" है। दूर दूर के कालेजों को एक विश्वविद्यालय में रखने का फल यह होता है कि उसका काम केवल परीक्षा लेना रह जाता है। इसलिए उसने सलाह दी कि ऐसे छोटे छोटे विश्वविद्यालय बनाने चाहिएँ, जिनमें विद्यार्थी निवास कर सकें और अध्यापकों के साथ रहकर पूरा लाभ उठा सकें।

इसी ढंग पर सन् १९२०-२१ में ढाका तथा लखनऊ में नये विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। 'अलीगढ़ कालेज' भी 'मुसलिम विश्वविद्यालय' बन गया, इसमें मुसलमानों की धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। आगे चलकर इलाहाबाद के विश्वविद्यालय का भी नये ढंग पर संगठन किया गया और दिल्ली, पटना, नागपुर, रंगून, आन्ध्रप्रान्त तथा आगरा में, कहीं नये और कहीं पुराने ढंग के, विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। राजा अन्नामलै चेट्टि ने ३५ लाख रुपया शिक्षा के लिए दान किया, इसलिए उनके नाम से चिदम्बरम (मदरास) में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया।

सुधारों के समय से प्रान्तों में शिक्षा-विभाग मंत्रियों के हाथ में आ गया। तब से प्रारम्भिक शिक्षा की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया। कई एक शहरों की म्युनीसिपल्टियों ने इसको मुफ़्त तथा अनिवार्य बना दिया, परन्तु धनाभाव के कारण विशेष उन्नति न हो सकी। अनुभव से यह भी पता लगा कि केवल साहित्य की शिक्षा से अधिक लाभ नहीं है। इसलिए सभी श्रेणियों में वैज्ञानिक, औद्योगिक, व्यापारिक तथा खेती की शिक्षा पर ज़ोर दिया जाने लगा। देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए कुछ प्रयत्न किया गया। अभी भारत में शिक्षा का बड़ा अभाव है। सन् १९२१ की मनुष्यगणना से पता लगता है कि ब्रिटिश भारत में हज़ार मर्द पीछे केवल १२२ और हज़ार औरतों पीछे केवल १८ औरतें पढ़ी-लिखी हैं। अँगरेज़ी पढ़े हुए लोगों की संख्या तो नाममात्र के लिए है। देश की अशिक्षता दूर करने के लिए सरकार से २० करोड़ रुपया साल भी खर्च नहीं किया जाता, पर बेकार सेना रखने में ५५ करोड़ फूँका जाता है।

समाज-सुधार—शिक्षा के साथ साथ जनता का ध्यान धीरे धीरे समाज-सुधार की ओर आकर्षित होने लगा। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज पहले ही से इस ओर काम कर रहे थे। कुछ वर्षों से कांग्रेस के साथ 'समाज-सुधार सम्मेलन' भी होने लगे। असहयोग के समय से अछूतोद्धार और मादक वस्तुओं के बहिष्कार पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। 'हिन्दू महा-सभा' ने भी समाज-सुधार को अपनाया। सती-प्रथा बन्द करने के बाद से धार्मिक उदासीनता की नीति का सहारा लेकर सरकार इन मामलों में चुप रही। परन्तु सुधारों के समय से जनता के प्रतिनिधियों ने उसकी इस मौनता को थोड़ा-बहुत भंग किया। सन् १९२५ में 'सहवासवय' १२ वर्ष से बढ़ा कर १३ वर्ष कर दिया गया। इसे और बढ़ाने के लिए प्रयत्न हो रहा है। सन् १९२९ में 'बालविवाह-निषेध क़ानून' पास किया गया। इसके अनुसार अप्रैल सन् १९३० के बाद से १४ वर्ष से कम की लड़की और १८ वर्ष से कम के लड़के का विवाह अपराध बना दिया गया। सभी धर्मों में मादक वस्तुओं का निषेध है, पर तब भी सरकार का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है। इनके व्यवसाय से सरकार की बड़ी आमदनी होती है, जिसको छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं है। पिछले ७० वर्षों में केवल शराब से सरकारी आमदनी १ करोड़ से २५ करोड़ रुपये पहुँच गई। शराब पीने का व्यसन कितना बढ़ गया, इसी से जान पड़ रहा है।

साइमन कमीशन—सुधार-क़ानून में प्रति दसवें वर्ष शासन-व्यवस्था की जांच करने का नियम रखा गया था। सन् १९२१ ही में असेम्बली ने अवधि समाप्त होने के पहले ही जाँच कराने का प्रस्ताव पास किया था। मुडीमैन कमेटी के तीन मेम्बरों ने भी यही सलाह दी थी। 'लिबरल फ़ेडरेशन' भी बराबर यही कह रहा था। परन्तु इस बात की कुछ भी सुनवाई नहीं की गई। सन् १९२७ में आप ही आप कमीशन नियुक्त करने की घोषणा कर दी गई। सन् १९३० के पहले ही जाँच कराने का कारण यह बतलाया गया कि जिसमें सबको सरकार के भावों का पता लग जाय और सन्देह दूर होकर शान्ति स्थापित हो जाय। इसमें पार्लामेंट

के लिबरल (उदार) दल से एक, लेबर (मज़दूर) से दो और कंज़र्वेटिव (अनुदार) दल से चार मेम्बर लिये गये। लिबरल दल के प्रसिद्ध बैरिस्टर सर जान साइमन इसके अध्यक्ष बनाये गये।

इस कमीशन में एक भी भारतवासी न रखा गया। इसके कई एक कारण बतलाये गये। कहा गया कि भारतवर्ष के शासन का अधिकार पार्लामेंट को है, इसलिए पार्लामेंट के मेम्बर ही उसके शासनसम्बन्धी प्रश्नों का ठीक ठीक विचार कर सकते हैं और उन्हीं की राय पार्लामेंट को भी अधिक मान्य होगी। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में जातिगत झगड़े चल रहे हैं, किस किस जाति के नेता कमीशन के मेम्बर बनाये जायँ, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कमीशन के मेम्बरों की संख्या अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है। इस सम्बन्ध में निष्पक्ष विचार की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसकी भारतीय नेताओं से, जो राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं, आशा करना व्यर्थ है। हिन्दुस्तानियों के सन्तोष के लिए यह निश्चित किया गया कि भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों की कमेटियां बना दी जायँ, जो जांच करने में कमीशन की सहायता करें।

सारे देश ने इसको अपना घोर अपमान समझा। कांग्रेस तो पहले ही से पार्लामेंट के अधिकार को स्वीकार न करती थी। उसका मत है कि 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय भारतवासियों के हाथ में ही होना चाहिए। लिबरल दलवाले भी कमीशन में एक भी हिन्दुस्तानी न रखना सहन न कर सके और सबने मिलकर इस कमीशन का बहिष्कार करना निश्चित किया। ता० ३ फ़रवरी सन् १९२८ को, जिस दिन इस कमीशन ने भारत-भूमि पर पैर रखा, देशभर में हड़ताल मनाई गई। लेजि-स्लेटिव असेम्बली और मदरास, मध्यप्रान्त तथा युक्तप्रान्त की कौंसिलों ने कमीशन पर अपना अविश्वास प्रकट किया। उसकी सहायता करने के लिए जो भारतीय तथा प्रान्तीय कमेटियाँ बनाई गईं, उनके चुनाव में जनता के अधिकांश प्रतिनिधियों ने कोई भाग नहीं लिया। पहली जाँच के बाद नवम्बर में यह कमीशन फिर भारतवर्ष आया। इस बार भी जहां जहाँ यह गया हड़-

ताल मनाई गई और इसका बहिष्कार किया गया। काले झंडों के जलूस और "लौट जाओ" की ध्वनि से सर्वत्र इसका स्वागत किया गया। कई जगह ऐसे जलूसों पर पुलिस के डंडे चले। लाहोर में लाला लाजपतराय को चोट आई। इसके एक ही महीने बाद, सम्भवतः इसी चोट के कारण, उनका देहान्त हो गया। उनका सारा जीवन देश की सेवा में व्यतीत हुआ था। उनकी स्थापित की हुई 'सर्वेंट्स ऑफ़ दि पीपुल सोसायटी' (लोक-सेवक समिति) है, जो अछूतोद्धार के लिए बड़ा काम कर रही है।

लाला लाजपतराय

सर्वदल सम्मेलन—

सन् १९२० से कांग्रेस का ध्येय 'स्वराज्य' था। इसमें "यदि सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं तो उसके बाहर" दोनों भाव आ जाते थे। परन्तु असहयोग के समय से ही एक दल को यह भासित हो रहा था कि साम्राज्य में रहकर भारत का हित नहीं है इसी लिए वह पूर्ण स्वतंत्रता पर ज़ोर दे रहा था। साइमन कमीशन की नियुक्ति से रुष्ट होकर सन् १९२७ में कांग्रेस ने ध्येय में बिना कुछ परिवर्तन किये हुए 'पूर्ण स्वतंत्रता' को अपना अन्तिम उद्देश्य मान लिया, पर साथ ही साथ स्वराज्य की परिभाषा पर विचार करने के लिए देश के प्रधान राजनैतिक दलों की एक कमेटी बनाना निश्चित किया। श्री पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में इस

कमेटी ने कई महीनों तक जटिल राजनैतिक विषयों पर विचार किया। सन् १९२८ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जो 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

इसने स्वराज्य का अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' मान लिया और निश्चित किया कि भारतसचिव का पद और इंडिया कौंसिल तोड़ दी जाय। भारत का शासन सम्राट् तथा एक भारतीय पार्लामेंट के हाथ में रहे। पार्लामेंट में 'हाउस आफ़ रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़' (प्रतिनिधि-सभा) और 'सिनेट' (राज्य-परिषद्) दो संस्थाएँ हों। सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से गवर्नर-जनरल एक मंत्रि-मंडल की सलाह से शासन करे। यह मंत्रि-मंडल पार्लामेंट के प्रति ज़िम्मेदार हो। भाषाओं के अनुसार देश का विभाग प्रान्तों में किया जाय। इन प्रान्तों में भी उत्तरदायी शासन हो। प्रान्तीय कौंसिलों में प्रति लाख जन-संख्या पीछे एक मेम्बर रहे। सम्पूर्ण बालिग़ जनता को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाय। साम्प्रदायिक निर्वाचन उठा दिया जाय, परन्तु जन-संख्या के अनुसार केवल मुसलमान मेम्बरों की संख्या दस वर्ष तक निश्चित रहे। इनके अतिरिक्त भी मुसलमानों को प्रतिनिधि बनने का अधिकार हो। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में थोड़ी संख्या होने के कारण हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही प्रबन्ध किया जाय। पंजाब तथा बंगाल में, जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक है, उनके मेम्बरों की संख्या निश्चित न रखी जाय। 'सुप्रीम-कोर्ट' के नाम से देश भर के लिए एक सबसे बड़ी अदालत स्थापित की जाय। देशी राज्यों के साथ जिस तरह इन दिनों भारत-सरकार का सम्बन्ध है, वैसा ही इस शासन-व्यवस्था में भी रहे।

इस योजना से कुछ मुसलमान तथा सिख सन्तुष्ट नहीं हुए। मुसलमानों का कहना था कि भारतीय पार्लामेंट में उनके तिहाई प्रतिनिधि रहने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त वे अपने प्रतिनिधियों को अलग चुनने का अधिकार भी न छोड़ना चाहते थे। सिखों का कहना था कि यदि मुसलमान मेम्बरों की संख्या निश्चित रखी गई है, तो पंजाब में उनके मेम्बरों की संख्या भी निश्चित रहनी चाहिए। दिसम्बर सन् १९२८ में कांग्रेस के अवसर पर कलकत्ता में नेहरू-

योजना पर विचार करने के लिए देश की राजनैतिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा अन्य मुख्य मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों का 'सर्वदल-सम्मेलन' किया गया। परन्तु इसमें भी मुसलमानों के साथ समझौता न हो सका। गान्धीजी के बहुत ज़ोर देने पर कांग्रेस ने यह निश्चित किया कि यदि साल भर में 'नेहरू योजना' के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय तब तो वह स्वीकार किया जाय पर यदि ऐसा न हो तो फिर से असहयोग प्रारम्भ किया जाय।

देशी राज्य—भारत की ७ लाख वर्गमील भूमि इस समय भी देशी नरेशों के अधीन है। इनमें १०० बड़े और ४५० छोटे छोटे राज्य हैं, जिनकी आबादी ७ करोड़ है। कई एक राज्यों में इधर बहुत कुछ उन्नति हुई है। इनमें मैसूर, ट्रावणकोर और बड़ोदा मुख्य हैं। इनमें शिक्षा के प्रचार तथा कलाओं की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है और शासन में प्रजा के प्रतिनिधियों को भी कुछ भाग दिया गया है। बड़ोदा में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य और मुफ़्त है। राजपूताने में बीकानेर भी अच्छी उन्नति कर रहा है। परन्तु अधिकांश राज्यों में इस समय भी मनमानी शासन-व्यवस्था चल रही है। प्रजा के प्रति राजाओं का ज़िम्मेदार न होना इसका मुख्य कारण है। बाहरी आक्रमण तथा भीतरी विद्रोह के भय से पहले राजाओं को प्रजा का बराबर ध्यान रखना पड़ता था, परन्तु अब दोनों से रक्षा करने के लिए ब्रिटिश सेना मौजूद है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुतों को अपनी ज़िम्मेदारी का कुछ भी ध्यान नहीं रहता है।

बटलर कमेटी—पिछले १० वर्षों में कई कारणों से भारत-सरकार को १८ राज्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इनमें नाभा, इन्दौर तथा भरतपुर के राजाओं से शासनाधिकार ले लिये गये। निज़ाम से भी बड़ी लिखा-पढ़ी हुई, जिसमें लार्ड रीडिंग ने स्पष्ट कह दिया कि भारत में ब्रिटिश आधिपत्य पूर्ण रूप से है। उसके साथ किसी राज्य की बराबरी नहीं हो सकती। इस पर देशी राज्यों के साथ भारत-सरकार का क्या सम्बन्ध है और सन्धियों तथ

सनदों के अनुसार उनके अधिकार क्या हैं, यह प्रश्न फिर छिड़ गया। इसकी जाँच करने के लिए सन् १९२८ में सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई। 'नरेन्द्रमंडल' स्थापित हो जाने से राजाओं को आपस में मिलने का अच्छा अवसर मिल गया। उसकी ओर से कहा गया कि देशी नरेशों की सन्धियाँ 'ब्रिटिश क्राउन' अर्थात् इँग्लेंड के राजाओं के साथ हुई हैं, जिनमें उन्हें शासन की स्वतंत्रता दी गई है। ऐसी दशा में भारत-सरकार को मनमाने हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। उसके साथ देशी राज्यों के झगड़ों को निपटाने के लिए एक स्वतंत्र अदालत रहनी चाहिए।[1] इस कमेटी के सामने राज्यों की प्रजा के प्रतिनिधियों की कोई सुनवाई नहीं हुई। इनकी ओर से कहा गया कि 'राज्य' में राजा और प्रजा दोनों शामिल हैं, यदि सन्धियों में राजाओं को शासन की स्वतंत्रता दी गई है तो उनसे यह भी वचन लिया गया है कि वे प्रजा के हित का ध्यान रखकर शासन करेंगे। पटियाला तथा अन्य कई राज्यों के साथ सन्धियों में यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया है। मनमाना हस्तक्षेप का भारत-सरकार को अवश्य कोई अधिकार नहीं है पर प्रजाहित की दृष्टि से अधिपति होने के कारण देशी नरेशों के शासन पर निगरानी रखना उसका कर्तव्य है।[2]

सन् १९२९ के प्रारम्भ में इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें देशी राज्यों का इँग्लेंड के राजाओं के साथ सम्बन्ध मान लिया गया और यह राय दी गई कि देशी नरेशों की बिना मर्ज़ी के यह सम्बन्ध किसी ऐसी भारत-सरकार को न सौंपा जाय, जो व्यवस्थापक-सभाओं के प्रति ज़िम्मेदार हो। साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश राजाओं का आधिपत्य पूर्ण रूप से है और जहाँ उचित जान पड़े अपने प्रतिनिधियों द्वारा हस्तक्षेप का उन्हें पूरा अधिकार है। परन्तु भारत में राजप्रतिनिधि वाइसराय है न कि गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल। नरेन्द्रमंडल ने कमेटी की सिफ़ारिशों पर

---

१ ब्रिटिश क्राउन ऐंड दि इंडियन स्टेट्स।

२ स्टेट्स पीपुल मेमोरेंडम।

असन्तोष प्रकट किया और 'पूर्ण आधिपत्य' के सिद्धान्त का साफ़ शब्दों में विरोध किया। "उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत में पूर्ण ब्रिटिश आधिपत्य रहा है", कमेटी के इस मत को मंडल के अध्यक्ष महाराजा पटियाला ने ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं माना।

मज़दूर-संघ—गत महायुद्ध के समय से भारत के कल-कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों में भी अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर तथा अन्य व्यापारिक केन्द्रों में उनके संघ स्थापित हो गये। सन् १९२६ में 'ट्रेड यूनियन बिल' (मज़दूर-संघ क़ानून) पास किया गया, जिसके द्वारा ऐसे संघों के स्थापित करने का अधिकार मान लिया गया और उनके संगठन तथा रजिस्ट्री कराने के नियम बनाये गये। मज़दूर लोग हड़तालों द्वारा अपनी शिकायतों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने लगे। एक दूसरे के प्रति सहानुभूति दिखलाने के लिए सभी कारख़ानों में हड़तालें होने लगीं और उनमें रेलों के कर्मचारी भी शामिल होने लगे। हड़तालों को बढ़ते देखकर सन् १९२९ में सरकार ने 'ट्रेड्स डिसप्यूट बिल' (व्यवसायी झगड़ा क़ानून) पास किया। इससे मज़दूर-संघों की बहुत कुछ स्वतंत्रता नष्ट हो गई और हड़तालों के सम्बन्ध में बड़े कठिन नियम बना दिये गये। झगड़ा निपटाने के लिए पंचायतों को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। मज़दूरों की स्थिति पर विचार करने के लिए ह्वीटली की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त हुआ है।

किसानों का एका—असहयोग के समय से किसानों में भी जागृति हो गई। ज़मीन्दारों के अत्याचारों से बचने के लिए उत्तरी भारत में 'एका आन्दोलन' चल पड़ा। दक्षिण में भी धीरे धीरे उनका संगठन होने लगा। बारडोली में बिना पूरी जांच किये हुए लगान बढ़ा दिया गया। इस पर सन् १९२८ में वहाँ के किसानों ने सत्याग्रह किया। सरकार की ओर से बड़े अत्याचार किये गये, तब भी वे शान्त रहे। अन्त में उनकी बात मानकर जाँच करने के लिए सरकार को एक कमेटी नियुक्त करनी पड़ी, जिसने सरकारी तख़-

मीने को ग़लत बतलाया। अकालियों की तरह बारडोली के किसानों ने भी यह दिखला दिया कि यदि पूर्ण रूप से संगठन किया जाय तो व्यावहारिक दृष्टि से भी सत्याग्रह से सफलता प्राप्त करना असम्भव नहीं है।

पब्लिक सेफ़्टी बिल—बोलशेविक शासन से रूस का कायापलट ही हो गया। इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ने लगा। साम्प्रदायिक झगड़े और सामाजिक तथा आर्थिक असमानता देश के युवकों को खटकने लगी और उसे नष्ट करने के लिए 'युवक-संघ' स्थापित होने लगे। इन सब आन्दोलनों में सरकार को रूस के कम्युनिस्ट (वर्गवादी) लोगों का हाथ दिखलाई देने लगा। इस पर दमन-चक्र फिर चल पड़ा। अहिंसात्मक असहयोग की असफलता से कुछ युवकों की प्रवृत्ति भी बदल रही थी; सरकार की दमन-नीति से वे और भी उत्तेजित हो गये। लाहोर में दिनधाड़े पुलिस कमिश्नर सांडर्स की हत्या की गई। अन्य कई स्थानों में भी पुलिस को षड्यंत्रों का पता चला। सन् १९२८ में सरकार ने 'पब्लिक सेफ़्टी बिल' (जनता-रक्षक क़ानून) पेश किया। इसका आशय यह था कि यदि किसी विदेशी पर भारत-सरकार को यह सन्देह हो कि वह वर्गवादी सिद्धान्त फैला रहा है, तो वह बिना किसी मुक़द्दमा के निर्वासित कर दिया जाय। असेम्बली ने इसको राष्ट्रीय आन्दोलन पर आक्रमण समझकर नामंज़ूर कर दिया।

इतने ही में सरकार ने मज़दूर तथा किसान आन्दोलन के कुछ नेताओं और तीन अँगरेज़ों पर मेरठ में एक मुक़द्दमा चला दिया कि वे लोग रूस के 'कम्युनिस्ट' दल की सहायता से भारत में सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं। इसी के बाद सन् १९२९ में 'पब्लिक सेफ़्टी बिल' फिर पेश किया गया। इस पर असेम्बली के अध्यक्ष श्री पटेल ने कहा कि इस बिल का बहुत कुछ सम्बन्ध मेरठ के मामले से है, जो अदालत के विचाराधीन है। ऐसी दशा में इस बिल पर पूरी बहस नहीं हो सकती, इसलिए इसका पेश करना ठीक नहीं है। अध्यक्ष पटेल की इस व्यवस्था से सरकार बड़े चक्कर में पड़ गई। इस पर वाइसराय ने अपनी विशेष आज्ञा द्वारा उस क़ानून को ६ महीने के लिए जारी कर दिया। अपने भाषण में उन्होंने अध्यक्ष की व्यवस्था की आलोचना

की ओर यह प्रकट किया कि शीघ्र ही ऐसे नियम बनाये जायँगे, जिनसे अध्यक्ष को ऐसे कार्यों में बाधा डालने का अधिकार न रहे। जिस दिन श्री पटेल अपनी व्यवस्था देनेवाले थे, उसी दिन असेम्बली में एक बम फेंका गया, जिससे बड़ी सनसनी मच गई। उधर लाहोर में कई लोगों पर सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का मुक़दमा चल रहा था। जेल में व्यवहार ठीक न होने के कारण अभियुक्तों ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। इनमें ६३ दिन बाद यतीन्द्र-नाथ दास की मृत्यु हो गई। इसी तरह बर्मा में भी पुंगी विजय की मृत्यु हो गई। इसका फल यह हुआ कि जेलों में अभियुक्तों के प्रति व्यवहार की ओर जनता तथा सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और उसमें कुछ सुधार किया गया।

औपनिवेशिक स्वराज्य—सन् १९२९ में इँग्लैंड का शासन फिर मज़दूर दल के हाथ में आ गया और श्री वेजउड बेन भारतसचिव के पद पर नियुक्त किये गये। पहली मज़दूर सरकार का भारत के साथ अनुदार व्यवहार और साइमन कमीशन की नियुक्ति में मज़दूर दल के सहयोग के कारण भारतवासियों को नई मज़दूर सरकार से कोई आशा न थी। साइ-मन कमीशन के पूर्ण बहिष्कार, नेहरू योजना के सम्बन्ध में देश के मुख्य राज-नैतिक दलों की एकता और स्वतंत्रता के आन्दोलन को बढ़ता हुआ देखकर वाइसराय लार्ड अरविन की आँखें खुल गईं। मज़दूर सरकार से परामर्श करने के लिए वे इँग्लैंड गये। वहाँ से लौटकर ता० ३१ अक्तूबर
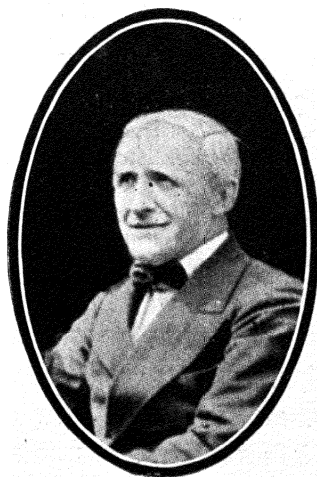
वेजउड बेन

सन् १९२९ को उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इसमें कहा गया कि

सन् १९१७ की विज्ञप्ति में 'उत्तरदायी शासन' देने के लिए वचन दिया गया था, उसका अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' है। देशी राज्यों का प्रश्न भारतीय शासन-व्यवस्था से बिलकुल अलग नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सरकार, ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन शीघ्र ही लन्दन में किया जायगा।

इस पर देश के मुख्य मुख्य नेताओं ने दिल्ली से एक वक्तव्य प्रकाशित किया। इसमें कहा गया कि सम्मेलन (राउंड टेबल कान्फ़रेंस) की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शासन में उदार नीति से काम लिया जाय और राजनैतिक कैदी छोड़ दिये जायँ। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मानकर ही सम्मेलन में शासन-व्यवस्था पर विचार किया जाय। परन्तु इसके बाद पार्लामेंट में वाइसराय की विज्ञप्ति के सम्बन्ध में जो बहस हुई, उससे कांग्रेस के नेताओं को ब्रिटिश सरकार की नीति पर सन्देह होने लगा।

पूर्ण स्वराज्य—दिसम्बर सन् १९२९ में लाहोर में कांग्रेस का बड़ा महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। इसके कुछ दिन पहले ही दिल्ली के निकट वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम रखकर उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया गया। परन्तु सौभाग्यवश किसी को चोट नहीं आई। इस तरह अहिंसावादी भारत की लाज रह गई। कांग्रेस ने इस पर खेद प्रकट किया और वाइसराय के प्रति सहानुभूति दिखलाई। गत कलकत्ता कांग्रेस के निर्णय के अनुसार इसने निश्चित किया कि 'पूर्ण स्वराज्य' कांग्रेस का ध्येय है, जिसको प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह प्रारम्भ करना चाहिए। कब और किस रूप में सत्याग्रह किया जाय इसके निर्णय का अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (आल इंडिया कांग्रेस कमेटी) को दिया गया। साथ ही साथ यह भी निश्चित किया गया कि कौंसिलों के बहिष्कार से असहयोग फिर से प्रारम्भ किया जाय। अन्य दलों के साथ कांग्रेस की जो एकता हो रही थी वह इस निर्णय से नष्ट हो गई। लिबरलों ने कान्फ़रेंस के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और इसकी तैयारी के लिए फिर से एक सर्वदल सम्मेलन करना निश्चित

किया। उनका कहना है कि वाइसराय, भारतसचिव तथा मज़दूर सरकार की कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उन पर विश्वास करके कान्फ़रेंस में शरीक होना चाहिए। पहले से शर्तें रखना ठीक नहीं है।

लाहोर कांग्रेस के आदेशानुसार ता० २६ जनवरी सन् १९३० को देश भर में 'पूर्ण स्वराज्य-दिवस' मनाया गया। इस दिन प्रायः सभी नगरों में सभाएँ की गईं, जिनमें एक प्रस्ताव पास किया गया। इसमें कहा गया कि "भारत की अँगरेज़ सरकार ने हिन्दुस्तानियों को न केवल उनकी स्वाधीनता से वंचित कर दिया है बल्कि वह जनता के शोषण के आधार पर ही बनी है और उसने हिन्दुस्तान को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसलिए हिन्दुस्तान को अवश्य ब्रिटिश सम्बन्ध त्यागकर पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए।" इसके अन्त में विश्वास दिलाया गया कि "यदि हम ब्रिटिश सरकार से सहयोग करना छोड़ दें और उत्तेजना का कारण उपस्थित होने पर भी उपद्रव न करें तो इस अमानुषिक शासन का अन्त निश्चित है।"

परिच्छेद १८

कला और साहित्य

ललित कलाएँ—भारत की मुख्य उपयोगी कलाओं का जिस तरह नाश हुआ, दिखलाया जा चुका है। ब्रिटिश सरकार की उदासीनता के कारण इस काल में ललित कलाओं की भी अवनति हो गई। मुग़ल बादशाहों की संरक्षकता में इन कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी। उनके पतन होने के थोड़े ही वर्षों बाद देश में ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य हुआ, जिसने इनकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ऐसी दशा में इन कलाओं ने देशी राज्यों में आश्रय लिया, परन्तु राजाओं का यूरोप जाना-आना प्रारम्भ हो जाने पर इनको प्रायः वहाँ से भी हटना पड़ा। सस्ती और तड़क-भड़कवाली विलायती चीज़ों के भुलावे में जनता भी पड़ गई। इस तरह भारतीय ललित कलाओं के नष्ट होने की नौबत आ गई। परन्तु इतने ही में राष्ट्रीयता की जागृति आरम्भ हुई, जिसने इन कलाओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। भारत का शासन जब से ब्रिटिश राजाओं के अधीन हुआ, तब से सरकार ने भी इस ओर कुछ ध्यान दिया। कलकत्ता, बम्बई, मदरास तथा लाहोर में 'आर्ट्स स्कूल' (कलाविद्यालय) स्थापित किये गये। परन्तु इनमें बहुत दिनों तक भारतीय कलाओं के पुनरुद्धार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। सरकारी प्रदर्शिनियों में विलायती चीज़ों की ही भरमार होती रही। अभी हाल तक विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में कलाओं को कोई स्थान न था। जनता की इस ओर प्रवृत्ति देखकर सरकार को भी कुछ न कुछ करना पड़ता है, परन्तु अधिकांश विदेशी अफ़सर न भारतीय ललित कलाओं के सच्चे भावों को समझते हैं और न उनकी उन्नति के लिए कोई प्रयत्न ही करते हैं। इस तरह ये कलाएँ सरकारी संरक्षकता से, जो उनकी उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है, वास्तव में वंचित ही हैं।

स्थापत्य—सुन्दर इमारतें बनाने की कला बड़े महत्त्व की है। इसमें कई एक मुख्य उपयोगी तथा ललित कलाओं का समावेश हो जाता है। भारत की यह कला किसी समय बड़ी उन्नत अवस्था में थी। प्राचीन तथा मुग़ल काल की सुन्दर इमारतों को देखकर अब भी लोग दंग रह जाते हैं। परन्तु ब्रिटिश काल में इसका भी ह्रास हो गया। पहले-पहल जो अँगरेज़ आये थे वे हिन्दुस्तानी ढंग की इमारतों में ही रहते थे। सूरत में उस समय के बने हुए अँगरेज़ों के मक़बरे बिलकुल मुसलमानी ढंग के हैं। परन्तु जब अँगरेज़ों ने मदरास, कलकत्ता तथा बम्बई को बसाया, तब इनमें इँग्लेंड के तत्कालीन प्रचलित भद्दे ढंग की इमारतों का अनुकरण किया गया। कम्पनी के व्यापारियों को तब इसका कुछ भी ध्यान न था कि आगे चलकर देश पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। ब्रिटिश आधिपत्य के साथ साथ जब इन नगरों का राजनैतिक महत्त्व बढ़ गया, तब जनता तथा राजा-महाराजाओं की दृष्टि में यहां की इमारतें आदर्श बन गईं और इन्हीं की नक़ल होने लगी। सबसे पहले मुर्शिदाबाद तथा लखनऊ के नवाबों ने इस ढंग की इमारतें बनवाना प्रारम्भ किया। ऐसी इमारतों में रहना आधुनिक सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा और जगह जगह इनका प्रचार हो गया। 'मुहकमा तामीरात' (पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट) खोलकर सरकार ने सार्वजनिक इमारतों का ठेका अपने हाथ में ले लिया। यह विभाग अँगरेज़ इंजीनियरों को सौंपा गया, जिन्हें भारतीय स्थापत्य का कुछ भी ज्ञान न था। इंजी-नियरिंग के कालेजों में भी इस भारतीय कला की पढ़ाई के लिए कोई प्रबन्ध न किया गया। उस समय के इंजीनियर भारत में भी कोई ऐसी कला है इसको मानने के लिए तैयार न थे। इस विभाग ने देशी स्थापत्य की परम्परा का बिना कुछ ध्यान किये हुए इमारतें बना डालीं। कलकत्ता आर्ट्स स्कूल के भूतपूर्व अध्यक्ष हैवेल के शब्दों में इसके बनाये हुए कालेज सिपाहियों की बैरेक से जान पड़ते हैं।[१]

१ हैवेल, एसेज़ आन इंडियन आर्ट, इंडस्ट्री ऐंड एजूकेशन।

इधर बहुत धन फूँककर कलकत्ता में 'विक्टोरिया मेमोरियल हाल' (विक्टोरिया स्मारक भवन) बनाया गया है। लार्ड कर्ज़न इसको सुन्दरता
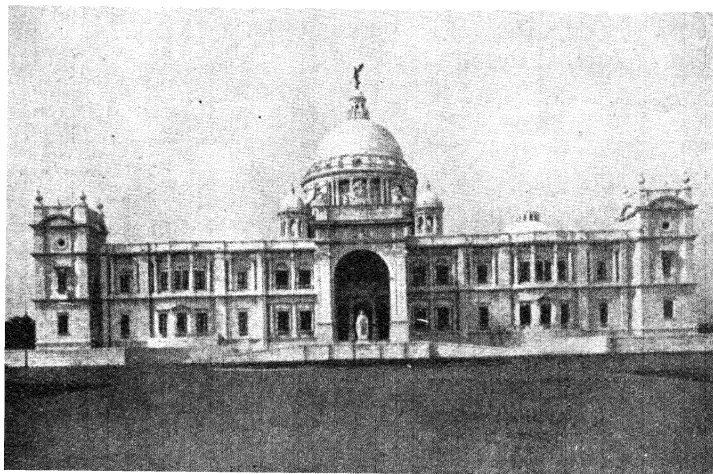
विक्टोरिया मेमोरियल हाल

में 'ताज' के सदृश बनवाना चाहता था, परन्तु उसके साथ तुलना में यह तुच्छ जान पड़ता है। जिस समय दिल्ली को फिर से राजधानी बनाने की घोषणा की गई, तब सबको यह आशा हुई कि इसकी नई इमारतों के बनाने में हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों को अपनी कारीगरी दिखलाने का अवसर दिया जायगा। परन्तु इनका निर्माण भी अँगरेज़ इंजीनियरों को सौंपा गया। इनके बनाने में १४ करोड़ से अधिक रुपया फूँका गया, पर तब भी मुग़ल काल की इमारतों के सामने ये भद्दी जान पड़ती हैं। डाक्टर जेम्स कज़िंस की राय में इनके बनाने में मौलिकता तथा कल्पना से तो काम ही नहीं लिया गया है। सेक्रेट्रियेट के दफ़्तर और कौंसिलभवन "क़ैदख़ाने" से जान पड़ते हैं। ये इमारतें अधिकतर 'इटालियन ढंग' की बनाई गई हैं। कहीं कहीं जाली,

छज्जा तथा छतरी देकर इनमें हिन्दुस्तानीपन लाने का प्रयत्न किया गया है। वाइसराय के भवन में, जो अभी बनकर तैयार हुआ है, इस ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया है।

फ़र्ग्युसन के शब्दों में भारत में यह कला अब भी जीवित है। उसका कहना है कि मैंने स्थापत्य के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जो कुछ हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों से सीखा, उसका मुझे उस विषय की सब किताबें पढ़ जाने पर भी पता न चला था। बनारस के घाट, मथुरा के मन्दिर, जयपुर नगर तथा बहुत से रजवाड़ों की कई एक इमारतें ब्रिटिशकाल ही की बनी हुई हैं, जिनमें हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों की कारीगरी का नमूना दिखलाई देता है। इस समय भी कहीं कहीं एक आध इमारत इस ढंग की बन जाती है। मज़बूती में इनका मुक़ाबला करना सहज नहीं है। परन्तु सरकार, राजा, रईसों तथा अधिकांश जनता की उदासीनता के कारण यह कला धीरे धीरे नष्ट हो रही है। प्रायः कहा जाता है कि यह आधुनिक आवश्यकताओं के उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विदेशी कला के सिद्धान्तों को अपने ढंग पर ले आने का हिन्दुस्तानियों में सदा से एक बड़ा गुण रहा है। आजकल इमारत का ख़ाका खींचनेवाले और उसके बनानेवाले भिन्न भिन्न होते हैं। परन्तु मध्यकालीन यूरोप की तरह भारत में ये दोनों काम मिस्त्री के ही हाथ में रहते थे। इस तरह हैवेल की राय में उसको इमारतों के बनाने में अपने भावों को प्रकट करने का अवसर मिलता था। परन्तु अब वह सुन्दर इमारतों की कल्पना करने के अयोग्य समझा जाता है और उसे केवल दूसरों के खींचे हुए नक़शों के ढंग की इमारतें बनाने का काम दिया जाता है, जिनमें उसे अपनी कल्पना-शक्ति के दिखलाने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता।

चित्रकारी—सत्रहवीं शताब्दी में चित्रकारी के दो मुख्य ढंग थे, जो 'मुग़ल क़लम' और 'राजपूत या हिन्दू क़लम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'मुग़ल क़लम' की उत्पत्ति अकबर के समय में हुई थी। इसमें प्रसिद्ध व्यक्तियों के छोटे छोटे चित्र, दरबार तथा शिकार के दृश्य और फूल-पत्ते तथा

पशु-पक्षियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। जहाँ तक सम्भव हो इनकी पूरी नक़ल करने का प्रयत्न किया जाता था। इस तरह इस क़लम का मुख्य लक्षण 'स्वाभाविकता' था। मुग़ल साम्राज्य का पतन होने पर दिल्ली के बहुत से चित्रकार लखनऊ चले गये। कुछ लोग बिहार तथा बंगाल में भी आबाद हो गये। बहुत से अँगरेज़ इन चित्रकारों से अपने ढंग की तसवीरें बनवाने लगे, जिसका फल यह हुआ कि इन पर पाश्चात्य चित्रकारी का प्रभाव पड़ने लगा। इस समय के बने हुए लखनऊ के प्रायः सभी चित्र इसी मिश्रित ढंग के हैं। बंगाल और अवध की नवाबियों के अन्त के साथ इस कला का भी लोप हो गया।

मुग़ल क़लम के साथ साथ उत्तरी भारत के हिन्दू राज्यों में एक दूसरी ही चित्रकला की उन्नति हो रही थी। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भारत की
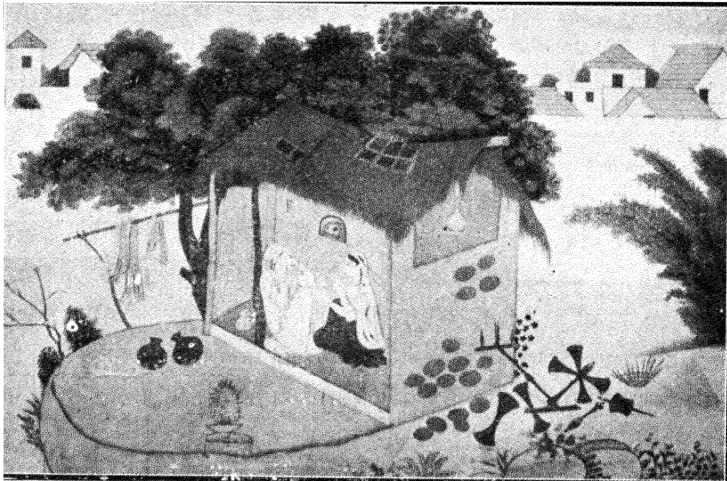
सुदामा की कुटी (राजपूत क़लम)

प्राचीन चित्रकला से था। इसमें पौराणिक तथा जनसाधारण के जीवन के दृश्य दिखलाने का बड़ा प्रयत्न किया जाता था। इसका मुख्य केन्द्र जयपुर

था। यह 'राजस्थानी' या 'राजपूत क़लम' के नाम से प्रसिद्ध है।[1] मुग़ल दरबारों में भी इन चित्रों की मांग थी, इसलिए बहुत से चित्रकार दिल्ली, आगरा तथा लाहोर में आबाद हो गये थे। मुग़लों का पतन होने पर इनको पंजाब की छोटी छोटी पहाड़ी राज्यों में आश्रय मिला। इनमें कांगड़ा इस चित्रकला का मुख्य केन्द्र हुआ। इस तरह 'कांगड़ा' या 'पहाड़ी क़लम' का प्रचार हुआ। राजा संसारचन्द्र के समय में इसकी बड़ी उन्नति हुई। टिहरी (गढ़वाल) तथा बुँदेलखंड के राज्यों में भी इसका प्रचार हुआ। गढ़वाली चित्रकारों में मोलाराम, माणकू और चैनू का बड़ा नाम है। पहाड़ी चित्रकार राजाओं के छोटे छोटे चित्र भी बड़े सुन्दर बनाने लगे और उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के कई शहरों में उनकी मांग होने लगी। महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में भी कई एक पहाड़ी चित्रकार रहते थे। इनमें कपूरसिंह बड़ा प्रसिद्ध था। पंजाब पर अँगरेज़ों का अधिकार हो जाने से इन लोगों का भी आश्रय जाता रहा। सन् १६०५ के भीषण भूकम्प ने तो कांगड़ा नगर और वहां के बचे-खुचे चित्रकारों का अन्त ही कर दिया।

दक्षिण में हैदराबाद मुसलमान चित्रकारों का केन्द्र था। तंजोर और मैसूर में हिन्दू चित्रकारों को आश्रय मिलता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत के कई एक चित्रकार तंजोर के राजा सरफ़ोजी के दरबार में पहुँच गये थे। तंजोर के अन्तिम राजा शिवाजी के समय (१८३३-५६) में इन चित्रकारों के १८ घराने थे। ये लोग हाथीदाँत और लकड़ी पर भी काम करते थे। इनके बनाये हुए राजाओं के पूरे क़द के तैलचित्र तंजोर के दरबार-भवन में इस समय भी देखने को मिलते हैं। मैसूर में राजा कृष्णराज वादयार के समय में इस कला की अच्छी उन्नति

---

१ डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने इसको 'राजपूत क़लम' का नाम दिया है, परन्तु श्री नानालाल चमनलाल मेहता की राय में इसको 'हिन्दू क़लम' कहना ठीक है। स्टडीज़ इन इंडियन पेंटिंग, पृ० ५।

हुई। सन् १८३८ के बाद से वहाँ भी इसका लोप हो गया।[1] लन्दन के 'ब्रिटिश म्युज़ियम' और बोस्टन में भारत के प्राचीन चित्रों के सबसे बड़े संग्रह हैं। भारत में भी इनके संग्रह करने की ओर कुछ ध्यान दिया जा रहा है।

बंगाल में श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके कुछ साथियों की अध्यक्षता में इस कला के प्राचीन सिद्धान्तों को फिर से काम में लाने का प्रयत्न हो रहा है। इनकी राय में भारत की इस कला पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ना ठीक नहीं है। इसके प्रतिकूल कुछ लोगों का मत है कि विदेशी चित्रकारी के सिद्धान्तों को भी अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी दृष्टि से कई एक चित्रकार विलायती तैल तथा जलचित्रों की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

संगीत—मुहम्मदशाह (१७१९) अन्तिम मुग़ल बादशाह था, जिसके दरबार में गवैयों का मान होता था। आदरंग और सादरंग की वीणा प्रसिद्ध थी। इन्हीं दिनों शोरी ने हिन्दुस्तानी गाने में 'टप्पे' का बड़ा प्रचार किया। मुग़ल साम्राज्य का पतन होने पर यह कला भी देशी नरेशों के दरबारों में रह गई। अँगरेज़ तो बहुत दिनों तक हिन्दुस्तानी गाने को बिलकुल जंगली गाना ही समझते रहे। उनमें पहले-पहल सर विलियम जोन्स, विलियम ओसले, कप्तान डे और विलर्ड ने इसकी खूबियों को समझा। सन् १८१३ में पटना के रईस मुहम्मदरिज़ा ने 'नग़माते आसफ़ी' लिखा, जिसका उत्तरी भारत के संगीत पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके रागलक्षणों का हिन्दुस्तानी गाने में बहुत प्रचार है। इन्हीं दिनों जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने एक 'संगीत-सम्मेलन' किया, जिसके प्रयत्न से 'संगीतसार' की रचना हुई। सन् १८४२ में कृष्णानन्द व्यास ने कलकत्ते से 'संगीतरागकल्पद्रुम' नामक हिन्दी गीतों का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित करवाया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सर सुरीन्द्रमोहन ठाकुर ने संगीत का बृहत् इतिहास तथा अन्य कई एक उपयोगी पुस्तकें निकालीं।

१ ब्राउन, इंडियन पेंटिंग (हेरिटेज ऑफ़ इंडिया सिरीज़)।

दक्षिण में तंजोर के राजा तुलजाजी (१७६३-१७८७) का दरबार गवैयों का केन्द्र था। स्वयं तुलजाजी को संगीत में बड़ी योग्यता थी। उसका 'संगीत-सारामृतम्' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है। त्यागराज (१८००-१८५०) तंजोर ही का रहनेवाला था, जिसके कीर्तनों का दक्षिण में बहुत प्रचार है। पट्काल गोविन्द का भी दक्षिण में बड़ा नाम है। कोचिन और त्रावणकोर के राजाओं की संगीत में बड़ी रुचि थी। पेरुमाल महाराज की रचनाएँ संस्कृत, तामिल, तेलुगू, मलयालम, मराठी और हिन्दुस्तानी में भी मिलती हैं।[1]

पिछले बीस-पचीस वर्षों में संगीत की ओर विशेष ध्यान दिया गया। मुख्य मुख्य नगरों में 'संगीत-समाज' स्थापित हो गये। सन् १९१६ में महाराजा बड़ोदा की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन' हुआ। सन् १९१९ में 'अखिल भारतीय संगीत-परिषद्' (आल इंडिया म्युज़िक एकेडेमी) की स्थापना हुई। सन् १९२७ में प्रान्तीय सरकार की ओर से लखनऊ में 'मैरिस संगीत-विद्यालय' खोला गया। अब बहुत से स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध हो गया है। नाट्यकला में 'यात्राओं' तथा 'रास-मंडलियों' का स्थान थियटरों ने लिया। पारसी कम्पनियों में बहुत दिनों तक पाश्चात्य थियटरों की भद्दी नक़ल की गई। पर शिक्षा के साथ साथ जनता की रुचि में परिवर्तन हुआ और इस कला के सुधार का भी प्रयत्न होने लगा। बंगाल तथा महाराष्ट्र ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। थोड़े दिनों से व्यवसायी नाटक कम्पनियों के खेलों में भी कुछ सुधार हो रहा है, पर वास्तव में इस समय तक भारत में राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव ही है।

साहित्य—देश के साहित्य की उन्नति की ओर ब्रिटिश सरकार केवल उदासीन ही नहीं रही, बल्कि अँगरेज़ी भाषा का प्रचार करके उसने उसके मार्ग में रुकावटें डालीं। परन्तु जनता उसको भूल न सकी। इस काल में संस्कृत साहित्य की कोई वृद्धि नहीं हुई पर उसका पुनरुद्धार अवश्य हुआ।

---

१ पॉपले, म्युज़िक ऑफ़ इंडिया, पृ० २०-२३।

बौद्धकाल के बाद से भारतीय विचारों का अन्य देशों में प्रचार बन्द ही सा हो गया था, पर यूरोप के साथ सम्बन्ध हो जाने से यह सिलसिला फिर जारी हो गया। यूरोप के, खासकर जर्मनी के, कई एक विद्वानों ने संस्कृत के सभी विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया। बड़े बड़े शहरों में इसके लिए समितियाँ स्थापित हो गईं और विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में संस्कृत को स्थान दिया गया। सभी विषयों के संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद और उनकी विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। मैक्समूलर ऐसे विद्वानों का भारत सदा कृतज्ञ रहेगा। भारत में भी नये ढंग पर संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। मैसूर, त्रावणकोर, बड़ौदा तथा काश्मीर दरबारों की ओर से वहाँ के पुस्तकालयों के हस्तलिखित ग्रन्थ विद्वानों द्वारा सम्पादित करवाकर प्रकाशित किये जाने लगे। काशी, कलकत्ता, पूना तथा अन्य स्थानों में भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ काम हो रहा है और प्रति वर्ष बहुत से अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो जाते हैं।

ब्रिटिश काल सबसे अधिक देश की आधुनिक भाषाओं की उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। प्रायः इन सभी भाषाओं में गद्य की रचना इसी काल में प्रारम्भ हुई। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा और इन भाषाओं के साहित्य को देश-काल के अनुसार बनाने का प्रयत्न किया गया। छापेखाने का साधन मिल जाने से इनकी उन्नति में बड़ी सुगमता हो गई। पत्र-पत्रिकाओं का एक नया मार्ग खुल गया। प्रायः सभी विषयों पर अब इन भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

हिन्दी—भारत में अँगरेज़ी राज्य के आरम्भकाल में हिन्दी साहित्य के आधुनिक अभ्युदय का आरम्भ होता है। यों तो हिन्दी गद्य के कुछ नमूने व्रज भाषा के एक आध प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं, पर सबसे पुराना आधुनिक हिन्दी गद्य का जो मुख्य ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, वह मुंशी सदासुखलाल का किया हुआ भागवत का स्वच्छन्द अनुवाद 'सुखसागर' है। इसमें पंडितों तथा साधु-सन्तों में प्रचलित भाषा के शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया गया है। इसके अनन्तर मुंशी इंशाउल्लाखां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इसमें "हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले" इसका उन्होंने बड़ा

प्रयत्न किया। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है, पर पद्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिए कुछ लोग इसे हिन्दी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। सन् १८०० के लगभग कलकत्ते में हिन्दी गद्य के कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसमें श्रीरामपुर के मिश्नरियों ने भी योग दिया। डाक्टर गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'फ़ोर्ट विलियम कालेज' में भी इस सम्बन्ध में कुछ काम हुआ। यहाँ के लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' की रचना की और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इनमें लल्लूलालजी की अपेक्षा सदल मिश्र की भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है, पर एक में व्रजभाषा का और दूसरे में पूर्वी भाषा का पुट स्पष्ट देख पड़ता है।

उत्तर भारत में अँगरेज़ी राज्य के स्थापित होने पर यहाँ की दरबारी भाषा के स्थान पर राज-काज की भाषा उर्दू मानी गई। मुसलमान हिन्दी को कोई भाषा मानने के लिए तैयार न थे। उनका कहना था कि जब राज-काज की भाषा उर्दू है, तब उसी में सब प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए। राजा शिवप्रसाद ने इस मत का विरोध किया और उद्योग करके हिन्दी की पढ़ाई को भी शिक्षाक्रम में स्वीकार कराया। पर साथ ही साथ समय की प्रगति के अनुकूल ऐसी भाषा का स्वरूप खड़ा किया जो देवनागरी और फ़ारसी अक्षरों में सुगमता से लिखी जा सके। इस भाषा में प्रायः फ़ारसी शब्दों की अधिकता होती थी। राजा लक्ष्मणसिंह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस मत के विरोधी थे और भारतीय संस्कृति की परम्परा से अपने को अलग करने के लिए तैयार न थे। उन्होंने हिन्दी को ऐसा रूप दिया जिसमें स्वदेशी शब्दों की अधिकता थी। शब्दों की इस विभिन्नता को छोड़कर हिन्दी और उर्दू के ढाँचे में उस समय कोई अन्तर न था। पीछे चलकर उर्दू फ़ारसी की ओर अधिक झुकी और हिन्दी ने संस्कृत का आश्रय लिया।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने भाषा को "चलता, मधुर और स्वच्छ" बना दिया। वास्तव में वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक हैं। साथ ही साथ उन्होंने

१ श्यामसुन्दरदास, हिन्दी भाषा और साहित्य।

साहित्य को भी नवीन मार्ग दिखलाया। नई शिक्षा के प्रभाव से देश की विचारधारा में बड़ा परिवर्तन हो रहा था। समाज-सुधार तथा देशभक्ति की नई उमंगें उठ रही थीं। उन्होंने साहित्य को देश-काल के अनुकूल बना दिया। बंगाल की नवीन साहित्यिक प्रगति का भी उन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने हिन्दी साहित्य की भी उसी ढंग पर उन्नति करने का प्रयत्न किया। उनके जीवनकाल में ही पंडित बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बाल-कृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास और लाला श्रीनिवासदास ऐसे लेखकों और कवियों का एक मंडल तैयार हो गया, जो उनके अस्त हो जाने पर भी हिन्दी साहित्य के इस नये विकास में, बहुत कुछ काम करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य, प्रबन्ध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकलते रहे।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में प्राचीन शैली के भी कई एक प्रसिद्ध कवि हुए। इनमें पद्माकर भट्ट का नाम मुख्य है। मराठा तथा राजपूत दरबारों में इनका बड़ा मान था। 'रीतिकाल' के कवियों में इनका स्थान 'सर्वश्रेष्ठ' माना गया है। अलीमुहिब खाँ (प्रीतम) और सैयद ग़ुलामनबी (रसलीन) ऐसे मुसल-मान भी इन दिनों हिन्दी में कविता करते थे। गद्य के विकासकाल में भी कविता की प्राचीन परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही, परन्तु भारतेन्दु के समय

१ रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

से इसकी धारा ने भी एक नया रंग धारण किया। केवल भक्ति और शृंगार रस से हटकर इसका सम्बन्ध प्रतिदिन के जीवन से हो गया। भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने देशकाल के अनुकूल नये नये विषयों की ओर ध्यान दिया, पर उन्होंने व्रजभाषा की परम्परा को नहीं छोड़ा। उनकी कविताएँ व्रजभाषा में प्रचलित छन्दों में ही हुआ करती थीं। भारतेन्दुजी के न रहने के कुछ ही दिनों बाद इस सम्बन्ध में भी नये विचार उत्पन्न हुए। गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में यह बात खटकने लगी। इसका फल यह हुआ कि खड़ी बोली में भी कविता होने लगी। यह प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ रही है। कुछ दिनों से अन्त्यानुप्रास-रहित अथवा अतुकान्त कविता की भी चाल चल पड़ी।

सन् १९०३ में 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई, तब से हिन्दी की उन्नति के लिए संगठित रूप से काम होने लगा। नाटक, उपन्यास, इतिहास, निबन्ध, समालोचना तथा वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें और सुन्दर पत्र-पत्रिकाएँ बड़ी संख्या में प्रकाशित होने लगीं। कुछ दिनों तक तो अनुवादों की भरमार रही पर अब उच्च कोटि के मौलिक ग्रन्थ भी निकलने लगे हैं। विश्वविद्यालयों की ऊँची से ऊँची परीक्षाओं में भी हिन्दी को स्थान मिल गया है। जब से महात्मा गान्धी ने इन्दौर में 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के सभापति का आसन ग्रहण किया, तब से उस संस्था द्वारा आसाम और मदरास ऐसे प्रान्तों में भी हिन्दी के प्रचार का प्रबन्ध हो रहा है; जिसकी सफलता से आशा होती है कि किसी दिन हिन्दी भिन्न प्रान्तों के परस्पर व्यवहार की भाषा होकर राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित होगी।

उर्दू—जो बात संस्कृत के सम्बन्ध में कही गई है वही अरबी तथा फ़ारसी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों के अच्छे अच्छे संस्करण भारत में प्रकाशित होने लगे, जिनका प्रचार अफ़ग़ानिस्तान, ईरान तथा अन्य मुसलमानी राज्यों में हो रहा है। 'मदरसतुल आलिया' कलकत्ता, 'दारुलउलूम' देवबन्द (सहारनपुर) और 'नदवतुल उलमा' लखनऊ ऐसे विद्यालयों में अरबी तथा फ़ारसी के अध्ययन का अच्छा

प्रबन्ध है। इनमें भारत से बाहर के भी छात्र शिक्षा पाते हैं। परन्तु ब्रिटिशकाल उर्दू की उन्नति के लिए ही प्रसिद्ध है। इसके कवियों का मुख्य केन्द्र दिल्ली था। मुग़ल बादशाहों की अवनत अवस्था में भी दर्द, सोज़ और सौदा ऐसे कवियों ने कुछ काल तक उनके दरबार में अपनी सुन्दर रचनाओं द्वारा बड़ी कीर्ति प्राप्त की। दर्द ने उर्दू कविता को 'भाषा दोहरों' के प्रभाव से मुक्त किया और अपने उच्च सूफ़ी विचारों से इसको गम्भीर बना दिया। सोज़ ने ग़ज़लों में अच्छा नाम पैदा किया। सौदा ने भी हिन्दी शब्दों की बड़ी काट-छांट की, पर उसने हिन्दी साहित्य से उर्दू का नाता एकदम तोड़ नहीं दिया। उसकी रचनाओं में कहीं कहीं अर्जुन की वीरता और कृष्ण की लीलाओं का भी उल्लेख मिलता है। उर्दू काव्य में उसने 'क़सीदा' और हास्यरस की रचनाओं का प्रचार किया। मीरतक़ी की भी प्रसिद्धि पहले-पहल दिल्ली ही में हुई। उर्दू ग़ज़लों का यह 'शेख़ सादी' माना जाता है। इंशा को उर्दू तथा हिन्दी दोनों में कविता का अभ्यास था। अन्तिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह (ज़फ़र) स्वयं एक अच्छा कवि था। उसके समय में ग़ालिब और ज़ौक़ ऐसे कवियों से दिल्ली दरबार साहित्य की दृष्टि से अन्तिम बार जगमगा उठा। ज़ौक़ ने उर्दू भाषा को स्वच्छ बनाया और क़सीदा तथा ग़ज़ल में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। ग़ालिब बड़े उच्च कोटि का विद्वान् और कवि था। वह फ़ारसी तथा उर्दू दोनों में कविता करता था। उसकी रचनाएँ उच्च विचारों से पूर्ण तथा मौलिक हैं। कहीं कहीं उनमें हास्यरस का भी आनन्द आ जाता है। उर्दू के गद्य और पद्य दोनों में उसको उच्च स्थान प्राप्त है।

मुग़ल बादशाहों की दशा बिगड़ने पर दिल्ली के बहुत से कवियों ने लखनऊ के नवाबों के यहाँ आश्रय लिया। आगे चलकर यहाँ नासिख़ और आतिश ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। लखनऊ में 'मर्सियों' का बड़ा प्रचार हुआ। इनमें कहीं कहीं बड़े मर्मस्पर्शी भाव प्रकट किये गये हैं। उर्दू साहित्य को गन्दा करनेवाली 'रेखती' कविता का प्रचार लखनऊ के व्यसनी दरबार में ही अधिक हुआ। अवध के अन्तिम बादशाह वाजिदअली (अख़्तर) को भी

कविता का बड़ा शौक़ था। लखनऊ के बाद उत्तरी भारत में उर्दू के कवियों का रामपुर केन्द्र बन गया। अँगरेज़ी शिक्षा का काफी प्रभाव पड़ने पर उर्दू कविता की गति-विधि भी बदलने लगी। केवल शृंगाररस को छोड़कर इसका भी प्रवाह समाज और देश की ओर हो गया। आज़ाद और हाली के साथ उर्दू साहित्य में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। कवियों की प्रवृत्ति नये विषयों की ओर हुई और ग़ज़लों का स्थान 'मुसद्दस' तथा 'मसनवियों' ने लिया।[1]

उर्दू गद्य की उन्नति पहले-पहल कलकत्ता के 'फ़ोर्ट विलियम कालेज' में हुई। डाक्टर गिलक्राइस्ट ने कई एक योग्य विद्वानों को एकत्र करके कुछ पुस्तकें लिखवाईं। सन् १८३५ से अदालती भाषा हो जाने के कारण उत्तरी भारत में उर्दू का बड़ा प्रचार हो गया। बाद में लखनऊ से भी गद्य-साहित्य निकलना प्रारम्भ हो गया। इसमें मिर्ज़ा रजबअली बेग ने अच्छा नाम पैदा किया। आज़ाद और ग़ालिब ने भी गद्य की उन्नति में भाग लिया। सर सैयदअहमद ने अख़बारी भाषा का प्रचार किया। आजकल अलीगढ़, भूपाल और हैदराबाद उर्दू साहित्य के मुख्य केन्द्र हैं। अलीगढ़ में 'मुसलिम विश्वविद्यालय' स्थापित हो जाने से इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। हैदराबाद के 'उस्मानियां यूनिवर्सिटी' में उर्दू ही शिक्षा का माध्यम है। औरंगाबाद में 'अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू' अच्छा साहित्य प्रकाशित कर रही है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि पहले हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष भेद न था, परन्तु कुछ काल से दोनों में बड़ा भेद हो गया। अब थोड़े दिनों से दोनों के क्लिष्ट शब्दों को निकालकर साधारण बोलचाल की 'हिन्दुस्तानी' भाषा के प्रचार का प्रयत्न हो रहा है। इलाहाबाद में प्रान्तीय सरकार द्वारा स्थापित 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' इस ओर विशेष ध्यान दे रही है।

बँगला—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से बँगला में संस्कृत शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने लगा। इसी समय में अलाउल नाम के एक मुसलमान

---

१ रामबाबू सक्सेना, ए हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेचर।

ने हिन्दी 'पद्मावत' का अनुवाद किया, जिसमें संस्कृत शब्दों की भरमार है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी बंगाल में नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र का दरबार बँगला के कवियों का मुख्य केन्द्र था। इनमें रामप्रसाद और 'अन्नदामंगल' तथा 'विद्यासुन्दर' के रचयिता भारतचन्द्र राय गुणाकर मुख्य थे। भारतचन्द्र की रचनाओं में संस्कृत शब्दों तथा छन्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता के साथ किया गया है। पूर्वीय बंगाल में इन्हीं दिनों विक्रमपुर के राजा राजवल्लभ के दरबार में जयनारायण सेन तथा उनकी भतीजी आनन्दमयी का बड़ा नाम था। बंगाल के गाँवों में भी कीर्तन, यात्रा तथा 'कविवालाओं' द्वारा ग्राम्य साहित्य की उन्नति होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चन्द्रनगर में ऐंटनी नाम का एक पुर्तगाली बड़ा प्रसिद्ध 'कविवाला' था। इन्हीं दिनों करमअली, अलीराज तथा अन्य कई मुसलमानों ने भी सुन्दर गीतों की रचना की।[1]

बँगला गद्य के कुछ नमूने 'शून्यपुराण' और न्याय तथा स्मृति-सम्बन्धी ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं, पर वास्तव में इसका विकास अँगरेज़ों के आने के बाद से आरम्भ हुआ। श्रीरामपुर के मिश्नरियों ने इसकी उन्नति में बड़ा योग दिया। डाक्टर कैरी तथा ब्रैसी हालहेड ने कई एक पुस्तकें निकालीं। सर चार्ल्स विलकिंस ने बँगला अक्षरों के छापने का प्रयत्न किया। 'फ़ोर्ट विलियम कालेज' में पढ़ाई के लिए प्रायः सभी विषयों पर बँगला पुस्तकें लिखी गईं। हिन्दी, उर्दू तथा बँगला के गद्य-साहित्य की उन्नति में इस कालेज की उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। 'प्रबोधचन्द्रिका' के रचयिता मृत्युंजय तथा रामराम वसु इस कालेज के मुख्य बँगला अध्यापक थे। इन दिनों गद्य की जो पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वे साधारण शिक्षा की दृष्टि से लिखी गई थीं, उनकी गणना उच्च साहित्य में नहीं की जा सकती। इसका प्रारम्भ वास्तव में राजा राममोहन राय ने किया। परन्तु उनकी भाषा में फ़ारसी शब्दों की अधिकता रहती थी। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इसको संस्कृत

---

१ दिनेशचन्द्र सेन, हिस्ट्री ऑफ़ बंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर।

का आश्रय देकर आधुनिक स्वरूप दिया। इतने दिनों में अँगरेज़ी शिक्षा के प्रभाव से आचार-विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया। समाज-सुधार तथा स्वदेश-भक्ति ने ज़ोर पकड़ा, जिसके साथ साथ साहित्य ने भी राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पैर रखा।

'आनन्दमठ' के रचयिता श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के समय से बँगला साहित्य का नया युग प्रारम्भ हुआ। उन्होंने तत्कालीन भाषा के भद्देपन को दूर करके उसे स्वच्छ और उच्च विचारों के प्रकट करने योग्य बनाया। उनके ग्रन्थों का प्रायः सभी हिन्दुस्तानी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। पद्य में श्री माइकेल मधुसूदन दत्त ने अतुकान्त कविता का प्रचार किया उनका 'मेघनादवध' बड़ा प्रसिद्ध काव्य है। बाद में हेमचन्द्र, नवीन सेन, रंगलाल तथा कामिनी राय की रचनाओं का बड़ा आदर हुआ। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्धि तो भारत के बाहर भी फैल गई है। उनके मुख्य मुख्य ग्रन्थों का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। साहित्य में उन्हें विख्यात 'नोबेल पुरस्कार' भी मिला है। नाटकलेखकों में श्री द्विजेन्द्रलाल राय का बड़ा नाम है। विज्ञान तथा दर्शन के उच्च और सूक्ष्म विचारों को सुन्दर तथा सरल भाषा में प्रकट करने का यश श्री रामेन्द्र-सुन्दर त्रिवेदी को प्राप्त है। उपन्यास तथा गल्प लिखने में बंगालियों को अच्छी सफलता हुई है। देशी भाषाओं में बँगला ने बड़ी उन्नति की है। इसका साहित्य बहुत कुछ मौलिक है। सुसम्पादित पत्र-पत्रिकाओं तथा उच्च कोटि के ग्रन्थों द्वारा इसकी बराबर उन्नति हो रही है।

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

मराठी—अठारहवीं शताब्दी के मराठी साहित्य में मोरोपन्त का नाम सबसे विख्यात है। उनकी रचनाओं में संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिकता

से मिलता है। काव्य की दृष्टि से वे उच्चकोटि की भले ही न मानी जायँ पर वे उच्च विचारों से पूर्ण हैं। मराठी की गणना उन इनी-गिनी भाषाओं में है जिनका बाल्यकाल पद्य में नहीं बल्कि गद्य में प्रारम्भ हुआ। सतारा के राजा प्रतापसिंह के समय तक मल्हार रामराव तथा अन्य लेखकों ने मराठी गद्य साहित्य की परम्परा को जारी रखा। परन्तु अँगरेज़ पादरियों ने कुछ कोष, व्याकरण तथा साधारण अँगरेज़ी पुस्तकों के अनुवाद निकाले, जिनमें मराठी साहित्य अपनी प्राचीन परम्परा से बहुत कुछ अलग हो गया। सरकारी अफ़सरों ने प्रायः इस ढंग के साहित्य को आश्रय दिया। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने 'निबन्धमाला' में बड़े जोरों के साथ मराठी के इस 'अँगरेज़ी अवतार' की ख़बर ली और उसके साहित्य को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया। इस समय से वास्तव में मराठी साहित्य का नवीन युग प्रारम्भ हुआ।

नाटक लिखने में पहले विष्णु भावे तथा अण्णा किर्लोस्कर और बाद में कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, वासुदेवशास्त्री खरे तथा राम गणेश गडकरी ने बड़ी सफलता प्राप्त की। केशवसुत, त्र्यम्बक बापूजी ठोमरे (बालकवि) और नासिक के गोविन्द ने कविता को उच्च कोटि पर पहुँचा दिया। ऐतिहासिक साहित्य में विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे तथा वासुदेवशास्त्री खेरे ने बड़ा काम किया। उपन्यासलेखकों में हरिनारायण आपटे तथा नाथमाधव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। आपटे के कई एक ऐतहासिक उपन्यासों का हिन्दी में भी अनुवाद हो गया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का 'गीतारहस्य' चिरस्मरणीय रहेगा। मराठी साहित्य में इसकी गणना 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'दासबोध' के साथ की जा सकती है। बँगला की तरह मराठी की भी इस तरफ़ बड़ी उन्नति हुई। इसका भी आधुनिक साहित्य बहुत कुछ मौलिक है।

गुजराती—अनिश्चित राजनैतिक परिस्थिति के कारण अठारहवीं शताब्दी में गुजराती साहित्य की विशेष उन्नति नहीं हुई। इस काल में कई एक भक्त कवि अवश्य हुए, पर उनकी रचनाओं में अधिकतर 'साम्प्रदायिकता' टपकती है। दयाराम प्राचीन शैली के अन्तिम प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। गुजराती के अतिरिक्त उनकी रचनाएँ व्रजभाषा, मराठी, संस्कृत तथा

उर्दू में भी मिलती हैं। गुजरात में उनकी 'गरबी' तथा पदों के गाने की बड़ी चाल है। उनकी भाषा सरल, स्वच्छ तथा भावमयी है। अँगरेज़ी शिक्षा के साथ आधुनिक गुजराती साहित्य का भी प्रारम्भ हुआ। पहले पढ़ाने के काम की कुछ साधारण पुस्तकें लिखी गईं, पर जब से सन् १८४८ में फ़ोर्ब्स ने 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी' स्थापित की तब से गुजराती साहित्य की उन्नति के लिए संगठित रूप से प्रयत्न होने लगा। दलपतराम और नर्मदाशंकर के साथ आधुनिक साहित्य का युग प्रारम्भ हुआ। इन दोनों ने समाज-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। नवलराम के शब्दों में दलपतराम की कविताएँ 'चतुराईपूर्ण' तथा 'सभारंजिनी' हैं। इनकी भाषा बड़ी सरल तथा सुन्दर है। नर्मदाशंकर की भाषा बड़ी ज़ोरदार है, पर कहीं कहीं 'बज़ारू' शब्दों से मिश्रित है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में उनके उच्च भाव और कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। गुजराती साहित्य की उन्नति में पारसियों ने भी भाग लिया। फ़र्दूनजी मर्ज़बानजी ने बम्बई में पहला गुजराती छापाखाना स्थापित किया। कहा जाता है कि गुजराती में अतुकान्त कविता का एक पारसी ने ही पहलेपहल प्रचार किया।

सनद तथा फ़रमानों और कुछ नीति-सम्बन्धी ग्रन्थों में गुजराती गद्य का प्रयोग अवश्य मिलता है; पर इसका विकास वास्तव में ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में ही हुआ। कुछ पादरियों ने इसमें बाइबिल के अनुवाद करने का प्रयत्न किया। बाद में रणछोड़दास गिरधर भाई ऐसे लोगों ने इसमें प्रारम्भिक शिक्षा योग्य पुस्तकों के लिखवाने की ओर ध्यान दिया। पर आधुनिक गद्य के प्रवर्तक वास्तव में नर्मदाशंकर ही हैं। उनका 'राज्यरंग' इतिहास तथा साहित्य की दृष्टि से उच्च कोटि का ग्रन्थ है। उनके बाद नवलराम गद्य के सबसे अच्छे लेखक माने जाते हैं। आलोचना उनका मुख्य विषय था। यों तो नाटक लिखने का प्रारम्भ दलपतराम से ही हो गया था पर इसके उच्च श्रेणी पर पहुँचने का यश रणछोड़भाई उदयराम को प्राप्त है। राव-बहादुर नन्दशंकर तुलजाशंकर ने 'करणघेलो' नामक आधुनिक ढंग का पहला उपन्यास लिखा। गोवर्धनराम त्रिपाठी का 'सरस्वतीचन्द्र' गुज-

राती में बड़ा प्रसिद्ध उपन्यास है। इसका कई एक भाषाओं में अनुवाद हो गया है।[1]

तामिल-तेलुगू—इन दोनों भाषाओं की गणना प्राचीन भाषाओं में है। पर इनके भी गद्य का विकास ब्रिटिश काल ही में हुआ। तामिल साहित्य का आधुनिक काल पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में परणज्योति मुनि, शिवप्रकाश स्वामी, त्रिकुट-राजप्पा तथा एलप्पा नावलर प्रसिद्ध कवि हुए। प्राचीन ग्रन्थों की टीकाओं तथा कुछ जैन ग्रन्थों में तामिल के प्राचीन गद्य का नमूना मिलता है। परन्तु आधुनिक गद्य का लिखना वीर्मे मुनि तथा अरुमुग नावलर ने ही प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक साहित्य में सूर्यनारायण शास्त्री ने अच्छी सफलता प्राप्त की। गद्य साहित्य में शेल्वकेशवराय मुदली का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ शास्त्री ने कई एक प्राचीन ग्रन्थों का सरल भाषा में अनुवाद किया है। तेलुगू में 'नीतिचन्द्रिका' के रचयिता चिन्नयसूरि की लेखनशैली बड़ी उच्च कोटि की मानी जाती है। तेलुगू साहित्य को देशकाल के अनुसार बनाने का यश वीरेशलिंगम् को प्राप्त है। सभी विषयों पर उन्होंने कुछ न कुछ लिखा है। नाटक लिखने में लक्ष्मीनरसिंहम् तथा सुब्बारायडू और वेंकटेश्वर कवुलु के नाम प्रसिद्ध हैं। 'आन्ध्र साहित्य-परिषत्' की ओर से तेलुगू की उन्नति के लिए बहुत कुछ काम हो रहा है।

विज्ञान—ज्योतिष तथा गणित में तो कुछ काम होता रहा पर भौतिक विज्ञान को भारत हज़ारों वर्ष से भूला हुआ था। ब्रिटिश काल में वैज्ञानिक शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो जाने का फल यह हुआ कि इस ओर फिर ध्यान आकर्षित हो गया। हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषियों ने यह बतलाया था कि वृक्षों में भी जीव है और उन्हें भी सुख-दुख का अनुभव होता है। अपने सूक्ष्म यंत्रों द्वारा सर जगदीशचन्द्र बोस ने इसको प्रत्यक्ष दिखला दिया। भारत के अन्य कई एक विद्वानों ने भी अपनी वैज्ञानिक योग्यता का परिचय दिया है। पाश्चात्य

---

१ कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी, माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, २ भाग।

विज्ञान की सहायता से देश को किस तरह सुसम्पन्न बनाया जाय, इस ओर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। गणित में अब भी भारत का नम्बर बढ़ा हुआ है। साधारण शिक्षा होते हुए भी हाल ही में मदरास के स्वर्गीय श्री रामानुजम् ने अपनी विलक्षण बुद्धि से केम्ब्रिज के गणितज्ञों को चकित कर दिया था।

उपसंहार—भारत के भविष्य पर बहुत कुछ संसार का भविष्य निर्भर है। यह सबसे बड़ा पराधीन देश है। ब्रिटिश साम्राज्य की तो यह 'धुरी' है। परन्तु अब यहाँ स्वतंत्रता की लहर उठ पड़ी है, जो दब नहीं सकती। ग्रेट ब्रिटेन को यह देखना चाहिए कि उसके राजनैतिक भविष्य पर असन्तुष्ट तथा दुखी भारत का क्या प्रभाव पड़ सकता है। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि असन्तुष्ट भारत उसके शत्रुओं के लिए बराबर षड्यंत्र का क्षेत्र बना रहेगा। ऐसी परिस्थिति में उसे भारत से समझौता कर लेना ही ठीक है। स्वर्गीय लाला लाजपतराय के शब्दों में "विश्व की शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और सहानुभूति, अँगरेज़ जाति का गौरव, मनुष्य-मात्र की उन्नति और संसार के आर्थिक मंगल के लिए यह परमावश्यक है कि भारत में शान्ति के साथ प्रजातंत्र शासन की संस्थाओं का विकास हो।" अँगरेज़ लोग इस निश्चित बात को जितना ही शीघ्र समझ लें उतना ही अच्छा है।[1]

भारत के सामने राजनैतिक के अतिरिक्त एक और जटिल समस्या है। संस्कृति तथा सभ्यता की दृष्टि से उसके और यूरोप के आदर्श तथा सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। यूरोप के साथ सम्बन्ध हो जाने से इन दिनों भारत के आचार-विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा है। यह बात निश्चित है कि भारत अब पुरानी लकीर का फ़कीर नहीं रह सकता, अवस्था देखकर उसे अपनी व्यवस्था अवश्य बदलनी पड़ेगी। पर इसके साथ ही यूरोप की वर्तमान परिस्थिति का भी ध्यान रखना पड़ेगा। महायुद्ध के बाद से वहाँ के कई एक विचारशील विद्वानों को पाश्चात्य सभ्यता के सिद्धान्तों पर सन्देह होने लगा है और उनकी दृष्टि पूर्व की ओर फिर रही है। ऐसी दशा में भारत की आँखें क्या

---

१ लाला लाजपतराय, दुखी भारत, पृ० ४४५।

यूरोप की अवस्था पर पहुँचकर खुलेंगी या वह उसकी भूलों से शिक्षा प्राप्त करके संसार का पथप्रदर्शक बनेगा ? अपने उच्च सिद्धान्तों के रहते हुए भी आज भारत निर्बल, दुखी तथा पराधीन है और धन तथा वैभव से सम्पन्न शक्तिशाली यूरोप अपनी अवस्था से असन्तुष्ट तथा भविष्य के लिए चिन्तित है। इसी से स्पष्ट है कि दोनों ने भूलें की हैं और एक दूसरे के गुणों की दोनों को आवश्यकता है। ऐसी परिस्थिति में पूर्व तथा पश्चिम के परस्पर सहयोग में ही विश्व तथा मानवजाति का हित दिखलाई पड़ता है।

संक्षिप्त विवरण

सन् १४९८ वास्कोडगामा का आगमन।
,, १५०९ एलबुकर्क की नियुक्ति।
,, १५१० गोआ पर पुर्तगालियों का अधिकार।
,, १५१५ एलबुकर्क की मृत्यु।
,, १५८० स्पेन और पुर्तगाल की एकता।
,, १५८८ स्पेन के जहाज़ी बेड़ा 'आरमेडा' पर अँगरेज़ों की विजय।
,, १६०० पहली ईस्ट इंडिया कम्पनी।
,, १६०२ डच ईस्ट इंडिया कम्पनी।
,, १६०८ हाकिंस का जहाँगीर के दरबार में आगमन।
,, १६१२ सूरत में अँगरेज़ों की कोठी।
,, १६१५ सर टामस रो का आगमन।
,, १६२२ उरमुज़ पर अँगरेज़ों का अधिकार।
,, १६२३ अम्बोयना का हत्याकांड।
,, १६४० मदरास की नींव।
,, १६६१ बम्बई की प्राप्ति।
,, १६६४ फ़्रांसीसी कम्पनी।
,, १६७४ पांडुचेरी की नींव।
,, १६८५ ईस्ट इंडिया कम्पनी का औरंगज़ेब के साथ झगड़ा।
,, १६९० कलकत्ता की नींव।
,, १६९८ नई ईस्ट इंडिया कम्पनी।
,, १७०२ दोनों कम्पनियों की एकता।
,, १७०८ संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी।

सन् १७२२ हैदरअली का जन्म ।

,, १७३२ सादतअली खाँ अवध का सूबेदार ।

,, १७३५ ड्यूमा पांडुचेरी का गवर्नर ।

,, १७४१ अलीवर्दी खां बंगाल का सूबेदार ।

,, १७४२ डूप्ले पांडुचेरी का गवर्नर ।

,, १७४६ फ़्रांसीसियों के साथ अँगरेज़ों का पहला युद्ध; मदरास पर फ़्रांसीसियों का अधिकार ।

,, १७४८ पांडुचेरी के आक्रमण में अँगरेज़ों की असफलता; एलाशपल की सन्धि; निज़ाम आसफ़जाह की मृत्यु ।

,, १७४९ मदरास अँगरेज़ों को वापस; कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन की मृत्यु; अम्बर की लड़ाई में चान्दा साहब की विजय ।

,, १७५१ फ़्रांसीसियों के साथ अँगरेज़ों का दूसरा युद्ध; चान्दा साहब द्वारा त्रिचनापल्ली का घेरा; अर्काट पर क्लाइव का अधिकार और उसकी रक्षा ।

,, १७५२ त्रिचनापल्ली में फ़्रांसीसियों की हार; चान्दा साहब की मृत्यु ।

,, १७५४ डूप्ले की वापसी; शुजाउद्दौला अवध का नवाब ।

,, १७५५ घेरिया पर क्लाइव और वाट्सन का आक्रमण ।

,, १७५६ अलीवर्दी खाँ की मृत्यु; सिराजुद्दौला की नवाबी; कलकत्ता पर आक्रमण; कालकोठरी की दुर्घटना; फ़्रांसीसियों के साथ तीसरा युद्ध ।

,, १७५७ कलकत्ता में अँगरेज़ों की विजय; चन्द्रनगर पर अँगरेज़ों का अधिकार; पलासी का युद्ध; सिराजुद्दौला की मृत्यु; २४ परगना की प्राप्ति; मीरजाफ़र की पहली नवाबी ।

,, १७५८ लैली का आगमन; सेंट डेविड के क़िले पर अधिकार; मदरास के आक्रमण में असफलता; उत्तरी सरकार में कर्नल फ़ोर्ड की विजय ।

,, १७५९ बिदेरा में डच लोगों की हार; अलीगौहर की बंगाल पर चढ़ाई ।

सन् १७६० वांडवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों पर अँगरेज़ों की विजय; क्लाइव की वापसी; वैनसिटार्ट बंगाल का गवर्नर; मीरक़ासिम की नवाबी।

,, १७६१ पानीपत का तीसरा युद्ध; मराठों की पराजय; पेशवा बालाजी की मृत्यु; माधवराव बल्लाल पेशवा; पांडुचेरी पर अँगरेज़ी अधिकार; हैदरअली मैसूर का शासक।

,, १७६३ मीरक़ासिम से झगड़ा; उदवानाला की लड़ाई में उसकी हार; पटना का हत्याकांड; मीरजाफ़र की दूसरी नवाबी; फ्रांसीसी युद्ध का अन्त; पेरिस की सन्धि; चन्द्रनगर तथा पांडुचेरी फ्रांसीसियों को वापस।

,, १७६४ बक्सर के युद्ध में अँगरेज़ों की विजय।

,, १७६५ क्लाइव की दूसरी गवर्नरी; मीरजाफ़र की मृत्यु; इलाहाबाद की सन्धि; दीवानी-प्रदान।

,, १७६७ पहला मैसूर युद्ध; हैदर तथा निज़ाम की त्रिनोमली में हार; क्लाइव की वापसी; वेरेल्स्ट बंगाल का गवर्नर।

,, १७६८ नैपाल में गोरखों का राज्य।

,, १७६९ कार्टियर की गवर्नरी; हैदर के साथ मदरास की सन्धि।

,, १७७० बंगाल तथा बिहार में दुर्भिक्ष।

,, १७७२ हेस्टिंग्ज़ बंगाल का गवर्नर; पेशवा माधवराव की मृत्यु, नारायणराव पेशवा।

,, १७७३ रेग्यूलेटिंग ऐक्ट।

,, १७७४ रुहेला-युद्ध; हेस्टिंग्ज़ बंगाल का गवर्नर-जनरल।

,, १७७५ राघोबा के साथ सूरत की सन्धि; पहले मराठा युद्ध का आरम्भ; महाराजा नन्दकुमार को फांसी; शुजाउद्दौला की मृत्यु; आसफुद्दौला अवध का नवाब।

,, १७७६ पेशवा के साथ पुरन्धर की सन्धि; कर्नल मानसन की मृत्यु।

,, १७७८ फ्रांसीसियों के साथ युद्ध।

सन् १७९९ चौथा मैसूर युद्ध; टीपू की मृत्यु; तंजोर और सूरत का अपहरण; रणजीतसिंह लाहोर का राजा।
,, १८०० नाना फड़नवीस की मृत्यु; हैदराबाद की सहायक सन्धि।
,, १८०१ कर्नाटक का अपहरण; अवध के साथ ज़्यादती; लखनऊ की सन्धि।
,, १८०२ फ्रांसीसियों के साथ अमीन्स की सन्धि, पूना पर होलकर का अधिकार; बाजीराव के साथ बेसीन की सन्धि।
,, १८०३ दूसरा मराठा युद्ध; अलीगढ़, दिल्ली, असेई, लासवाड़ी, अरगांव की लड़ाइयां; भोंसला के साथ देवगांव की सन्धि; सिन्धिया के साथ अर्जुनगांव की सन्धि।
,, १८०४ होलकर के साथ युद्ध; मानसन की हार; डीग की लड़ाई।
,, १८०५ भरतपुर के आक्रमण में असफलता; वेलेज़ली की वापसी; लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार गवर्नर-जनरल; लार्ड कार्नवालिस की मृत्यु; सर जार्ज बार्लो गवर्नर-जनरल; मराठों के साथ सन्धियां।
,, १८०६ विल्लौर का उपद्रव।
,, १८०७ लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल।
,, १८०८ फ़ारस और काबुल के साथ सम्बन्ध।
,, १८०९ रणजीतसिंह के साथ अमृतसर की सन्धि; मदरास में सैनिक उपद्रव।
,, १८१० फ़्रांसीसी द्वीपों पर अधिकार।
,, १८११ जावा की विजय।
,, १८१३ कम्पनी का आज्ञापत्र; लार्ड हेस्टिंग्ज़ गवर्नर-जनरल।
,, १८१४ नैपाल-युद्ध; अवध के नवाब सादतअली की मृत्यु।
,, १८१६ सिगौली की सन्धि।
,, १८१७ पिंडारी और मराठा युद्ध; खड़की, सीताबलदी, नागपुर और महीदपुर की लड़ाइयों में अँगरेज़ों की विजय।
,, १८१८ कोरेगांव और आष्टी की लड़ाइयां; पेशवाई का अन्त।

सन् १८१९ ग़ाज़ीउद्दीन अवध का पहला बादशाह ।
,, १८२० सर टामस मानरो मदरास का गवर्नर ।
,, १८२३ लार्ड हेस्टिंग्ज़ की वापसी; लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर-जनरल ।
,, १८२४ पहला बर्मी युद्ध; बारिकपुर का विद्रोह ।
,, १८२६ भरतपुर क़िले का पतन; बर्मियों के साथ यांडबू की सन्धि ।
,, १८२७ दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु ।
,, १८२८ एमहर्स्ट का इस्तीफ़ा; लार्ड विलियम बेंटिंक गवर्नर-जनरल ।
,, १८२९ सती-प्रथा का अन्त; ठगी का दमन; ब्रह्मसमाज की स्थापना ।
,, १८३० कचार की ज़ब्ती ।
,, १८३१ मैसूर का राजा पदच्युत; रणजीतसिंह के साथ रूपुर में भेंट ।
,, १८३३ कम्पनी का आज्ञापत्र ।
,, १८३४ कुर्ग का अपहरण ।
,, १८३५ अँगरेज़ी शिक्षा का निर्णय; बेंटिंक की वापसी; दोस्तमुहम्मद काबुल का अमीर ।
,, १८३६ लार्ड आकलेंड गवर्नर-जनरल ।
,, १८३७ रानी विक्टोरिया को गद्दी; बर्न्स की काबुलयात्रा; उत्तरी भारत का अकाल ।
,, १८३८ रणजीतसिंह तथा शाहशुजा के साथ सन्धि; अफ़ग़ान-युद्ध की घोषणा ।
,, १८३९ रणजीतसिंह की मृत्यु; ग़ज़नी की विजय; काबुल पर अधिकार ।
,, १८४० अफ़ग़ानियों का विद्रोह ।
,, १८४१ बर्न्स और मैकनाटन का वध ।
,, १८४२ अकबरखाँ के साथ सन्धि; अँगरेज़ी सेना की दुर्दशा; आकलेंड की वापसी; लार्ड एलिनबरा गवर्नर-जनरल; जलालाबाद की रक्षा; काबुल की विजय ।
,, १८४३ मियानी की लड़ाई; सिन्ध का अपहरण; महाराजपुर और पनियर की लड़ाई में सिन्धिया की हार ।

सन् १८४४ लार्ड एलिनबरा की वापसी; हेनरी हार्डिंज गवर्नर-जनरल।
,, १८४५ पहला सिख युद्ध; मुदकी और फीरोज़शहर की लड़ाइयां।
,, १८४६ अलीवाल और सोबरांव की लड़ाइयां; अँगरेज़ों की विजय, लाहोर की सन्धियाँ।
,, १८४८ हार्डिंज की वापसी, लार्ड डलहौज़ी गवर्नर-जनरल; मूलराज का विद्रोह; दूसरा सिख युद्ध; सतारा के राजाओं का अन्त।
,, १८४९ चिलियानवाला और गुजरात की लड़ाइयाँ; पंजाब का अपहरण।
,, १८५२ दूसरा बर्मी युद्ध; पीगू पर अधिकार।
,, १८५३ भारत में पहली रेल; कम्पनी का अन्तिम आज्ञापत्र।
,, १८५६ अवध का अपहरण; डलहौज़ी की वापसी; लार्ड कैनिंग गवर्नर-जनरल।
,, १८५७ सिपाही-विद्रोह; मेरठ, दिल्ली, बरेली, लखनऊ तथा झांसी में उपद्रव।
,, १८५८ विद्रोह की शान्ति; कम्पनी का अन्त, विक्टोरिया का घोषणा-पत्र, लार्ड कैनिंग पहला वाइसराय।
,, १८५९ तात्या टोपे को फाँसी।
,, १८६१ हाईकोर्टों की स्थापना; इंडियन कौंसिल ऐक्ट।
,, १८६२ लार्ड एलगिन वाइसराय; अन्तिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह की मृत्यु।
,, १८६३ अमीर दोस्तमुहम्मद की मृत्यु।
,, १८६४ सर जान लारेंस वाइसराय।
,, १८६८ शेरअली काबुल का अमीर।
,, १८६९ लार्ड मेयो वाइसराय; अम्बाला में शेरअली के साथ भेंट; ड्यूक आफ़ एडिनबरा का आगमन।
,, १८७२ लार्ड मेयो का वध; लार्ड नार्थब्रुक वाइसराय।
,, १८७५ मल्हारराव गायकवाड़ पदच्युत; आर्य्यसमाज की स्थापना; युवराज (प्रिंस ऑफ़ वेल्स) एडवर्ड की यात्रा।

सन् १८७६　लार्ड लिटन वाइसराय; इँग्लैंड के शासकों को 'कैसरे-हिन्द' की उपाधि; दक्षिण में दुर्भिक्ष।
,, १८७७　दिल्ली का दरबार।
,, १८७८　वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट; दूसरे अफ़ग़ान-युद्ध का आरम्भ।
,, १८८०　लार्ड लिटन का इस्तीफ़ा, लार्ड रिपन वाइसराय।
,, १८८१　मैसूर की वापसी; पहली मनुष्य-गणना।
,, १८८२　वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट रद्द।
,, १८८४　लार्ड डफ़रिन वाइसराय।
,, १८८५　इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना; पंजदेह की घटना; तीसरा बर्मी युद्ध।
,, १८८६　बर्मा के राज्य का अन्त।
,, १८८८　लार्ड लैंसडौन वाइसराय।
,, १८९१　मनीपुर का उपद्रव।
,, १८९२　दूसरा इंडियन कौंसिल ऐक्ट।
,, १८९४　दूसरा लार्ड एलगिन वाइसराय।
,, १८९५　चितराल पर धावा।
,, १८९६　प्लेग और अकाल।
,, १८९७　तीराह पर आक्रमण।
,, १८९९　लार्ड कर्ज़न वाइसराय।
,, १९०१　विक्टोरिया की मृत्यु; सातवां एडवर्ड सम्राट्, हबीबुल्ला अफ़ग़ानिस्तान का अमीर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त।
,, १९०३　तिब्बत पर धावा; दिल्ली में दरबार।
,, १९०४　यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट।
,, १९०५　बंग-विच्छेद; स्वदेशी आन्दोलन; दूसरा लार्ड मिंटो वाइसराय।
,, १९०६　मुसलिम लीग।
,, १९०७　कांग्रेस में फूट।
,, १९०८　क्रान्तिकारी दल, बम से हत्याएँ।

सन् १९०९ मार्ले-मिंटो सुधार ।
,, १९१० दूसरा लार्ड हार्डिंज वाइसराय ।
,, १९११ सम्राट् पाँचवें जार्ज का दिल्ली में राज्याभिषेक; बंग-विच्छेद रद्द ।
,, १९१२ बिहार और उड़ीसा का नया प्रान्त ।
,, १९१३ दक्षिण अफ़्रिका का सत्याग्रह ।
,, १९१४ यूरोपीय महायुद्ध का आरम्भ ।
,, १९१६ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना; लार्ड चेम्सफ़र्ड वाइसराय; कांग्रेस में एका; हिन्दू-मुसलमानों का निर्वाचन-सम्बन्धी समझौता ।
,, १९१७ बग़दाद विजय; मेसोपोटामिया कमीशन; पार्लामेंट में भारत-सचिव की विज्ञप्ति ।
,, १९१८ मांटेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट; रौलट कमेटी रिपोर्ट; रौलट-ऐक्ट; महायुद्ध का अन्त ।
,, १९१९ रौलट-ऐक्ट सत्याग्रह; जलियानवाला बाग़ का हत्याकांड; हंटर कमेटी की नियुक्ति; सुधार-क़ानून; अमानुल्ला अफ़-ग़ानिस्तान का बादशाह; तीसरा अफ़ग़ान-युद्ध ।
,, १९२० खिलाफ़त का झगड़ा; लोकमान्य तिलक की मृत्यु; असहयोग आन्दोलन का आरम्भ; लिबरल फ़ेडरेशन ।
,, १९२१ लार्ड रीडिंग वाइसराय; प्रिंस ऑफ़ वेल्स का बहिष्कार, मोपला-विद्रोह; चौरीचौरा की दुर्घटना; बारडोली-निर्णय; सविनय-अवज्ञा स्थगित; अकाली आन्दोलन; अमानुल्ला के साथ सन्धि ।
,, १९२२ मांटेग्यू का इस्तीफ़ा; महात्मा गान्धी को जेल; स्वराज्य दल ।
,, १९२४ खिलाफ़त का अन्त; हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा; कटारपुर और कोहाट की दुर्घटनाएँ; दिल्ली में एकता सम्मेलन ।
,, १९२६ लार्ड अरविन वाइसराय; कृषि कमीशन ।
,, १९२७ साइमन कमीशन की नियुक्ति ।

सन् १९२८ नेहरू कमेटी रिपोर्ट; साइमन कमीशन का बहिष्कार; लाला लाजपतराय की मृत्यु, कलकत्ता में सर्वदल सम्मेलन; ।
,, १९२९ औपनिवेशिक स्वराज्य के सम्बन्ध में लार्ड अरविन की विज्ञप्ति; बाल-विवाह-निषेध क़ानून; पूर्ण स्वराज्य कांग्रेस का ध्येय ।

बंगाल के गवर्नर-जनरल

,, १७७४ वारेन हेस्टिंग्ज़ ।
,, १७८५ सर जान मैकफ़र्सन ॐ ।
,, १७८६ लार्ड कार्नवालिस ।
,, १७९३ सर जान शोर ।
,, १७९८ सर अल्यौड क्लार्क *।
,, १७९७ लार्ड वेलेज़ली ।
,, १८०५ लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार, सर जार्ज बार्लो ॐ, पहला लार्ड मिंटो ।
,, १८१३ लार्ड हेस्टिंग्ज़ ।
,, १८२३ जान ऐडम ॐ, लार्ड एमहर्स्ट ।
,, १८२८ बटरवर्थ बेली; लार्ड विलियम बटिंक ।

भारत के गवर्नर-जनरल

,, १८३३ लार्ड विलियम बेंटिंक ।
,, १८३५ सर चार्ल्स मेटकाफ़ ॐ ।
,, १८३६ लार्ड आकलेंड ।
,, १८४२ लार्ड एलिनबरा ।
,, १८४४ लार्ड हार्डिंज ।

ॐ अस्थायी या स्थानापन्न ।

सन् १८४८ लार्ड डलहौज़ी ।
,, १८५६ लार्ड कैनिंग ।

गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय

,, १८५८ लार्ड कैनिंग ।
,, १८६२ पहला लार्ड एलगिन ।
,, १८६३ सर राबर्ट नेपियर*, सर विलियम डेनिसन* ।
,, १८६४ सर जान लारेंस ।
,, १८६९ लार्ड मेयो ।
,, १८७२ सर जान स्ट्रैची*, लार्ड नेपियर*, लार्ड नार्थब्रुक ।
,, १८७६ लार्ड लिटन ।
,, १८८० लार्ड रिपन ।
,, १८८४ लार्ड डफ़रिन ।
,, १८८८ लार्ड लैंसडौन ।
,, १८९४ दूसरा लार्ड एलगिन ।
,, १८९९ लार्ड कर्ज़न ।
,, १९०४ लार्ड एमथिल*; लार्ड कर्ज़न दूसरी बार ।
,, १९०५ दूसरा लार्ड मिंटो ।
,, १९१० दूसरा लार्ड हार्डिंज ।
,, १९१६ लार्ड चेम्सफ़र्ड ।
,, १९२१ लार्ड रीडिंग ।
(छुट्टी के अवसर पर बंगाल का गवर्नर लार्ड लिटन स्थानापन्न)
,, १९२६ लार्ड अरविन ।
(छुट्टी के अवसर पर मदरास का गवर्नर लार्ड गोशेन स्थानापन्न)

---

* अस्थायी या स्थानापन्न ।

अनुक्रमणिका

आ

इ

ई

उ

ऊ

ए

ऐ

ओ

औ

अं

क

ख

ग

झ

ट

ठ

ड

ढ

त

प

ब

भ

ल

व

ह